नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग

34



आगम ४२

"दशवैकालिक" मूलं एवं वृत्तिः

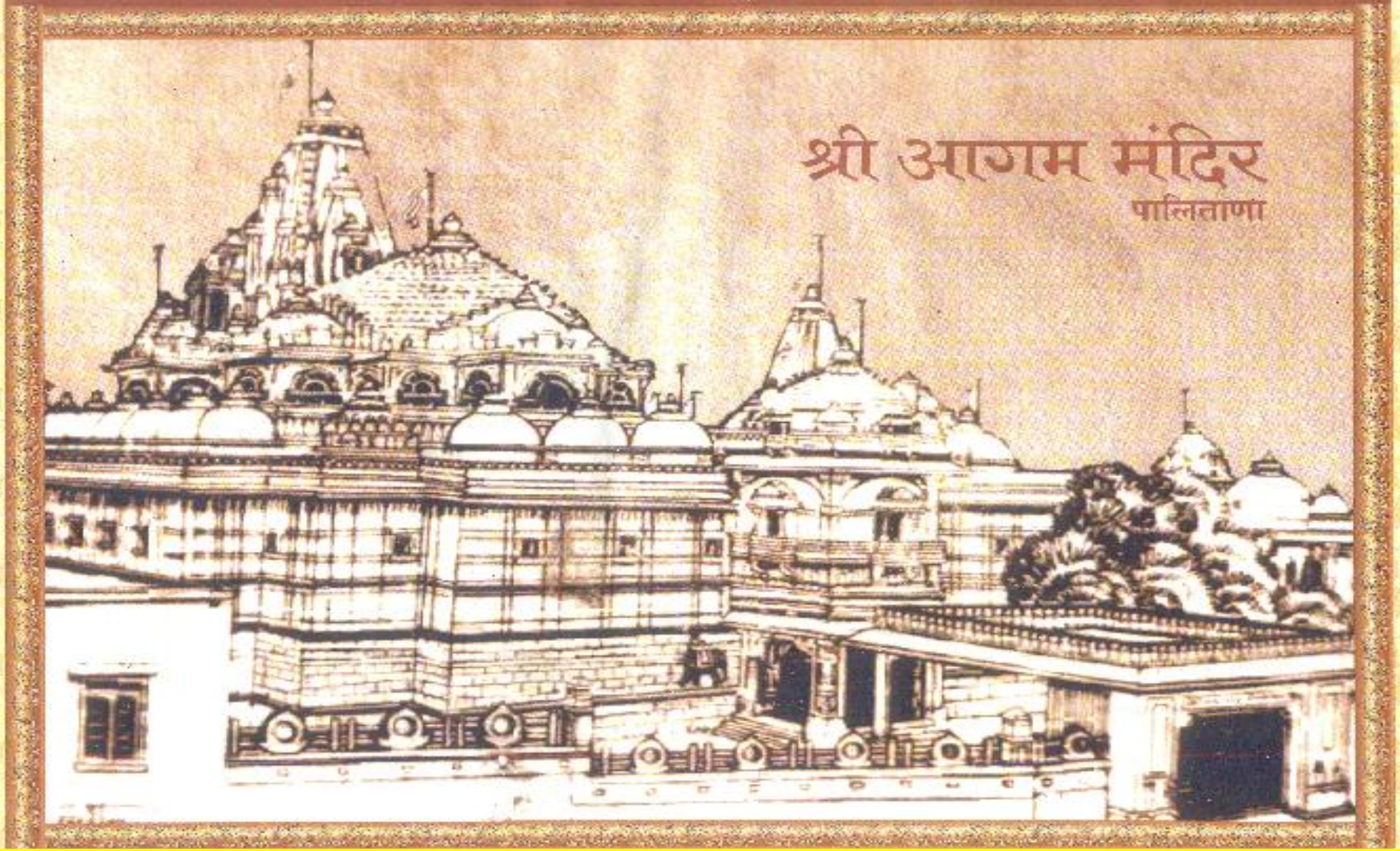
मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

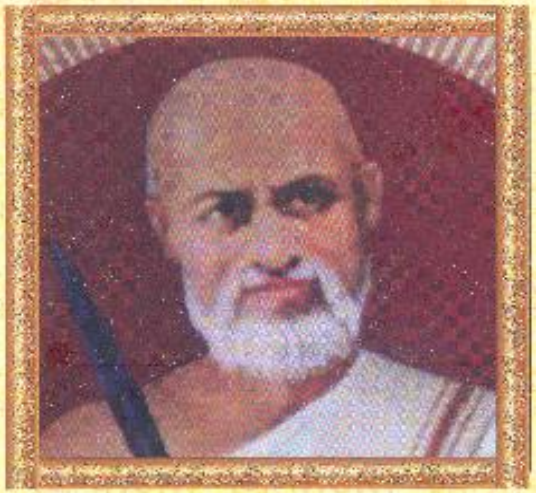
ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता



नमो नमो निम्मलदंसणस्स

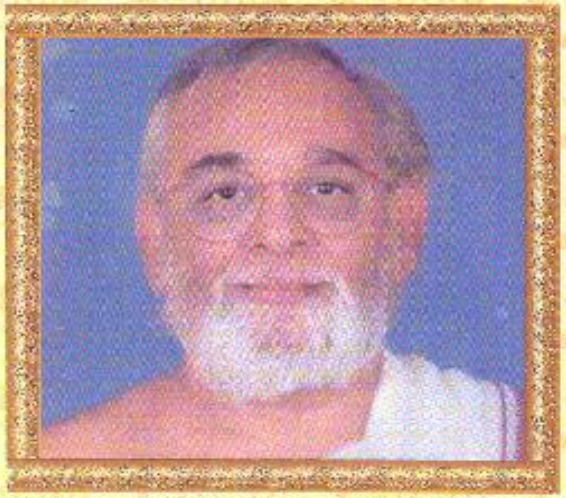
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275



आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

[भाग-३४] श्री दशवैकालिक (मूलसूत्रम्-३)

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

“दशवैकालिक” मूलं एवं वृत्ति:

[मूलं + निर्युक्ति: + (भाष्यगाथा) + हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:]

[आद्य संपादकश्री]

पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर (M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ ‘सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-34

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त ‘आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट’

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है , फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये , तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा , सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे , उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ८७० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... *.....मुनि दीपरत्नसागर...*

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी , जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली , बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही , साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो , मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी , [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण*" इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना | *** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ | *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य , शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

*** *मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रज]पूना, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

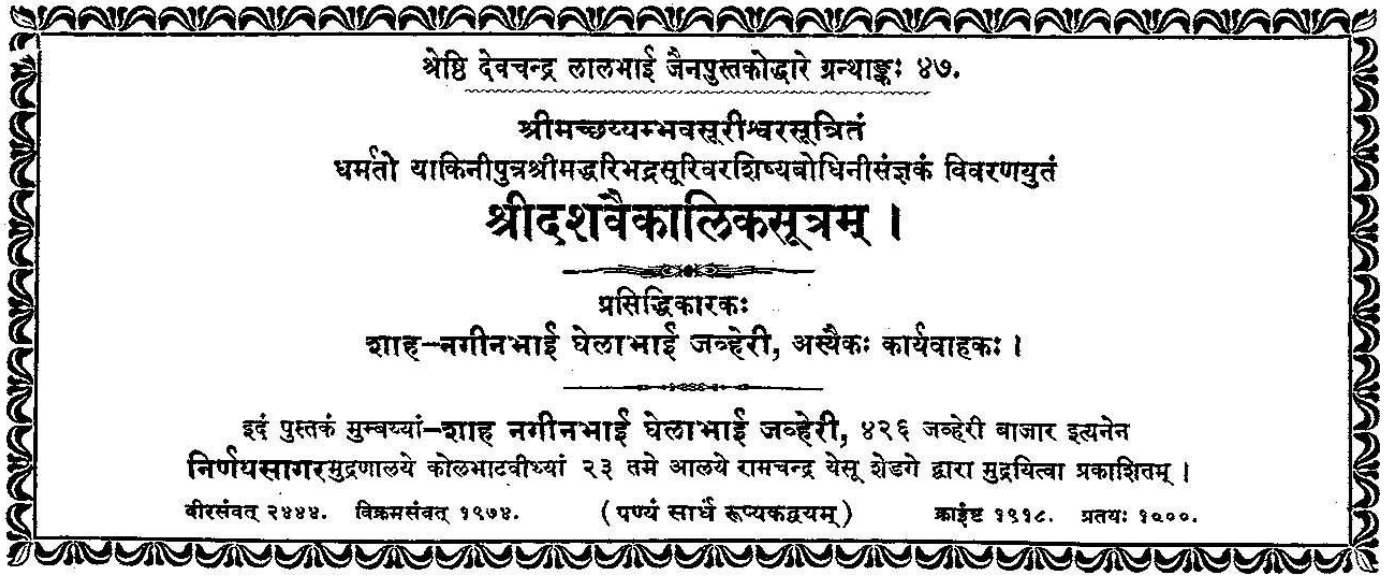
(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

आगम (४२)	[भाग-३४] "दशवैकालिक"– मूलसूत्र-३ (मूलं+निर्युक्तिः+|भाष्य|+वृत्तिः) अध्ययनं [–], उद्देशक [–], मूलं [–], निर्युक्तिः [–], भाष्यं[–]
प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः
	दशवैकालिक सूत्रस्य मूल "टाइटल पेज"



श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ४७.

श्रीमच्छय्यम्भवसूरीश्वरसूत्रितं

धर्मतो याकिनीपुत्रश्रीमद्धरिभद्रसूरिवरशिष्यबोधिनीसंज्ञकं विवरणयुतं

श्रीदशवैकालिकसूत्रम् ।

प्रसिद्धिकारकः

शाह–नगीनभाई घेलाभाई जव्हेरी, अस्यैकः कार्यवाहकः ।

इदं पुस्तकं मुम्बय्यां–शाह नगीनभाई घेलाभाई जव्हेरी, ४२६ जव्हेरी बाजार इत्यनेन

निर्णयसागरमुद्रणालये कोलभाटवीथ्यां २३ तमे आलये रामचन्द्र येसू शेडगे द्वारा मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

वीरसंवत् २४४४. विक्रमसंवत् १९७४. (पण्यं सार्धं रूप्यकद्वयम्) क्राईष्ट १९१८. प्रतयः १०००.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलांक:	अध्ययन	पृष्ठांक:		मूलांक	अध्ययन	पृष्ठांक:		मूलांक	अध्ययन	पृष्ठांक:
००१	१— द्रुमपुष्पिका	०५१		२२६	६— महाचारकथा	३९२		---	९/३- उद्देशक – ३	५१४
००६	२— श्रामण्यपूर्वकं	१७५		२९४	७— वाक्यशुद्धि:	४२५		---	९/४- उद्देशक – ४	५२१
०१७	३— क्षुल्लकाचारकथा	२१०		३५१	८— आचारप्रणिधी	४५८			१०-- सभिक्षु:	५२७
०३२	४— षड्जीवनिकाया	२५०		४१५	९— विनयसमाधि:	४८९			चूलिका	-----
०७६	५— पिन्डैषणा	३३२		---	९/१- उद्देशक – १	४९५			१— रतिवाक्यं	५४९
---	५/१- उद्देशक- १	३३६		---	९/२- उद्देशक – २	५०३			२— विविक्तचर्या	५६६
---	५/२ उद्देशक- २	३७४			---------				उपसंहार-निर्युक्ति:	५७८

[दशवैकालिक- मूलं एवं वृत्ति:] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "दशवैकालिक सूत्र" के नामसे सन १९१८ (विक्रम संवत १९७४) में देवचन्द्र लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

इसी प्रत को फिर अपने नामसे 'जिनशासन आराधना ट्रस्ट' की तरफ से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने छपवाई, जिसमे उन्होंने खुदने तो कुछ नहीं किया, मगर इसी प्रत को ऑफसेट करवा के, ऊपर अपना नाम एवं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम छाप दिया. यह स्पष्ट रूपसे एक प्रकारसे अदत्तादान ही है, ऐसी अनेक प्रतो के अगले दो पेज पलटकर या नए डालकर उन्होंने अपने नामसे छपवाइ है, इस तरह वो अपने आपको बड़ा आगम संरक्षक साबित करनेकी अनुचित चेष्टा कर चुके है |

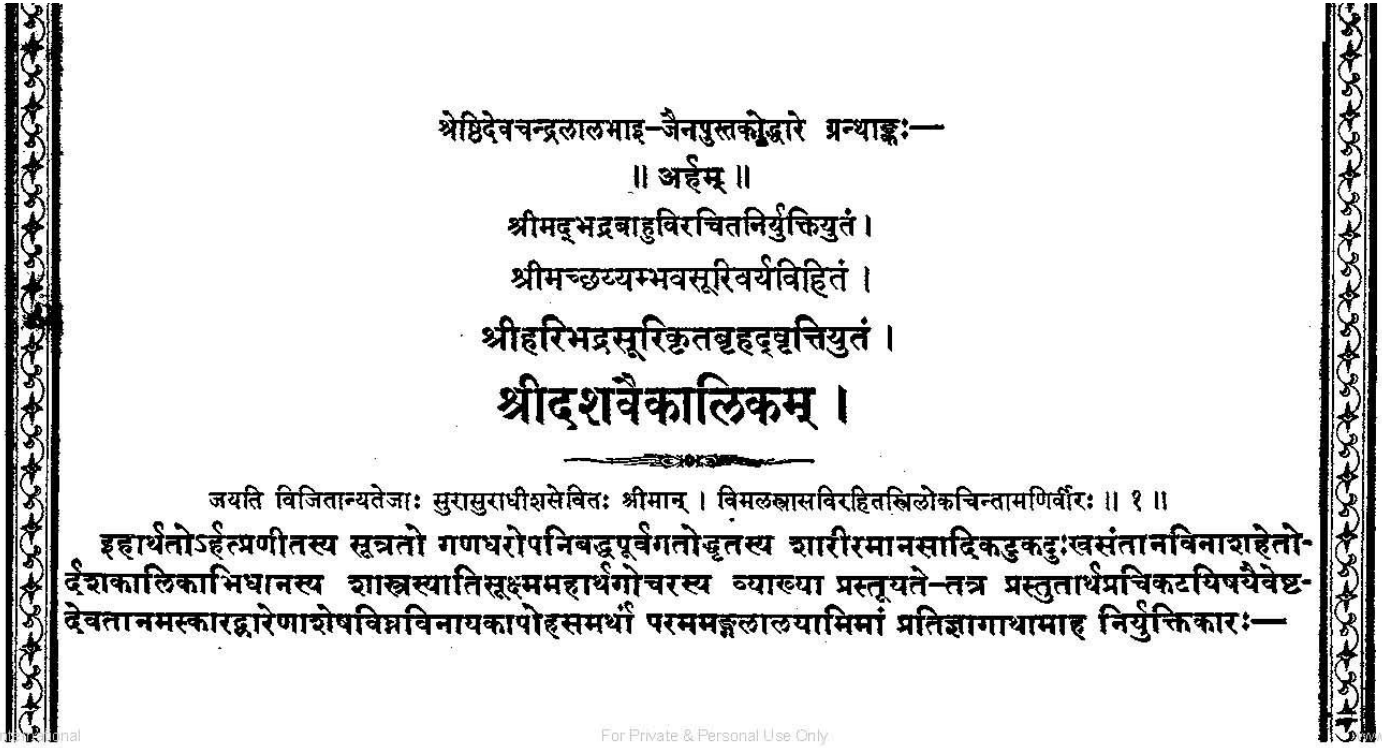
इसी दशवैकालिक-सूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से दुसरोने भी भी प्रकाशित करवाई है, किसीने पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजश्री का नाम बड़ी इज्जत के साथ अपनी जगह पे ही रखा है, और खुदका नाम पुन: संपादक रूप से पेश किया है तो किसीने अपना नाम आगे कर दिया है और पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजीका नाम गौण कर दिया है या उड़ा दिया है |

✣ हमारा ये प्रयास क्यों?✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया, जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी, ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम, फिर अध्ययन--मूलसूत्र-निर्युक्ति-भाष्य आदि के नंबर लिख दिए, ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके | बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची या 'गाथा' शब्द लिखा है| हर पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट दी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-३४ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.....मुनि दीपरत्नसागर.

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः
	वृत्तिकार-कृत् मंगलम् एवं सूत्र-प्रस्तावना



श्रेष्ठिदेवचन्द्रलालभाइ–जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः—

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्भद्रबाहुविरचितनिर्युक्तियुतं ।

श्रीमच्छय्यम्भवसूरिवर्यविहितं ।

श्रीहरिभद्रसूरिकृतबृहद्वृत्तियुतं ।

श्रीदशवैकालिकम् ।

जयति विजितान्यतेजाः सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान् । विमलस्त्रासविरहितस्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीरः ॥ १ ॥

इहार्थतोऽर्हत्प्रणीतस्य सूत्रतो गणधरोपनिबद्धपूर्वगतोद्धृतस्य शारीरमानसादिकटुकदुःखसंतानविनाशहेतोर्दशकालिकाभिधानस्य शास्त्रस्यातिसूक्ष्ममहार्थगोचरस्य व्याख्या प्रस्तूयते–तत्र प्रस्तुतार्थप्रचिकटयिषयैवेष्टदेवतानमस्कारद्वारेणाशेषविघ्नविनायकापोहसमर्थां परममङ्गलालयामिमां प्रतिज्ञागाथामाह निर्युक्तिकारः—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धिगइमुवगयाणं कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं । नमिऊणं दसकालियणिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

व्याख्या–सिद्धिगतिमुपगतेभ्यो नत्वा दशकालिकनिर्युक्तिं कीर्तयिष्यामीति क्रिया । तत्र सिद्ध्यन्ति–निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिः–लोकाग्रक्षेत्रलक्षणा, तथा चोक्तम्–"इहं बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झइ" । गम्यत इति गतिः, कर्मसाधनः सिद्धिरेव गम्यमानत्वाद्गतिः सिद्धिगतिस्तामुप–सामीप्येन गताः–प्राप्तास्तेभ्यः, सकललोकान्तक्षेत्रप्राप्तेभ्य इत्यर्थः, प्राकृतशैल्या चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, यथोक्तम्–"[२]छट्ठीविभत्तीएँ भण्णइ चउत्थी' । तत्र एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः सकर्मका अपि तदुपगमनमात्रमधिकृत्य यथोक्तस्वरूपा भवन्त्यत आह–'कर्मविशुद्धेभ्यः' क्रियते इति कर्म–ज्ञानावरणीयादिलक्षणं तेन विशुद्धा–वियुक्ताः कर्मविशुद्धाः–कर्मकलङ्करहिता इत्यर्थः, तेभ्यः कर्मविशुद्धेभ्यः । आह–एवं तर्हि वक्तव्यं, न सिद्धिगतिमुपगतेभ्यः, अव्यभिचारात्, तथाहि–कर्मविशुद्धाः सिद्धिगतिमुपगता एव भवन्ति, न, अनियतक्षेत्रविभागोपगतसिद्धप्रतिपादनपरदुर्नयनिरासार्थत्वादस्य, तथा चाहुरेके–"रागादिवासनामुक्तं, चित्तमेव निरामयम् । सदाऽनियतदेशस्थं, सिद्ध इत्यभिधीयते ॥ १ ॥" इत्यलं प्रसङ्गेन । ते च तीर्थादिसिद्धभेदादनेकप्रकारा भवन्ति, तथा चोक्तम्–"[३]तित्थसिद्धा अतित्थसिद्धा तित्थगरसिद्धा अतित्थगरसिद्धा सयंबुद्धसिद्धा पत्तेयबुद्धसिद्धा बु-

१ इह बोन्दिं त्यक्त्वा तत्र गत्वा सिध्यति. २ षष्ठीविभक्त्या भण्यते चतुर्थी. ३ तीर्थसिद्धा अतीर्थसिद्धाः तीर्थकरसिद्धा अतीर्थकरसिद्धाः स्वयंबुद्धसिद्धाः प्रत्येकबुद्धसिद्धाः बुद्धबोधितसिद्धाः स्त्रीलिङ्गसिद्धाः पुरुषलिङ्गसिद्धा नपुंसकलिङ्गसिद्धाः स्वलिङ्गसिद्धा अन्यलिङ्गसिद्धा गृहिलिङ्गसिद्धा एकसिद्धा अनेकसिद्धाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्धबोहियसिद्धा इत्थीलिंगसिद्धा पुरिसलिंगसिद्धा नपुंसगलिंगसिद्धा सलिंगसिद्धा अन्नलिंगसिद्धा गिहिलिंगसिद्धा एगसिद्धा अणेगसिद्धा" इत्यत आह—'सर्वसिद्धेभ्यः' सर्वे च ते सिद्धाश्चेति समासस्तेभ्यः, अथवा—'सिद्धिगतिमुपगतेभ्यः' इत्यनेन सर्वथा सर्वगतात्मसिद्धपक्षप्रतिपादनपरदुर्नयस्य व्यवच्छेदमाह, तथा चोक्तमधिकृतनयमतानुसारिभिः—"गुणसत्त्वान्तरज्ञानान्निवृत्तप्रकृतिक्रियाः । मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिताः ॥ १ ॥" व्यवच्छेदश्चैतेषां सामीप्येन सर्वात्मना सिद्धिगतिगमनाभावात्, 'कर्मविशुद्धेभ्यः' इत्यनेन तु सकर्मकाणिमादिविचित्रैश्वर्यवत्सिद्धप्रतिपादनपरस्येति, उक्तं च प्रक्रान्तनयदर्शनाभिनिविष्टैः—"अणिमाद्यष्टविधं प्राप्यैश्वर्यं कृतिनः सदा । मोदन्ते सर्वभावज्ञास्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥१॥" इत्यादि, व्यवच्छेदश्चैतेषां कर्मसंयोगेन अनिष्ठितार्थत्वाद्वस्तुतः सिद्धत्वानुपपत्तेरिति, 'सर्वसिद्धेभ्यः' इत्यनेन तु भङ्गयैव सर्वथा अद्वैतपक्षसिद्धप्रतिपादनपरस्येति, तथा चोक्तं प्रस्तुतनयाभिप्रायमतावलम्बिभिः—"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥" व्यवच्छेदश्चास्य सर्वथा अद्वैते बहुवचनगर्भसर्वशब्दाभावात् [सिद्धिगतिगमनाभावात्] । 'नत्वा' प्रणम्येति, अनेन तु समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययविधानान्नित्यानित्यैकान्तवादासाधुत्वमाह, तत्र क्त्वाप्रत्ययार्थानुपपत्तेः, तत्र नित्यैकान्तवादे तावदात्मन एकान्तनित्यत्वादप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वाद्भिन्नकालक्रियाद्वयकर्तृत्वानुपपत्तेः, क्षणिकैका-

१ गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपाः सत्त्वमात्मा तयोरन्तरं विशेष इति वि. प.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

न्तवादे चात्मन उत्पत्तिव्यतिरेकेण व्यापाराभावाद्भिन्नकालक्रियाद्वयकर्तृत्वानुपपत्तिरेवेत्यलं विस्तरेण, गमनिकामात्रमेवैतदिति । भवति च चतुर्थ्यप्येवं नमनक्रियायोगे, अधिकृतगाथासूत्रान्यथानुपपत्तेः, आसश्च निर्युक्तिकारः, 'पित्रे सवित्रे च सदा नमामी'त्येवमादिविचित्रप्रयोगदर्शनाच्च, कर्मणि वा षष्ठी । सर्वसिद्धेभ्यो नत्वा किमित्याह—'दशकालिकनिर्युक्तिं कीर्त्तयिष्यामि' तत्र कालेन निर्वृत्तं कालिकं, प्रमाणकालेनेति भावः, दशाध्ययनभेदात्मकत्वाद्दशप्रकारं कालिकं प्रकारशब्दलोपाद्दशकालिकं, विशब्दार्थं तूत्तरत्र व्याख्यास्यामः, तत्र निर्युक्तिरिति–निर्युक्तानामेव सूत्रार्थानां युक्तिः–परिपाट्या योजनं निर्युक्तयुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिस्तां–विप्रकीर्णार्थयोजनां व्याख्यास्यामि कीर्त्तयिष्यामीति गाथार्थः ॥ शास्त्राणि चादिमध्यावसानमङ्गलभाञ्जि भवन्तीत्यत आह—

आइमज्झवसाणे काउं मंगलपरिग्गहं विहिणा ।

व्याख्या–शास्त्रस्यादौ–प्रारम्भे मध्ये–मध्यविभागे अवसाने–पर्यन्ते, किं ?–कृत्वा मङ्गलपरिग्रहम्, कथम् ?—'विधिना' प्रवचनोक्तेन प्रकारेण, आह–किमर्थं मङ्गलत्रयपरिकल्पनम् ? इति, उच्यते, इहादिमङ्गलपरिग्रहः सकलविघ्नापोहेनाभिलषितशास्त्रार्थपारगमनार्थं, तत्स्थिरीकरणार्थं च मध्यमङ्गलपरिग्रहः, तस्यैव शिष्यप्रशिष्यसन्तानाव्यवच्छेदायावसानमङ्गलपरिग्रह इति । अत्र चाक्षेपपरिहारावावश्यकविशेषविवरणादवसेयौ इति । सामान्यतस्तु सकलमपीदं शास्त्रं मङ्गलं, निर्जरार्थत्वात्तपोवत्, न चासिद्धो हेतुः, यतो वचनविज्ञान-

॥ २ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि-मध्य-अवसान मंगलत्रयं

रूपं शास्त्रं, ज्ञानस्य च निर्जरार्थता प्रतिपादितैव, यत उक्तम्—"जं णेरइओ कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥ १ ॥"[1] इत्यादि । इह चादिमङ्गलं द्रुमपुष्पिकाध्ययनादि, धर्मप्रशंसाप्रतिपादकत्वात्तत्स्वरूपत्वादिति, मध्यमङ्गलं तु धर्मार्थकामाध्ययनादि, प्रपञ्चाचारकथाद्यभिधायकत्वात्, चरममङ्गलं तु भिक्ष्वध्ययनादि, भिक्षुगुणाद्यवलम्बनत्वादिलेवमध्ययनविभागतो मङ्गलत्रयविभागो निदर्शितः, अधुना सूत्रविभागेन निदर्श्यते–तत्र चादिमङ्गलम् 'धम्मो मंगल' इत्यादिसूत्रं, धर्मोपलक्षितत्वात्, तस्य च मङ्गलत्वादिति, मध्यममङ्गलं पुनः 'णाणदंसणे'त्यादि सूत्रं, ज्ञानोपलक्षितत्वात्, तस्य च मङ्गलत्वादिति, अवसानमङ्गलं तु 'णिक्खम्ममाणा इय' इत्यादि, भिक्षुगुणस्थिरीकरणार्थं[2] विविक्तचर्याभिधायकत्वात्, भिक्षुगुणानां च मङ्गलत्वादिति । आह–मङ्गलमिति कः शब्दार्थः ?, उच्यते, 'अगिरगिलगिवगिमगीति' दण्डकधातुः, अस्य "इदितो नुम् धातो" (पा० ७–१–५८) रिति नुमि विहिते औणादिकालचूप्रत्यान्तस्य अनुबन्धलोपे कृते प्रथमैकवचनान्तस्य मङ्गलमितिरूपं भवति । मङ्ग्यते हितमनेनेति मङ्गलं, मङ्ग्यतेऽधिगम्यते साध्यत इतियावत्, अथवा मङ्ग इति धर्माभिधानं, 'ला आदाने' अस्य धातोर्मङ्गे उपपदे "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० ३–२–३) इति कप्रत्ययान्तस्यानुबन्धलोपे कृते "आतो लोप इटि च" (पा० ६–४–६४) क्ङिति इत्यनेन सूत्रेणाकारलोपे च कृते प्रथमैकवचनान्तस्यैव मङ्गलमिति भवति, मङ्गं लातीति मङ्गलं, धर्मोपादान-

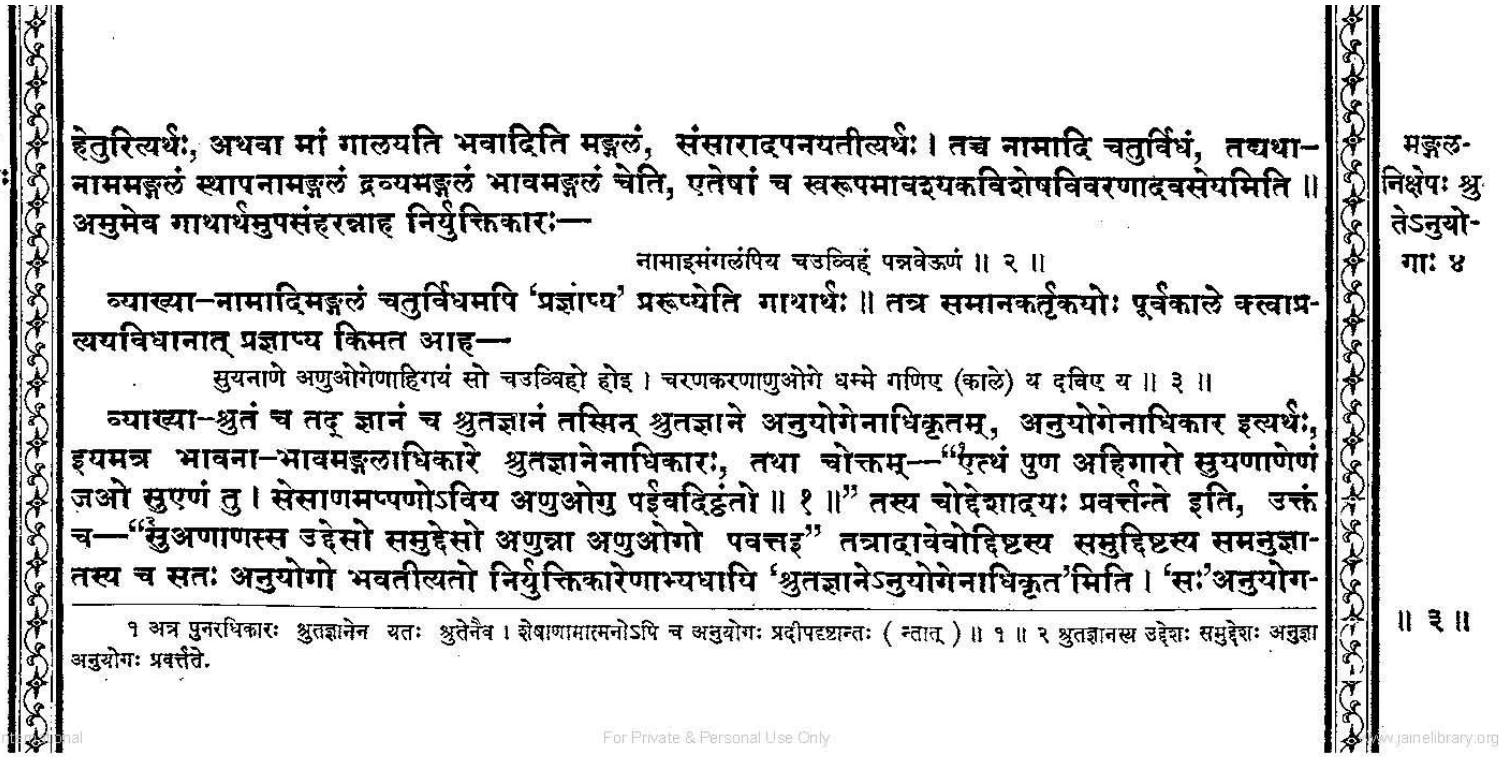
१ यन्नैरयिकः कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः । तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥ २ मङ्गलस्वरूपत्वात् वि० प० ३ °करणभिक्षु० प्र०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ३ ॥

हेतुरित्यर्थः, अथवा मां गालयति भवादिति मङ्गलं, संसारादपनयतीत्यर्थः। तच्च नामादि चतुर्विधं, तद्यथा–नाममङ्गलं स्थापनामङ्गलं द्रव्यमङ्गलं भावमङ्गलं चेति, एतेषां च स्वरूपमावश्यकविशेषविवरणादवसेयमिति ॥ अमुमेव गाथार्थमुपसंहरन्नाह निर्युक्तिकारः—

नामाइमंगलंपिय चउव्विहं पन्नवेऊणं ॥ २ ॥

व्याख्या–नामादिमङ्गलं चतुर्विधमपि 'प्रज्ञाप्य' प्ररूप्येति गाथार्थः ॥ तत्र समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययविधानात् प्रज्ञाप्य किमत आह—

सुयनाणे अणुओगेणाहिगयं सो चउव्विहो होइ। चरणकरणाणुओगे धम्मे गणिए (काले) य दविए य ॥ ३ ॥

व्याख्या–श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानं तस्मिन् श्रुतज्ञाने अनुयोगेनाधिकृतम्, अनुयोगेनाधिकार इत्यर्थः, इयमत्र भावना–भावमङ्गलाधिकारे श्रुतज्ञानेनाधिकारः, तथा चोक्तम्—"[1]एत्थं पुण अहिगारो सुयणाणेणं जओ सुएणं तु। सेसाणमप्पणोऽविय अणुओगु पईवदिट्ठंतो ॥ १ ॥" तस्य चोद्देशादयः प्रवर्त्तन्ते इति, उक्तं च—"[2]सुअणाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्ना अणुओगो पवत्तइ" तत्रादावेवोद्दिष्टस्य समुद्दिष्टस्य समनुज्ञातस्य च सतः अनुयोगो भवतीत्यतो निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि 'श्रुतज्ञानेऽनुयोगेनाधिकृत'मिति। 'सः'अनुयोग-

१ अत्र पुनरधिकारः श्रुतज्ञानेन यतः श्रुतेनैव। शेषाणामात्मनोऽपि च अनुयोगः प्रदीपदृष्टान्तः (न्तात्) ॥ १ ॥ २ श्रुतज्ञानस्य उद्देशः समुद्देशः अनुज्ञा अनुयोगः प्रवर्त्तते.

मङ्गल-निक्षेपः श्रुतेऽनुयोगाः ४

॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोगस्य चतुर्विधत्वं वर्णयते

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

श्रुतुर्विधो भवति, कथम्?–'चरणकरणानुयोगः' चर्यत इति चरणं–व्रतादि, यथोक्तम्—"वयं समणधम्मसंजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ। णाणादितियं तव कोहनिग्गहाई चरणमेयं ॥ १ ॥" क्रियते इति करणं–पिण्डविशुद्ध्यादि, उक्तं च—"पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इंदियनिरोहो। पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥ १ ॥" चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः, अनुरूपो योगोऽनुयोगः–सूत्रस्यार्थेन सार्द्धमनुरूपः सम्बन्धो, व्याख्यानमित्यर्थः, एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमा[द्वितीया]न्तोऽपि द्रष्टव्यः, यथा "कयरे आगच्छइ दित्तरूवे" इत्यादि, 'धर्मे' इति धर्मकथानुयोगः, 'काले' चेति कालानुयोगश्च गणितानुयोगश्चेत्यर्थः, 'द्रव्ये चे'ति द्रव्यानुयोगश्च। तत्र कालिकश्रुतं चरणकरणानुयोगः, ऋषिभाषितान्युत्तराध्ययनादीनि धर्मकथानुयोगः, सूर्यप्रज्ञप्त्यादीनि गणितानुयोगः, दृष्टिवादस्तु द्रव्यानुयोग इति, उक्तं च—"कालियसुअं च इसिभासियाइ तइया य सूरपन्नत्ती। सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ इह चार्थतोऽनुयोगो द्विधा–अपृथक्त्वानुयोगः पृथक्त्वानुयोगश्च, तत्रापृथक्त्वानुयोगो यत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्व एव चरणादयः प्ररूप्यन्ते, अनन्तगमपर्यायत्वात्सूत्रस्य, पृथक्त्वानुयोगश्च यत्र क्वचित्सूत्रे चरणकरणमेव क-

१ व्रतानि श्रमणधर्म्मः संयमो वैयावृत्त्यं च ब्रह्मगुप्तयः। ज्ञानादित्रयं तपः क्रोधनिग्रहादि चरणमेतत् ॥ १ ॥ २ पिण्डविशुद्धिः समितयः भावनाः प्रतिमाश्च इन्द्रियनिरोधः। प्रतिलेखना गुप्तयः अभिग्रहाश्चैव करणं तु ॥ १ ॥ ३ कतर आगच्छति दीप्तरूपः, ४ कालिकश्रुतं च ऋषिभाषितानि तृतीया (गणितानुयोगमयी) च सूर्यप्रज्ञप्तिः। सर्वेश्च दृष्टिवादश्चतुर्थो भवत्यनुयोगः ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

चित्पुनर्धर्मकथैवेत्यादि, अनयोश्च वक्तव्यता 'जावंत अज्जवइरा अपुहुत्तं कालियाणुओगस्स । तेणारेण पुहुत्तं कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥ १ ॥" इत्यादेर्ग्रन्थादावश्यकविशेषविवरणाच्चावसेयेति ॥ इह पुनः पृथक्त्वानुयोगेनाधिकारः, तथा चाह निर्युक्तिकारः—

अपुहुत्तपुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो । चरणकरणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति ॥ ४ ॥

व्याख्या–'अपृथक्त्वपृथक्त्वे' लेशतो निर्दिष्टस्वरूपे निर्दिश्य 'अत्र' प्रक्रमे भवत्यधिकारः, केन?—'चरणकरणानुयोगेन' 'तस्य' चरणकरणानुयोगस्य 'द्वाराणि' प्रवेशमुखानि 'अमूनि' वक्ष्यमाणलक्षणानि भवन्तीति गाथार्थः ॥

निक्खेवेगट्ठनिरुत्तविही पवित्ती य केण वा कस्स? । तद्दारभेयलक्खण तयरिहपरिसा य सुत्तत्थो ॥ ५ ॥

व्याख्या–अस्याः प्रपञ्चार्थः आवश्यकविशेषविवरणादवसेयः, स्थानाशून्यार्थं तु सङ्क्षेपार्थः प्रतिपाद्यत इति, 'णिक्खेव'त्ति अनुयोगस्य निक्षेपः कार्यः, तद्यथा–नामानुयोग इत्यादि, 'एगट्ठत्ति' तस्यैव एकार्थिकानि वक्तव्यानि, तद्यथा—अनुयोगो नियोग इत्यादि, 'निरुत्त'त्ति तस्यैव निरुक्तं वक्तव्यम्, अनुयोजनमनुयोगः अनुरूपो वा योग इत्यादि, 'विहि'त्ति तस्यैव विधिर्वक्तव्यो, वक्तुः श्रोतुश्च, तत्र वक्तुः 'सुत्तत्थो खलु पढमो

१ यावदार्यवज्रा अपृथक्त्वं कालिकानुयोगस्य । ततोऽर्वाक् (तत आरात्) पृथक्त्वं कालिकश्रुते दृष्टिवादे च ॥ १ ॥ २ सूत्रार्थः खलु प्रथमो द्वितीयो निर्युक्तिमिश्रितो भणितः । तृतीयश्च निरवशेष एष विधिर्भवति अनुयोगे ॥ १ ॥

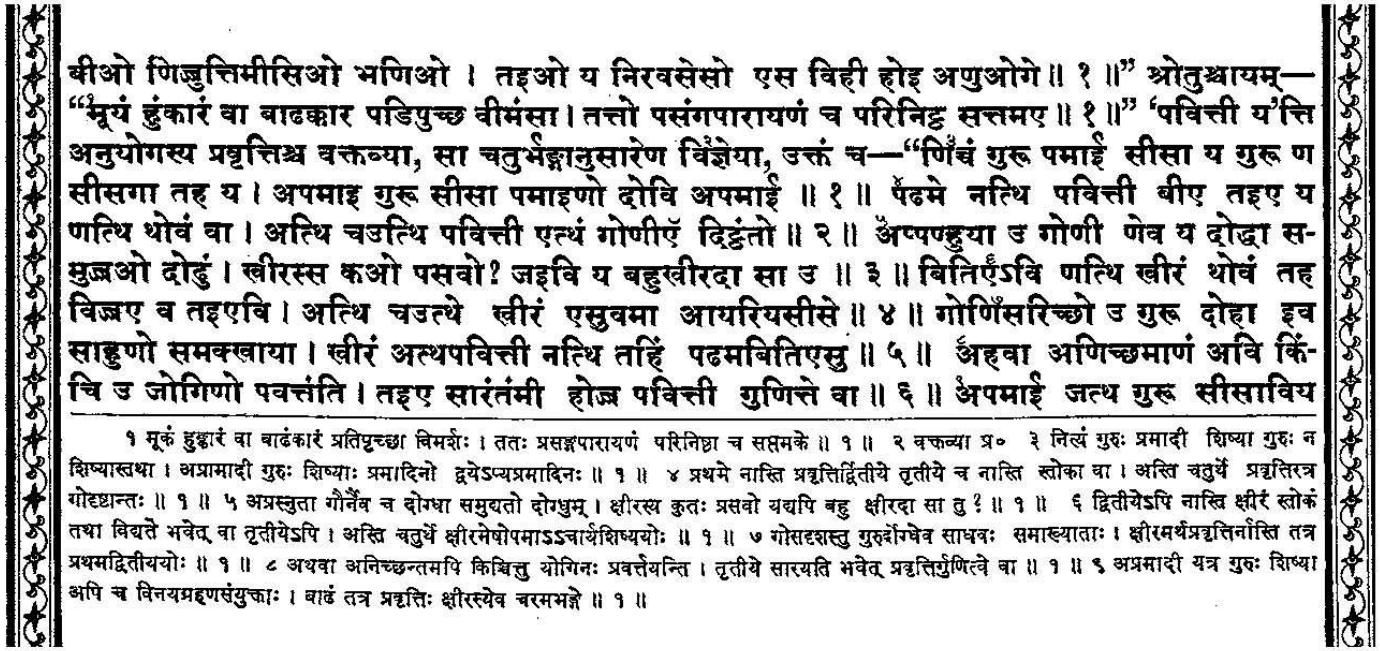
॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



बीओ णिज्जुत्तिमीसिओ भणिओ । तइओ य निरवसेसो एस विही होइ अणुओगे ॥ १ ॥" श्रोतुश्चायम्— "मूयं हुंकारं वा बाढक्कार पडिपुच्छ वीमंसा । तत्तो पसंगपारायणं च परिनिट्ठ सत्तमए ॥ १ ॥" 'पवित्ती य'त्ति अनुयोगस्य प्रवृत्तिश्च वक्तव्या, सा चतुर्भङ्गानुसारेण विज्ञेया, उक्तं च—"णिच्चं गुरू पमाई सीसा य गुरू ण सीसगा तह य । अपमाइ गुरू सीसा पमाइणो दोवि अपमाई ॥ १ ॥ पढमे नत्थि पवित्ती बीए तइए य णत्थि थोवं वा । अत्थि चउत्थि पवित्ती एत्थं गोणीए दिट्ठंतो ॥ २ ॥ अप्पप्पहुया उ गोणी णेव य दोद्धा समुज्जओ दोहुं । खीरस्स कओ पसवो? जइवि य बहुखीरदा सा उ ॥ ३ ॥ बितिएऽवि णत्थि खीरं थोवं तह विज्जए व तइएवि । अत्थि चउत्थे खीरं एसुवमा आयरियसीसे ॥ ४ ॥ गोणिसरिच्छो उ गुरू दोहा इव साहुणो समक्खाया । खीरं अत्थपवित्ती नत्थि तहिं पढमबितिएसु ॥ ५ ॥ अहवा अणिच्छमाणं अवि किंचि उ जोगिणो पवत्तंति । तइए सारंतंमी होज्ज पवित्ती गुणित्ते वा ॥ ६ ॥ अपमाई जत्थ गुरू सीसावियं

१ मूकं हुङ्कारं वा बाढंकारं प्रतिपृच्छा विमर्शः । ततः प्रसङ्गपारायणं परिनिष्ठा च सप्तमके ॥ १ ॥ २ वक्तव्या प्र० ३ नित्यं गुरुः प्रमादी शिष्या गुरुः न शिष्यास्तथा । अप्रमादी गुरुः शिष्याः प्रमादिनो द्वयेऽप्यप्रमादिनः ॥ १ ॥ ४ प्रथमे नास्ति प्रवृत्तिर्द्वितीये तृतीये च नास्ति स्तोका वा । अस्ति चतुर्थे प्रवृत्तिरत्र गोदृष्टान्तः ॥ १ ॥ ५ अप्रस्नुता गौर्नैव च दोग्धा समुद्यतो दोग्धुम् । क्षीरस्य कुतः प्रसवो यद्यपि बहु क्षीरदा सा तु ? ॥ १ ॥ ६ द्वितीयेऽपि नास्ति क्षीरं स्तोकं तथा विद्यते भवेत् वा तृतीयेऽपि । अस्ति चतुर्थे क्षीरमेषोपमाऽऽचार्यशिष्ययोः ॥ १ ॥ ७ गोसदृशस्तु गुरुर्दोग्धेव साधवः समाख्याताः । क्षीरमर्थप्रवृत्तिर्नास्ति तत्र प्रथमद्वितीययोः ॥ १ ॥ ८ अथवा अनिच्छन्तमपि किञ्चित्तु योगिनः प्रवर्त्तयन्ति । तृतीये सारयति भवेत् प्रवृत्तिर्गुणित्वे वा ॥ १ ॥ ९ अप्रमादी यत्र गुरुः शिष्या अपि च विनयग्रहणसंयुक्ताः । बाढं तत्र प्रवृत्तिः क्षीरस्येव चरमभङ्गे ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विणयगहणसंजुत्ता । धणियं तत्थ पवित्ती खीरस्सव चरिमभंगंमि ॥७॥" 'केण'त्ति केनानुयोगः कर्त्तव्य इति वक्तव्यं, तत्र य इत्थंभूत आचार्यस्तेन कर्त्तव्यः, तद्यथा—"देसकुलजाइरूवी संघयणधिइजुओ अणासंसी । अविकत्थणो अमाई थिरपरिवाडी गहियवक्को ॥ १ ॥ जियपरिसो जियनिद्दो मज्झत्थो देसकालभावन्नू । आसन्नलद्धपइभो णाणाविहदेसभासन्नू ॥ २ ॥ पंचविहे आयारे जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिण्णू । आहरणहेउकारणणयनिउणो गाहणाकुसलो ॥ ३ ॥ ससमयपरसमयविऊ गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो । गुणसयकलिओ जुग्गो पवयणसारं परिकहेउं ॥४॥" आसामर्थः कल्पादवसेयः, प्राथमिकदशकालिकव्याख्याने तु लेशत उच्यते–आर्यदेशोत्पन्नः सुखावबोधवाक्यो भवतीति देशग्रहणं, पैतृकं कुलं विशिष्टकुलोद्भवो यथोत्क्षिप्तभारवहने न श्राम्यति, मातृकी जातिः तत्सम्पन्नो विनयान्वितो भवति, रूपवानादेयवचनो भवति, आकृतौ च गुणा वसन्ति, संहननधृतियुक्तो व्याख्यानतपोऽनुष्ठानादिषु न खेदं याति, अनाशंसी न श्रोतृभ्यो वस्त्राद्याकाङ्क्षति, अविकत्थनो बहुभाषी न भवति, अमायी न शाठ्येन शिष्यान् वाहयति, स्थिरपरिपाटी स्थिरपरिचितग्रन्थस्य सूत्रं न गलति, गृहीतवाक्योऽप्रतिघातवचनो भवति, जितपरिषत् परप्रवादिक्षोभ्यो न भवति, जितनिद्रोऽप्रमत्तत्वाद् व्याख्यानरतिर्भवति प्रकामनिकामशायिनश्च शिष्याँश्चोदयति, मध्यस्थः संवादको भवति, देशकालभावज्ञो देशादिगुणानवबुद्ध्याप्रतिबद्धो विहरति देशनां च करोति, आसन्नलब्धप्रतिभो

॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जात्युत्तरादिना निगृहीतः प्रत्युत्तरदानसमर्थो भवति, नानाविधदेशभाषाविधिज्ञो नानादेशजविनेयप्रत्यायनसमर्थो भवति, ज्ञानादिपञ्चविधाचारयुक्तः श्रद्धेयवचनो भवति, सूत्रार्थोभयज्ञः सम्यगुत्सर्गापवादप्ररूपको भवति, उदाहरणहेतुकारणनयनिपुणस्तदूगम्यान् भावान् सम्यक् प्ररूपयति नागममात्रमेव, ग्राहणाकुशलः शिष्याननेकधा ग्राहयति, स्वसमयपरसमयवित् सुखं परमताक्षेपमुखेन स्वसमयं प्ररूपयति, गम्भीरो महत्यप्यकार्ये न रुष्यति, दीप्तिमान् परप्रवादिक्षोभमुत्पादयति, शिवो मारिरोगाद्युपद्रवविधातकृद् भवति, सौम्यः प्रशान्तदृष्टितया सकलजनप्रीत्युत्पादको भवति, इत्थंभूत एव गुणशतकलितो योग्यः प्रवचनम्–आगमस्तस्य सारस्तं कथयितुमिति, यतोऽसावनेकभव्यसत्त्वप्रबोधहेतुर्भवति, उक्तं च—"गुणसुट्ठिअस्स वयणं घयमहुसित्तोव्व पावओ भाइ । गुणहीणस्स न सोहइ णेहविहीणो जह पईवो ॥ १ ॥" तथा चान्येनाप्युक्तम्—"क्षीरं भाजनसंस्थं न तथा वत्सस्य पुष्टिमावहति । आवल्गमानशिरसो यथा हि मातृस्तनात्पिबतः ॥ १ ॥ तद्वत्सुभाषितमयं क्षीरं दुःशीलभाजनगतं तु । न तथा पुष्टिं जनयति यथा हि गुणवन्मुखात्पीतम् ॥ २ ॥ शीतेऽपि यत्नलब्धो न सेव्यतेऽग्निर्यथा श्मशानस्थः । शीलविपन्नस्य वचः पथ्यमपि न गृह्यते तद्वत् ॥ ३ ॥ चारित्रेण विहीनः श्रुतवानपि नोपजीव्यते सद्भिः । शीतलजलपरिपूर्णः कुलजैश्चाण्डालकूप इव ॥ ४ ॥" 'क-

१ न्यायसूत्रे पञ्चमाध्यायाद्याह्निके सविस्तरं जातिस्वरूपम्. २ °पि कार्ये. ३ °तसमन्वितः प्र० ४ गुणसुस्थितस्य वचनं घृतमधुसिक्तः पावक इव भाति । गुणहीनस्य न शोभते स्नेहविहीनो यथा प्रदीपः ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

स्स'त्ति कस्यानुयोगः? इति वक्तव्यं, तत्र सकलश्रुतज्ञानस्याप्यनुयोगो भवति, अमुं पुनः प्रारम्भमाश्रित्य दशकालिकस्येति। अत्राह–ननु "दसकालियनिज्जुत्तिं कित्तइस्सामित्ति" अस्मादेव वचनतः प्रकृतद्वारार्थस्यावगतत्वात् तदुपन्यासोऽनर्थक इति, न, अधिकृतनिक्षेपादिद्वारकलापस्याशेषश्रुतस्कन्धविषयत्वात्, तद्बलेनैव च निर्युक्तिकारेणापि तथोपन्यस्तत्वात्, अस्मादेव स्थानादन्यत्राप्यादौ शास्त्राभिधानपूर्वक उपन्यासः क्रियत इति भावना। व्याख्यातं लेशतो निर्युक्तिगाथादलं, पश्चार्द्धं त्वध्ययनाधिकारे यथाऽवसरं व्याख्यास्यामः, यतस्तत्रैवोपक्रमाद्यनुयोगद्वारानुपूर्व्यादितद्भेदसूत्रादिलक्षणतदर्हपर्षदादयश्च वक्तुं शक्यन्ते, नान्यत्र, निर्विषयत्वादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ साम्प्रतं प्रकृतयोजनामेवोपदर्शयन्नाह निर्युक्तिकारः—

एयाइँ परूवेउं कप्पे वण्णियगुणेण गुरुणा उ। अणुओगो दसवेयालियस्स विहिणा कहेयव्वो ॥ ६ ॥

व्याख्या–'एतानि' निक्षेपादिद्वाराणि 'प्ररूप्य' व्याख्याय कल्पे वर्णितगुणेन गुरुणा, षट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनेत्यर्थः। अनुयोगो दशवैकालिकस्य 'विधिना' प्रवचनोक्तेन 'कथयितव्य' आख्यातव्य इति गाथार्थः॥ सम्प्रत्यजानानः शिष्यः पृच्छति–यदि दशकालिकस्यानुयोगस्ततस्तद्दशकालिकं भदन्त! किमङ्गमङ्गानि? श्रुतस्कन्धः श्रुतस्कन्धाः? अध्ययनमध्ययनानि? उद्देशक उद्देशकाः? इत्यष्टौ प्रश्नाः, एतेषां मध्ये त्रयो विकल्पाः खलु प्रयुज्यन्ते, तद्यथा–दशकालिकं श्रुतस्कन्धः अध्ययनानि उद्देशकाश्चेति, यतश्चैवमतो दशादीनां निक्षेपः कर्त्तव्यः, तद्यथा–दशानां कालस्य श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्य उद्देशकस्य चेति, तथा चाह निर्युक्तिकारः—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दसकालियंति नामं संखाए कालओ य निद्देसो । दसकालियसुअखंधं अज्झयणुद्देस निक्खिविउं ॥ ७ ॥

व्याख्या–'दशकालिकं' प्राग्निरूपितशब्दार्थम् 'इति' एवंभूतं यत् 'नाम' अभिधानं, इदं किम्?–संख्यानं संख्या तया, तथा 'कालतश्च' कालेन चायं—'निर्देशः' निर्देशनं निर्देशः, विशेषाभिधानमित्यर्थः, अस्य च निबन्धनं विशेषेण वक्ष्यामः 'मणगं पडुच्च' इत्यादिना ग्रन्थेन, यतश्चैवमतः 'दसकालियं'ति कालेन निर्वृत्तं कालिकं दशशब्दस्य कालशब्दस्य च निक्षेपः, निर्वृत्तार्थस्तु निक्षेपः, तथा श्रुतस्कन्धं तथाऽध्ययनं 'उद्देशं' तदेकदेशभूतं, किम्?–निक्षेपमनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति गाथार्थः ॥ तत्र 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायादधिकृतशास्त्राभिधानोपयोगित्वाच्च दशशब्दस्यैवादौ निक्षेपः प्रदर्श्यते–तत्र दशैकाद्यायत्ता वर्त्तन्ते, एकाद्यभावे दशानामप्यभावाद्, अत एकस्यैव तावन्निक्षेपप्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

णामं ठवणा दविए माउयपयसंगहेक्कए चेव । पज्जवभावे य तहा सत्तेए एक्कगा होंति ॥ ८ ॥

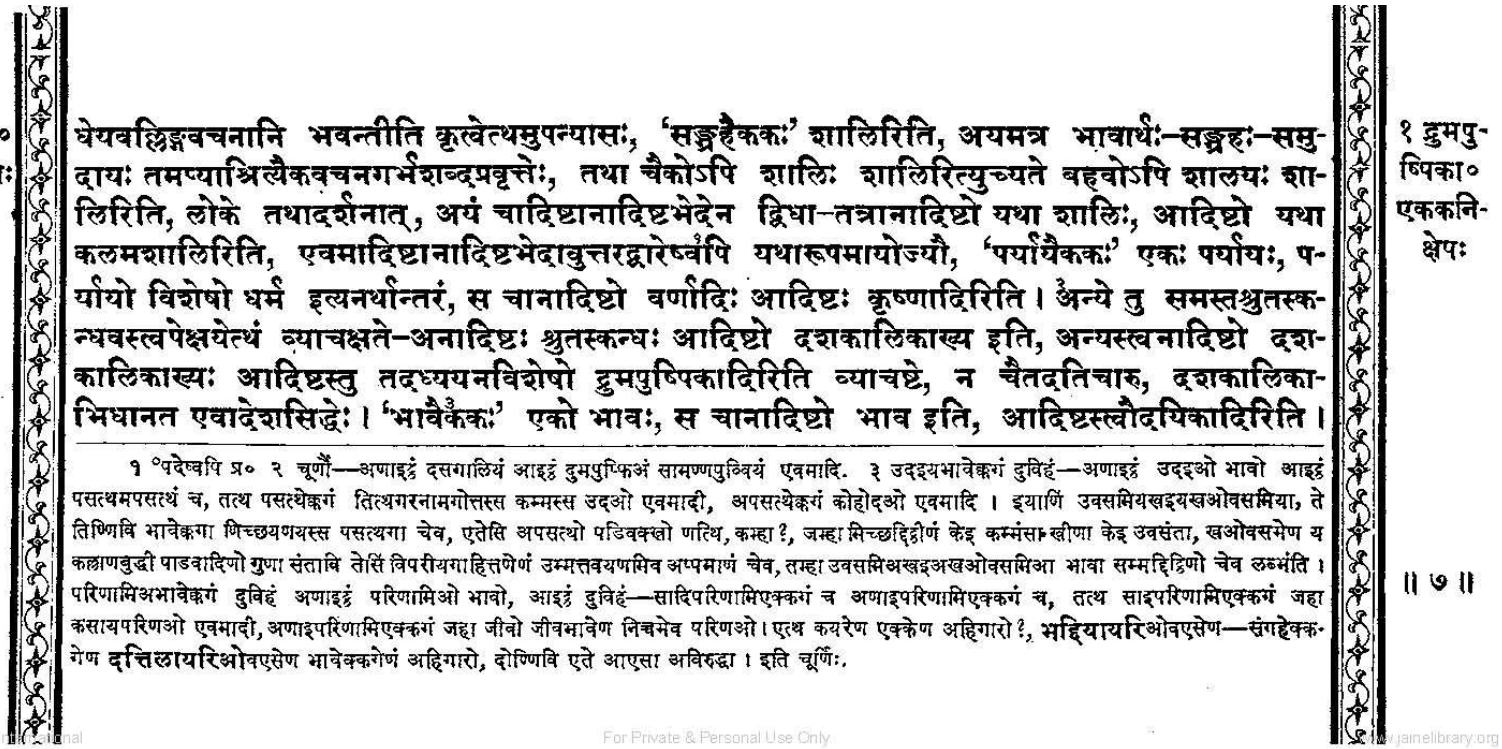
व्याख्या–इहैक एव एककः, तत्र 'नामैककः' एक इति नाम 'स्थापनैककः' एक इति स्थापना, 'द्रव्यैककं' त्रिधा–सचित्तादि, तत्र सचित्तमेकं पुरुषद्रव्यं, अचित्तमेकं रूपकद्रव्यं, मिश्रं तदेव कटकादिभूषितं पुरुषद्रव्यमिति, 'मातृकापदैककम्' एकं मातृकापदं, तद्यथा—'उप्पन्ने इ वे' त्यादि, इह प्रवचने दृष्टिवादे समस्तनयवादबीजभूतानि मातृकापदानि भवन्ति, तद्यथा—"उप्पन्ने इ वा विगमे इ वा धुवे इ वा" अमूनि च (वा) मातृकापदानि "अ आ इ ई" इत्येवमादीनि, सकलशब्दव्यवहारव्यापकत्वान्मातृकापदानि, इह चाभि-

दश. २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



दशवैका० हारि-वृत्तिः

॥ ७ ॥

धेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति कृत्वेत्थमुपन्यासः, 'सङ्ग्रहैककः' शालिरिति, अयमत्र भावार्थः–सङ्ग्रहः–समुदायः तमप्याश्रित्यैकवचनगर्भशब्दप्रवृत्तेः, तथा चैकोऽपि शालिः शालिरित्युच्यते बहवोऽपि शालयः शालिरिति, लोके तथादर्शनात्, अयं चादिष्टानादिष्टभेदेन द्विधा–तत्रानादिष्टो यथा शालिः, आदिष्टो यथा कलमशालिरिति, एवमादिष्टानादिष्टभेदावुत्तरद्वारेष्वपि यथारूपमायोज्यौ, 'पर्यायैककः' एकः पर्यायः, पर्यायो विशेषो धर्म इत्यनर्थान्तरं, स चानादिष्टो वर्णादिः आदिष्टः कृष्णादिरिति। अन्ये तु समस्तश्रुतस्कन्धवस्त्वपेक्षयेत्थं व्याचक्षते–अनादिष्टः श्रुतस्कन्धः आदिष्टो दशकालिकाख्य इति, अन्यस्त्वनादिष्टो दशकालिकाख्यः आदिष्टस्तु तदध्ययनविशेषो द्रुमपुष्पिकादिरिति व्याचष्टे, न चैतदतिचारु, दशकालिकाभिधानत एवादेशसिद्धेः। 'भावैककः' एको भावः, स चानादिष्टो भाव इति, आदिष्टस्त्वौदयिकादिरिति।

१ द्रुमपुष्पिका० एककनिक्षेपः

॥ ७ ॥

१ °पदेष्वपि प्र० २ चूर्णौ—अणाइट्ठं दसगालियं आइट्ठं दुमपुप्फिअं सामण्णपुव्विअं एवमादि. ३ उदइयभावेक्कगं दुविहं—अणाइट्ठं उदइओ भावो आइट्ठं पसत्थमपसत्थं च, तत्थ पसत्थेक्कगं तित्थगरनामगोत्तस्स कम्मस्स उदओ एवमादी, अपसत्थेक्कगं कोहोदओ एवमादि । इयाणिं उवसमियखइयखओवसमिया, ते तिण्णिवि भावेक्कगा णिच्छयणयस्स पसत्थगा चेव, एतेसि अपसत्थो पडिक्खो णत्थि, कम्हा ?, जम्हा मिच्छदिट्ठीणं केइ कम्मंसा खीणा केइ उवसंता, खओवसमेण य कल्लाणबुद्धी पाडवादिणो गुणा संतावि तेसिं विपरीयगाहित्तणेणं उम्मत्तवयणमिव अप्पमाणं चेव, तम्हा उवसमिअखइअखओवसमिआ भावा सम्मदिट्ठिणो चेव लब्भंति । परिणामिअभावेक्कगं दुविहं अणाइट्ठं परिणामिओ भावो, आइट्ठं दुविहं—सादिपरिणामिएक्कगं च अणाइपरिणामिएक्कगं च, तत्थ साइपरिणामिएक्कगं जहा कसायपरिणओ एवमादी, अणाइपरिणामिएक्कगं जहा जीवो जीवभावेण निच्चमेव परिणओ। एत्थ कयरेण एक्केण अहिगारो ?, भद्दियायरिओवएसेण—संगहेक्कगेण दत्तिलायरिओवएसेण भावेक्कगेणं अहिगारो, दोण्णिवि एते आएसा अविरुद्धा । इति चूर्णिः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

सस एते अनन्तरोक्ता एकका भवन्ति, इह च किल यस्मादश पर्याया–अध्ययनविशेषाः सङ्ग्रहैककेन संगृहीतास्तस्मात्तेनाधिकारः, अन्ये तु व्याचक्षते–यतः किल श्रुतज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते तस्माद्भावैककेनाधिकार इति गाथार्थः ॥ इदानीं द्यादीन् विहाय दशशब्दस्यैव निक्षेपं प्रतिपादयन्नाह—

णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे अ । एसो खलु निक्खेवो दसगस्स उ छव्विहो होइ ॥ ९ ॥

व्याख्या–आह–किमिति द्यादीन् विहाय दशशब्दः उपन्यस्तः ?, उच्यते, एतत्प्रतिपादनादेव द्यादीनां गम्यमानत्वात्, तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यदशकं दश द्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्राणि मनुष्यरूपककटकादिविभूषितानीति, क्षेत्रदशकं दश क्षेत्रप्रदेशाः, कालदशकं दश कालाः, वर्त्तनादिरूपत्वात्कालस्य दशावस्थाविशेषा इत्यर्थः वक्ष्यति च—'बाला किड्डा मंदे' त्यादिना, भावदशकं दश भावाः, ते च सान्निपातिकभावे स्वरूपतो भावनीयाः, अथ चैत (वैत) एव विवक्षया दशाध्ययनविशेषा इति, 'एष' एवंभूतः खलु 'निक्षेपो' न्यासो दशशब्दस्य बहुवचनान्तत्वादशानां षड्विधो भवति, तत्र खलुशब्दोऽवधारणार्थः, एष एव प्रक्रान्तोपयोगीति, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?–नायं दशशब्दमात्रस्य, किन्तु तद्वाच्यस्यार्थस्यापीति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं प्रस्तुतोपयोगित्वात्कालस्य कालदशकद्वारे विशेषार्थप्रतिपिपादयिषयेदमाह—

बाला किड्डा मंदा बला य पन्ना य हायणि पवंचा । पब्भार मम्मुही सायणी य दसमा उ कालदसा ॥ १० ॥

व्याख्या–बाला क्रीडा च मन्दा च बला (च) प्रज्ञा च हायिनी ईषत्प्रपञ्चा प्राग्भारा मृन्मुखी शायिनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दश आदि शब्दस्य निक्षेपाः प्रदर्श्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ८ ॥

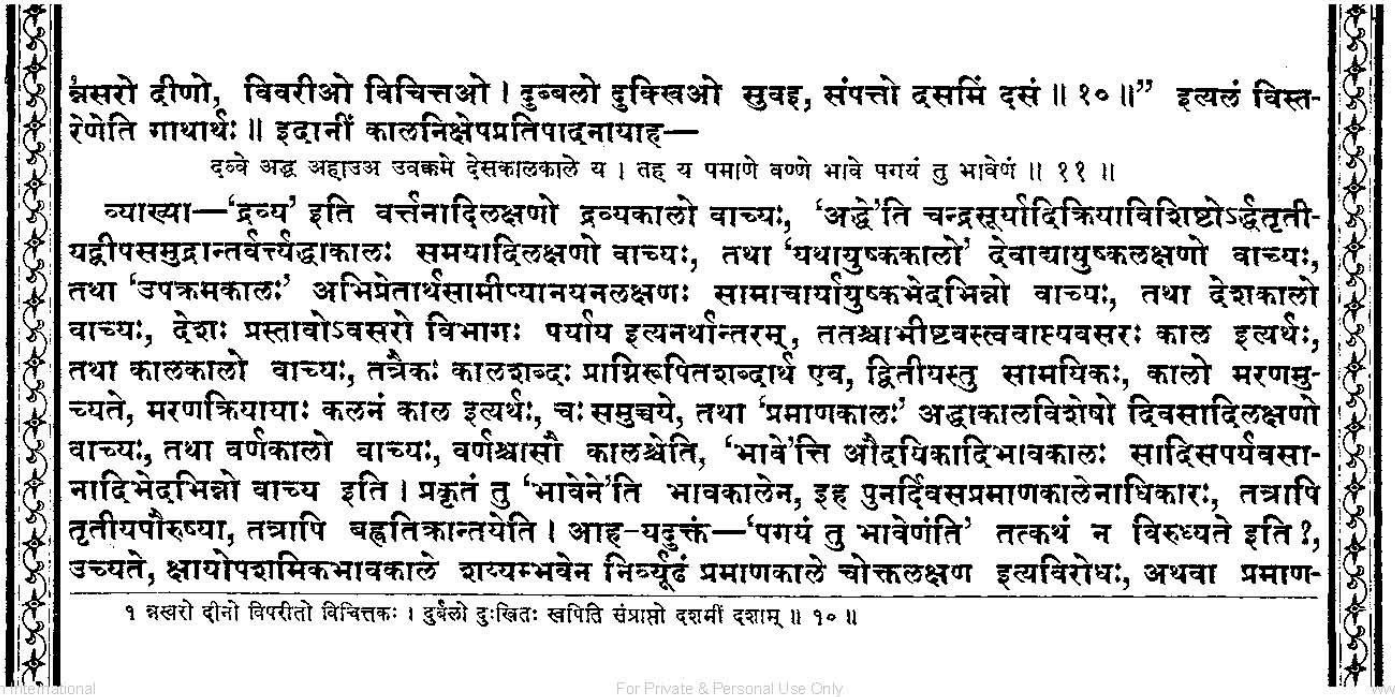
तथा। एता हि दश दशाः—जन्त्ववस्थाविशेषलक्षणा भवन्ति। आसां च स्वरूपमिदमुक्तं पूर्वमुनिभिः—"जा-यमित्तस्स जंतुस्स, जा सा पढमिया दसा । ण तत्थ सुहदुक्खाइं, बहुं जाणंति बालया ॥ १ ॥ बिइयं च दसं पत्तो, णाणाकिड्डाहिं किड्डइ । न तत्थ कामभोगेहिं, तिव्वा उप्पज्जई मई ॥ २ ॥ तइयं च दसं पत्तो, पंच कामगुणे नरो। समत्थो भुंजिउं भोए, जइ से अत्थि घरे धुवा ॥ ३ ॥ चउत्थी उ बला नाम, जं नरो दस-मस्सिओ। समत्थो बलं दरिसिउं, जइ होइ निरुवद्दवो ॥ ४ ॥ पंचमिं तु दसं पत्तो, आणुपुव्वीइ जो नरो। इच्छियत्थं विचिंतेइ, कुडुंबं वाऽभिकंखई ॥ ५ ॥ छट्ठी उ हायणी नाम, जं नरो दसमस्सिओ। विरज्जइ य कामेसु, इंदिएसु य हायई ॥ ६ ॥ सत्तमिं च दसं पत्तो, आणुपुव्वीइ जो नरो। निट्ठुहइ चिक्कणं खेलं, खासइ य अभिक्खणं ॥७॥ संकुचियवलीचम्मो, संपत्तो अट्ठमिं दसं। णारीणमणभिप्पेओ, जराए परिणामिओ ॥८॥ णवमी मम्मुही नाम, जं नरो दसमस्सिओ । जराघरे विणस्संतो, जीवो वसइ अकामओ ॥ ९ ॥ हीणभि-

१ जातमात्रस्य जन्तोर्या सा प्रथमा दशा। न तत्र सुखदुःखानि बहूनि जानन्ति बालकाः ॥ १ ॥ द्वितीयां च दशां प्राप्तो नानाक्रीडाभिः क्रीडते। न तत्र कामभोगेषु तीव्रोत्पद्यते मतिः ॥ २ ॥ तृतीयां च दशां प्राप्तः पञ्च कामगुणान्नरः । समर्थो भोक्तुं भोगान् यदि तस्य (सन्ति) गृहे ध्रुवाः ॥ ३ ॥ चतुर्थी तु बला नाम यां नरो दशामाश्रितः। समर्थो बलं दर्शयितुं यदि भवति निरुपद्रवः ॥ ४ ॥ पञ्चमीं तु दशां प्राप्त आनुपूर्व्या यो नरः। ईप्सितार्थं विचिन्तयति कुटुम्बं वाऽभिकाङ्क्षति ॥ ५ ॥ षष्ठी तु हायिनी नाम यां नरो दशामाश्रितः। विरज्यते च कामेभ्य इन्द्रियार्थेषु च हीयते ॥ ६ ॥ सप्तमीं च दशां प्राप्त आनुपूर्व्या यो नरः। निष्ठीवति चिक्कणं श्लेष्माणं कासति चाभीक्ष्णम् ॥ ७ ॥ सङ्कुचितवलिचर्मा सम्प्राप्तोऽष्टमीं दशाम्। नारीणामनभिप्रेतः जरया परिणामितः ॥ ८ ॥ नवमी मृन्मुखी नाम यां नरो दशामाश्रितः। जराग्रहे विनश्यन् जीवो वसत्यकामः ॥ ९ ॥ हीनभि—

१ द्रुमपु-ष्पिकाध्य० दशादश-कम्

॥ ८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



ऽसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ। दुब्बलो दुक्खिओ सुवइ, संपत्तो दसमिं दसं ॥ १० ॥" इत्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ इदानीं कालनिक्षेपप्रतिपादनायाह—

दव्वे अद्ध अहाउअ उवक्कमे देसकालकाले य। तह य पमाणे वण्णे भावे पगयं तु भावेणं ॥ ११ ॥

व्याख्या—'द्रव्य' इति वर्त्तनादिलक्षणो द्रव्यकालो वाच्यः, 'अद्धे'ति चन्द्रसूर्यादिक्रियाविशिष्टोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्यद्धाकालः समयादिलक्षणो वाच्यः, तथा 'यथायुष्ककालो' देवाद्यायुष्कलक्षणो वाच्यः, तथा 'उपक्रमकालः' अभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणः सामाचार्यायुष्कभेदभिन्नो वाच्यः, तथा देशकालो वाच्यः, देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्, ततश्चाभीष्टवस्त्ववाप्यवसरः काल इत्यर्थः, तथा कालकालो वाच्यः, तत्रैकः कालशब्दः प्राग्निरूपितशब्दार्थ एव, द्वितीयस्तु सामयिकः, कालो मरणमुच्यते, मरणक्रियायाः कलनं काल इत्यर्थः, चः समुच्चये, तथा 'प्रमाणकालः' अद्धाकालविशेषो दिवसादिलक्षणो वाच्यः, तथा वर्णकालो वाच्यः, वर्णश्चासौ कालश्चेति, 'भावे'त्ति औदयिकादिभावकालः सादिसपर्यवसानादिभेदभिन्नो वाच्य इति। प्रकृतं तु 'भावेने'ति भावकालेन, इह पुनर्दिवसप्रमाणकालेनाधिकारः, तत्रापि तृतीयपौरुष्या, तत्रापि बह्वतिक्रान्तयेति। आह-यदुक्तं—'पगयं तु भावेणंति' तत्कथं न विरुध्यते इति?, उच्यते, क्षायोपशमिकभावकाले शय्यम्भवेन निर्यूढं प्रमाणकाले चोक्तलक्षण इत्यविरोधः, अथवा प्रमाण-

१ ऋसरो दीनो विपरीतो विचित्तकः। दुर्बलो दुःखितः स्वपिति संप्राप्तो दशमीं दशाम् ॥ १० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

कालोऽपि भावकाल एव, तस्याद्धाकालस्वरूपत्वात्, तस्य च भावत्वादिति गाथासमुदायार्थः ॥ अवयवार्थस्तु सामायिकविशेषविवरणादवसेयः । तथा चाह निर्युक्तिकारः—

सामाइयअणुक्कमओ वण्णेउं विगयपोरिसीए ऊ । निज्जूढं किर सेज्जंभवेण दसकालियं तेणं ॥ १२ ॥

व्याख्या–सामायिकम्–आवश्यकप्रथमाध्ययनं तस्यानुक्रमः–परिपाटीविशेषः सामायिके वाऽनुक्रमः सामायिकानुक्रमः ततः सामायिकानुक्रमतः–सामायिकानुक्रमेण वर्णयितुम्, अनन्तरोपन्यस्तगाथाद्वाराणीति प्रक्रमाद् गम्यते, विगतपौरुष्यामेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, 'निर्यूढं' पूर्वगतादुद्धृत्य विरचितं, किलशब्दः परोक्षाप्तागमवादसंसूचकः शय्यम्भवेन चतुर्दशपूर्ववित्[1] 'दशकालिकं' प्राग्निरूपिताक्षरार्थं 'तेन' कारणेनोच्यत इति गाथार्थः ॥ श्रुतस्कन्धयोस्तु निक्षेपश्चतुर्विधो द्रष्टव्यो यथाऽनुयोगद्वारेषु, स्थानाशून्यार्थं किञ्चिदुच्यते–इह नोआगमतः ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतं पुस्तकपत्रन्यस्तं, अथवा सूत्रमण्डजादि, भावश्रुतं त्वागमतो ज्ञाता उपयुक्तः, नोआगमतस्त्विदमेव दशकालिकं, नोशब्दस्य देशवचनत्वात्, एवं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्कन्धः सचेतनादिः, तत्र सचित्तो द्विपदादिः, अचित्तो द्विप्रदेशिकादिः, मिश्रः सेनादि(दे)र्देशादिरिति, तथा भावस्कन्धस्त्वागमतस्तदर्थोपयोगपरिणाम एव, नोआगमतस्तु दशकालिकश्रुतस्कन्ध एवेति, नोशब्दस्य देशवचनत्वादिति, इदानीमध्ययनोद्देशकन्यासप्रस्तावः,

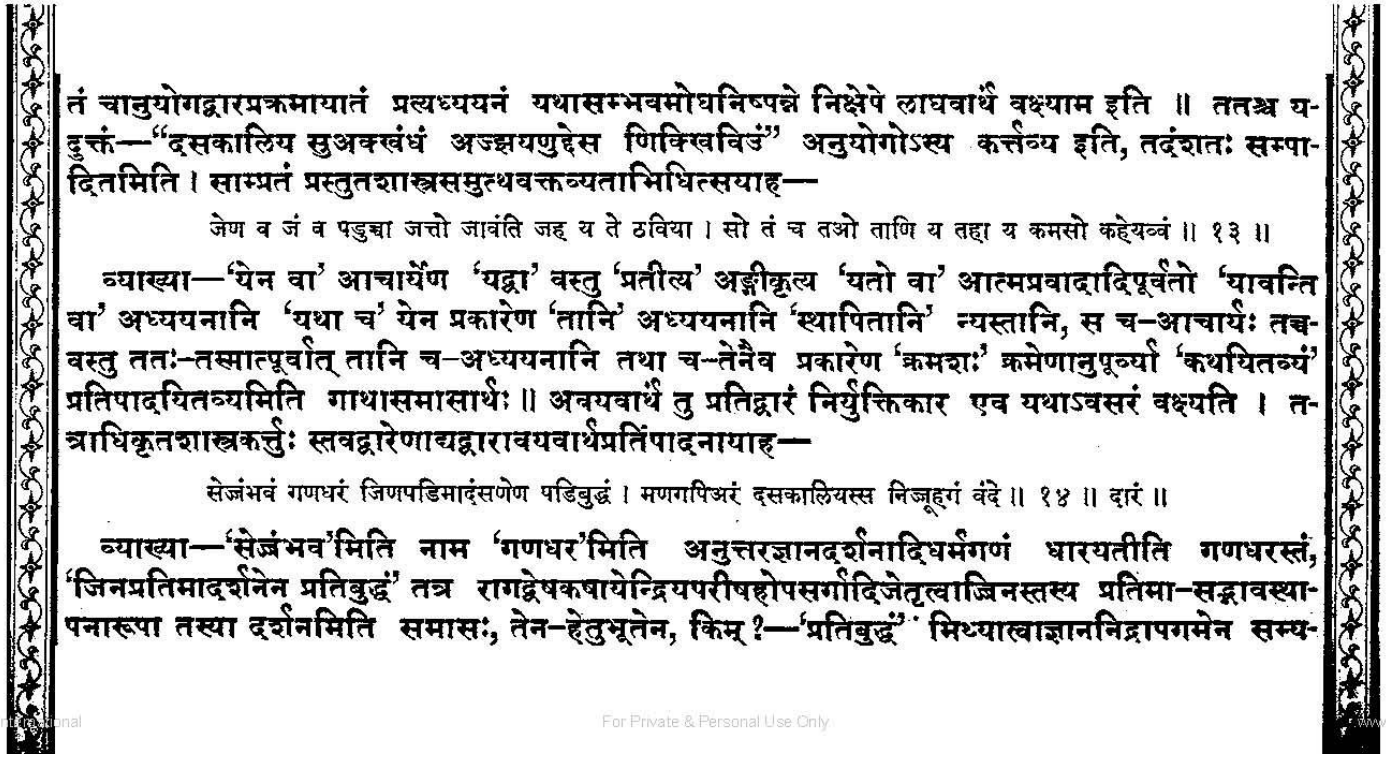
१ क्रियारूपत्वेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



तं चानुयोगद्वारप्रक्रमायातं प्रत्यध्ययनं यथासम्भवमोघनिष्पन्ने निक्षेपे लाघवार्थं वक्ष्याम इति ॥ ततश्च यदुक्तं—"दसकालिय सुअक्खंधं अज्झयणुद्देस णिक्खिविउं" अनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति, तदंशतः सम्पादितमिति । साम्प्रतं प्रस्तुतशास्त्रसमुत्थवक्तव्यताभिधित्सयाह—

जेण व जं व पडुच्चा जत्तो जावंति जह य ते ठविया । सो तं च तओ ताणि य तहा य कमसो कहेयव्वं ॥ १३ ॥

व्याख्या—'येन वा' आचार्येण 'यद्वा' वस्तु 'प्रतीत्य' अङ्गीकृत्य 'यतो वा' आत्मप्रवादादिपूर्वतो 'यावन्ति वा' अध्ययनानि 'यथा च' येन प्रकारेण 'तानि' अध्ययनानि 'स्थापितानि' न्यस्तानि, स च–आचार्यः तच्च वस्तु ततः–तस्मात्पूर्वात् तानि च–अध्ययनानि तथा च–तेनैव प्रकारेण 'क्रमशः' क्रमेणानुपूर्व्या 'कथयितव्यं' प्रतिपादयितव्यमिति गाथासमासार्थः ॥ अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं निर्युक्तिकार एव यथाऽवसरं वक्ष्यति । तत्राधिकृतशास्त्रकर्त्तुः स्तवद्वारेणाद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

सेज्जंभवं गणधरं जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं । मणगपिअरं दसकालियस्स निज्जूहगं वंदे ॥ १४ ॥ दारं ॥

व्याख्या—'सेज्जंभव'मिति नाम 'गणधर'मिति अनुत्तरज्ञानदर्शनादिधर्मगणं धारयतीति गणधरस्तं, 'जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्धं' तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गादिजेतृत्वाज्जिनस्तस्य प्रतिमा–सद्भावस्थापनारूपा तस्या दर्शनमिति समासः, तेन–हेतुभूतेन, किम् ?—'प्रतिबुद्धं' मिथ्यात्वाज्ञाननिद्रापगमेन सम्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवैकालिक-शास्त्रस्य समुत्पत्ति कथा कथयते

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

क्त्वविकाशं प्राप्तं 'मनकपितर'मिति मनकाख्यापत्यजनकं 'दशकालिकस्य' प्राग्निरूपिताक्षरार्थस्य 'निर्यूहकं' पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्त्तारं 'वन्दे' स्तौमि इति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–एत्थ वद्धमाणसामिस्स चरमतित्थगरस्स सीसो तित्थसामी सुहम्मो नाम गणधरो आसी, तस्सवि जंबूणामो, तस्सवि य पभवोत्ति, तस्सऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिंता समुप्पन्ना–को मे गणहरो होज्जत्ति ?, अप्पणो गणे य संघे य सव्वओ उवओगो कओ, ण दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो, ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जंभवं माहणं जन्नं जयमाणं पासइ, ताहे राअगिहं णगरं आगंतूणं संघाडयं वावारेइ–जन्नवाडगं गंतुं भिक्खट्ठा धम्मलाहेह, तत्थ तुब्भे [३]अदिच्छाविज्जिहिह, ताहे तुब्भे भणिज्जह—"अहो कष्टं तत्त्वं न ज्ञायते" इति, [३]तओ गया साहू अदिच्छाविया अ, तेहिं भणिअं—'अहो कष्टं तत्त्वं न ज्ञायते', तेण य सेज्जंभवेण दारमूलेठिएण तं वयणं सुअं, ताहे सो विचिंतेइ–एए उवसंता तवस्सिणो असच्चं ण

१ अत्र वर्द्धमानस्वामिनश्चरमतीर्थकरस्य शिष्यः तीर्थस्वामी सुधर्मा नाम गणधर आसीत्, तस्यापि जम्बूनामा, तस्यापि च प्रभव इति, तस्यान्यदा कदाचित्पूर्वरात्रापररात्रे चिन्ता समुत्पन्ना—को मे गणधरो भविष्यतीति ?, आत्मनो गणे च सङ्घे च सर्वतः उपयोगः कृतः, न दृश्यते कोऽपि अव्युच्छित्तिकरः, तदा गृहस्थेषूपयुक्तः, उपयोगे कृते राजगृहे शय्यम्भवं ब्राह्मणं यज्ञं यजमानं पश्यति, तदा राजगृहं नगरमागत्य सङ्घाटकं (साधुयुग्मम्) व्यापारयति—यज्ञपाटकं गत्वा भिक्षार्थं धर्मलाभयतं, तत्र युवां अदित्सिष्येथे (निषेत्स्येथे) तदा युवां भणेतम्—ततो गतौ साधू अदित्सितौ (निषिद्धौ) च, ताभ्यां भणितम्—तेन च शय्यम्भवेन द्वारमूले स्थितेन तद्वचनं श्रुतं, तदा स विचिन्तयति—एतौ उपशान्तौ तपस्विनौ असत्यं न २ न दानगोचरीभविष्यथः. बि. प. ३ ते निग्गया प्र०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

वंयंतित्तिकाउं अज्झावगसगासं गंतुं भणइ–किं तत्तं ?, सो भणइ–वेदाः, ताहे सो असिं कड्ढिऊण भणइ–सीसं ते छिंदामि जइ मे तुमं तत्तं न कहेसि, तओ अज्झावओ भणइ–पुण्णो मम समओ, भणियमेयं वेयत्थे–परं सीसच्छेए कहियव्वंति, संपयं कहयामि जं एत्थ तत्तं, एतस्स जूवस्स हेट्ठा सव्वरयणामयी पडिमा अरहओ सा धुव्वत्ति अरहओ धम्मो तत्तं, ताहे सो तस्स पाएसु पडिओ, सो य जन्नवाडओवक्खेवो तस्स चेव दिण्णो, ताहे सो गंतूणं ते साहू गवेसमाणो गओ आयरियसगासं, आयरियं वंदित्ता साहुणो (य) भणइ–मम धम्मं कहेह, ताहे आयरिया उवउत्ता–जहा इमो सोत्ति, ताहे आयरिएहिं साहुधम्मो कहिओ, संबुद्धो पव्वइओ सो, चउद्दसपुव्वी जाओ । जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था, तम्मि य पव्वइए लोगो णियल्लओ तंतमस्सति–जहा तरुणाए भत्ता पव्वइओ अपुत्ताए, अवि अत्थि तव

१ वदेतामितिकृत्वा अध्यापकसकाशं गत्वा भणति—किं तत्त्वम्?, स भणति—वेदाः, तदा सोऽसिं कृष्ट्वा भणति—शीर्षं तव छिनद्मि यदि मह्यं तत्त्वं न कथयसि, ततोऽध्यापको भणति—पूर्णो मे समयः, भणितमेतद् वेदार्थे—परं शीर्षच्छेदे कथयितव्यमिति, साम्प्रतं कथयामि, यदत्र तत्त्वम्, एतस्य यूपस्याधस्तात् सर्वरत्नमयी प्रतिमा अर्हतः सा ध्रुवेति आर्हतो धर्मस्तत्त्वम्, तदा स तस्य पादयोः पतितः, स च यज्ञपाटकोपस्करः तस्मायेव दत्तः । तदा स गत्वा तौ साधू गवेषयन् गत आचार्यसकाशम्, आचार्यं वन्दित्वा साधूंश्च भणति—मह्यं धर्मं कथयत, तदा आचार्यो उपयुक्ता—यथाऽयं स इति । तदाऽऽचार्यैः साधुधर्मः कथितः, संबुद्धः प्रव्रजितः, चतुर्दशपूर्वी जातः । यदा च स प्रव्रजितः तदा च तस्य गर्भिणी महिलाऽभवत्, तस्मिंश्च प्रव्रजिते लोको निजक आक्रन्दति—यथा तरुणाया भर्त्ता प्रव्रजितोऽपुत्रायाः, अपि च अस्ति तव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

किंचिं पोट्टेत्ति पुच्छइ, सा भणइ–उवलक्खेमि मणगं, तओ समएण दारगो जाओ। ताहे णिव्वत्तबारसाहस्स नियल्लगेहिं जम्हा पुच्छिज्जंतीए माताए से भणिअं 'मणगं'ति तम्हा मणओ से णामं कयंति। जया सो अट्ठवरिसो जाओ ताहे सो मातरं पुच्छइ–को मम पिआ?, सा भणइ–तव पिआ पव्वइओ, ताहे सो दारओ णासिऊणं पिउसगासं पट्ठिओ। आयरिया य तं कालं चंपाए विहरंति, सोऽवि अ दारओ चंपयमेवागओ, आयरिएण य सण्णाभूमिं गएण सो दारओ दिट्ठो, दारएण वंदिओ आयरिओ, आयरियस्स य तं दारगं पिच्छंतस्स णेहो जाओ, तस्सवि दारगस्स तहेव, तओ आयरिएहिं पुच्छियं–भो दारगा! कुतो ते आगमणंति?, सो दारगो भणइ–रायगिहाओ, आयरिएण भणियं–रायगिहे तुमं कस्स पुत्तो नत्तुओ वा?, सो भणइ–सेज्जंभवो नाम बंभणो तस्साहं पुत्तो, सो य किर पव्वइओ, तेहिं भणियं–तुमं केण कज्जेण आग-

१ किञ्चित् उदरे इति पृच्छति, सा भणति—उपलक्षयामि मनाक्, ततः समयेन दारको जातः। तदा निवृत्तद्वादशाहस्य निजकैः यस्मात् पृच्छ्यमानया मात्रा तस्य भणितं मनागिति तस्मात् मनकस्तस्य नाम कृतमिति। यदा सोऽष्टवर्षो जातस्तदा स मातरं पृच्छति—को मे पिता?, सा भणति—तव पिता प्रव्रजितः, तदा स दारकः नष्ट्वा पितृसकाशं प्रस्थितः, आचार्याश्च तस्मिन् काले चम्पायां विहरन्ति, सोऽपि च चम्पामेवागतः, आचार्येण च संज्ञा (विहार) भूमिं गतेन स दारको दृष्टः, दारकेण वन्दित आचार्यः, आचार्यस्य च तं दारकं प्रेक्षमाणस्य स्नेहो जातः, तस्यापि दारकस्य तथैव, तत आचार्यैः पृष्टः—भो दारक! कुतस्ते आगमनमिति, स दारको भणति—राजगृहात्, आचार्येण भणितम्—राजगृहे त्वं कस्य पुत्रो नप्तृको वा?, स भणति—शय्यम्भवो नाम ब्राह्मणः तस्याहं पुत्रः, स च किल प्रव्रजितः, तैर्भणितः—त्वं केन कार्येण आगतोऽसि?,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओऽसि ?, सो भणइ–अहंपि पव्वइस्सं, पच्छा सो दारओ भणइ–तं तुम्हे जाणह ?, आयरिया भणंति–जाणेमो, तेण भणियं !–सो कहिंति ?, ते भणंति–सो मम मित्तो एगसरीरभूतो, पव्वयाहि तुमं मम सगासे, तेण भणियं–एवं करोमि। तओ आयरिया आगंतुं पडिस्सए आलोअंति–सचित्तो पडुप्पन्नो, सो पव्वइओ, पच्छा आयरिया उवउत्ता–केवतिकालं एस जीवइत्ति ?, णायं जावं छम्मासा, ताहे आयरियाणं बुद्धी समुप्पन्ना–इमस्स थोवगं आउं, किं कायव्वंति ?, तं चउद्दसपुव्वी कम्हिवि कारणे समुप्पन्ने णिज्जूहति, दसपुव्वी पुण अपच्छिमो अवस्समेव णिज्जूहेइ, ममंपि इमं कारणं समुप्पन्नं, तो अहमवि णिज्जूहामि, ताहे आढत्तो णिज्जूहिउं, ते उ णिज्जूहिज्जंता वियाले णिज्जूढा थोवावसेसे दिवसे, तेण तं दसवेयालियं भणिज्जति" । अनेन च कथानकेन न केवलं 'येन वे'त्यस्यैव द्वारस्य भावार्थोऽभिहितः, किन्तु यद्वा प्रतीत्यैतस्यापीति, तथा चाह निर्युक्तिकारः—

---

१ स भणति—अहमपि प्रव्रजिष्यामि, पश्चात् स दारको भणति—तं यूयं जानीथ, आचार्या भणन्ति—जानीमः, तेन भणितम्—स कुत्रेति ?, ते भणन्ति—स मम मित्रमेकशरीरभूतः, प्रव्रज त्वं मम सकाशे, तेन भणितं—एवं करोमि। आचार्या आगत्य प्रतिश्रयं आलोचयन्ति—सचित्तः प्रत्युत्पन्नः (लब्धः), स प्रव्रजितः, पश्चादाचार्या उपयुक्ताः कियन्तं कालमेष जीविष्यति ?, ज्ञातं यावत्षण्मासान्, तदाऽऽचार्याणां बुद्धिः समुत्पन्ना—अस्य स्तोकमायुः, किं कर्त्तव्यमिति, तत् चतुर्दशपूर्वी कस्मिंश्चिदपि कारणे समुत्पन्ने उद्धरति, दशपूर्वी पुनरपश्चिमः अवश्यमेव उद्धरति, ममापीदं कारणं समुत्पन्नं तस्मादहमपि उद्धरामि, तदा आहत उद्धर्तुं, तानि तूद्ध्रियमाणानि विकाले उद्धृतानि स्तोकावशेषे दिवसे, तेन तद्दशवैकालिकं भण्यत इति, २ यूहं उद्धरण इत्यागमिको धातुरिति न्यायसंग्रहः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १२ ॥

मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसऽज्झयणा । वेयालियाइ ठविया तम्हा दसकालियं णामं ॥ १५ ॥ द्वारं ॥

व्याख्या—'मनकं प्रतीत्य' मनकाख्यमपत्यमाश्रित्य 'शय्यम्भवेन' आचार्येण 'निर्यूढानि' पूर्वगतादुद्धृत्य विरचितानि 'दशाध्ययनानि' द्रुमपुष्पिकादीनि 'वेयालियाइ ठविय'त्ति विगतः कालो विकालः विकलनं वा विकाल इति, विकालोऽसकलः खण्डश्चेत्यनर्थान्तरम्, तस्मिन् विकाले–अपराण्हे 'स्थापितानि' न्यस्तानि द्रुमपुष्पिकादीन्यध्ययनानि यतः तस्माद्दशकालिकं नाम, व्युत्पत्तिः पूर्ववत्, दशवैकालिकं वा, विकालेन निर्वृत्तम्, संकाशादिपाठाच्चातुरर्थिकष्ठक् (पा० ४–२–८०) तद्धितेष्वचामादे (पा० ७–२–११७) रित्यादिवृद्धेर्वैकालिकं, दशाध्ययननिर्माणं च तद्वैकालिकं च दशवैकालिकमिति गाथार्थः ॥ एवं येन वा यद्वा प्रतीत्येति व्याख्यातम्, इदानीं यतो निर्व्यूढानीत्येतद् व्याचिख्यासुराह—

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती । कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥ १६ ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ । अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥ ॥ १७ ॥
बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ । एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥ १८ ॥

व्याख्या–इहात्मप्रवादपूर्वं–यत्रात्मनः संसारिमुक्तायनेकभेदभिन्नस्य प्रवदनमिति, तस्मान्निर्व्यूढा भवति धर्मप्रज्ञप्तिः, षड्जीवनिका इत्यर्थः, तथा कर्मप्रवादपूर्वात्, किम्?–पिण्डस्य तु एषणा त्रिविधा, निर्व्यूढेति व-

१ कुमुदादेराकृतिगणत्वात् वुञ्छणिल्यादिना ठक्, संकाशादीति तु लेखकभ्रममूलः पाठस्तत्र ण्यभावात्. २ विकाले पठ्यते इति वैकालिकमिति चूर्णिः.

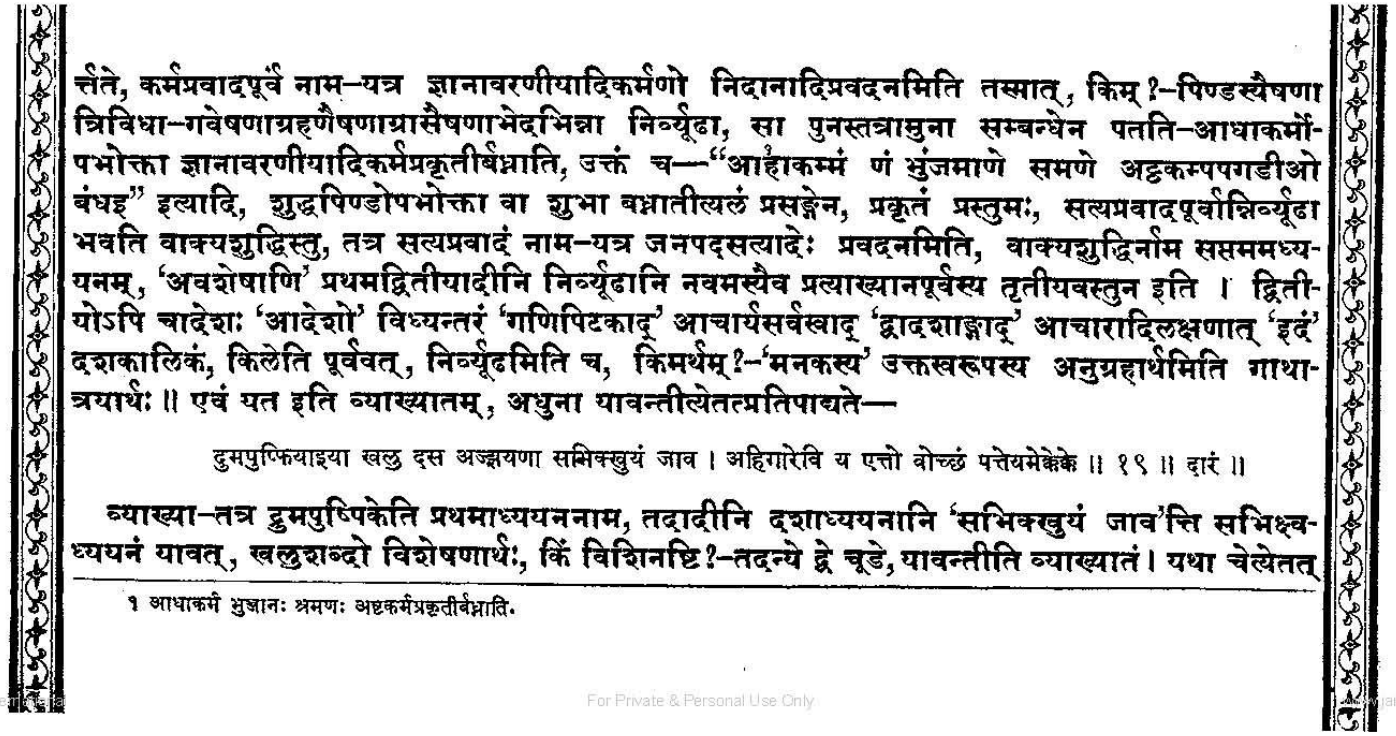
१ द्रुमपुष्पिकाध्ययनोद्धारः ॥ १२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



र्त्तते, कर्मप्रवादपूर्वे नाम–यत्र ज्ञानावरणीयादिकर्मणो निदानादिप्रवदनमिति तस्मात्, किम्?–पिण्डस्यैषणा त्रिविधा–गवेषणाग्रहणैषणाग्रासैषणाभेदभिन्ना निर्व्यूढा, सा पुनस्तत्रामुना सम्बन्धेन पतति–आधाकर्मोपभोक्ता ज्ञानावरणीयादिकर्मप्रकृतीर्बध्नाति, उक्तं च—"आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ" इत्यादि, शुद्धपिण्डोपभोक्ता वा शुभा बध्नातीत्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, सत्यप्रवादपूर्वान्निर्व्यूढा भवति वाक्यशुद्धिस्तु, तत्र सत्यप्रवादं नाम–यत्र जनपदसत्यादेः प्रवदनमिति, वाक्यशुद्धिर्नाम सप्तममध्ययनम्, 'अवशेषाणि' प्रथमद्वितीयादीनि निर्व्यूढानि नवमस्यैव प्रत्याख्यानपूर्वस्य तृतीयवस्तुन इति । द्वितीयोऽपि चादेशः 'आदेशो' विध्यन्तरं 'गणिपिटकाद्' आचार्यसर्वस्वाद् 'द्वादशाङ्गाद्' आचारादिलक्षणात् 'इदं' दशकालिकं, किलेति पूर्ववत्, निर्व्यूढमिति च, किमर्थम्?–'मनकस्य' उक्तस्वरूपस्य अनुग्रहार्थमिति गाथात्रयार्थः ॥ एवं यत इति व्याख्यातम्, अधुना यावन्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते—

दुमपुप्फियाइया खलु दस अज्झयणा समिक्खुयं जाव । अहिगारेवि य एत्तो वोच्छं पत्तेयमेक्केक्के ॥ १९ ॥ दारं ॥

व्याख्या–तत्र द्रुमपुष्पिकेति प्रथमाध्ययननाम, तदादीनि दशाध्ययनानि 'समिक्खुयं जाव'त्ति समिक्ष्वध्ययनं यावत्, खलुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि?–तदन्ये द्वे चूडे, यावन्तीति व्याख्यातं। यथा चेत्येतत्

१ आधाकर्म भुञ्जानः श्रमणः अष्टकर्मप्रकृतीर्बध्नाति.

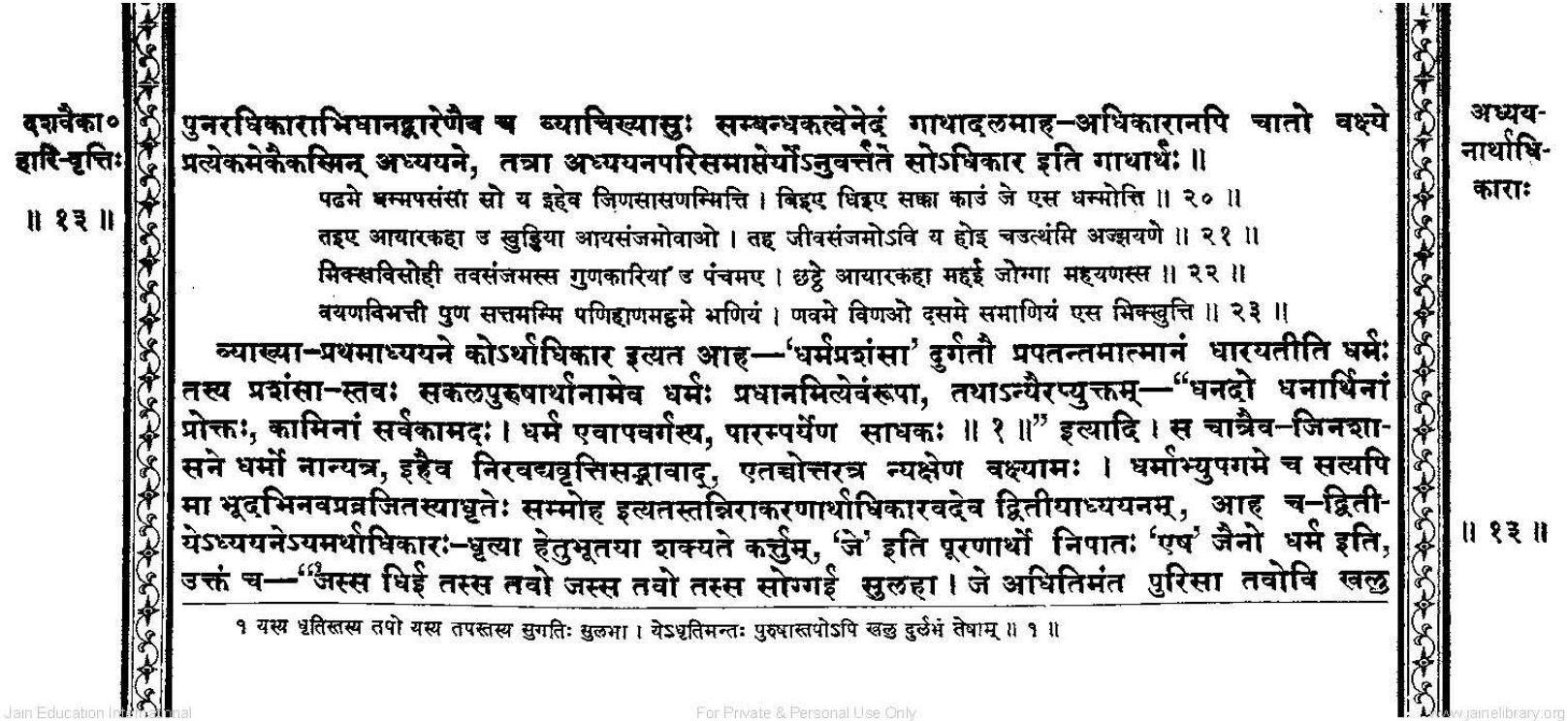
दश. ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १३ ॥

पुनरधिकाराभिधानद्वारेणैव च व्याचिख्यासुः सम्बन्धकत्वेनेदं गाथादलमाह–अधिकारानपि चातो वक्ष्ये प्रत्येकमेकैकस्मिन् अध्ययने, तत्रा अध्ययनपरिसमाप्तेर्योऽनुवर्त्तते सोऽधिकार इति गाथार्थः ॥

पढमे धम्मपसंसा सो य इहेव जिणसासणम्मित्ति । बिइए धिइए सक्का काउं जे एस धम्मोत्ति ॥ २० ॥
तइए आयारकहा उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ । तह जीवसंजमोऽवि य होइ चउत्थंमि अज्झयणे ॥ २१ ॥
भिक्खविसोही तवसंजमस्स गुणकारिया उ पंचमए । छट्ठे आयारकहा महई जोग्गा महयणस्स ॥ २२ ॥
वयणविभत्ती पुण सत्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणियं । णवमे विणओ दसमे समाणियं एस भिक्खुत्ति ॥ २३ ॥

व्याख्या–प्रथमाध्ययने कोऽर्थाधिकार इत्यत आह—'धर्मप्रशंसा' दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः तस्य प्रशंसा–स्तवः सकलपुरुषार्थानामेव धर्मः प्रधानमित्येवंरूपा, तथाऽन्यैरप्युक्तम्—"धनदो धनार्थिनां प्रोक्तः, कामिनां सर्वकामदः । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥ १ ॥" इत्यादि । स चात्रैव–जिनशासने धर्मो नान्यत्र, इहैव निरवद्यवृत्तिसद्भावाद्, एतच्चोत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्यामः । धर्माभ्युपगमे च सत्यपि मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः सम्मोह इत्यतस्तन्निराकरणार्थाधिकारवदेव द्वितीयाध्ययनम्, आह च–द्वितीयेऽध्ययनेऽयमर्थाधिकारः–धृत्या हेतुभूतया शक्यते कर्त्तुम्, 'जे' इति पूरणार्थो निपातः 'एष' जैनो धर्म इति, उक्तं च—"जस्स धिई तस्स तवो जस्स तवो तस्स सोग्गई सुलहा । जे अधितिमंत पुरिसा तवोवि खलु

१ यस्य धृतिस्तस्य तपो यस्य तपस्तस्य सुगतिः सुलभा । येऽधृतिमन्तः पुरुषास्तपोऽपि खलु दुर्लभं तेषाम् ॥ १ ॥

अध्ययनार्थाधिकाराः ॥ १३ ॥

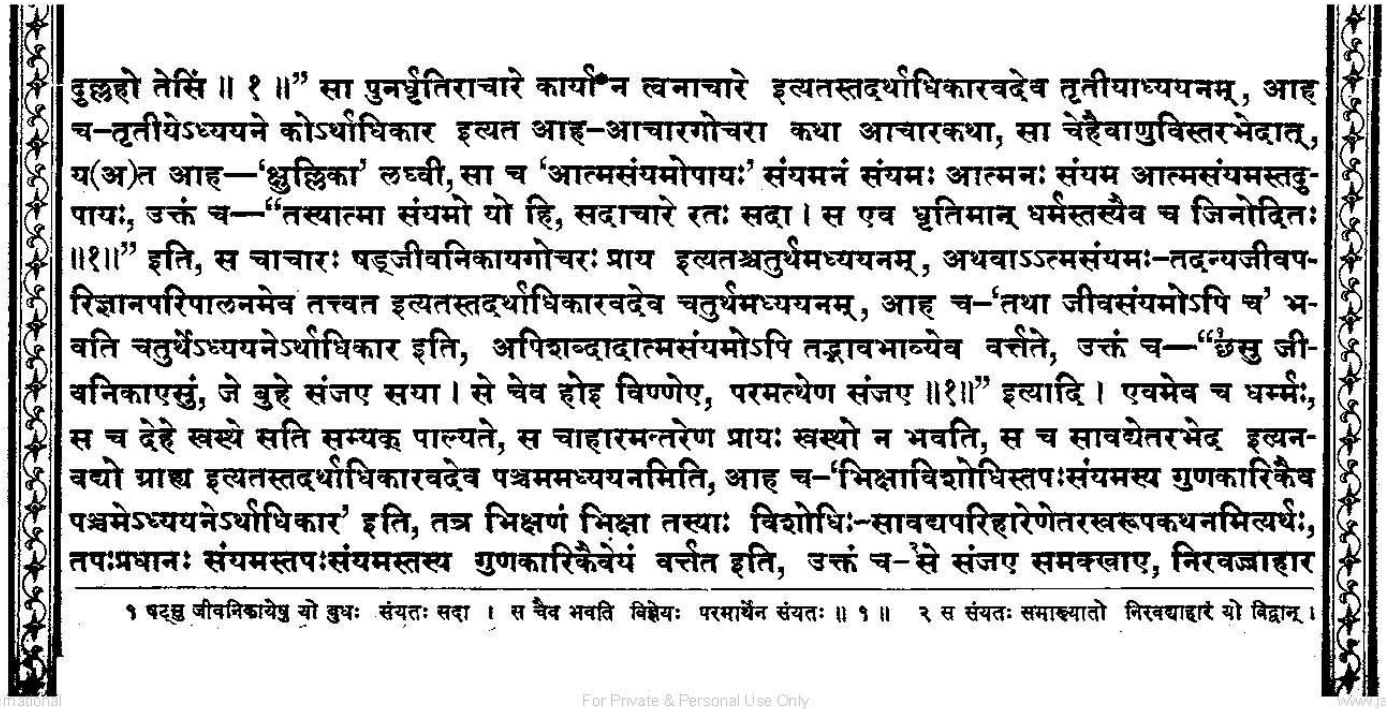
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दश अध्ययनस्य अर्थाधिकारः वर्णयते

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दुल्लहो तेसिं ॥ १ ॥" सा पुनर्धृतिराचारे कार्या न त्वनाचारे इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव तृतीयाध्ययनम्, आह च–तृतीयेऽध्ययने कोऽर्थाधिकार इत्यत आह–आचारगोचरा कथा आचारकथा, सा चेहैवाणुविस्तरभेदात्, य(अ)त आह—'क्षुल्लिका' लघ्वी, सा च 'आत्मसंयमोपायः' संयमनं संयमः आत्मनः संयम आत्मसंयमस्तदुपायः, उक्तं च—"तस्यात्मा संयमो यो हि, सदाचारे रतः सदा। स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनोदितः ॥१॥" इति, स चाचारः षड्जीवनिकायगोचरः प्राय इत्यतश्चतुर्थमध्ययनम्, अथवाऽऽत्मसंयमः–तदन्यजीवपरिज्ञानपरिपालनमेव तत्त्वत इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव चतुर्थमध्ययनम्, आह च–'तथा जीवसंयमोऽपि च' भवति चतुर्थेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति, अपिशब्दादात्मसंयमोऽपि तद्भावभाव्येव वर्त्तते, उक्तं च—"[1]छसु जीवनिकाएसुं, जे बुहे संजए सया। से चेव होइ विण्णेए, परमत्थेण संजए ॥१॥" इत्यादि। एवमेव च धर्म्मः, स च देहे स्वस्थे सति सम्यक् पाल्यते, स चाहारमन्तरेण प्रायः स्वस्थो न भवति, स च सावद्येतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्य इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव पञ्चममध्ययनमिति, आह च–'भिक्षाविशोधिस्तपःसंयमस्य गुणकारिकैव पञ्चमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार' इति, तत्र भिक्षणं भिक्षा तस्याः विशोधिः–सावद्यपरिहारेणेतरस्वरूपकथनमित्यर्थः, तपःप्रधानः संयमस्तपःसंयमस्तस्य गुणकारिकैवेयं वर्त्तत इति, उक्तं च–[2]से संजए समक्खाए, निरवज्जाहार

१ षड्सु जीवनिकायेषु यो बुधः संयतः सदा। स चैव भवति विज्ञेयः परमार्थेन संयतः ॥ १ ॥ २ स संयतः समाख्यातो निरवद्याहारं यो विद्वान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

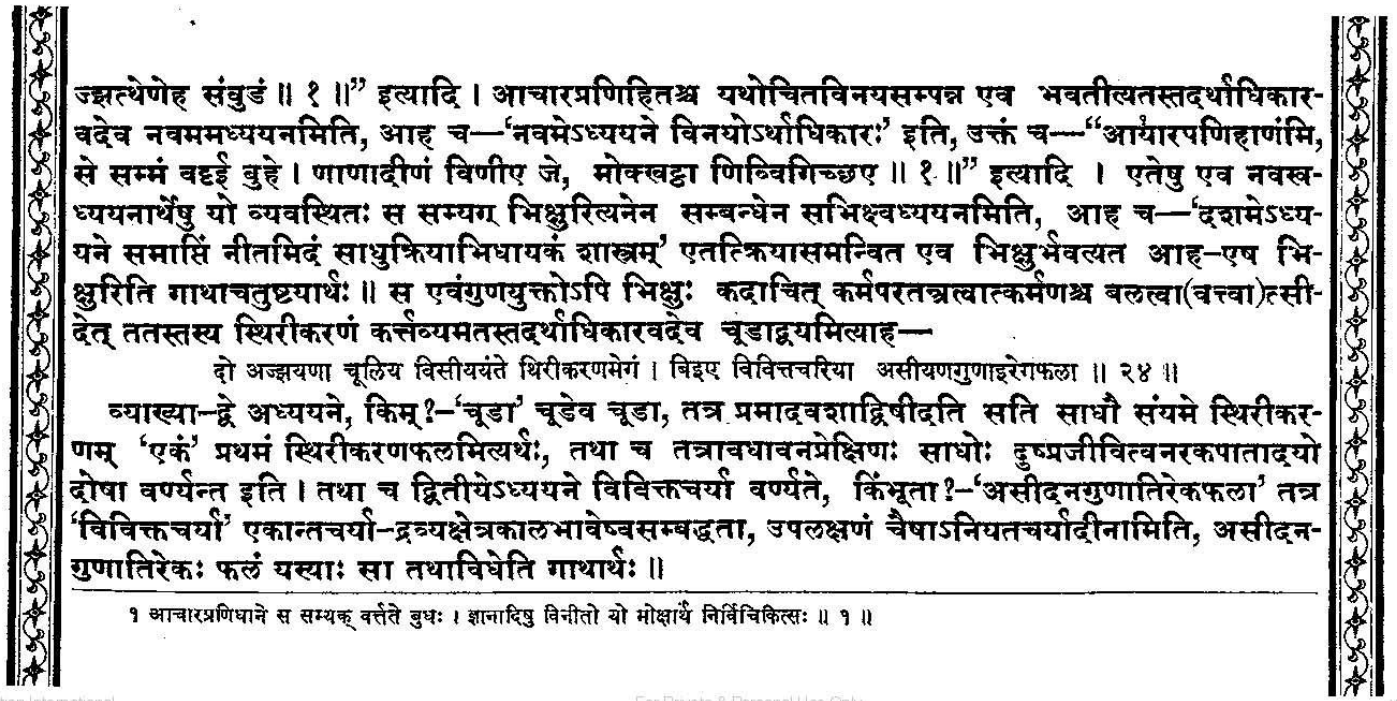
पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

॥ १४ ॥

जे विऊ। धम्मकायट्ठिए सम्मं, सुहजोगाण साहए ॥ १ ॥" इत्यादि। गोचरप्रविष्टेन च सता स्वाचारं पृष्टेन तद्विदापि न महाजनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्यः, अपि तु आलये, गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यमतस्तदर्थाधिकारवदेव षष्ठमध्ययनमिति, आह च–षष्ठेऽध्ययनेऽर्थाधिकारः आचारकथा साऽपि महती, न क्षुल्लिका, 'योग्या' उचिता 'महाजनस्य' विशिष्टपरिषद् इत्यर्थः, वक्ष्यति च—"गोअरग्गपविट्ठे उ न निसिएज्ज कत्थई। कहं च न पबंधिज्जा चिट्ठित्ताण व संजए ॥ १ ॥" इत्यादि। आलयगतेनापि तेन गुरुणा (वा) वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा कथयितव्य इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव सप्तममध्ययनमिति, आह च—"वयणविभत्ती"त्यादि, वचनस्य विभक्तिर्वचनविभक्तिः, विभजनं विभक्तिः–एवंभूतमनवद्यमित्थंभूतं च सावद्यमित्यर्थः, पुनःशब्दः शेषाध्ययनार्थाधिकारेभ्यः अस्याधिकृतार्थाधिकारस्य विशेषणार्थ इति सप्तमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति, उक्तं च—"सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो ण याणइ विसेसं। वोत्तुं पि तस्स न खमं किमंग पुण देसणं काउं? ॥ १ ॥" इत्यादि। तच्च निरवद्यं वचः आचारे प्रणिहितस्य भवति इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेवाष्टममध्ययनमिति, आह च—प्रणिधानमष्टमेऽध्ययनेऽर्थाधिकारत्वेन 'भणितम्' उक्तम्, प्रणिधानं नाम–विशिष्टश्चेतोधर्म इति, उक्तं च—"पणिहाणरहियस्सेह, निरवज्जंपि भासियं। सावज्जतुल्लं विन्नेयं, अ-

१ धर्मकायस्थितः सम्यक् शुभयोगानां साधकः ॥ १ ॥ २ गोचराग्रप्रविष्टस्तु न निषीदेत् कुत्रचित्। कथां च न प्रबध्नीयात् स्थित्वा वा संयतः ॥ १ ॥ ३ सावद्यानवद्यानां वचनानां यो न जानाति विशेषम्। वक्तुमपि तस्य नार्हं किमङ्ग पुनर्देशनां कर्तुम्? ॥ १ ॥ ४ प्रणिधानरहितस्येह निरवद्यमपि भाषितम्। सावद्यतुल्यं विज्ञेयमध्यात्मस्थेनेह संवृतम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



ज्झत्थेणेह संवुडं ॥ १ ॥" इत्यादि । आचारप्रणिहितश्च यथोचितविनयसम्पन्न एव भवतीत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव नवममध्ययनमिति, आह च—'नवमेऽध्ययने विनयोऽर्थाधिकारः' इति, उक्तं च—"आयारपणिहाणंमि, से सम्मं वट्टई बुहे । णाणादीणं विणीए जे, मोक्खट्ठा णिव्विगिच्छए ॥ १ ॥" इत्यादि । एतेषु एव नवस्वध्ययनार्थेषु यो व्यवस्थितः स सम्यग् भिक्षुरित्यनेन सम्बन्धेन सभिक्षवध्ययनमिति, आह च—'दशमेऽध्ययने समाप्तिं नीतमिदं साधुक्रियाभिधायकं शास्त्रम्' एतत्क्रियासमन्वित एव भिक्षुर्भवत्यत आह—एष भिक्षुरिति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ स एवंगुणयुक्तोऽपि भिक्षुः कदाचित् कर्मपरतन्त्रत्वात्कर्मणश्च बलत्वा(वत्त्वा)त्सीदेत् ततस्तस्य स्थिरीकरणं कर्त्तव्यमतस्तदर्थाधिकारवदेव चूडाद्वयमित्याह—

दो अज्झयणा चूलिय विसीयमंते थिरीकरणमेगं । बिइए विवित्तचरिया असीयणगुणाइरेगफला ॥ २४ ॥

व्याख्या–द्वे अध्ययने, किम्?–'चूडा' चूडेव चूडा, तत्र प्रमादवशाद्विषीदति सति साधौ संयमे स्थिरीकरणम् 'एकं' प्रथमं स्थिरीकरणफलमित्यर्थः, तथा च तत्रावधावनप्रेक्षिणः साधोः दुष्प्रजीवित्वनरकपातादयो दोषा वर्ण्यन्त इति । तथा च द्वितीयेऽध्ययने विविक्तचर्या वर्ण्यते, किंभूता?–'असीदनगुणातिरेकफला' तत्र 'विविक्तचर्या' एकान्तचर्या–द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वसम्बद्धता, उपलक्षणं चैषाऽनियतचर्यादीनामिति, असीदनगुणातिरेकः फलं यस्याः सा तथाविधेति गाथार्थः ॥

१ आचारप्रणिधाने स सम्यक् वर्त्तते बुधः । ज्ञानादिषु विनीतो यो मोक्षार्थं निर्विचिकित्सः ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दसकालिअस्स एसो पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं । एत्तो एक्केकं पुण अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ २५ ॥

व्याख्या–'दशकालिकस्य' प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य 'एषः' अनन्तरोदितः 'पिण्डार्थः' सामान्यार्थो 'वर्णितः' प्रतिपादितः 'समासेन' संक्षेपेण, अतः ऊर्ध्वं पुनरेकैकमध्ययनं 'कीर्त्तयिष्यामि' प्रतिपादयिष्यामीति, पुनःशब्दस्य व्यवहित उपन्यास इति गाथार्थः ॥ तत्र प्रथमाध्ययनं द्रुमपुष्पिका, अस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तद्यथा–उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नयः, एषां चतुर्णामप्यनुयोगद्वाराणामध्ययनादावुपन्यासः तथेत्थं च क्रमोपन्यासे प्रयोजनमावश्यकविशेषविवरणाद्वसेयं स्वरूपं च प्रायश इति । प्रकृताध्ययनस्य च शास्त्रीयोपक्रमे आनुपूर्व्यादिभेदेषु स्वबुद्ध्याऽवतारः कार्यः, अर्थाधिकारश्च वक्तव्यः, तथा चाह निर्युक्तिकारः—

पढमज्झयणं दुमपुप्फियंति चत्तारि तस्स दाराइं । वण्णेउवक्कमाई धम्मपसंसाइ अहिगारो ॥ २६ ॥

व्याख्या–प्रथमाध्ययनं द्रुमपुष्पिकेति, अस्य नामनिष्पन्ननिक्षेपावसर एव शब्दार्थं वक्ष्यामः, चत्वारि तस्य 'द्वाराणि' अनुयोगद्वाराणि, किम्?–वर्णयित्वोपक्रमादीनीति, किम्?–धर्मप्रशंसयाऽधिकारो वाच्य इति गाथार्थः ॥ तथा निक्षेपः, स च त्रिविधः, तद्यथा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति, तत्रौघः–सामान्यं श्रुताभिधानम्, तथा चाह निर्युक्तिकारः—

ओहो जं सामन्नं सुआभिहाणं चउव्विहं तं च । अज्झयणं अज्झीणं आय ज्झवणा य पत्तेअं ॥ २७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

व्याख्या–ओघो यत्सामान्यं 'श्रुताभिधानं' श्रुतनाम चतुर्विधं तच्च, कथम्?–अध्ययनमक्षीणमायः क्षपणा च इदं च 'प्रत्येकं' पृथक् पृथक्॥ किम्?

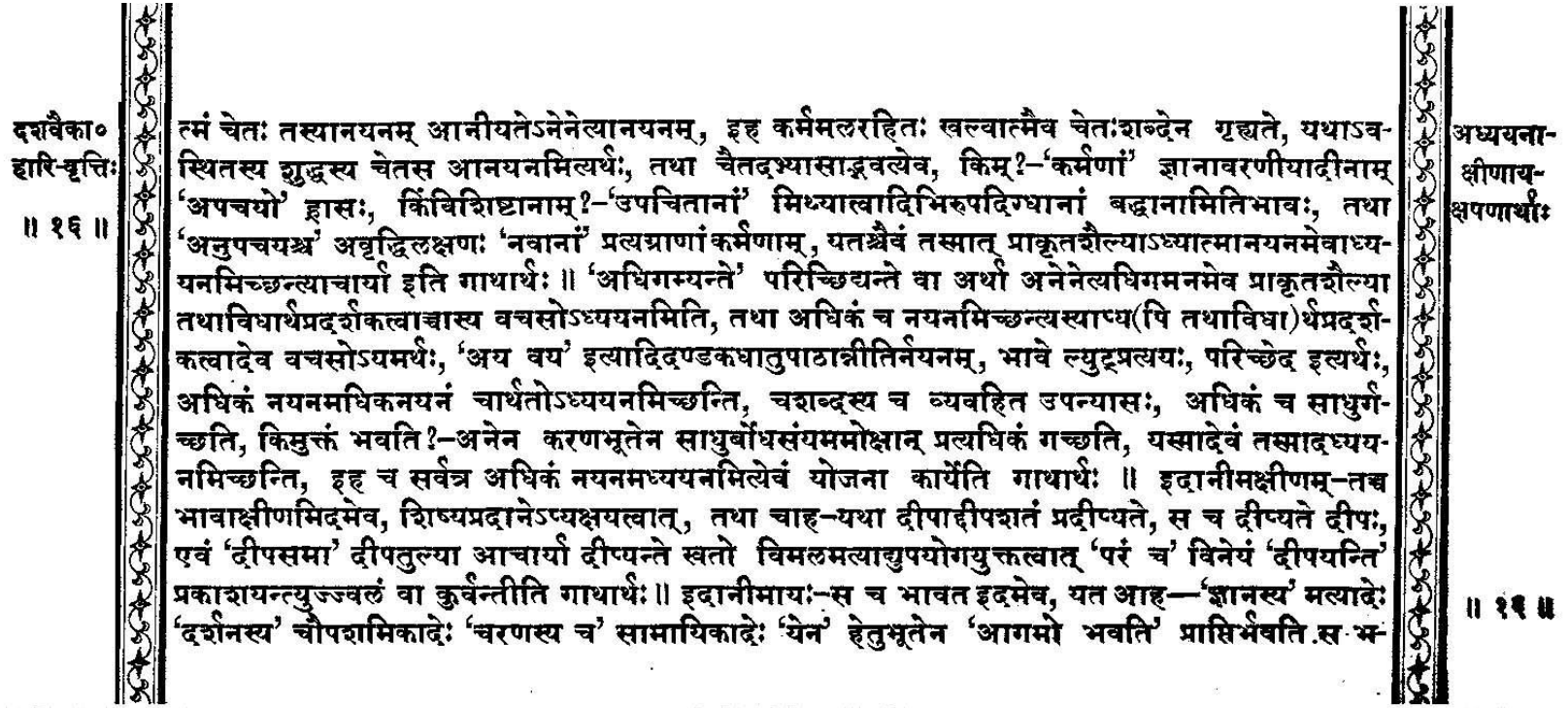
नामाइ चउब्भेयं वण्णेऊणं सुआणुसारेणं। दुमपुप्फिअ आओज्जा चउसुंपि कमेण भावेसुं॥ २८॥

व्याख्या–नामादिचतुर्भेदं वर्णयित्वा, तद्यथा–नामाध्ययनं स्थापनाध्ययनं द्रव्याध्ययनं भावाध्ययनं चेति, एवमक्षीणादीनामपि न्यासः कर्त्तव्यः, 'श्रुतानुसारेण' अनुयोगद्वाराख्यसूत्रानुसारेण, किम्?–'द्रुमपुष्पिका आयोज्या' प्रकृताध्ययनं सम्बन्धनीयम्, चतुर्ष्वप्यध्ययनादिषु क्रमेण भावेष्विति गाथार्थः॥ साम्प्रतं भावाध्ययनादिशब्दार्थं प्रतिपादयन्नाह—

अज्झप्पस्साणयणं कम्माणं अवचओ उवचिआणं। अणुवचओ अ नवाणं तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥ २९॥
अहिगम्मंति व अत्था इमेण अहिगं च नयणमिच्छंति। अहिगं च साहु गच्छइ तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥ ३०॥
जह दीवा दीवसयं पइप्पई सो अ दिप्पई दीवो। दीवसमा आयरिया दिप्पंति परं च दीवंति॥ ३१॥
नाणस्स दंसणस्सऽवि चरणस्स य जेण आगमो होई। सो होइ भावआओ आओ लाहो त्ति निद्दिट्ठो॥ ३२॥
अट्ठविहं कम्मरयं पोराणं जं खवेइ जोगेहिं। एयं भावज्झयणं नेअव्वं आणुपुव्वीए॥ ३३॥

व्याख्या–आसां गमनिका–इह प्राकृतशैल्या छान्दसत्त्वाच्च अज्झप्पस्साणयणं पकारस्य(स्स)कारआकारणकारलोपे अज्झयणं ति भण्णइ, तच्च संस्कृतेऽध्ययनम्, भावार्थस्त्वयं–अधि आत्मनि वर्तत इति निरुक्ताद्ध्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १६ ॥

त्मं चेतः तस्यानयनम् आनीयतेऽनेनेत्यानयनम्, इह कर्ममलरहितः खल्वात्मैव चेतःशब्देन गृह्यते, यथाऽवस्थितस्य शुद्धस्य चेतस आनयनमित्यर्थः, तथा चैतदभ्यासाद्भवत्येव, किम्?–'कर्मणां' ज्ञानावरणीयादीनाम् 'अपचयो' ह्रासः, किंविशिष्टानाम्?–'उपचितानां' मिथ्यात्वादिभिरुपदिग्धानां बद्धानामितिभावः, तथा 'अनुपचयश्च' अवृद्धिलक्षणः 'नवानां' प्रत्यग्राणां कर्मणाम्, यतश्चैवं तस्मात् प्राकृतशैल्याऽध्यात्मानयनमेवाध्ययनमिच्छन्त्याचार्या इति गाथार्थः ॥ 'अधिगम्यन्ते' परिच्छिद्यन्ते वा अर्था अनेनेत्यधिगमनमेव प्राकृतशैल्या तथाविधार्थप्रदर्शकत्वाच्चास्य वचसोऽध्ययनमिति, तथा अधिकं च नयनमिच्छन्त्यस्याप्य(पि तथाविधा)र्थप्रदर्शकत्वादेव वचसोऽयमर्थः, 'अय वय' इत्यादिदण्डकधातुपाठान्नीतिर्नयनम्, भावे ल्युट्प्रत्ययः, परिच्छेद इत्यर्थः, अधिकं नयनमधिकनयनं चार्थतोऽध्ययनमिच्छन्ति, चशब्दस्य च व्यवहित उपन्यासः, अधिकं च साधुर्गच्छति, किमुक्तं भवति?–अनेन करणभूतेन साधुर्बोधसंयममोक्षान् प्रत्यधिकं गच्छति, यस्मादेवं तस्मादध्ययनमिच्छन्ति, इह च सर्वत्र अधिकं नयनमध्ययनमित्येवं योजना कार्येति गाथार्थः ॥ इदानीमक्षीणम्–तच्च भावाक्षीणमिदमेव, शिष्यप्रदानेऽप्यक्षयत्वात्, तथा चाह–यथा दीपादीपशतं प्रदीप्यते, स च दीप्यते दीपः, एवं 'दीपसमा' दीपतुल्या आचार्या दीप्यन्ते स्वतो विमलमत्याद्युपयोगयुक्तत्वात् 'परं च' विनेयं 'दीपयन्ति' प्रकाशयन्त्युज्ज्वलं वा कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥ इदानीमायः–स च भावत इदमेव, यत आह—'ज्ञानस्य' मत्यादेः 'दर्शनस्य' चौपशमिकादेः 'चरणस्य च' सामायिकादेः 'येन' हेतुभूतेन 'आगमो भवति' प्राप्तिर्भवति स भ-

अध्ययनाक्षीणायक्षपणार्थाः

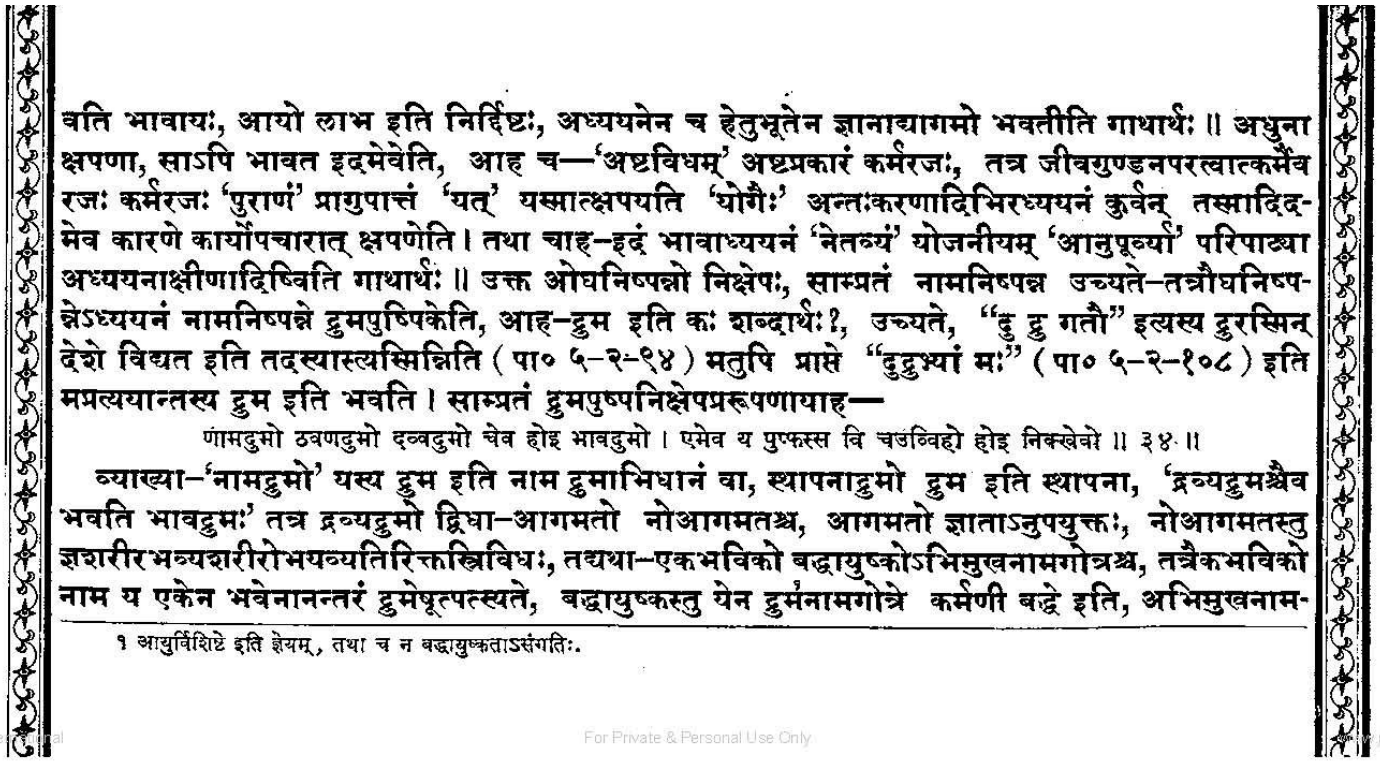
॥ १६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



वति भावायः, आयो लाभ इति निर्दिष्टः, अध्ययनेन च हेतुभूतेन ज्ञानाद्यागमो भवतीति गाथार्थः ॥ अधुना क्षपणा, साऽपि भावत इदमेवेति, आह च—'अष्टविधम्' अष्टप्रकारं कर्मरजः, तत्र जीवगुण्डनपरत्वात्कर्मैव रजः कर्मरजः 'पुराणं' प्रागुपात्तं 'यत्' यस्मात्क्षपयति 'योगैः' अन्तःकरणादिभिरध्ययनं कुर्वन् तस्मादिद-मेव कारणे कार्योपचारात् क्षपणेति। तथा चाह–इदं भावाध्ययनं 'नेतव्यं' योजनीयम् 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या अध्ययनाक्षीणादिष्विति गाथार्थः ॥ उक्त ओघनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं नामनिष्पन्न उच्यते–तत्रौघनिष्प-न्नेऽध्ययनं नामनिष्पन्ने द्रुमपुष्पिकेति, आह–द्रुम इति कः शब्दार्थः?, उच्यते, "दु द्रु गतौ" इत्यस्य द्रुरस्मिन् देशे विद्यत इति तदस्यास्त्यस्मिन्निति (पा० ५–२–९४) मतुपि प्राप्ते "दुद्रुभ्यां मः" (पा० ५–२–१०८) इति मप्रत्ययान्तस्य द्रुम इति भवति। साम्प्रतं द्रुमपुष्पनिक्षेपप्ररूपणायाह—

णामदुमो ठवणदुमो दव्वदुमो चेव होइ भावदुमो। एमेव य पुप्फस्स वि चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥ ३४ ॥

व्याख्या–'नामद्रुमो' यस्य द्रुम इति नाम द्रुमाभिधानं वा, स्थापनाद्रुमो द्रुम इति स्थापना, 'द्रव्यद्रुमश्चैव भवति भावद्रुमः' तत्र द्रव्यद्रुमो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्तस्त्रिविधः, तद्यथा–एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च, तत्रैकभविको नाम य एकेन भवेनानन्तरं द्रुमेषूत्पत्स्यते, बद्धायुष्कस्तु येन द्रुमनामगोत्रे कर्मणी बद्धे इति, अभिमुखनाम-

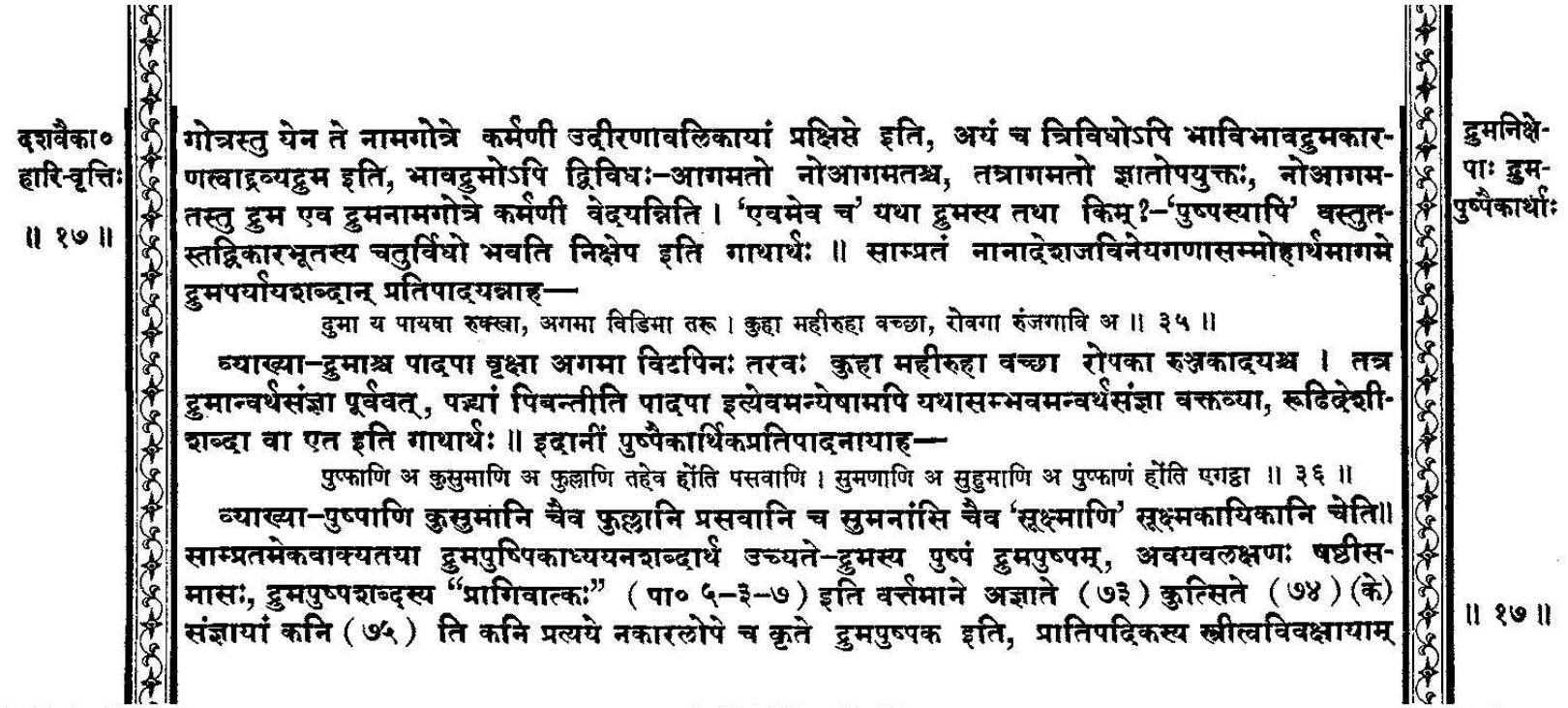
१ आयुर्विशिष्टे इति ज्ञेयम्, तथा च न बद्धायुष्कताऽसंगतिः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र प्रथम अध्ययनस्य परिचय-निर्युक्तिः आरब्धाः

'द्रुम' शब्दस्य नामादि निक्षेपाः;;

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १७ ॥

गोत्रस्तु येन ते नामगोत्रे कर्मणी उदीरणावलिकायां प्रक्षिप्से इति, अयं च त्रिविधोऽपि भाविभावद्रुमकारणत्वाद्द्रव्यद्रुम इति, भावद्रुमोऽपि द्विविधः–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञातोपयुक्तः, नोआगमतस्तु द्रुम एव द्रुमनामगोत्रे कर्मणी वेदयन्निति। 'एवमेव च' यथा द्रुमस्य तथा किम्?–'पुष्पस्यापि' वस्तुतस्तद्विकारभूतस्य चतुर्विधो भवति निक्षेप इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं नानादेशजविनेयगणासम्मोहार्थमागमे द्रुमपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

दुमा य पायवा रुक्खा, अगमा विडिमा तरू। कुहा महीरुहा वच्छा, रोवगा रुंजगावि अ ॥ ३५ ॥

व्याख्या–द्रुमाश्च पादपा वृक्षा अगमा विटपिनः तरवः कुहा महीरुहा वच्छा रोपका रुञ्जकादयश्च। तत्र द्रुमान्वर्थसंज्ञा पूर्ववत्, पद्भ्यां पिबन्तीति पादपा इत्येवमन्येषामपि यथासम्भवमन्वर्थसंज्ञा वक्तव्या, रूढिदेशीशब्दा वा एत इति गाथार्थः ॥ इदानीं पुष्पैकार्थिकप्रतिपादनायाह—

पुप्फाणि अ कुसुमाणि अ फुल्लाणि तहेव होंति पसवाणि। सुमणाणि अ सुहुमाणि अ पुप्फाणं होंति एगट्ठा ॥ ३६ ॥

व्याख्या–पुष्पाणि कुसुमानि चैव फुल्लानि प्रसवानि च सुमनांसि चैव 'सूक्ष्माणि' सूक्ष्मकायिकानि चेति॥ साम्प्रतमेकवाक्यतया द्रुमपुष्पिकाध्ययनशब्दार्थं उच्यते–द्रुमस्य पुष्पं द्रुमपुष्पम्, अवयवलक्षणः षष्ठीसमासः, द्रुमपुष्पशब्दस्य "प्रागिवात्कः" (पा० ५–३–७) इति वर्त्तमाने अज्ञाते (७३) कुत्सिते (७४) (के) संज्ञायां कनि (७५) ति कनि प्रत्यये नकारलोपे च कृते द्रुमपुष्पक इति, प्रातिपदिकस्य स्त्रीत्वविवक्षायाम्

द्रुमनिक्षेपाः द्रुमपुष्पैकार्थाः ॥ १७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	'द्रुम' एवं 'पुष्प' शब्दयोः पर्याय-शब्दानाम् कथनं

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

"अजाद्यतष्टाप्" (४–१–४) इति टाप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे च कृते "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः (पा० ७–३–४४) इतीत्त्वे कृते "अकः सवर्णे दीर्घः" (पा० ६–१–१०१) इति दीर्घत्वे परगमने च द्रुमपुष्पिकेति भवति, द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ता द्रुमपुष्पिकेति, द्रुमपुष्पिका चासौ अध्ययनं चेति समानाधिकरणस्तत्पुरुषः, द्रुमपुष्पिकाध्ययनमिति ॥ अस्य चैकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह—

दुमपुप्फिआ य आहारएसणा गोअरे तया उंछो । मेस जलूगा सप्पे वणऽक्खइसुगोलपुत्तुदए ॥ ३७ ॥

व्याख्या–तत्र द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ता द्रुमपुष्पिकेति, वक्ष्यति च—"जहा दुमस्स पुप्फेसु" इत्यादि, तथा आहारस्यैषणा आहारैषणा, एषणाग्रहणाद् गवेषणादिग्रहः, ततश्च तदर्थसूचकत्वादाहारैषणेति, तथा गोचरः सामयिकत्वाद् गोरिव चरणं गोचरोऽन्यथा गोचारः, तदर्थसूचकत्वाचाधिकृताध्ययनविशेषो गोचर इति, एवं सर्वत्र भावना कार्येति, भावार्थस्तु यथा गौश्चरत्येवमविशेषेण साधुनाऽप्यटितव्यं, न विभवमङ्गीकृत्योत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्विति, वणिग्वत्सकदृष्टान्तेन वेति, तथा 'त्वगिति' त्वगिवासारं भोक्तव्यमित्यर्थसूचकत्वात् त्वगुच्यत इति, उक्तं च परममुनिभिः—"[3]जहा चत्तारि घुणा पण्णत्ता, तंजहा–तयक्खाए छल्लिक्खाए कट्ठक्खाए सारक्खाए, एवामेव चत्तारि भिक्खुगा पन्नत्ता, तंजहा–तयक्खाए छल्लिक्खाए कट्ठक्खाए सारक्खाए,

१ यथा सालङ्कारवणिग्वधूहस्ताद्भक्ष्यमाणत्वाऽसि वत्सस्तद्रूपालङ्काराद्यनिरीक्षमाणस्तथा साधुरपि. २ यथा चत्वारो घुणाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—त्वक्खादकः छल्लीखादकः काष्ठखादकः सारखादकः । एवमेव चत्वारो भिक्षुकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—त्वक्खादकः छल्लीखादकः (अन्तस्त्वक् छल्ली) काष्ठखादकः सारखादकः ।

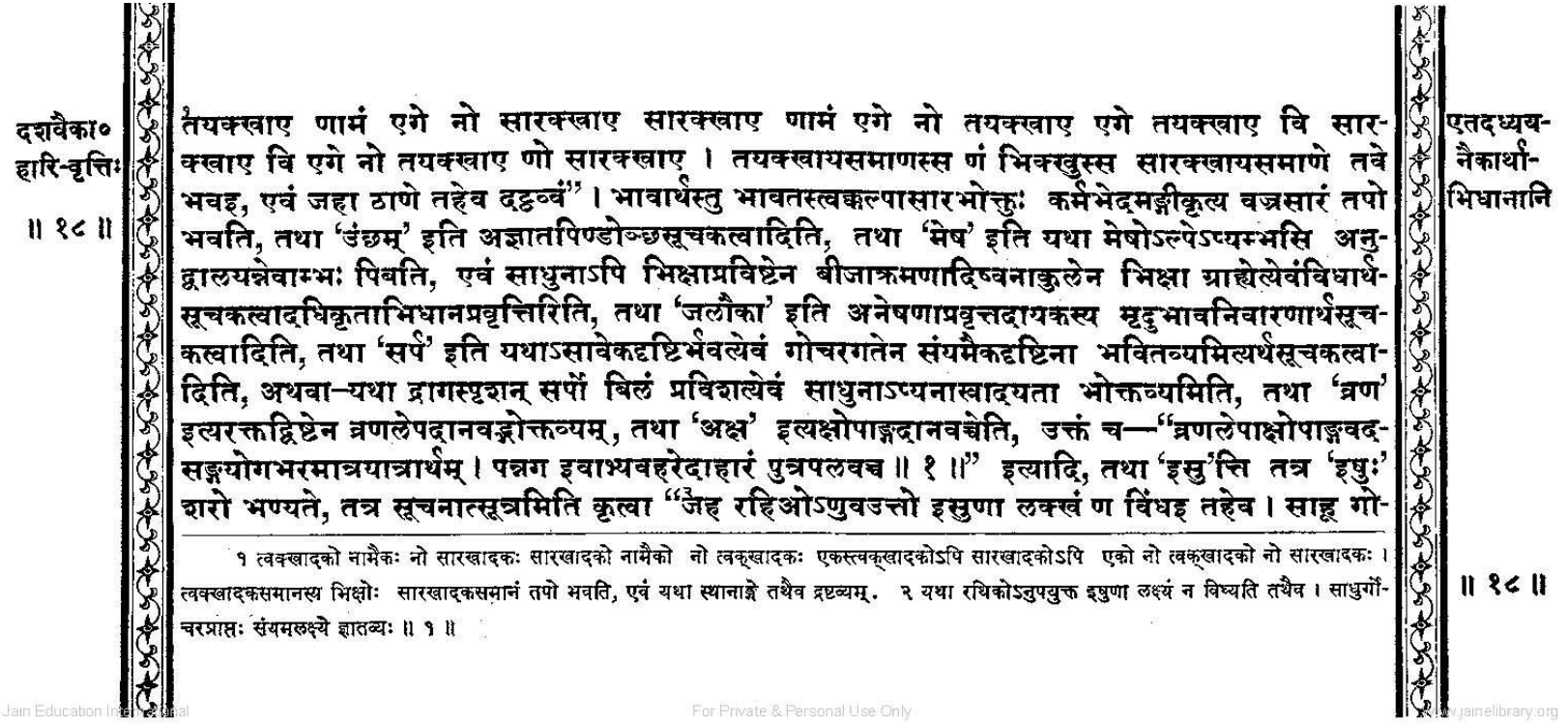
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	'द्रुमपुप्फिआ' शब्दस्य एकार्थक-नामानि

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १८ ॥

[1]तयक्खाए णामं एगे नो सारक्खाए सारक्खाए णामं एगे नो तयक्खाए एगे तयक्खाए वि सारक्खाए वि एगे नो तयक्खाए णो सारक्खाए । तयक्खायसमाणस्स णं भिक्खुस्स सारक्खायसमाणे तवे भवइ, एवं जहा ठाणे तहेव दट्ठव्वं" । भावार्थस्तु भावतस्त्वकल्पासारभोक्तुः कर्मभेदमङ्गीकृत्य वज्रसारं तपो भवति, तथा 'उंछम्' इति अज्ञातपिण्डोञ्छसूचकत्वादिति, तथा 'मेष' इति यथा मेषोऽल्पेऽप्यम्भसि अनुद्वालयन्नेवाम्भः पिबति, एवं साधुनाऽपि भिक्षाप्रविष्टेन बीजाक्रमणादिष्वनाकुलेन भिक्षा ग्राह्येत्येवंविधार्थसूचकत्वादधिकृताभिधानप्रवृत्तिरिति, तथा 'जलौका' इति अनेषणाप्रवृत्तदायकस्य मृदुभावनिवारणार्थसूचकत्वादिति, तथा 'सर्प' इति यथाऽसावेकदृष्टिर्भवत्येवं गोचरगतेन संयमैकदृष्टिना भवितव्यमित्यर्थसूचकत्वादिति, अथवा–यथा द्रागस्पृशन् सर्पो बिलं प्रविशत्येवं साधुनाऽप्यनास्वादयता भोक्तव्यमिति, तथा 'व्रण' इत्यरक्तद्विष्टेन व्रणलेपदानवद्भोक्तव्यम्, तथा 'अक्ष' इत्यक्षोपाङ्गदानवच्चेति, उक्तं च—"व्रणलेपाक्षोपाङ्गवदसङ्गयोगभरमात्रयात्रार्थम् । पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारं पुत्रपलवच्च ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा 'इसु'त्ति तत्र 'इषुः' शरो भण्यते, तत्र सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा "[2]जह रहिओऽणुवउत्तो इसुणा लक्खं ण विंधइ तहेव । साहू गो-

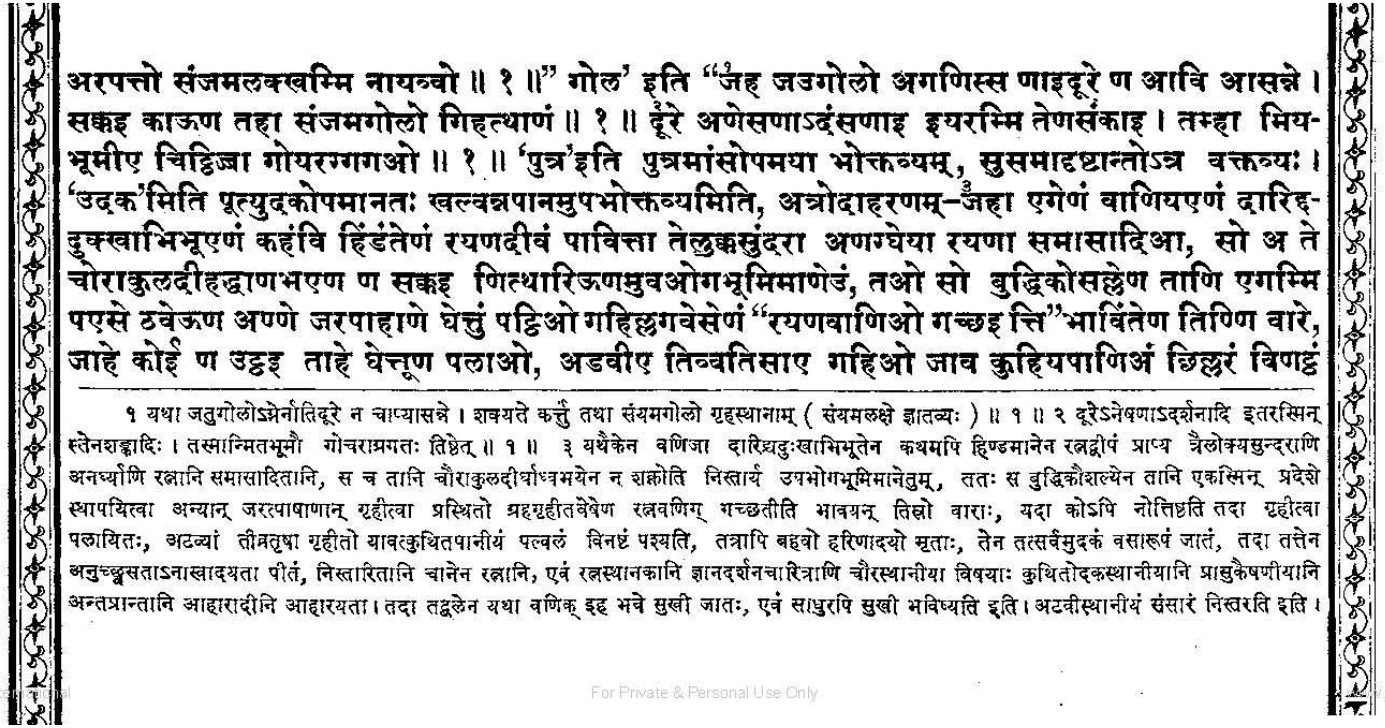
१ त्वक्खादको नामैकः नो सारखादकः सारखादको नामैको नो त्वक्खादकः एकस्त्वक्खादकोऽपि सारखादकोऽपि एको नो त्वक्खादको नो सारखादकः । त्वक्खादकसमानस्य भिक्षोः सारखादकसमानं तपो भवति, एवं यथा स्थानाङ्गे तथैव द्रष्टव्यम्. २ यथा रथिकोऽनुपयुक्त इषुणा लक्ष्यं न विध्यति तथैव । साधुर्गोचरप्राप्तः संयमलक्ष्ये ज्ञातव्यः ॥ १ ॥

एतदध्ययनैकार्थाभिधानानि ॥ १८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



अरपत्तो संजमलक्खम्मि नायव्वो ॥ १ ॥" गोल' इति "जह जउगोलो अगणिस्स णाइदूरे ण आवि आसन्ने। सक्कइ काऊण तहा संजमगोलो गिहत्थाणं ॥ १ ॥ दूरे अणेसणाऽदंसणाइ इयरम्मि तेणसंकाइ। तम्हा मिय-भूमीए चिट्ठिज्जा गोयरग्गगओ ॥ १ ॥ 'पुत्र'इति पुत्रमांसोपमया भोक्तव्यम्, सुसमाहृष्टान्तोऽत्र वक्तव्यः। 'उदक'मिति पूत्युदकोपमानतः खल्वन्नपानमुपभोक्तव्यमिति, अत्रोदाहरणम्–जहा एगेणं वाणियएणं दारिद्द-दुक्खाभिभूएणं कहंवि हिंडंतेणं रयणदीवं पाविऊणं तेलुक्कसुंदरा अणग्घेया रयणा समासादिआ, सो अ ते चोराकुलदीहद्धाणभएण ण सक्कइ णित्थारिऊणमुवओगभूमिमाणेउं, तओ सो बुद्धिकोसल्लेण ताणि एगम्मि पएसे ठवेऊण अण्णे जरपाहाणे घेत्तुं पट्ठिओ गहिल्लगवेसेणं "रयणवाणिओ गच्छइ त्ति"भाविंतेण तिण्णि वारे, जाहे कोई ण उट्ठइ ताहे घेत्तूण पलाओ, अडवीए तिव्वतिसाए गहिओ जाव कुहियपाणिअं छिल्लरं विपट्ठं

१ यथा जतुगोलोऽग्नेर्नातिदूरे न चाप्यासन्ने। शक्यते कर्त्तुं तथा संयमगोलो गृहस्थानाम् (संयमलक्षे ज्ञातव्यः) ॥ १ ॥ २ दूरेऽनेषणाऽदर्शनादि इतरस्मिन् स्तेनशङ्कादिः। तस्मान्मितभूमौ गोचराग्रगतः तिष्ठेत् ॥ १ ॥ ३ यथैकेन वणिजा दारिद्र्यदुःखाभिभूतेन कथमपि हिण्डमानेन रत्नद्वीपं प्राप्य त्रैलोक्यसुन्दराणि अनर्घ्याणि रत्नानि समासादितानि, स च तानि चौराकुलदीर्घाध्वभयेन न शक्नोति निस्तार्य उपभोगभूमिमानेतुम्, ततः स बुद्धिकौशल्येन तानि एकस्मिन् प्रदेशे स्थापयित्वा अन्यान् जरत्पाषाणान् गृहीत्वा प्रस्थितो ग्रहगृहीतवेषेण रत्नवणिग् गच्छतीति भावयन् तिस्रो वाराः, यदा कोऽपि नोत्तिष्ठति तदा गृहीत्वा पलायितः, अटव्यां तीव्रतृषा गृहीतो यावत्कुथितपानीयं पल्वलं विनष्टं पश्यति, तत्रापि बहवो हरिणादयो मृताः, तेन तत्सर्वमुदकं वसारूपं जातं, तदा तत्तेन अनुच्छ्वसताऽनास्वादयता पीतं, निस्तारितानि चानेन रत्नानि, एवं रत्नस्थानकानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि चौरस्थानीया विषयाः कुथितोदकस्थानीयानि प्राप्तुकैषणीयानि अन्तप्रान्तानि आहारादीनि आहारयता। तदा तद्वलेन यथा वणिक् इह भवे सुखी जातः, एवं साधुरपि सुखी भविष्यति इति। अटवीस्थानीयं संसारं निस्तरति इति।

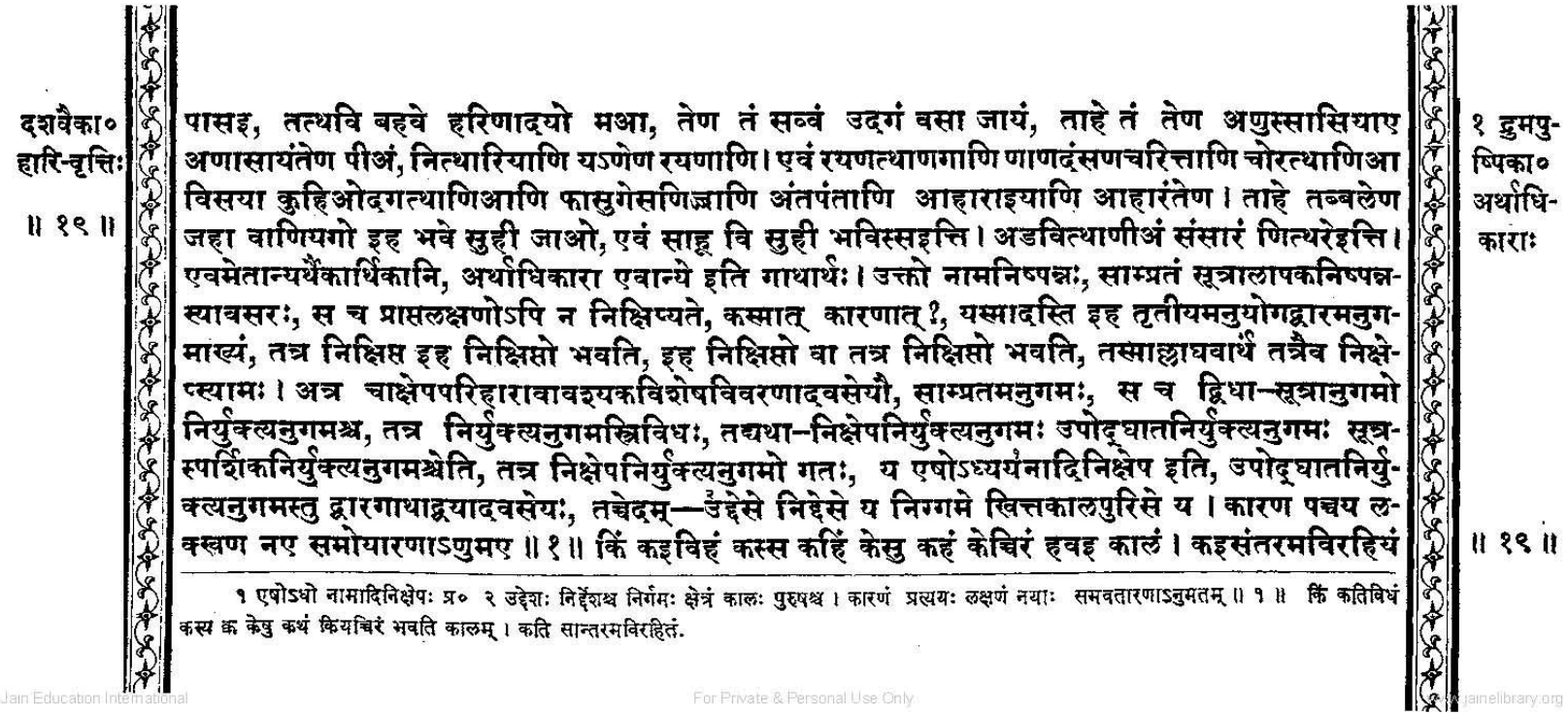
दश. ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



पासइ, तत्थवि बहवे हरिणादयो मआ, तेण तं सव्वं उदगं वसा जायं, ताहे तं तेण अणुस्सासियाए अणासायंतेण पीअं, नित्थारियाणि यऽणेण रयणाणि। एवं रयणत्थाणगाणि णाणदंसणचरित्ताणि चोरत्थाणिआ विसया कुहिओदगत्थाणिआणि फासुगेसणिज्जाणि अंतपंताणि आहाराइयाणि आहारंतेण। ताहे तब्बलेण जहा वाणियगो इह भवे सुही जाओ, एवं साहू वि सुही भविस्सइत्ति। अडवित्थाणीअं संसारं णित्थरेइत्ति। एवमेतान्यर्थैकार्थिकानि, अर्थाधिकारा एवान्ये इति गाथार्थः। उक्तो नामनिष्पन्नः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च प्रासलक्षणोऽपि न निक्षिप्यते, कस्मात् कारणात्?, यस्मादस्ति इह तृतीयमनुयोगद्वारमनुगमाख्यं, तत्र निक्षिप्ते इह निक्षिप्तो भवति, इह निक्षिप्तो वा तत्र निक्षिप्तो भवति, तस्माल्लाघवार्थं तत्रैव निक्षेप्स्यामः। अत्र चाक्षेपपरिहारावावश्यकविशेषविवरणादवसेयौ, साम्प्रतमनुगमः, स च द्विधा–सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः, तद्यथा–निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्चेति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमो गतः, य एषोऽध्ययनादिनिक्षेप इति, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्तु द्वारगाथाद्वयादवसेयः, तच्चेदम्—[1]उद्देसे निद्देसे य निग्गमे खित्तकालपुरिसे य। कारण पच्चय लक्खण नए समोयारणाऽणुमए ॥ १ ॥ किं कइविहं कस्स कहिं केसु कहं केचिरं हवइ कालं। कइसंतरमविरहियं

१ एषोऽधो नामादिनिक्षेपः प्र० २ उद्देशः निर्देशश्च निर्गमः क्षेत्रं कालः पुरुषश्च। कारणं प्रत्ययः लक्षणं नयाः समवतारणाऽनुमतम् ॥ १ ॥ किं कतिविधं कस्य क्व केषु कथं कियच्चिरं भवति कालम्। कति सान्तरमविरहितं.

॥ १९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

भवागरिस फासण निरुत्ती ॥ २ ॥ अस्य च द्वारगाथाद्वयस्य समुदायार्थोऽवयवार्थश्चावश्यकविशेषविवरणादेवावसेय इति । प्रकृतयोजना पुनस्तीर्थकरोपोद्घातमभिधायार्यसुधर्मस्य च तत्प्रवचनस्य पश्चाज्जम्बूनाम्नस्ततः प्रभवस्य ततोऽप्यार्यशय्यम्भवस्य पुनर्यथा तेनेदं निर्व्यूढमिति तथा कथनेन कार्या इति । आह च—"जेण व जं च पडुच्चे"त्यादिना यत्पूर्वमुक्तं तदत्रैव क्रमप्राप्ताभिधानत्वात् तत्रायुक्तमिति, न, अपान्तरालोपोद्घातप्रतिपादकत्वेन तत्राप्युपयोगित्वादिति, आह–एवमपि महासम्बन्धपूर्वकत्वादपान्तरालोपोद्घातस्यात्रैवाभिधानं न्याय्यमिति, न, प्रस्तुतशास्त्रान्तरङ्गत्वेन तत्राप्युपयोगित्वादिति कृतं प्रसङ्गेन, अक्षरगमनिकामात्रफलत्वात्प्रयासस्य। गत उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः, साम्प्रतं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमावसरः, स च सूत्रे सति भवति, आह–यद्येवमिहोपन्यासोऽनर्थकः, न, निर्युक्तिसामान्यादिति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसरप्राप्त एव, इह चास्खलितादिप्रकारं शुद्धं सूत्रमुच्चारणीयम्, तद्यथा–अस्खलितममिलितमव्यत्याम्रेडितमित्यादि यथाऽनुयोगद्वारेषु, ततस्तस्मिन्नुच्चरिते सति केषाञ्चिद्भगवतां साधूनां केचनार्थाधिकारा अधिगता भवन्ति, केचन त्वनधिगताः, तत्रानधिगताधिगमायाल्पमतिविनेयानुग्रहाय च प्रतिपदं व्याख्येयम् । व्याख्यालक्षणं चेदम्–संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः । चालनाप्रत्यवस्थानं, व्याख्या तत्रस्य षड्विधा ॥ १ ॥ इत्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः । किं च प्रकृतम्?, सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयमिति, तच्चेदं सूत्रम्—

१ भव आकर्षाः स्पर्शेना निरुक्तिः ॥ २ ॥ २ सुष्ठु धर्मः सुधर्मः आर्यः सुधर्मा यस्येति आर्यसुधर्मस्तस्येति विगृह्य कार्ये, धर्मस्य केवलस्योत्तरपदत्वाभावात् परमसुधर्म इतिवत् न समासान्तप्रसङ्गः, न चैवं समासान्तानित्यत्वकल्पनागौरवमपि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २० ॥

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो । देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

व्याख्या–तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता, सा पाठसिद्धैव । अधुना पदानि–धर्मः मङ्गलम् उत्कृष्टम् अहिंसा संयमः तपः देवाः अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः । तत्र "धृञ् धारणे" इत्यस्य धातोर्मप्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति । मङ्गलरूपं पूर्ववत् । तथा "कृष् विलेखने" इत्यस्य धातोरुत्पूर्वस्य निष्ठान्तस्येदं रूपमुत्कृष्टमिति । तथा "तृहि हिंसि हिंसायाम्" इत्यस्य "इदितो नुम् धातोः" (पा० ७–१–५८) इति नुमि कृते रुषधिकारे टाबन्तस्य नञ्पूर्वस्येदं रूपं यदुताहिंसेति । तथा "यमु उपरमे" इत्यस्य धातोः संपूर्वस्याप्प्रत्ययान्तस्य संयम इति रूपं भवति । तथा "तप सन्तापे" इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य तप इति । तथा "दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिस्वप्नकान्तिगतिषु" इत्यस्य धातोरच्प्रत्ययान्तस्य जसि देवा इति भवति । अपिशब्दो निपातः । तदित्येतस्य सर्वनाम्नः पुंस्त्वविवक्षायां द्वितीयैकवचनं तमिति भवति । तथा नमसित्यस्य प्रातिपदिकस्य "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" (पा० ३–१–१९) इति क्यजन्तस्य लट् क्रियान्तादेशस्तत्श्च नमस्यन्तीति भवति । तथा यदितिसर्वनाम्नः षष्ठ्यन्तस्य यस्येति भवति । धर्मः पूर्ववत् । सदेति सर्वस्मिन् काले "सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा" (पा० ५–३–१५) इति दाप्रत्ययः "सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि" (पा० ५–३–१६) इति स आदेशः सदा । तथा "मन ज्ञाने"इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य मन इति भवति । इति पदानि । साम्प्रतं पदार्थ उच्यते–तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तथा चोक्तम्

१ द्रुमपुष्पिका० अर्थाधिकाराः

॥ २० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं -१- "द्रुमपुष्पिका" आरभ्यते

'धर्म', 'मंगल', 'अहिंसा', आदि शब्दानाम् विशद् व्याख्या:

—"दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥" मङ्गयते हितमनेनेति मङ्गलमित्यादि पूर्ववत्, 'उत्कृष्टं' प्रधानम्, न हिंसा अहिंसा प्राणातिपातविरतिरित्यर्थः, 'संयमः' आश्रवद्वारोपरमः, तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्मेति तपः–अनशनादि, दीव्यन्तीति देवाः क्रीडन्तीत्यादि भावार्थः, अपिः सम्भावने देवा अपि मनुष्यास्तु सुतरां, 'त'मित्येवंविशिष्टं जीवं, नमस्यन्तीति प्रकटार्थम्, यस्य जीवस्य किम्?—'धर्मे' प्रागभिहितस्वरूपे 'सदा' सर्वकालं 'मन' इत्यन्तःकरणम्। अयं पदार्थ इति। पदविग्रहस्तु परस्परापेक्षसमासभाक्पदपूर्वकत्वेनेह निबन्धनाभावान्न प्रदर्शित इति। चालना-प्रत्यवस्थाने तु प्रमाणचिन्तायां यथावसरमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः। प्रवृत्तिः पुनस्तयोरमुनोपायेनेति प्रदर्शनायाह—

कत्थइ पुच्छइ सीसो कहिंचऽपुट्ठा कहंति आयरिया। सीसाणं तु हियट्ठा विपुलतरागं तु पुच्छाए ॥ ३८ ॥

व्याख्या–क्वचित्किञ्चिदनवगच्छन् पृच्छति शिष्यः कथमेतदिति इयमेव चालना, गुरुकथनं प्रत्यवस्थानम्, इत्थमनयोः प्रवृत्तिः। तथा क्वचिदपृष्टा एव सन्तः पूर्वपक्षमाशङ्क्य किञ्चित्कथयन्त्याचार्याः, तत्प्रत्यवस्थानमिति गम्यते, किमर्थं कथयन्त्यत आह–शिष्याणामेव हितार्थम्, तुशब्द एवकारार्थः, तथा 'विपुलतरं तु' प्रभूततरं तु कथयन्ति 'पुच्छाए'त्ति शिष्यप्रश्ने सति, पटुप्रज्ञोऽयमित्यवगमादिति गाथार्थः ॥ एवं तावत्समासेन, व्याख्यालक्षणयोजना। कृतेयं प्रस्तुते सूत्रे, कार्यैवमपरेष्वपि ॥ १ ॥ ग्रन्थविस्तरदोषान्न, वक्ष्याम उपयोगि तु। वक्ष्यामः प्रतिसूत्रं तु, यत् सूत्रस्पर्शिकाऽधुना ॥ २ ॥ प्रोच्यतेऽनुगमनिर्युक्तिविभागश्च विशेषतः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

सामायिकबृहद्भाष्याज्ज्ञेयस्तत्रोदितं यतः ॥ ३ ॥ "होई कयत्थो वोत्तुं सपयच्छेअं सुअं सुआणुगमो । सुत्तालावगनासो नामादिण्णासविणिओगं ॥ १ ॥ [1]सुत्तप्फासिअनिज्जुत्तिणिओगो सेसओ पयत्थाइ । पायं सोच्चिय नेगमणयाइमयगोअरो होइ ॥ २ ॥ [2]एवं सुत्ताणुगमो सुत्तालावगकओ अ निक्खेवो । सुत्तप्फासिअणिज्जुत्ति णया अ समगं तु वच्चन्ति ॥ ३ ॥" इत्यलं प्रसङ्गेन, गमनिकामात्रमेतत् । तत्र धर्मपदमधिकृत्य सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिप्रतिपादनायाह—

णामंठवणाधम्मो दव्वधम्मो अ भावधम्मो अ । एएसिं नाणत्तं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ३९ ॥

व्याख्या–'णामंठवणाधम्मो'त्ति अत्र धर्मशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, नामधर्मः स्थापनाधर्मो द्रव्यधर्मो भावधर्मश्च । एतेषां 'नानात्वं' भेदं 'वक्ष्ये' अभिधास्ये 'यथानुपूर्व्या' यथानुपरिपाट्येति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं नामस्थापने क्षुण्णत्वादागमतो नोआगमतश्च ज्ञात्रनुपयुक्तज्ञशरीरेतरभेदांश्चानादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यधर्माद्यभिधित्सयाऽऽह—

दव्वं च अत्थिकायप्पयारधम्मो अ भावधम्मो अ । दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥ ४० ॥

व्याख्या–इह त्रिविधोऽधिकृतो धर्मः, तद्यथा–द्रव्यधर्मः अस्तिकायधर्मः प्रचारधर्मश्चेति । तत्र द्रव्यं चेत्यनेन

१ भवति कृतार्थ उक्त्वा सपदच्छेदं सूत्रं सूत्रानुगमः । सूत्रालापकन्यासो नामादिन्यासविनियोगम् ॥ १ ॥ २ सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिनियोगः शेषकः पदार्थादीन् । प्रायः स एव नैगमनयादिमतगोचरो भवति ॥ २ ॥ ३ एवं सूत्रं सूत्रानुगमः सूत्रालापककृतश्च निक्षेपः । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः नयाश्च युगपत्तु व्रजन्ति ॥३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाद् द्रव्यधर्ममाह, तथास्तिकाय इत्यनेन तु सूचनात् सूत्रमितिकृत्वा उपलक्षणत्वाद्-वयव एव समुदायशब्दोपचारादस्तिकायधर्म इति, प्रचारधर्मश्चेत्यनेन ग्रन्थेन द्रव्यधर्मदेशमाह । भावधर्मश्चेत्य-नेन तु भावधर्मस्य स्वरूपमाह ॥ साम्प्रतं प्रथमोद्दिष्टद्रव्यधर्मस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह–द्रव्यस्य पर्याया–ये उत्पा-दविगमादयस्ते धर्मास्तस्य द्रव्यस्य, ततश्च द्रव्यस्य धर्मा द्रव्यधर्मा इत्यन्यासंसक्तैकद्रव्यधर्माभावप्रदर्शनार्थो बहुवचननिर्देश इति गाथार्थः ॥ इदानीमस्तिकायादिधर्मस्वरूपप्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

धम्मत्थिकायधम्मो पयारधम्मो य विसयधम्मो य । लोइयकुप्पावयणिअ लोगुत्तर लोगऽणेगविहो ॥ ४१ ॥

व्याख्या–धर्मग्रहणाद् धर्मास्तिकायपरिग्रहः, ततश्च धर्मास्तिकाय एव गत्युपष्टम्भकोऽसंख्येयप्रदेशात्मकः अस्तिकायधर्म इति । अन्ये तु व्याचक्षते–धर्म्मास्तिकायादिस्वभावोऽस्तिकायधर्म इति, एतच्चायुक्तम्, तत्र ध-र्म्मास्तिकायादीनां द्रव्यत्वेन तस्य द्रव्यधर्मांव्यतिरेकादिति । तथा प्रचारधर्मश्च विषयधर्म एव, तुशब्दस्यैव-कारार्थत्वात्, तत्र प्रचरणं प्रचारः, प्रकर्षगमनमित्यर्थः, स एवात्मस्वभावत्वाद्धर्मः प्रचारधर्मः, स च किम्?– विषीदन्त्येतेषु प्राणिन इति विषया–रूपादयस्तद्धर्म एव, तथा च वस्तुतो विषयधर्म एवायं यद्रागादिमान् सत्त्वस्तेषु प्रवर्त्तत इति, चक्षुरादीन्द्रियवशतो रूपादिषु प्रवृत्तिः प्रचारधर्म इति हृदयम्, प्रधानसंसारनिब-न्धनत्वेन चास्य प्राधान्यख्यापनार्थं द्रव्यधर्मात् पृथगुपन्यासः । इदानीं भावधर्मः, स च लौकिकादिभेदभिन्न

१ तेसिं पंचण्हवि धम्मो णाम सब्भावो लक्खणंति एगट्ठा इति चूर्णिः. २ जो जस्स इंदिअस्स विसओ इति चूर्णिः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति, आह च–लौकिकः कुप्रावचनिकः लोकोत्तरस्तु, अत्र 'लोगोऽणेगविहो'त्ति लौकिकोऽनेकविध इति गाथार्थः ॥ तदेवानेकविधत्वमुपदर्शयन्नाह—

गम्मपसुदेसरज्जे पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं । सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहि उ पसत्थो ॥ ४२ ॥

व्याख्या–तत्र गम्यधर्मो–यथा दक्षिणापथे मातुलदुहिता गम्या उत्तरापथे पुनरगम्यैव, एवं भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयविभाषा कर्त्तव्येति, पशुधर्मो–मात्रादिगमनलक्षणः, देशधर्मो देशाचारः, स च प्रतिनियत एव नेपथ्यादिलिङ्गभेद इति, राज्यधर्मः–प्रतिराज्यं भिन्नः, स च करादिः, पुरवरधर्मः–प्रतिपुरवरं भिन्नः क्वचित्किञ्चिद्विशिष्टोऽपि पौरभाषाप्रदानादिलक्षणः सद्वितीया योषिद्गेहान्तरं गच्छतीत्यादिलक्षणो वा, ग्रामधर्मः–प्रतिग्रामं भिन्नः, गणधर्मो–मल्लादिगणव्यवस्था, यथा समंपादपातेन विषमग्रह इत्यादि, गोष्ठीधर्मो–गोष्ठीव्यवस्था, इह च समवयसां समुदायो गोष्ठी, तद्व्यवस्था पुनर्वसन्तादाविदं कर्त्तव्यमित्यादिलक्षणा, राजधर्मो–दुष्टेतरनिग्रहपरिपालनादिरिति । भावधर्मता चास्य गम्यादीनां विवक्षया भावरूपत्वात् द्रव्यपर्यायत्वाद्वा, तस्यैव च द्रव्यानपेक्षस्य विवक्षितत्वात्, लौकिकैर्वा भावधर्मत्वेनेष्टत्वात्, देशराज्यादिभेदश्चैकदेश एवानेकराज्यसम्भव इत्येवं स्वधिया भाव्यम् इत्युक्तो लौकिकः, कुप्रावचनिक उच्यते–असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव, यत आह—"सावज्जो उ" इत्यादि, अवद्यं–पापं सहावद्येन सावद्यं, तुशब्दस्त्वे-

१ पिबंति समवाएणं इति चूर्णिः. २ अत्तणेऽवि अवराहे ण खामिज्जइ चू०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वकारार्थः, स चावधारणे, सावद्य एव, कः?—'कुतीर्थिकधर्मः' चरकपरिव्राजकादिधर्म इत्यर्थः, कुत एतदित्याह —न 'जिनैः' अर्हद्भिः तुशब्दादन्यैश्च प्रेक्षापूर्वकारिभिः 'प्रशंसितः' स्तुतः, सारम्भपरिग्रहत्वात्, अत्र बहु वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रफलत्वात् प्रस्तुतव्यापारस्येति गाथार्थः ॥ उक्तः कुप्रावचनिकः, साम्प्रतं लोकोत्तरं प्रतिपादयन्नाह—

दुविहो लोगुत्तरिओ सुअधम्मो खलु चरित्तधम्मो अ । सुअधम्मो सज्झाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥ ४३ ॥

व्याख्या–द्विविधो–द्विप्रकारो 'लोकोत्तरो' लोकप्रधानो, धर्म इति वर्त्तते, तथा चाह–श्रुतधर्मः खलु चारित्रधर्मश्च, तत्र श्रुतं–द्वादशाङ्गं तस्य धर्मः श्रुतधर्मः, खलुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि?–स हि वाचनादिभेदाचित्र इति, आह च–श्रुतधर्मः स्वाध्यायः–वाचनादिरूपः, तत्त्वचिन्तायां धर्महेतुत्वाद्धर्म इति। तथा चारित्रधर्मश्च, तत्र "चर गतिभक्षणयोः" इत्यस्य "अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रन्" (पा० ३–२–१८४) इतीत्रन्प्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति, चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं क्षयोपशमरूपं तस्य भावश्चारित्रम्, अशेषकर्मक्षयाय चेष्टेत्यर्थः, ततश्चारित्रमेव धर्मः चारित्रधर्म इति। चः समुच्चये। अयं च श्रमणधर्म एवेत्याह–चारित्रधर्मः श्रमणधर्म इति, तत्र श्राम्यतीति श्रमणः "कृत्यल्युटो बहुलम्" (पा० ३–३–११३) इति वचनात् कर्त्तरि ल्युट्, श्राम्यतीति–तपस्यतीति, एतदुक्तं भवति–प्रव्रज्यादिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरतौ गुरूपदेशाद-

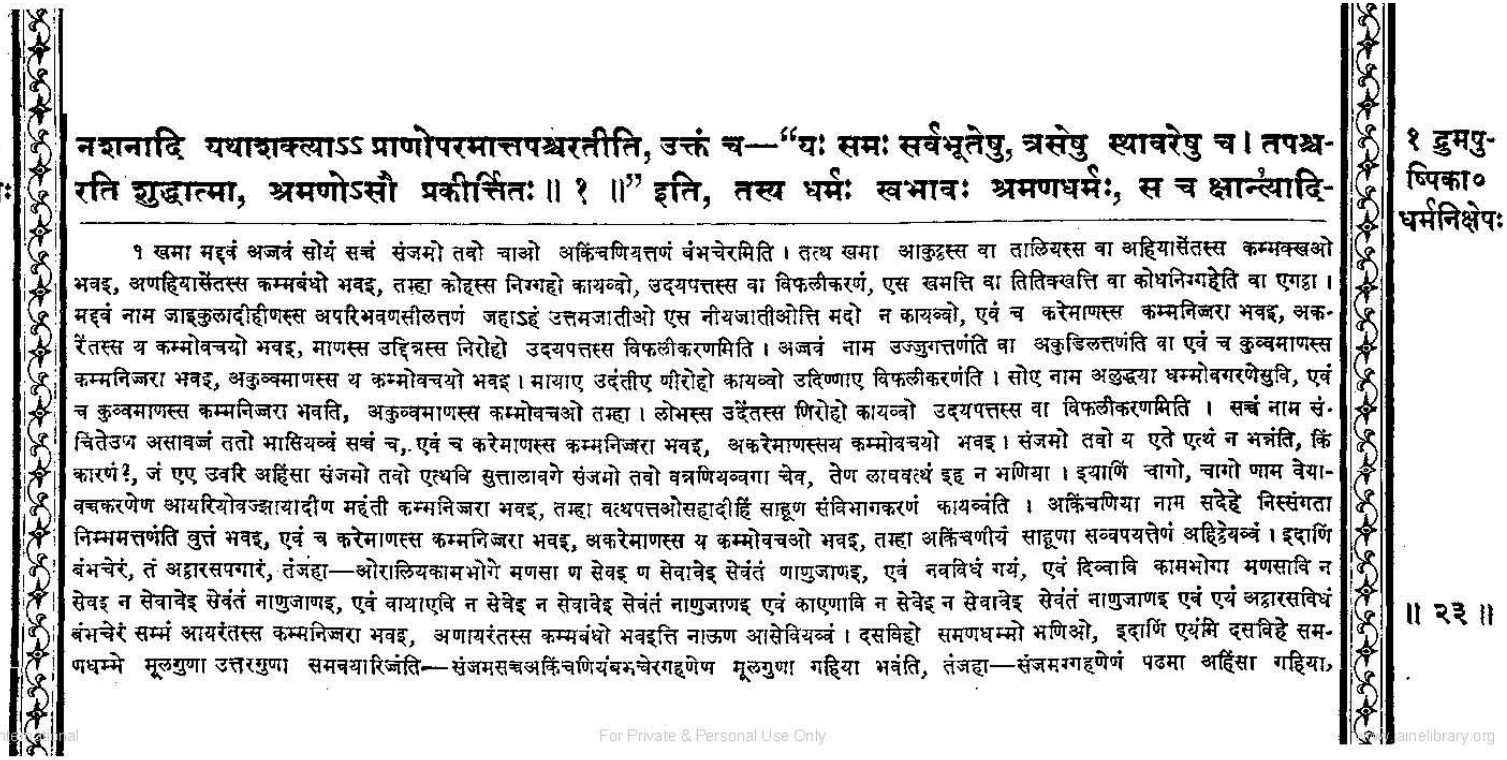
१ प्रयासस्येति प्र०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २३ ॥

नशनादि यथाशक्त्याऽऽ प्राणोपरमात्तपश्चरतीति, उक्तं च—"यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च। तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्त्तितः ॥ १ ॥" इति, तस्य धर्मः स्वभावः श्रमणधर्मः, स च क्षान्त्यादि-

१ खमा मद्दवं अज्जवं सोयं सच्चं संजमो तवो चाओ अकिंचणियत्तणं बंभचेरमिति। तत्थ खमा आकुट्ठस्स वा ताडियस्स वा अहियासेंतस्स कम्मक्खओ भवइ, अणहियासेंतस्स कम्मबंधो भवइ, तम्हा कोहस्स निग्गहो कायव्वो, उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं, एस खमत्ति वा तितिक्खत्ति वा कोधनिग्गहेति वा एगट्ठा। मद्दवं नाम जाइकुलादीहीणस्स अपरिभवणसीलत्तणं जहाऽहं उत्तमजातीओ एस नीयजातीओत्ति मदो न कायव्वो, एवं च करेमाणस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अकरेंतस्स य कम्मोवचयो भवइ, माणस्स उद्दिन्नस्स निरोहो उदयपत्तस्स विफलीकरणमिति। अज्जवं नाम उज्जुगत्तणंति वा अकुडिलत्तणंति वा एवं च कुव्वमाणस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अकुव्वमाणस्स य कम्मोवचयो भवइ। मायाए उदंतीए णीरोहो कायव्वो उदिण्णाए विफलीकरणंति। सोए नाम अलुद्धया धम्मोवगरणेसुवि, एवं च कुव्वमाणस्स कम्मनिज्जरा भवति, अकुव्वमाणस्स कम्मोवचओ तम्हा। लोभस्स उदेंतस्स णिरोहो कायव्वो उदयपत्तस्स वा विफलीकरणमिति। सच्चं नाम संचितेऊण असावज्जं ततो भासियव्वं सच्चं च, एवं च करेमाणस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अकरेमाणस्सय कम्मोवचयो भवइ। संजमो तवो य एते एत्थं न भन्नंति, किं कारणं?, जं एए उवरि अहिंसा संजमो तवो एत्थवि सुत्तालावगे संजमो तवो वन्नणियव्वगा चेव, तेण लाघवत्थं इह न भणिया। इयाणिं चागो, चागो णाम वेयावच्चकरणेण आयरियोवज्झायादीण महंती कम्मनिज्जरा भवइ, तम्हा वत्थपत्तओसहादीहिं साहूण संविभागकरणं कायव्वंति। अकिंचणिया नाम सदेहे निस्संगता निम्ममत्तणंति वुत्तं भवइ, एवं च करेमाणस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अकरेमाणस्स य कम्मोवचओ भवइ, तम्हा अकिंचणीयं साहूणा सव्वपयत्तेणं अहिट्ठेयव्वं। इदाणिं बंभचेरं, तं अट्ठारसपगारं, तंजहा—ओरालियकामभोगे मणसा ण सेवइ ण सेवावेइ सेवंतं णाणुजाणइ, एवं नवविधं गयं, एवं दिव्वावि कामभोगा मणसावि न सेवइ न सेवावेइ सेवंतं नाणुजाणइ, एवं वायाएवि न सेवेइ न सेवावेइ सेवंतं नाणुजाणइ एवं काएणावि न सेवेइ न सेवावेइ सेवंतं नाणुजाणइ एवं एयं अट्ठारसविधं बंभचेरं सम्मं आयरंतस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अणायरंतस्स कम्मबंधो भवइत्ति नाऊण आसेवियव्वं। दसविहो समणधम्मो भणिओ, इदाणिं एयंमि दसविहे समणधम्मे मूलगुणा उत्तरगुणा समवयारिज्जंति—संजमसच्चअकिंचणियंबभचेरगहणेण मूलगुणा गहिया भवंति, तंजहा—संजमग्गहणेणं पढमा अहिंसा गहिया,

१ द्रुमपुष्पिका० धर्मनिक्षेपः

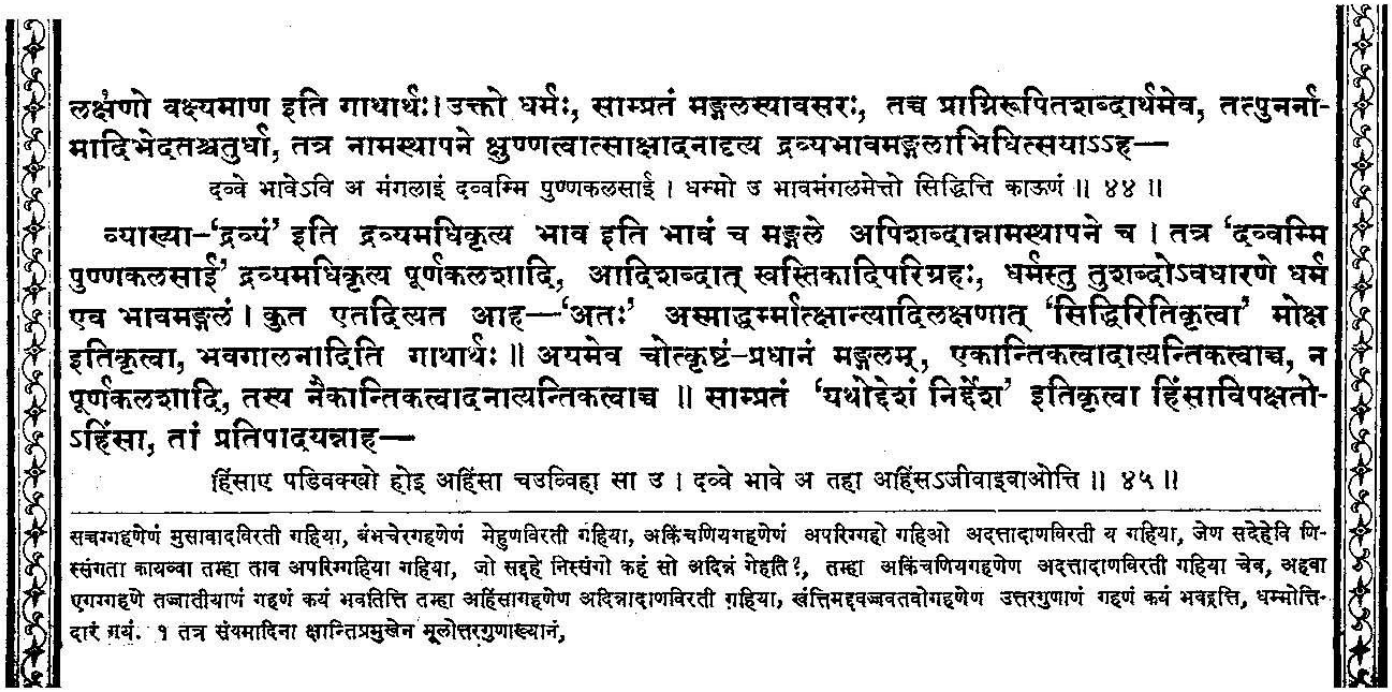
॥ २३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



लक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थः। उक्तो धर्मः, साम्प्रतं मङ्गलस्यावसरः, तच्च प्राग्निरूपितशब्दार्थमेव, तत्पुनर्नामादिभेदतश्चतुर्धा, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वात्साक्षादनादृत्य द्रव्यभावमङ्गलाभिधित्सयाऽऽह—

दव्वे भावेऽवि अ मंगलाइं दव्वम्मि पुण्णकलसाई। धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊणं ॥ ४४ ॥

व्याख्या–'द्रव्यं' इति द्रव्यमधिकृत्य भाव इति भावं च मङ्गले अपिशब्दान्नामस्थापने च। तत्र 'दव्वम्मि पुण्णकलसाई' द्रव्यमधिकृत्य पूर्णकलशादि, आदिशब्दात् स्वस्तिकादिपरिग्रहः, धर्मस्तु तुशब्दोऽवधारणे धर्म एव भावमङ्गलं। कुत एतदित्यत आह—'अतः' अस्माद्धर्मात्क्षान्त्यादिलक्षणात् 'सिद्धिरितिकृत्वा' मोक्ष इतिकृत्वा, भवगालनादिति गाथार्थः ॥ अयमेव चोत्कृष्टं–प्रधानं मङ्गलम्, एकान्तिकत्वादात्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च ॥ साम्प्रतं 'यथोद्देशं निर्देशं' इतिकृत्वा हिंसाविपक्षतोऽहिंसा, तां प्रतिपादयन्नाह—

हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ। दव्वे भावे अ तहा अहिंसऽजीवाइवाओत्ति ॥ ४५ ॥

सचग्गहणेणं मुसावादविरती गहिया, बंभचेरग्गहणेणं मेहुणविरती गहिया, अकिंचणियग्गहणेणं अपरिग्गहो गहिओ अदत्तादाणविरती य गहिया, जेण सदेहेवि णिस्संगता कायव्वा तम्हा ताव अपरिग्गहिया गहिया, जो सद्दहे निस्संगो कहं सो अदिन्नं गेहति?, तम्हा अकिंचणियग्गहणेण अदत्तादाणविरती गहिया चेव, अहवा एगग्गहणे तज्जातीयाणं गहणं कयं भवतित्ति तम्हा अहिंसागहणेण अदिन्नादाणविरती गहिया, खंतिमद्दवज्जवतवोगहणेण उत्तरगुणाणं गहणं कयं भवइत्ति, धम्मोत्तिदारं गयं. १ तत्र संयमादिना क्षान्तिप्रमुखेन मूलोत्तरगुणाख्यानं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

॥ २४ ॥

व्याख्या–तत्र प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, अस्याः हिंसायाः किम् ?–प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः–अप्रमत्ततया शुभयोगपूर्वकं प्राणाव्यपरोपणमित्यर्थः, किम् ?–भवत्यहिंसेति, तत्र 'चतुर्विधा' चतुष्प्रकारा अहिंसा, 'दव्वे भावे अ'त्ति द्रव्यतो भावतश्चेत्येको भङ्गः, तथा द्रव्यतो नो भावतः तथा न द्रव्यतो भावतः, तथा न द्रव्यतो न भावत इति तथाशब्दसमुचितो भङ्गत्रयोपन्यासः, अनुक्तसमुच्चयार्थकत्वादस्येति, उक्तं च "तथा समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रकारवचनेष्वित्यादि, तत्रायं भङ्गकभावार्थः–द्रव्यतो भावतश्चेति, "जहा केइ पुरिसे मिअवहपरिणामपरिणए मियं पासित्ता आयन्नाइट्ठियकोदंडजीवे सरं णिसिरिज्जा, से अमिए तेण सरेण विद्धे मए सिआ, एसा दव्वओ हिंसा भावओवि"। या पुनर्द्रव्यतो न भावतः सा खल्वीर्यादिसमितस्य साधोः कारणे गच्छत इति, उक्तं च—"उच्चालिअम्मि पाए इरियासमिअस्स संकमट्ठाए। वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥ १ ॥ नं य तस्स तप्पिणमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए। जम्हा सो अपमत्तो सा य पमाओत्ति निद्दिट्ठा ॥ २ ॥" इत्यादि। या पुनर्भावतो न द्रव्यतः, सेयम्–जहा केवि पु-

१ यथा कश्चित् पुरुषो मृगवधपरिणामपरिणतः मृगं दृष्ट्वा आकर्णाकृष्टकोदण्डजीवः शरं निसृजेत्, स च मृगस्तेन शरेण विद्धो मृतः स्यात्, एषा द्रव्यतो हिंसा भावतोऽपि. २ उच्चालिते पादे ईर्यासमितेन संक्रमणार्थम् । व्यापद्येत कुलिङ्गी म्रियेत तं योगमासाद्य ॥ १ ॥ ३ द्वीन्द्रियादिः वि० प० ४ न च तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये । यस्मात्सोऽप्रमत्तः सा च प्रमाद इति निर्दिष्टा ॥ २ ॥ ५ यथा कश्चित्पुरुषः मन्दमन्दप्रकाशदेशे संस्थितामीषद्वलितकायं रज्जुं दृष्ट्वा एषोऽहिरिति तद्वधपरिणामपरिणतः निष्कृष्टासिपत्रो द्रुतं द्रुतं छिन्द्यात्, एषा भावतो हिंसा न द्रव्यतः.

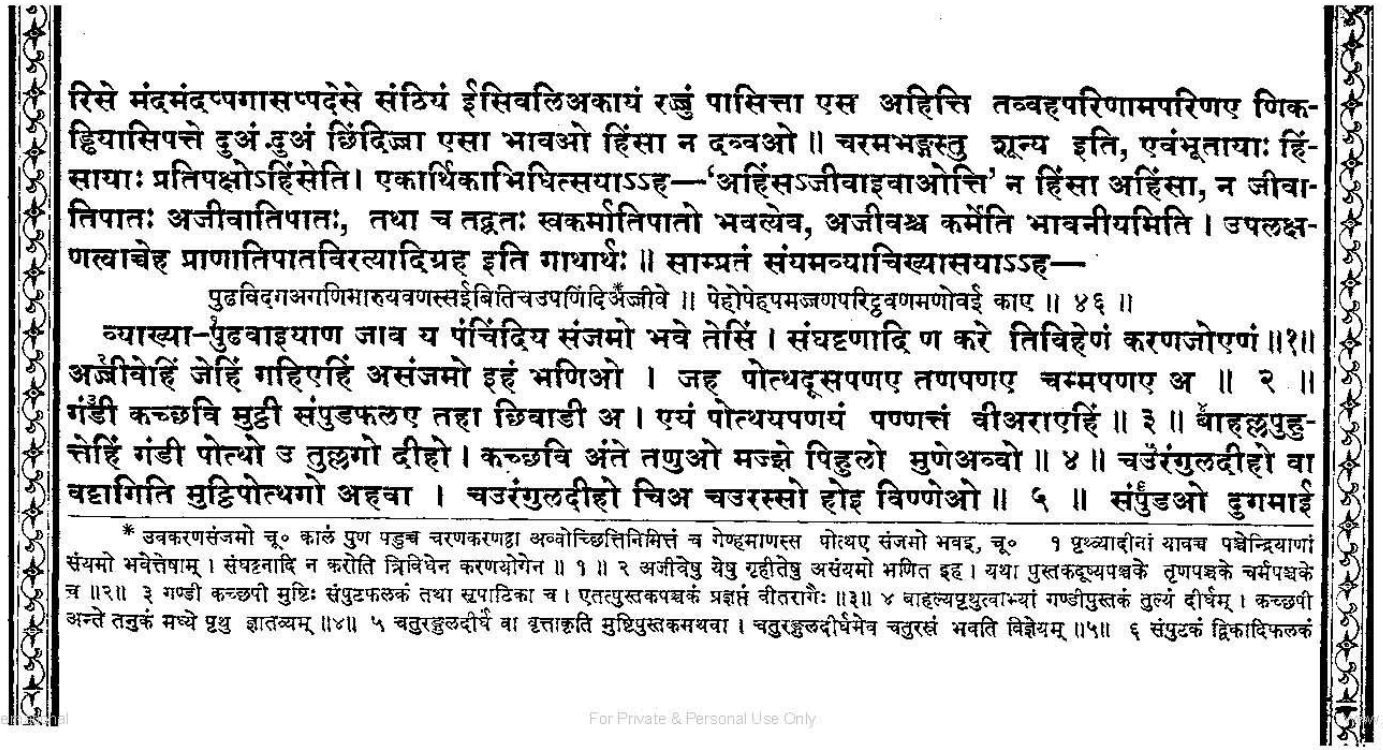
॥ २४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



रिसे मंदमंदप्पगासप्पदेसे संठियं ईसिवलिअकायं रज्जुं पासित्ता एस अहिस्ति तव्वहपरिणामपरिणए णिक-
ट्ठियासिपत्ते दुअं दुअं छिंदिज्जा एसा भावओ हिंसा न दव्वओ ॥ चरमभङ्गस्तु शून्य इति, एवंभूताया: हिं-
साया: प्रतिपक्षोऽहिंसेति। एकार्थिकाभिधित्सयाऽऽह—'अहिंसऽजीवाइवाओत्ति' न हिंसा अहिंसा, न जीवा-
तिपातः अजीवातिपातः, तथा च तद्वतः स्वकर्मोतिपातो भवत्येव, अजीवश्च कर्मेति भावनीयमिति। उपलक्ष-
णत्वाचेह प्राणातिपातविरत्यादिग्रह इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं संयमव्याचिख्यासयाऽऽह—

पुढविदगअगणिमारुयवणस्सईबितिचउपणिंदिअजीवे ॥ पेहोपेहपमज्जणपरिट्ठवणमणोवई काए ॥ ४६ ॥

व्याख्या–पुढवाइयाण जाव य पंचिंदिय संजमो भवे तेसिं। संघट्टणादि ण करे तिविहेणं करणजोएणं ॥१॥
अजीवेहिं जेहिं गहिएहिं असंजमो इहं भणिओ। जह पोत्थदूसपणए तणपणए चम्मपणए अ ॥ २ ॥
गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए तहा छिवाडी अ। एयं पोत्थयपणयं पण्णत्तं वीअरागेहिं ॥ ३ ॥ बाहल्लपुहु-
त्तेहिं गंडी पोत्थो उ तुल्लगो दीहो। कच्छवि अंते तणुओ मज्झे पिहुलो मुणेअव्वो ॥ ४ ॥ चउरंगुलदीहो वा
वट्टागिति मुट्ठिपोत्थगो अहवा। चउरंगुलदीहो चिअ चउरस्सो होइ विण्णेओ ॥ ५ ॥ संपुडओ दुगमाई

* उवकरणसंजमो चू० कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अव्वोच्छित्तिनिमित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ, चू० १ पृथ्व्यादीनां यावच्च पञ्चेन्द्रियाणां संयमो भवेत्तेषाम्। संघट्टनादि न करोति त्रिविधेन करणयोगेन ॥ १ ॥ २ अजीवेषु येषु गृहीतेषु असंयमो भणित इह। यथा पुस्तकदूष्यपञ्चके तृणपञ्चके चर्मपञ्चके च ॥२॥ ३ गण्डी कच्छपी मुष्टिः संपुटफलकं तथा सूपाटिका च। एतत्पुस्तकपञ्चकं प्रज्ञप्तं वीतरागैः ॥३॥ ४ बाहल्यपृथुत्वाभ्यां गण्डीपुस्तकं तुल्यं दीर्घम्। कच्छपी अन्ते तनुकं मध्ये पृथु ज्ञातव्यम् ॥४॥ ५ चतुरङ्गुलदीर्घं वा वृत्ताकृति मुष्टिपुस्तकमथवा। चतुरङ्गुलदीर्घमेव चतुरस्रं भवति विज्ञेयम् ॥५॥ ६ संपुटकं द्विकादिफलकं

दश. ५

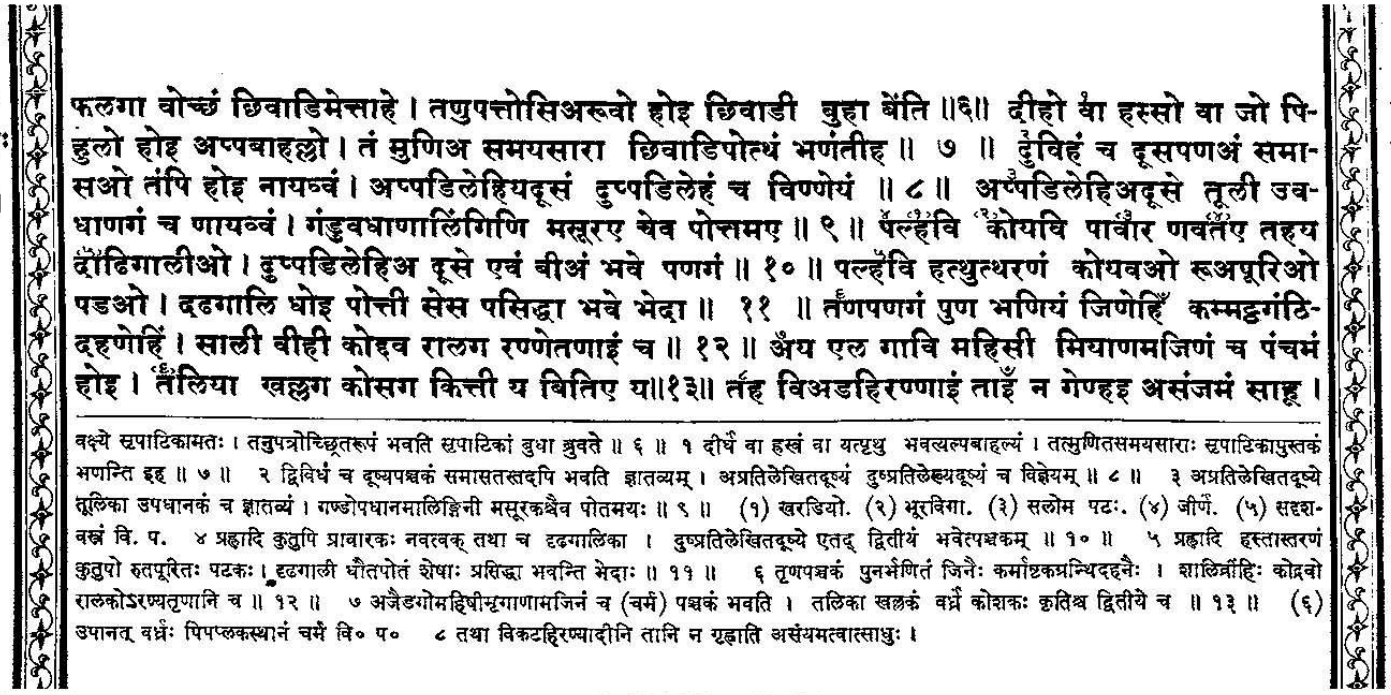
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र "संयम" शब्दस्य भेद-प्रभेदानां विस्तृत वर्णनं क्रियते

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २५ ॥

फलगा वोच्छं छिवाडिमेत्ताहे । तणुपत्तोसिअरूवो होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥६॥ दीहो वा हस्सो वा जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो । तं सुणिअ समयसारा छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥ ७ ॥ दुविहं च दूसपणअं समासओ तंपि होइ नायव्वं । अप्पडिलेहियदूसं दुप्पडिलेहं च विण्णेयं ॥ ८ ॥ अप्पडिलेहिअदूसे तूली उवधाणगं च णायव्वं । गंडुवधाणालिंगिणि मसूरए चेव पोत्तमए ॥ ९ ॥ पल्हवि कोयवि पावार णवतए तहय दोढिगालीओ । दुप्पडिलेहिअ दूसे एवं बीअं भवे पणगं ॥ १० ॥ पल्हवि हत्थुत्थरणं कोयवओ रूअपूरिओ पडओ । दढगालि धोइ पोत्ती सेस पसिद्धा भवे भेदा ॥ ११ ॥ तणपणगं पुण भणियं जिणेहिं कम्मट्ठगंठिदहणेहिं । साली वीही कोद्दव रालग रण्णेतणाइं च ॥ १२ ॥ अय एल गावि महिसी मियाणमजिणं च पंचमं होइ । तलिया खल्लग कोसग कित्ती य बितिए य॥१३॥ तह विअडहिरण्णाइं ताइं न गेण्हइ असंजमं साहू ।

वक्ष्ये सूपाटिकामतः । तनुपत्रोच्छ्रितरूपं भवति सूपाटिकां बुधा ब्रुवते ॥ ६ ॥ १ दीर्घं वा ह्रस्वं वा यत्पृथु भवत्यल्पबाहल्यं । तत्सुगितसमयसाराः सूपाटिकापुस्तकं भणन्ति इह ॥ ७ ॥ २ द्विविधं च दूष्यपञ्चकं समासतस्तदपि भवति ज्ञातव्यम् । अप्रतिलेखितदूष्यं दुष्प्रतिलेख्यदूष्यं च विज्ञेयम् ॥ ८ ॥ ३ अप्रतिलेखितदूष्ये तूलिका उपधानकं च ज्ञातव्यं । गण्डोपधानमालिङ्गिनी मसूरकश्चैव पोतमयः ॥ ९ ॥ (१) खरडियो. (२) भूरविगा. (३) सलोम पटः. (४) जीर्णे. (५) सदृशवस्त्रं वि. प. ४ प्रह्वादि कुतुपि प्रावारकः नवत्वक् तथा च दृढगालिका । दुष्प्रतिलेखितदूष्ये एतद् द्वितीयं भवेत्पञ्चकम् ॥ १० ॥ ५ प्रह्वादि हस्तास्तरणं कुतुपो रुतपूरितः पटकः । दृढगाली धौतपोतं शेषाः प्रसिद्धा भवन्ति भेदाः ॥ ११ ॥ ६ तृणपञ्चकं पुनर्भणितं जिनैः कर्माष्टकग्रन्थिदहनैः । शालिव्रीहिः कोद्रवो रालकोऽरण्यतृणानि च ॥ १२ ॥ ७ अजैडगोमहिषीमृगाणामजिनं च (चर्म) पञ्चकं भवति । तलिका खल्लकं वर्ध्रे कोशकः कृतिश्च द्वितीये च ॥ १३ ॥ (६) उपानत् वर्ध्रः पिपप्लकस्थानं चर्म वि० प० ८ तथा विकटहिरण्यादीनि तानि न गृह्णाति असंयमत्वात्साधुः ।

१ द्रुमपुष्पिका० संयमः ॥ २५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

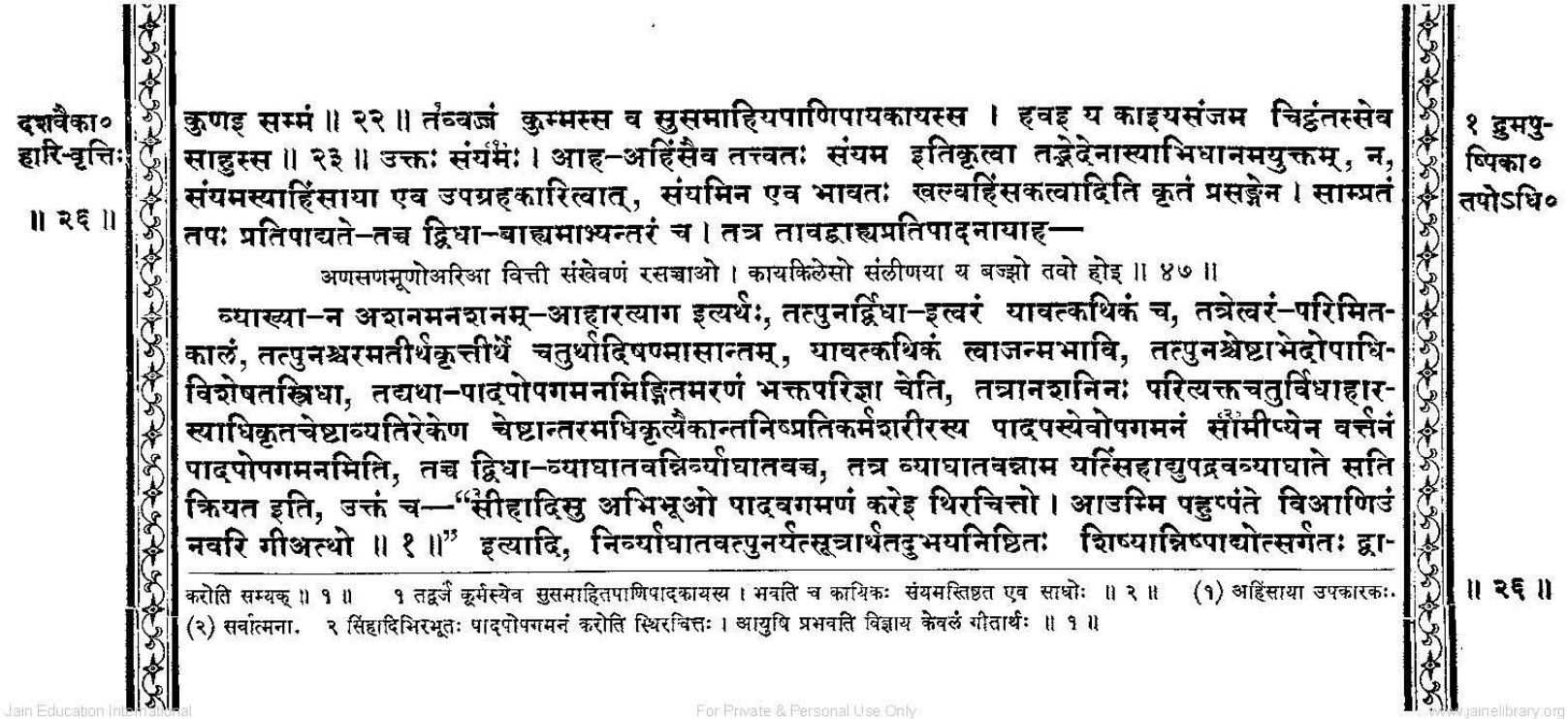
ठाणाइ जत्थ चेए पेह पमज्जित्तु तत्थ करे ॥ १४ ॥ एसा पेह उवेहा पुणोवि दुविहा उ होइ नायव्वा। वावारावावारे वावारे जह उ गामस्स ॥ १५ ॥ एसो उविक्खगो हू अव्वावारे जहा विणस्संतं। किं एयं नु उविक्खसि? दुविहाएवित्थ अहियारो ॥ १६ ॥ वावारुविक्ख तहिं संभोइय सीयमाण चोएइ। चोएई इयरं पिहु पावयणीअम्मि कज्जम्मि ॥ १७ ॥ अव्वावारउवेक्खा णवि चोएइ गिहिं तु सीअंतं। कम्मेसु बहुविहेसुं संजम एसो उवेक्खाए ॥ १८ ॥ पडिसागरिए अपमज्जिएसु पाएसु संजमो होइ। ते चेव पमज्जंते असागरिएँ संजमो होइ ॥ १९ ॥ पाणाईसंसत्तं भत्तं पाणमहवा वि अविसुद्धं। उवगरणभत्तमाई जं वा अहरित्त होज्जाहि ॥ २० ॥ तं परिट्ठप्पविहीए अवहट्टुंसंजमो भवे एसो। अकुसलमणवइरोहो कुसलाण उदीरणं चेव ॥ २१ ॥ जुंयलं मणवइसंजम एसो काए पुण-जं अवस्सकज्जम्मि। गमणागमणं भवइ तं उवउत्तो

स्थानादि यत्र चेतयति प्रेक्ष्य प्रमार्ज्य तत्र कुर्यात् ॥ १४ ॥ १ एषा प्रेक्षा उपेक्षा पुनरिह द्विविधा भवति ज्ञातव्या। व्यापाराव्यापारयोः व्यापारे यथैव ग्रामस्य ॥ १५ ॥ २ एष उपेक्षकस्यैवाव्यापारे यथा विनश्यन्तम्। किमेतं नूपेक्षसे? द्विविधयाप्यत्राधिकारः ॥ १६ ॥ ३ व्यापारोपेक्षा तत्र साम्भोगिकान् सीदतश्चोदयति। चोदयतीतरमपि प्रावचनिके कार्ये ॥ १७ ॥ (१) पार्श्वस्थादिकम् वि० प० ४ अव्यापारोपेक्षा नैव चोदयति गृहिणं सीदन्तम्। कर्मसु बहुविधेषु एष संयम उपेक्षायाम् ॥ १८ ॥ ५ प्रतिसागारिके अप्रमार्जितयोः पादयोः संयमो भवति। तावेव प्रमृज्यमानयोरसागारिके संयमो भवति ॥ १९ ॥ (२) अप्पसागारिए चू० ६ प्राणादिसंसक्तं भक्तं पानमथवाऽपि अविशुद्धम्। उपकरणभक्तादि यद्वातिरिक्तं भवेत् ॥ २० ॥ ७ तत्परिष्ठापनविधिना अपहृत्यसंयमो भवेदेषः। अकुशलमनोवचोरोधः कुशलानामुदीरणं चैव ॥२१॥ ८ युगलं मनोवचःसंयम एष काये पुनरवश्यकार्ये। गमनागमने भवतस्ते उपयुक्तः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥ दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २६ ॥

कुणइ सम्मं ॥ २२ ॥ तव्वज्जं कुम्मस्स व सुसमाहियपाणिपायकायस्स । हवइ य काइयसंजम चिट्ठंतस्सेव साहुस्स ॥ २३ ॥ उक्तः संयमः । आह–अहिंसैव तत्त्वतः संयम इतिकृत्वा तद्भेदेनास्याभिधानमयुक्तम्, न, संयमस्याहिंसाया एव उपग्रहकारित्वात्, संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वादिति कृतं प्रसङ्गेन । साम्प्रतं तपः प्रतिपाद्यते–तच्च द्विधा–बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र तावद्बाह्यप्रतिपादनायाह—

अणसणमूणोअरिआ वित्ती संखेवणं रसच्चाओ । कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥ ४७ ॥

व्याख्या–न अशनमनशनम्–आहारत्याग इत्यर्थः, तत्पुनर्द्विधा–इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं–परिमितकालं, तत्पुनश्चरमतीर्थकृत्तीर्थे चतुर्थादिषण्मासान्तम्, यावत्कथिकं त्वाजन्मभावि, तत्पुनश्चेष्टाभेदोपाधिविशेषतस्त्रिधा, तद्यथा–पादपोपगमनमिङ्गितमरणं भक्तपरिज्ञा चेति, तत्रानशनिनः परित्यक्तचतुर्विधाहारस्याधिकृतचेष्टाव्यतिरेकेण चेष्टान्तरमधिकृत्यैकान्तनिष्प्रतिकर्मशरीरस्य पादपस्येवोपगमनं सामीप्येन वर्त्तनं पादपोपगमनमिति, तच्च द्विधा–व्याघातवन्निर्व्याघातवच्च, तत्र व्याघातवन्नाम यत्सिंहाद्युपद्रवव्याघाते सति क्रियत इति, उक्तं च—"सीहादिसु अभिभूओ पादवगमणं करेइ थिरचित्तो । आउम्मि पहुप्पंते विआणिउं नवरि गीअत्थो ॥ १ ॥" इत्यादि, निर्व्याघातवत्पुनर्यत्सूत्रार्थतदुभयनिष्ठितः शिष्यान्निष्पाद्योत्सर्गतः द्वा-

करोति सम्यक् ॥ १ ॥ १ तद्वर्जं कूर्मस्येव सुसमाहितपाणिपादकायस्य । भवति च कायिकः संयमस्तिष्ठत एव साधोः ॥ २ ॥ (१) अहिंसाया उपकारकः. (२) सर्वात्मना. २ सिंहादिभिरभूतः पादपोपगमनं करोति स्थिरचित्तः । आयुषि प्रभवति विज्ञाय केवलं गीतार्थः ॥ १ ॥

१ द्रुमपुष्पिका० तपोऽधि० ॥ २६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपसः द्वादश-भेदानां वर्णनं क्रियते

दश समाः कृतपरिकर्मा सन्काल एव करोति, उक्तं च "[१]चत्तारि विचित्ताइं विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि। संवच्छरे अ दोण्णि उ एगंतरिअं च आयामं ॥ १ ॥ [२]णाइविगिट्ठो अ तवो छम्मासे परिमिअं च आयामं। अन्ने वि अ छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ २ ॥ [३]वासं कोडीसहियं आयामं काउ आणुपुव्वीए। गिरिकंदरं तु गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥ ३ ॥" इत्यादि। तथा इङ्गिते प्रदेशे मरणमिङ्गितमरणम्, इदं च संहननापेक्षमनन्तरोदितमशक्नुवतश्चतुर्विधाहारविनिवृत्तिरूपं स्वत एवोद्वर्त्तनादिक्रियायुक्तस्यावगन्तव्यमिति, उक्तं च—"[४]इंगिअदेसंमि सयं चउव्विहाहारचायणिप्फण्णं। उव्वत्तणादिजुत्तं णाणेण उ इंगिणीमरणं ॥ १ ॥" इत्यादि। भक्तपरिज्ञा पुनस्त्रिविधचतुर्विधाहारविनिवृत्तिरूपा, सा नियमात्सप्रतिकर्मशरीरस्यापि धृतिसंहननवतो यथासमाधि भावतोऽवगन्तव्येति, उक्तं च—"[५]भत्तपरिण्णाणसणं तिविहाहाराइचायनिप्फण्णं। सपडिक्कम्मं नियमा जहासमाहिं विणिद्दिट्ठं ॥ १ ॥" इत्यादि उक्तमनशनम्, अधुना ऊनोदरता–ऊनोदरस्य भाव ऊनोदरता, सा पुनर्द्विविधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यत उपकरणभक्तपानविषया, तत्रोपकरणे

१ चत्वारि विचित्राणि विकृतिनिर्व्यूढानि चत्वारि । संवत्सरौ च द्वौ तु एकान्तरितं चाचाम्लम् ॥ १ ॥ (१) रहितानि वि. प्र० २ नातिविकृष्टं च तपः षण्मासान् परिमितं चाचाम्लम्। अन्यानपि च षण्मासान् भवति विकृष्टं तपःकर्म ॥ १ ॥ ३ वर्षे कोटीसहितमाचामाम्लं कृत्वाऽऽनुपूर्व्या । गिरिकन्दरां तु गत्वा पादपोपगमनमथ करोति ॥ ३ ॥ ४ इङ्गितदेशे स्वयं चतुर्विधाहारत्यागनिष्पन्नं । उद्वर्त्तनादियुक्तं नान्येनैव इङ्गिनीमरणम् ॥ १ ॥ ५ भक्तपरिज्ञाऽनशनं त्रिविधाहारादित्यागनिष्पन्नम् । सप्रतिकर्म नियमात् यथासमाधि विनिर्दिष्टम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनकल्पिकादीनामन्येषां वा तदभ्यासपराणामवगन्तव्या, न पुनरन्येषाम्, उपध्यभावे समग्रसंयमाभावाद् अतिरिक्ताग्रहणतो वोनोदरतेति, उक्तं च—"[1]जं वट्टइ उवयारे उवगरणं तं सि होइ उवगरणं । अइरेगं अहिगरणं अजयं अजओ परिहरंतो ॥ १ ॥" इत्यादि । भक्तपानोदरता पुनरात्मीयाहारादिमानपरित्यागवतो वेदितव्या, उक्तं च—"[2]बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलिआए अट्ठावीसं हवे कवला ॥ १ ॥ [3]कवलाण य परिमाणं कुक्कुडिअंडयपमाणमेत्तं तु । जो वा अविगिअवयणो वयणम्मि छुहेज्ज वीसत्थो ॥२॥" इत्यादि, एवं व्यवस्थिते सत्यूनोदरता अल्पाहारादिभेदतः पञ्चविधा भवति, उक्तं च– अप्पाहार अवड्ढा दुभाग पत्ता तहेव किंचूणा । अट्ठ दुवालस सोलस चउवीस तहेक्कतीसा य ॥ १ ॥ अयमत्र भावार्थः–अल्पाहारोनोदरता नामैककवलादारभ्य यावदष्टौ कवला इति, अत्र चैककवलमाना जघन्या, अष्टकवलमाना पुनरुत्कृष्टा, शेषभेदा मध्यमा च, एवं नवभ्य आरभ्य यावद् द्वादश कवलास्तावदपार्धोनोदरता जघन्यादिभेदा भावनीया इति, एवं त्रयोदशभ्य आरभ्य यावत्षोडश तावद् द्विभागोनोदरता, एवं सप्तदशभ्य आरभ्य यावच्चतुर्विंशतिस्तावत्प्राप्ता, इत्थं पञ्चविंशतेरारभ्य यावदेकत्रिंशत्तावत्किञ्चिदूनोदरता, जघन्यादिभेदाः सुधियाऽवसेयाः, एवमनेनानुसारेण पानेऽपि वाच्याः, एवं योषितोऽपि द्रष्टव्या इति, भावो-

१ यद्वर्त्तत उपकारे उपकरणं तदस्य भवत्युपकरणं । अतिरेकमधिकरणमयतमयतः परिभुञ्जन् ॥ १ ॥ २ द्वात्रिंशत्किल कवला आहारः कुक्षिपूरको भणितः । पुरुषस्य महिलायाः अष्टाविंशतिः स्युः कवलाः ॥ १ ॥ ३ कवलानां च परिमाणं कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रमेव । यो वाऽविकृतवदनो वदनें क्षिपेत् विश्वस्तः ॥ २ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

नोदरता पुनः क्रोधादिपरित्याग इति, उक्तं च—"[१]कोहाईणमणुदिणं चाओ जिणवयणभावणाओ अ। भावेणोणोदरिआ पण्णत्ता वीअरागेहिं ॥ १ ॥" इत्यादि । उक्तोनोदरता, इदानीं वृत्तिसङ्क्षेप उच्यते–स च गोचराभिग्रहरूपः, ते चानेकप्रकाराः, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो निर्लेपादि ग्राह्यमिति, उक्तं च—"[२]लेवडमलेवडं वा अमुगं दव्वं च अज्ज घिच्छामि । अमुगेण व दव्वेणं अह दव्वाभिग्गहो नाम ॥ १ ॥ [३]अट्ठ उ गोअरभूमी एलुगविक्खंभमित्तगहणं च । सग्गामपरग्गामे एवइय घरा य खित्तम्मि ॥ २ ॥ [४]उज्जुअ गंतुंपच्चागई अ गोमुत्तिआ पयंगविही। पेडा य अद्धपेडा अब्भिंतरबाहिसंबुक्का ॥ ३ ॥ [५]काले अभिग्गहो पुण आदी मज्झे तहेव अवसाणे । अप्पत्ते सइकाले आदी बिइ मज्झ तइअंते ॥ ४ ॥ दिंतगपडिच्छयाणं भवेज्ज सुहुमं पि मा हु अचियत्तं । इति अप्पत्तअतीते पवत्तणं मा य तो मज्झे ॥ ५ ॥ [६]उक्खित्तमाइचरगा भावजुआ खलु अभिग्गहा होंति । गायन्तो अ रुअंतो जं देइ निसन्नमादी वा ॥ ६ ॥ [७]

१ क्रोधादीनामनुदिनं त्यागः जिनवचनभावनातश्च । भावेनोनोदरता प्रज्ञप्ता वीतरागैः ॥ १ ॥ २ लेपकृद् अलेपकृद्वाऽभुक्तं द्रव्यं चाद्य ग्रहीष्यामि । अमुकेन वा द्रव्येणासौ द्रव्याभिग्रहो नाम ॥ १ ॥ ३ अष्ट तु गोचरभूमयः एलुक (देहली) विष्कम्भमात्रग्रहणं च । स्वग्रामे परग्रामे एतावन्ति गृहाणि च क्षेत्रे ॥ २ ॥ ४ ऋज्वी गत्वाप्रत्यागतिश्च गोमूत्रिका पतङ्गवीथी । पेटा चार्धपेटा अभ्यन्तरबाह्यशम्बूके ॥ ३ ॥ ५ कालेऽभिग्रहः पुनरादौ मध्ये तथैवावसाने । अप्राप्ते स्मृतिकाले आदिः द्वितीये मध्यः तृतीयेऽन्तः ॥४॥ ६ दायकप्रतीच्छकयोर्भूत् सूक्ष्माऽपि मैवाप्रीतिः । इत्यप्राप्तातीतयोः प्रवर्त्तनं च मा च (भूत्) ततो मध्ये ॥५॥ ७ उत्क्षिप्तचरकत्वाद्या भावयुताः खलु अभिग्रहा भवन्ति । गायन् रुदँश्च यद्ददाति निषण्णादिर्वा ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओसक्कण अहिसक्कणपरंमुहालंकिओ नरो वावि । भावेणण्णयरेण जुओ अह भावाभिग्गहो णाम ॥७॥" उक्तो वृत्तिसंक्षेपः, साम्प्रतं रसपरित्याग उच्यते–तत्र रसाः क्षीरादयस्तत्परित्यागस्तप इति, उक्तं च—"विगईइं विगईभीओ विगइगयं जो उ भुंजए साहू । विगई विगइसहावा विगई विगइं बला णेइ ॥ १ ॥ विगईइ परिणइधम्मो मोहो जमुदिज्जए उदिण्णे अ । सुट्ठुवि चित्तजयपरो कहं अकज्जे ण वट्टिहिति ? ॥२॥ दावानलमज्झगओ को तदुवसमट्ठयाइ जलमाई । सन्तेवि ण सेविज्जा ? मोहाणलदीविएसुवमा ॥ ३ ॥" इत्यादि, उक्तो रसपरित्यागः, साम्प्रतं कायक्लेश उच्यते–स च वीरासनादिभेदाच्चित्र इति, उक्तं च–"वीरासण उक्कुडुगासणाइ लोआइओ य विण्णेओ । कायकिलेसो संसारवासनिव्वेअहेउत्ति ॥ १ ॥ वीरासणाइसु गुणा कायनिरोहो दया अ जीवेसु । परलोअमई अ तहा बहुमाणो चेव अन्नेसिं ॥ २ ॥ णिस्संगया य पच्छापुरकम्मविवज्जणं च लोअगुणा । दुक्खसहत्तं नरगादिभावणाए य निव्वेओ ॥ ३ ॥" तथाऽन्यैरप्युक्तम्—"पश्चात्कर्म

१ अवष्वष्कणमभिष्वष्कणपराङ्मुखालङ्कृतो नरो वाऽपि । भावेनान्यतरेण युतः असौ भावाभिग्रहो नाम ॥ ७ ॥ २ विकृतिं विकृतिभीतः विकृतिगतं यस्तु भुङ्क्ते साधुः । विकृतिर्विकृतिस्वभावा विकृतिर्विगतिं बलान्नयति ॥ १ ॥ ३ विकृतिः परिणतिधर्मा मोहो यदुदीर्यते उदीर्णे च । सुष्ठ्वपि चित्तजयपरः कथमकार्ये न वर्त्स्यति ? ॥ २ ॥ ४ दावानलमध्यगतः कस्तदुपशमार्थाय जलादीनि । सन्त्यपि न सेवेत ? मोहानलदीपित एषोपमा ॥ ३ ॥ ५ वीरासनमुत्कटुकासनं च लोचादिकश्च विज्ञेयः । कायक्लेशः संसारवासनिर्वेदहेतुरिति ॥ १ ॥ ६ वीरासनादिषु गुणाः कायनिरोधो दया च जीवेषु । परलोकमतिश्च तथा बहुमानश्चैवान्येषाम् ॥ २ ॥ ७ निस्संगता च पश्चात्पूर्वकर्मविवर्जनं च लोचगुणाः । दुःखसहत्वं नरकादिभावनया च निर्वेदः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरःकर्मे (र्मई) र्यापथपरिग्रहः । दोषा ह्येते परित्यक्ताः, शिरोलोचं प्रकुर्वता ॥ १ ॥" इत्यादि । गतः काय-क्लेशः, साम्प्रतं संलीनतोच्यते इयं चेन्द्रियसंलीनतादिभेदाच्चतुर्विधेति, उक्तं च—"इंदि[1]अकसायजोए प-डुच्च संलीणया मुणेयव्वा । तहय विवित्तचरिआ पण्णत्ता वीअरागेहिं ॥ १ ॥" तत्र श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैः शब्दादिषु सुन्दरेतरेषु रागद्वेषाकरणमिन्द्रियसंलीनतेति, उक्तं च—"सद्देसु अ[2] भद्दयपावएसु सोअविसय-मुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होअव्वं ॥ १ ॥" एवं शेषेन्द्रियेष्वपि वक्तव्यम्, यथा—"रू[3]-वेसु अ भद्दगपावएसु" इत्यादि । उक्तेन्द्रियसल्लीनता, अधुना कषायसंलीनता–सा च तदुदयनिरोधोदीर्णवि-फलीकरणलक्षणेति, उक्तं च—"उदयस्सेव[4] निरोहो उदयं पत्ताण वाऽफलीकरणं । जं इत्थ कसायाणं कसाय-संलीनता एसा ॥ १ ॥" इत्यादि, उक्ता कषायसंलीनता, साम्प्रतं योगसंलीनता–सा पुनर्मनोयोगादीनामकुश-लानां निरोधः कुशलानामुदीरणमित्येवंभूतेति, उक्तं च—"अपसत्थाण[5] निरोहो जोगाणमुदीरणं च कुसलाणं। कज्जम्मि य विहिगमणं जोए संलीणया भणिआ ॥ १ ॥" इत्यादि । उक्ता योगसंलीनता, अधुना विविक्तचर्या,

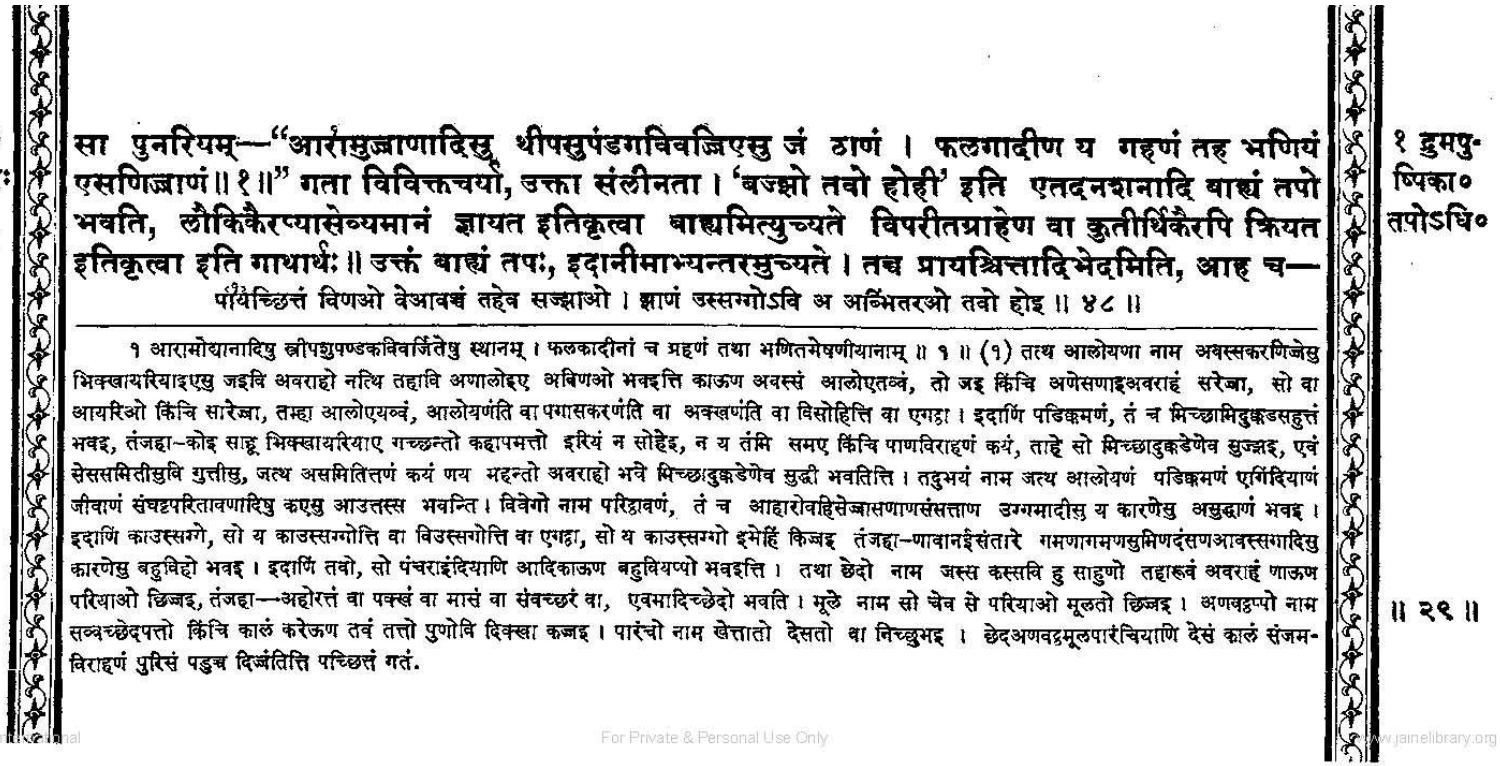
१ इन्द्रियकषाययोगान् प्रतीत्य संलीनता मुणितव्या । तथा च विविक्ता चर्या प्रज्ञप्ता वीतरागैः ॥ १ ॥ २ शब्देषु च भद्रकपापकेषु श्रोत्रविषयमुपगतेषु । तुष्टेन वा रुष्टेन वा श्रमणेन सदा न भवितव्यम् ॥ १ ॥ ३ रूपेषु च भद्रकपापकेषु. ४ उदयस्यैव निरोध उदयप्राप्तानां वाऽफलीकरणम् । यदत्र कषायाणां कषायसंलीनतैषा ॥ १ ॥ ५ अप्रशस्तानां निरोधो योगानामुदीरणं च कुशलानाम् । कार्ये च विधिगमनं योगे संलीनता भणिता ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २९ ॥

सा पुनरियम्—"आरामुज्जाणादिसु थीपसुपंडगविवज्जिएसु जं ठाणं । फलगादीण य गहणं तह भणियं एसणिज्जाणं ॥ १ ॥" गता विविक्तचर्या, उक्ता संलीनता । 'बज्झो तवो होही' इति एतदनशनादि बाह्यं तपो भवति, लौकिकैरप्यासेव्यमानं ज्ञायत इतिकृत्वा बाह्यमित्युच्यते विपरीतग्राहेण वा कुतीर्थिकैरपि क्रियत इतिकृत्वा इति गाथार्थः ॥ उक्तं बाह्यं तपः, इदानीमाभ्यन्तरमुच्यते । तच्च प्रायश्चित्तादिभेदमिति, आह च—

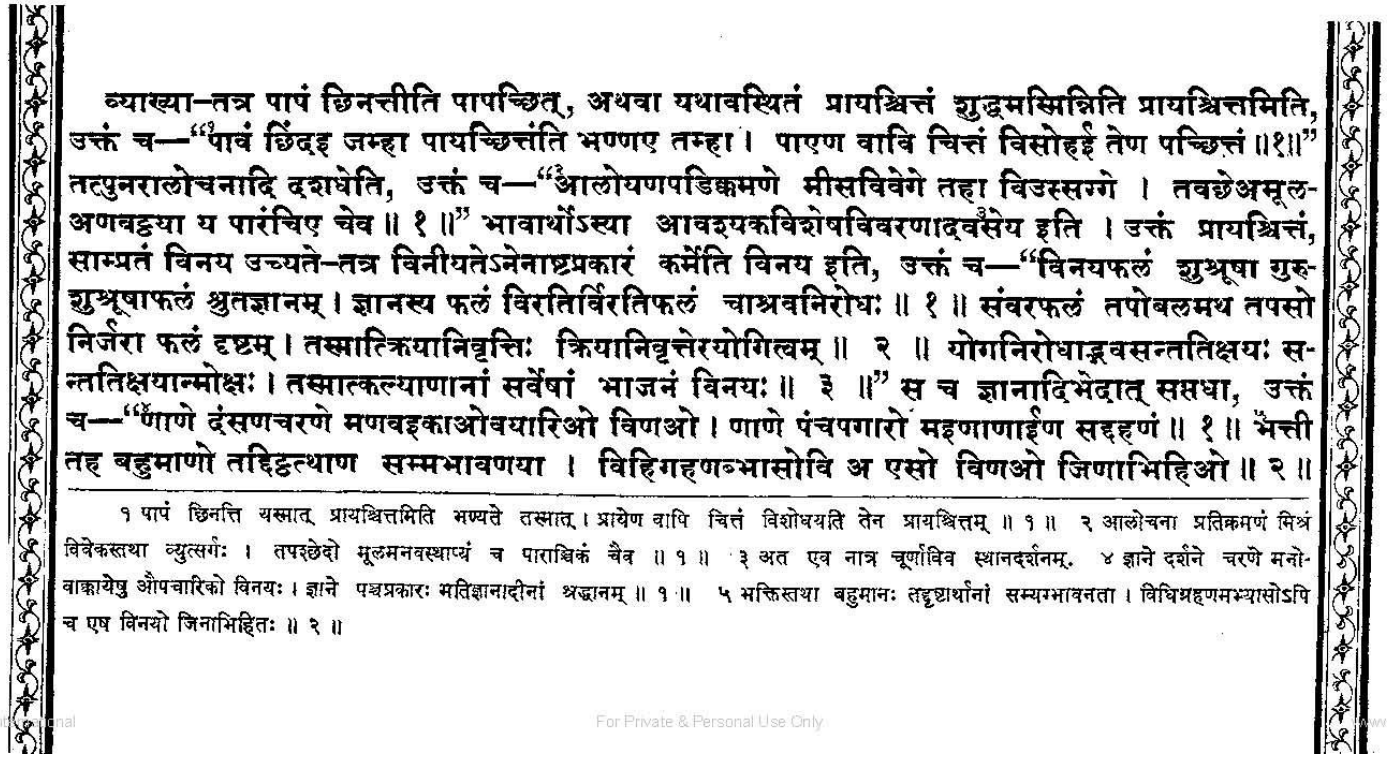
पायच्छित्तं विणओ वेआवच्चं तहेव सज्झाओ । झाणं उस्सग्गोऽवि अ अब्भिंतरओ तवो होइ ॥ ४८ ॥

१ आरामोद्यानादिषु स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितेषु स्थानम् । फलकादीनां च ग्रहणं तथा भणितमेषणीयानाम् ॥ १ ॥ (१) तत्थ आलोयणा नाम अवस्सकरणिज्जेसु भिक्खायरियाइएसु जइवि अवराहो नत्थि तहावि अणालोइए अविणओ भवइत्ति काऊण अवस्सं आलोएतव्वं, तो जइ किंचि अणेसणाइअवराहं सरेज्जा, सो वा आयरिओ किंचि सारेज्जा, तम्हा आलोएयव्वं, आलोयणंति वा पगासकरणंति वा अक्खणंति वा विसोहित्ति वा एगट्ठा । इदाणिं पडिक्कमणं, तं च मिच्छामिदुक्कडसहुत्तं भवइ, तंजहा–कोइ साहू भिक्खायरियाए गच्छन्तो कहापमत्तो इरियं न सोहेइ, न य तंमि समए किंचि पाणविराहणं कयं, ताहे सो मिच्छादुक्कडेणेव सुज्झइ, एवं सेससमितीसुवि गुत्तीसु, जत्थ असमितित्तणं कयं णय महन्तो अवराहो भवे मिच्छादुक्कडेणेव सुद्धी भवतित्ति । तदुभयं नाम जत्थ आलोयणं पडिक्कमणं एगिंदियाणं जीवाणं संघट्टपरितावणादिसु कएसु आउत्तस्स भवन्ति । विवेगो नाम परिट्ठावणं, तं च आहारोवहिसेज्जासणाणसंसत्ताण उग्गमादीसु य कारणेसु असुद्धाणं भवइ । इदाणिं काउस्सग्गे, सो य काउस्सग्गोत्ति वा विउस्सग्गोत्ति वा एगट्ठा, सो य काउस्सग्गो इमेहिं किज्जइ तंजहा–णावानईसंतारे गमणागमणसुभिणदंसणआवस्सगादिसु कारणेसु बहुविहो भवइ । इदाणिं तवो, सो पंचराइंदियाणि आदिकाऊण बहुवियप्पो भवइत्ति । तथा छेदो नाम जस्स कस्सवि हु साहुणो तहारूवं अवराहं णाऊण परियाओ छिज्जइ, तंजहा—अहोरत्तं वा पक्खं वा मासं वा संवच्छरं वा, एवमादिच्छेदो भवति । मूले नाम सो चेव से परियाओ मूलतो छिज्जइ । अणवट्ठप्पो नाम सव्वच्छेदपत्तो किंचि कालं करेऊण तवं तत्तो पुणोवि दिक्खा कज्जइ । पारंचो नाम खेत्तातो देसतो वा निच्छुभइ । छेदअणवट्ठमूलपारंचियाणि देसं कालं संजमविराहणं पुरिसं पडुच्च दिज्जंतित्ति पच्छित्तं गतं.

१ द्रुमपुष्पिका० तपोऽधि० ॥ २९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥ दीप अनुक्रम [१]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



व्याख्या–तत्र पापं छिनत्तीति पापच्छित्, अथवा यथावस्थितं प्रायश्चित्तं शुद्धमस्मिन्निति प्रायश्चित्तमिति, उक्तं च—"[1]पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तंति भण्णए तम्हा। पाएण वावि चित्तं विसोहई तेण पच्छित्तं ॥१॥" तत्पुनरालोचनादि दशधेति, उक्तं च—"[2]आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे । तवछेअमूलअणवट्ठया य पारंचिए चेव ॥ १ ॥" भावार्थोऽस्या आवश्यकविशेषविवरणाद्[3]वसेय इति । उक्तं प्रायश्चित्तं, साम्प्रतं विनय उच्यते–तत्र विनीयतेऽनेनाष्टप्रकारं कर्मेति विनय इति, उक्तं च—"विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्। ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥ १ ॥ संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जरा फलं दृष्टम्। तस्मात्क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ २ ॥ योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः। तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥ ३ ॥" स च ज्ञानादिभेदात् सप्तधा, उक्तं च—"[4]णाणे दंसणचरणे मणवइकाओवयारिओ विणओ। णाणे पंचपगारो महणाणाईण सद्दहणं ॥ १ ॥ [5]भत्ती तह बहुमाणो तद्दिट्ठत्थाण सम्मभावणया । विहिगहणब्भासोवि अ एसो विणओ जिणाभिहिओ ॥ २ ॥

१ पापं छिनत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्। प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम् ॥ १ ॥ २ आलोचना प्रतिक्रमणं मिश्रं विवेकस्तथा व्युत्सर्गः । तपश्छेदो मूलमनवस्थाप्यं च पाराञ्चिकं चैव ॥ १ ॥ ३ अत एव नात्र चूर्णाविव स्थानदर्शनम्. ४ ज्ञाने दर्शने चरणे मनोवाक्कायेषु औपचारिको विनयः। ज्ञाने पञ्चप्रकारः मतिज्ञानादीनां श्रद्धानम् ॥ १ ॥ ५ भक्तिस्तथा बहुमानः तदृष्टार्थानां सम्यग्भावनता। विधिग्रहणमभ्यासोऽपि च एष विनयो जिनाभिहितः ॥ २ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

सुस्सूसणा अणासायणा य विणओ अ दंसणे दुविहो । दंसणगुणाहिएसुं कज्जइ सुस्सूसणाविणओ ॥ ३ ॥ सक्कारब्भुट्ठाणे सम्माणासण अभिग्गहो तह य । आसणअणुप्पयाणं किइकम्मं अंजलिग्गहो अ ॥ ४ ॥ एंतस्सणुगच्छणया ठिअस्स तह पज्जुवासणा भणिया । गच्छंताणुव्वयणं एसो सुस्सूसणाविणओ ॥ ५ ॥ इत्थ य सक्कारो–थुणणवंदणादि अब्भुट्ठाणं–जओ दीसइ तओ चेव कायव्वं, संमाणो वत्थपत्तादीहिं पूअणं, आसणाभिग्गहो पुण–अच्छंतस्सेवायरेणासणाणयणपुव्वगं उवविसह एत्थत्ति भणणंति, आसणअणुप्पदाणं तु ठाणाओ ठाणं संचारणं, किइकम्मादओ पगडत्था । अणासायणाविणओ पुण पण्णरसविहो, तंजहा—"तित्थगर धम्म आयरिअ वायगे थेर कुलगणे संघे । संभोइय किरियाएँ मइणाणाईण य तहेव ॥ १ ॥" एत्थ भावणा–तित्थगराणमणासायणाए तित्थगरपन्नत्तस्स धम्मस्स अणासायणाए । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । "काँ-

१ शुश्रूषा अनाशातना च विनयः दर्शने द्विविधः । दर्शनगुणाधिकेषु क्रियते शुश्रूषाविनयः ॥ ३ ॥ २ सत्कारोऽभ्युत्थानं सन्मानमासनाभिग्रहस्तथा च । आसनानुप्रदानं कृतिकर्माञ्जलिग्रहश्च ॥ ४ ॥ ३ आगच्छतोऽनुगमनं स्थितस्य तथा पर्युपासना भणिता । गच्छतोऽनुव्रजनमेष शुश्रूषाविनयः ॥ ५ ॥ ४ अत्र च सत्कारः–स्तवनवन्दनादि अभ्युत्थानं—यत्र दृश्यते तत्रैव कर्त्तव्यं सन्मानं वस्त्रपात्रादिभिः पूजनम् आसनाभिग्रहः पुनः तिष्ठत एवादरेणासनानयनपूर्वकमुपविशतात्रेतिभणनम् आसनानुप्रदानं तु स्थानात् स्थानं सञ्चारणं, कृतिकर्मादयः प्रसिद्धाः । अनाशातनाविनयः पुनः पञ्चदशविधस्तद्यथा—तीर्थकरधर्माचार्यवाचके स्थविरकुलगणे सङ्घे । साम्भोगिके क्रियायां च मतिज्ञानादीनां च तथैव ॥ १ ॥ ५ किरिआ णाम अत्थवाओ भण्णति—तंजहा—अत्थि आया अत्थि जीवा एवमादी, जो एवं ण सद्दहइ विवरीयं वा पण्णवेइ तेण किरिआ आसादिता भवति. ६ अत्र भावना—तीर्थकराणामनाशातनया तीर्थकरप्रज्ञप्तस्य धर्मस्यानाशातनया. ७ कर्त्तव्या पुनर्भक्तिर्बहुमानस्तथैव वर्णवादश्च । अर्हदादीनां केवलज्ञानावसानानाम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

दश. ६

यव्वा पुण भत्ती बहुमाणो तहय वण्णवाओ अ। अरिहंतमाइयाणं केवलणाणावसाणाणं ॥ १ ॥" उक्तो दर्शनविनयः, साम्प्रतं चारित्रविनयः—"सामाइयाइचरणस्स सद्दहाणं तहेव काएणं । संफासणं परूवणमह पुरओ भव्वसत्ताणं ॥ १ ॥ मणवइकाइयविणओ आयरियाईण सव्वकालंपि । अकुसलमणोनिरोहो कुसलाण उदीरणं तहय॥२॥" इदानीमौपचारिकविनयः, स च त्रिधा,—अब्भासऽच्छणछंदाणुवत्तणं कयपडिकिई तहय। कारियणिमित्तकरणं दुक्खत्तगवेसणा तहय ॥ १ ॥ तहँ देसकालजाणण सव्वत्थेसु तहयणुमई भणिया। उवआरिओ उ विणओ एसो भणिओ समासेणं ॥ २ ॥" तत्थ अब्भासऽच्छणं आएसत्थिणा णिच्चमेव आयरियस्स अब्भासे-अदूरसामत्थे अच्छेअव्वं, छंदोऽणुवत्तियव्वो, कयपडिकिई णाम पसण्णा आयरिया सुत्तत्थतदुभयाणि दाहिंति ण णाम निज्जरत्ति आहारादिणा जइयव्वं, कारियणिमित्तकरणं सम्ममत्थपदमहेज्जाविएण विणएण विसेसेण वट्टिअव्वं, तयट्ठाणुट्ठाणं च कायव्वं, सेस भेदा पसिद्धा। उक्तो विनयः, इदानीं

१ सामायिकादिचरणानां श्रद्धानं तथैव कायेन । संस्पर्शनं प्ररूपणमथ पुरतो भव्यसत्त्वानां ॥ १ ॥ २ मनोवाक्कायिकविनयः आचार्यादीनां सर्वकालमपि । अकुशलमनोनिरोधः कुशलानामुदीरणं तथैव ॥२॥ (१) आयरिआईण अद्धाणपरिस्संताणं सीसा उ आरब्भ जाव पायतला ताव परमेण आदरेण विस्सामणं चू. ३ अभ्यासस्थानं छन्दोऽनुवर्त्तनं कृतप्रतिकृतिस्तथैव । कारितनिमित्तकरणं दुःखार्त्तगवेषणं तथा च ॥ १ ॥ ४ तथा देशकालज्ञानं सर्वार्थेषु तथा चानुमतिर्भणिता । औपचारिकस्तु विनय एष भणितः समासेन ॥ २ ॥ ५ तत्र अभ्यासस्थानं आदेशार्थिना नित्यमेवाचार्यस्य अभ्यासे—अदूरासन्ने स्थातव्यम्, छन्दोऽनुवर्त्तितव्यः, कृतप्रतिकृतिर्नाम—प्रसन्ना आचार्याः सूत्रमर्थं तदुभयं वा दास्यन्ति न नाम निर्जरेति आहारादिना यतितव्यं, कारितनिमित्तकरणं सम्यगर्थपदमध्यापितमस्माकं विनयेन विशेषेण वर्त्तितव्यं, तदनुष्ठानं च कर्तव्यं, शेषाः भेदाः प्रसिद्धाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ३१ ॥

वैयावृत्त्यम्–तत्र व्याँपृतभावो वैयावृत्त्यमिति, उक्तं च—"वेआवच्चं वावडभावो इह धम्मसाहणणिमित्तं। अण्णादियाण विहिणा संपायणमेस भावत्थो ॥ १ ॥ आयरिअ उवज्झाए थेर तवस्सी गिलाणसेहाणं। साहम्मियकुलगणसंघसंगयं तमिह कायव्वं ॥ २ ॥ तत्थ आयरिओ पंचविहो, तंजहा–पव्वावणायरिओ दिसायरिओ सुत्तस्स उद्देसणायरिओ सुत्तस्स समुद्देस्सणायरिओ वायणायरिओत्ति, उवज्झाओ पसिद्धो चेव, थेरो नाम जो गच्छस्स संठितिं करेइ, जाइसुअपरियायाइसु वा थेरो, तवस्सी नाम जो उग्गतवचरणरओ, गिलाणो नाम रोगाभिभूओ, सिक्खगो णाम जो अहुणा पव्वइओ, साहम्मिओ णाम एगो पवयणओ ण लिंगओ, एगो लिंगओ ण पवयणओ, एगो लिंगओ वि पवयणओ वि, एगो ण लिंगओ ण पवयणओ, कुलगणसंघा पसिद्धा चेव। इदानीं सज्झाओ, सो अ पंचविहो–वायणा पुच्छणा परिअट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा,

*जिनस्य धर्मो जिनधर्मः, विनयधर्म्मः। उक्तं च—"मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स " इत्यादि, यतः "विणओ सासणे मूलं विणओ निव्वाणसाहगो। विणयाउ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो ॥१॥ विणयाउ नाणं नाणाउ दंसणं दंसणाउ चरणं तु। चरणेहिंतो मुक्खो मुक्खे सुक्खं अणाबाहं ॥ २ इति प्र० विनयात्परं"

१ वैयावृत्त्यं व्यापृतभावः इह धर्मसाधननिमित्तम्, अन्नादिकानां विधिना सम्पादनमेष भावार्थः ॥१॥ आचार्ये उपाध्याये स्थविरे तपस्विनि ग्लाने शैक्षके। साधर्मिके कुले गणे सङ्घे सङ्गतं तदिह कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥ तत्राचार्यः पञ्चविधः। तद्यथा—प्रव्राजनाचार्यः दिशाचार्यः सूत्रस्योद्देशनाचार्यः सूत्रस्य समुद्देशनाचार्यः वाचनाचार्य इति, उपाध्यायः प्रसिद्ध एव, स्थविरो नाम यो गच्छस्य संस्थितिं करोति, जाति (जन्म) श्रुतपर्यायैर्वा स्थविरः, तपस्वी नाम य उग्रतपश्चरणरतः, ग्लानो नाम रोगाभिभूतः, शैक्षको नाम योऽधुना प्रव्रजितः, साधर्मिको नाम एकः प्रवचनतो न लिङ्गतः, एको लिङ्गतो न प्रवचनतः, एको लिङ्गतोऽपि प्रवचनतोऽपि, एको न लिङ्गतो न प्रवचनतः, कुलगणसङ्घाः प्रसिद्धाश्चैव। इदानीं स्वाध्यायः, स च पञ्चविधः—वाचना प्रच्छना परिवर्त्तनाऽनुप्रेक्षा धर्मकथा।

१ द्रुमपुष्पिका० तपोऽधि० ॥ ३१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायणा नाम सिस्सस्स अज्झावणं, पुच्छणा सुत्तस्स अत्थस्स वा हवइ, परिअट्टणा नाम परिअट्टणंति वा अब्भस्सणंति वा गुणणंति एगट्ठा, अणुप्पेहा नाम जो मणसा परिअट्टेइ णो वायाए, धम्मकहा णाम जो अहिंसाइलक्खणं सव्वण्णुपणीअं धम्मं अणुओगं वा कहेइ, एसा धम्मकहा। गतः स्वाध्यायः, इदानीं ध्यानमुच्यते–तत्पुनरार्त्तादिभेदाच्चतुर्विधम्, तद्यथा–आर्त्तध्यानं रौद्रध्यानं धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चेति, तत्र "राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु, स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु। इच्छाभिलाषमतिमात्रमुपैति मोहाद्, ध्यानं तदार्त्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १ ॥ संछेदनैर्दहनभञ्जनमारणैश्च, बन्धप्रहारदमनैर्विनिकृन्तनैश्च। यो याति रागमुपयाति च नानुकम्पां, ध्यानन्तु रौद्रमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ २ ॥ सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु, बन्धप्रमोक्षगमनागमहेतुचिन्ता। पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते, ध्यानं तु धर्ममिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ३ ॥ यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पराङ्मुखानि, सङ्कल्पकल्पनविकल्पविकारदोषैः। योगैः सदा त्रिभिरहो निभृतान्तरात्मा, ध्यानोत्तमं प्रवरशुक्लमिदं वदन्ति ॥ ४ ॥ आर्त्ते तिर्यगितिस्तथा गतिरधो ध्याने तु रौद्रे सदा, धर्मे देवगतिः शुभं बत फलं शुक्ले तु जन्मक्षयः। तस्माद् व्याधिरुगन्तके हितकरे संसारनिर्वाहके, ध्याने शुक्लवरे रजःप्रमथने कुर्यात् प्रयत्नं बुधः ॥ ५ ॥" इति। उक्तं समासतो ध्यानं, विस्तरतस्तु ध्यानशत-

---

वाचना नाम शिष्यस्याध्यापनम्। प्रच्छना सूत्रस्य अर्थस्य वा भवति। परिवर्त्तना नाम परिवर्त्तनमिति वा अभ्यसनमिति वा गुणनमिति वा एकार्थाः। अनुप्रेक्षा नाम यो मनसा परिवर्त्तयति न वाचा। धर्मकथा नाम योऽहिंसादिलक्षणं सर्वज्ञप्रणीतं धर्ममनुयोगं वा कथयति, एषा धर्मकथा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कादवसेयमिति । साम्प्रतं व्युत्सर्गः, स च द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतश्चतुर्धा–गणशरीरोपध्याहारभेदात्, भावतश्चिन्नः, क्रोधादिपरित्यागरूपत्वात्तस्येति, उक्तं च—"दव्वे भावे अ तहा दुहा विसग्गो चउव्विहो दव्वे । गणदेहोवहिभत्ते भावे कोहादिचाओ त्ति ॥ १ ॥ काले गणदेहाणं अतिरित्तासुद्धभत्तपाणाणं । कोहाइयाण सययं कायव्वो होइ चाओ त्ति ॥ २ ॥" उक्तो व्युत्सर्गः, 'अब्भिंतरओ तवो होइ' त्ति, इदं प्रायश्चित्तादि व्युत्सर्गान्तमनुष्ठानं लौकिकैरनभिलक्ष्यत्वात्तन्नान्तरीयैश्च भावतोऽनासेव्यमानत्वान्मोक्षप्रास्यन्तरङ्गत्वाच्चाभ्यन्तरं तपो भवतीति गाथार्थः ॥ शेषपदानां प्रकटार्थत्वात् सूत्रपदस्पर्शिका निर्युक्तिकृता नोक्ता, स्वधिया तु विभागे (न) स्थापनीयेति ॥ अत्राह—'धर्मो मङ्गलमुत्कृष्ट'मित्यादौ धर्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपोग्रहणमयुक्तं, तस्याहिंसासंयमतपोरूपत्वाव्यभिचारादिति, उच्यते, न, अहिंसादीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद्भेदात्, कथंचिद्भेदश्च तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात्, उक्तं च —"णत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति जं तेण जुज्जइ अणण्णो । जं पुण घडुत्ति पुव्वं नासी पुढवीइ तो अन्नो ॥ १ ॥" इत्यादि, गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं वाऽहिंसादिग्रहणमदुष्टमित्यलं विस्तरेण ॥ आह

१ द्रव्ये भावे च तथा द्विधा व्युत्सर्गः चतुर्विधो द्रव्ये । गणदेहोपधिभक्तेषु भावे क्रोधादित्याग इति ॥ १ ॥ काले गणदेहयोः अतिरिक्ताशुद्धभक्तपानानाम् । क्रोधादिकानां सततं कर्तव्यो भवति त्याग इति ॥ २ ॥ २ नास्ति पृथ्वीविशिष्टो घट इति यत्तेन युज्यते अनन्यः । वस्तुनश्चेट इति पूर्वं नासीत्पृथिव्यास्ततोऽन्यः ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

–अहिंसासंयमतपोरूपो धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमित्येतद्वचः किमाज्ञासिद्धमाहोस्विद्युक्तिसिद्धमपि?, अत्रोच्यते, उभयसिद्धं, कुतो?, जिनवचनत्वात्, तस्य च विनेयसत्त्वापेक्षयाऽऽज्ञादिसिद्धत्वात्, आह च निर्युक्तिकारः—

जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णए कत्थई उदाहरणं । आसज्ज उ सोयारं हेऊऽवि कहिंचि भण्णेज्जा ॥ ४९ ॥

व्याख्या–जिनाः प्राग्निरूपितस्वरूपाः तेषां वचनं तदाज्ञया सिद्धमेव–सत्यमेव प्रतिष्ठितमेव अविचार्यमेवेत्यर्थः, कुतः?, जिनानां रागादिरहितत्वात्, रागादिमतश्च सत्यवचनासम्भवात्, उक्तं च—"रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात्? ॥ १ ॥" इत्यादि, तथापि तथाविधश्रोत्रपेक्षया तत्रापि भण्यते क्वचिदुदाहरणम्, तथा आश्रित्य तु श्रोतारं हेतुरपि क्वचिद्भण्यते, न तु नियोगतः, तुशब्दः श्रोतृविशेषणार्थः, किंविशिष्टं श्रोतारम्?–पटुधियं मध्यमधियं च, न तु मन्दधियम् इति, तथाहि–पटुधियो हेतुमात्रोपन्यासादेव प्रभूतार्थाय गतिर्भवति, मध्यमधीस्तु तेनैव बोध्यते, न त्वितर इत्यर्थः । तत्र साध्यसाधनान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमुदाहरणमुच्यते, दृष्टान्त इत्यर्थः, साध्यधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणश्च हेतुः, इह च हेतुमुल्लङ्घ्य प्रथममुदाहरणाभिधानं न्यायानुगतत्वात्तद्बलेनैव हेतोः साध्यार्थसाधकत्वोपपत्तेः क्वचिद्धेतुमनभिधाय दृष्टान्त एवोच्यत इति न्यायप्रदर्शनार्थं वा, यथा गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायः, चक्षुष्मतो ज्ञानस्य दीपवत्, उक्तं च—"जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपष्टम्भकारणम् । धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥" तथा क्वचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यते न दृष्टान्तः, यथा मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलब्ध्यन्यथानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ तथा—

कत्थइ पंचावयवं दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं । न य पुण सव्वं भण्णइ हंदी सविआरमक्खायं ॥ ५० ॥

व्याख्या–श्रोतारमेवाङ्गीकृत्य क्वचित्पञ्चावयवं 'दशधा वे'ति क्वचिद्दशावयवं, 'सर्वथा' गुरुश्रोत्रपेक्षया न प्रतिषिद्धमुदाहरणाद्यभिधानमिति वाक्यशेषः, यद्यपि च न प्रतिषिद्धं तथाप्यविशेषेणैव, न च पुनः सर्वं भण्यते उदाहरणादि, किमित्यत आह—'हंदी सविआरमक्खायं' हन्दीत्युपप्रदर्शने, किमुपप्रदर्शयति?, यस्मादिहान्यत्र च शास्त्रान्तरे 'सविचारं' सप्रतिपक्षमाख्यातं साकल्यत उदाहरणाद्यभिधानमिति गम्यते, पञ्चावयवाश्च प्रतिज्ञादयः, यथोक्तम्—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः' (न्यायद० १–१–३२) । दश पुनः प्रतिज्ञाविभक्त्यादयः, वक्ष्यति च—"ते उ पइण्णविहत्ती" इत्यादि । प्रयोगाश्चैतेषां लाघवार्थमिहैव स्वस्थाने दर्शयिष्याम इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं यदुक्तम्—'जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णई कत्थई उदाहरणं" इत्यादि, तत्रोदाहरणहेत्वोः स्वरूपाभिधित्सयाऽऽह—

तत्थाहरणं दुविहं चउव्विहं होइ एक्कमेक्कं तु ॥ हेऊ चउव्विहो खलु तेण उ साहिज्जए अत्थो ॥ ५१ ॥

व्याख्या–तत्रशब्दो वाक्योपन्यासार्थो निर्धारणार्थो वा, उदाहरणं पूर्ववत्, तच्च मूलभेदतो 'द्विविधं' द्विप्रकारं, चरितकल्पितभेदात्, उत्तरभेदतस्तु चतुर्विधं भवति, तयोर्द्वयोरेकैकमुदाहरणमाहरण१तद्देश२तद्दोषो३पन्यास४भेदात्, तच्च वक्ष्यामः, तथा हिनोति–गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः, स 'चतुर्विधः'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुष्प्रकारः, खलुशब्दो व्यक्तिभेदादनेकविधश्चेति विशेषणार्थः, तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वात् तेन पुनर्हेतुना साध्यार्थाविनाभावबलेन 'साध्यते' निष्पाद्यते ज्ञाप्यते वा 'अर्थः' प्रतिज्ञार्थ इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं नानादेशजविनेयगणहितायोदाहरणैकार्थिकप्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

नायमुदाहरणंतिअ दिट्ठंतोवम निदरिसणं तहय । एगट्ठं तं दुविहं चउव्विहं चेव नायव्वं ॥ ५२ ॥

व्याख्या–ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम्, अधिकरणे निष्ठाप्रत्ययः, तथोदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति उदाहरणम्, दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः, अतीन्द्रियप्रमाणादृष्टं संवेदननिष्ठां नयतीत्यर्थः, उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम्, तथा च 'निदर्शनं' निश्चयेन दर्श्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम्, 'एगट्ठं'ति इदमेकार्थम् एकार्थिकजातम्, इदं च तत्प्रागुपन्यस्तं द्विविधमुदाहरणं चतुर्विधं चैवाङ्गीकृत्य ज्ञातव्यं प्रत्येकमपि, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदेकत्वाद्, अत एव सामान्यस्यापि प्राधान्यख्यापनार्थमेकवचनाभिधानम् एकार्थमिति, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयाद्, गमनिकामात्रमेवैतदिति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं यदुक्तं 'तत्रोदाहरणं द्विविध'मित्यादि, तद् द्वैविध्यादिप्रदर्शनायाह—

चरिअं च कप्पिअं वा दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केकं । आहरणे तद्देसे तद्दोसे चेवुवन्नासे ॥ ५३ ॥

व्याख्या–चरितं च कल्पितं चे(वे)ति द्विविधमुदाहरणम्, तत्र चरितमभिधीयते यद्वृत्तं, तेन कस्यचिद् दार्ष्टा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

न्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते, तद्यथा–दुःखाय निदानं, यथा ब्रह्मदत्तस्य । तथा कल्पितं स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितमुच्यते, तेन च कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रत्तिपत्तिर्जन्यते, यथा–पिप्पलपत्रैरनित्यतायामिति, उक्तं च —"जह तुब्भे तह अम्हे तुब्भेवि अ होहिहा जहा अम्हे । अप्पाहेइ पडंतं पंडुअपत्तं किसलयाणं ॥ १ ॥ णवि अत्थि णवि अ होही उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं । उवमा खलु एस कया भविअजणविबोहणट्ठाए ॥२॥" इत्यादि । आह–इदमुदाहरणं दृष्टान्त उच्यते, तस्य च साध्यानुगमादि लक्षणमिति, उक्तं च—"साध्येनानुगमो हेतोः, साध्याभावे च नास्तिता । ख्याप्यते यत्र दृष्टान्तः, स साधर्म्येतरो द्विधा ॥ १ ॥" अस्य पुनस्तल्लक्षणाभावात् कथमुदाहरणत्वमिति ?, अत्रोच्यते, तदपि कथञ्चित्साध्यानुगमादिना दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात्फलत उदाहरणम्, इहापि च साऽस्त्येवेतिकृत्वा किं नोदाहरणतेति ? । साध्यानुगमादि लक्षणमपि सामान्यविशेषोभयरूपानन्तधर्मात्मके वस्तुनि सति कथञ्चिद्भेदवादिन एव युज्यते, नान्यस्य, एकान्तभेदाभेदयोस्तद्भावादिति, तथाहि–सर्वथा प्रतिज्ञादृष्टान्तार्थभेदवादिनोऽनुगमतः खलु घटादौ कृतकत्वादेरनित्यत्वादिप्रतिबन्धदर्शनमपि प्रकृतानुपयोग्येव, भिन्नवस्तुधर्मत्वात्, सामान्यस्य च परिकल्पितत्वादसत्त्वाद्, इत्थमपि च तद्बलेन साध्यार्थप्रतिबन्धकल्पनायां सत्यामतिप्रसङ्गादित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थ-

१ यथा यूयं तथा वयं यूयमपि भविष्यथ यथा वयम् । उपालभते पतत् पाण्डुरपत्रं किशलयान् ॥ १ ॥ नैवास्ति नैव भविष्यति उल्लापः किसलयपाण्डुरपत्रयोः । उपमा खल्वेषा कृता भविकजनविबोधनार्थाय ॥ २ ॥

॥ ३४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तरभयादिति, एवं सर्वथा अभेदवादिनोऽप्येकत्वादेव तद्भावो भावनीय इति, अनेकान्तवादिनस्त्वनन्तधर्मात्मके वस्तुनि तत्तद्धर्मसामर्थ्यात्तत्तद्वस्तुनः प्रतिबन्धबलेनैव तस्य तस्य वस्तुनो गमकं भवति, अन्यथा ततस्तस्मिंस्तत्प्रतिपत्त्यसम्भव इति कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः–चरितं च कल्पितं चे(वे)त्यनेन विधिना द्विविधम्, पुनश्चतुर्विधं–चतुष्प्रकारमेकैकम्, कथमत आह—'उदाहरणं तद्देशः तद्दोषश्चैव उपन्यास' इति । तत्रोदाहरणशब्दार्थ उक्त एव, तस्य देशस्तद्देशः, एवं तद्दोषः, उपन्यसनमुपन्यासः, स च तद्वस्त्वादिलक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतमुदाहरणमभिधातुकाम आह—

चउहा खलु आहरणं होइ अवाओ उवाय ठवणा य । तहय पडुप्पन्नविणासमेव पढमं चउविगप्पं ॥ ५४ ॥

व्याख्या–चतुर्धा खलु उदाहरणं भवति, अथवा चतुर्धा खलु उदाहरणे विचार्यमाणे भेदा भवन्ति, तद्यथा–अपायः उपायः स्थापना च तथा च प्रत्युत्पन्नविनाशमेवेति, स्वरूपमेषां प्रपञ्चेन भेदतो निर्युक्तिकार एव वक्ष्यति, तथा चाह—'प्रथमम्' अपायोदाहरणं 'चतुर्विकल्पं' चतुर्भेदम् । तत्रापायश्चतुःप्रकारः, तद्यथा–द्रव्यापायः क्षेत्रापायः कालापायो भावापायश्च इति गाथार्थः ॥ तत्र द्रव्यादपायो द्रव्यापायः, अपायः–अनिष्टप्राप्तिः द्रव्यमेव वा अपायो द्रव्यापायः, अपायहेतुत्वादित्यर्थः, एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयम् । साम्प्रतं द्रव्यापायप्रतिपादनायाह—

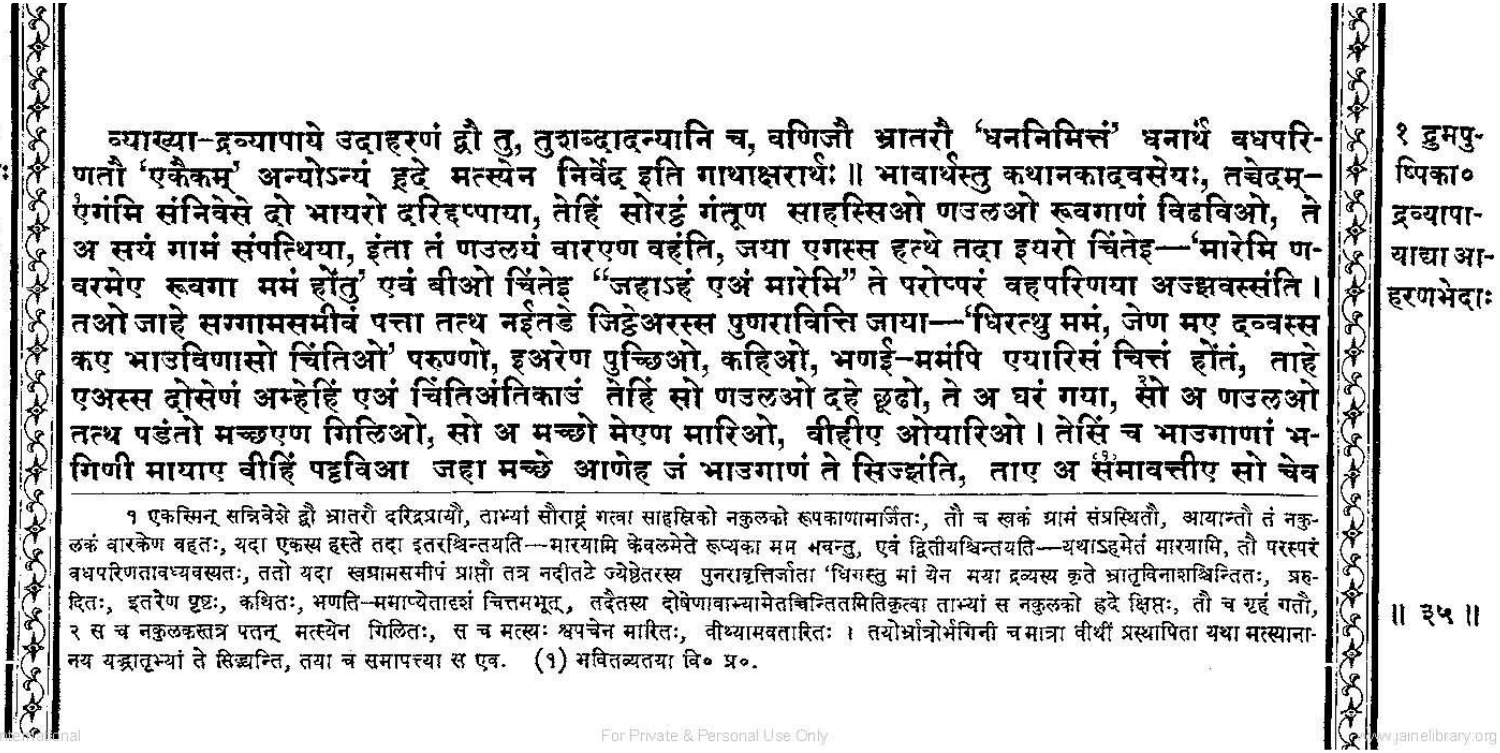
दव्वावाए दोन्नि उ वाणिअगा भायरो धणनिमित्तं । वहपरिणएकमेकं दहंमि मच्छेण निव्वेओ ॥ ५५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ३५ ॥

व्याख्या–द्रव्यापाये उदाहरणं द्वौ तु, तुशब्दादन्यानि च, वणिजौ भ्रातरौ 'धननिमित्तं' धनार्थं वधपरिणतौ 'एकैकम्' अन्योऽन्यं ह्रदे मत्स्येन निर्वेद इति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–[1]एगंमि संनिवेसे दो भायरो दरिद्दप्पाया, तेहिं सोरट्ठं गंतूण साहस्सिओ णउलओ रूवगाणं विढविओ, ते अ सयं गामं संपत्थिया, इंता तं णउलयं वारएण वहंति, जया एगस्स हत्थे तदा इयरो चिंतेइ—'मारेमि णवरमेए रूवगा ममं होंतु' एवं बीओ चिंतेइ "जहाऽहं एअं मारेमि" ते परोप्परं वहपरिणया अज्झवस्संति। तओ जाहे सग्गामसमीवं पत्ता तत्थ नईतडे जिट्ठेअरस्स पुणरावित्ति जाया—'धिरत्थु ममं, जेण मए दव्वस्स कए भाउविणासो चिंतिओ' परुण्णो, इअरेण पुच्छिओ, कहिओ, भणई–ममंपि एयारिसं चित्तं होंतं, ताहे एअस्स दोसेणं अम्हेहिं एअं चिंतिअंतिकाउं तेहिं सो णउलओ दहे छूढो, ते अ घरं गया, सो अ णउलओ तत्थ पडंतो मच्छएण गिलिओ, सो अ मच्छो मेएण मारिओ, वीहीए ओयारिओ। तेसिं च भाउगाणं भगिणी मायाए वीहिं पट्ठविआ जहा मच्छे आणेह जं भाउगाणं ते सिज्झंति, ताए अ [2]समावत्तीए सो चेव

१ एकस्मिन् सन्निवेशे द्वौ भ्रातरौ दरिद्रप्रायौ, ताभ्यां सौराष्ट्रं गत्वा साहस्रिको नकुलको रूपकाणामार्जितः, तौ च स्वकं ग्रामं संप्रस्थितौ, आयान्तौ तं नकुलकं वारकेण वहतः, यदा एकस्य हस्ते तदा इतरश्चिन्तयति—मारयामि केवलमेते रूप्यका मम भवन्तु, एवं द्वितीयश्चिन्तयति—यथाऽहमेतं मारयामि, तौ परस्परं वधपरिणतावध्यवस्यतः, ततो यदा स्वग्रामसमीपं प्राप्तौ तत्र नदीतटे ज्येष्ठेतरस्य पुनरावृत्तिर्जाता 'धिगस्तु मां येन मया द्रव्यस्य कृते भ्रातृविनाशश्चिन्तितः, प्रहृदितः, इतरेण पृष्टः, कथितः, भणति–ममाप्येतादृशं चित्तमभूत्, तदैतस्य दोषेणावाभ्यामेतच्चिन्तितमितिकृत्वा ताभ्यां स नकुलको ह्रदे क्षिप्तः, तौ च गृहं गतौ, २ स च नकुलकस्तत्र पतन् मत्स्येन गिलितः, स च मत्स्यः श्वपचेन मारितः, वीथ्यामवतारितः। तयोर्भ्रात्रोर्भगिनी च मात्रा वीथीं प्रस्थापिता यथा मत्स्यानानय यद्भ्रातृभ्यां ते सिद्ध्यन्ति, तया च समापत्त्या स एव. (१) भवितव्यतया वि० प्र०.

१ द्रुमपुष्पिका० द्रव्यापाद्या आहरणभेदाः

॥ ३५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ चूर्णि/वृत्तिकारः विविध उदाहरणानि दर्शयन्ते

मच्छओ आणीओ, चेडीए फालिंतीए णउलओ दिट्ठो, चेडीए चिंतिअं–एस णउलओ मम चेव भविस्सइत्ति उच्छंगे कओ, ठविज्जंतो य थेरीए दिट्ठो णाओ अ, तीए भणियं–किमेअं तुमे उच्छंगे कयं?, सावि लोहं गया ण साहइ, ताओ दोवि परोप्परं पहयातो, सा थेरी ताए चेडीए तारिसे मम्मप्पएसे आहया जेण तक्खणमेव जीवियाओ ववरोविया, तेहिं तु दारएहिं सो कलहवइअरो णाओ, स णउलओ दिट्ठो, थेरी गाढप्पहारा पाणविमुक्का निस्सट्ठं धरणितले पडिया दिट्ठा, चिंतिअं च णेहिं–इमो सो अवायबहुलो अ(ण)त्थोत्ति। एवं दव्वं अवायहेउत्ति ॥ लौकिका अप्याहुः—"अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं, धिग् द्रव्यं दुःखवर्धनम् ॥ १ ॥ अपायबहुलं पापं, ये परित्यज्य संश्रिताः। तपोवनं महासत्त्वास्ते धन्यास्ते तपस्विनः ॥ २ ॥" इत्यादि। एतावत्प्रकृतोपयोगि। तओ तेसिं तमवायं पिच्छिऊण णिव्वेओ जाओ, तओ तं दारियं कस्सइ दाऊण निव्विण्णकामभोआ पव्वइयत्ति गाथार्थः ॥ इदानीं क्षेत्राद्यपायप्रतिपादनायाह—

१ मत्स्य आनीतः, चेट्या विदारयन्त्या नकुलको दृष्टः, चेट्या चिन्तितम्—एष नकुलको ममैव भविष्यति इति उत्सङ्गे कृतः, स्थाप्यमानश्च स्थविरया दृष्टो ज्ञातश्च, तया भणितम्—किमेतत्त्वयोत्सङ्गे कृतम्?, सापि लोभं गता न साधयति, ते द्वे अपि परस्परं प्रहते, सा स्थविरा तया चेट्या तादृशे मर्मप्रदेशे आहता येन तत्क्षणमेव जीविताद् व्यपरोपिता, ताभ्यां तु दारकाभ्यां स कलहव्यतिकरो ज्ञातः, स नकुलको दृष्टः, स्थविरा गाढप्रहारा प्राणविमुक्ता निसृष्टं धरणीतले पतिता दृष्टा, चिन्तितं चाभ्याम्—अयं सोऽपायबहुलोर्थ इति। एवं द्रव्यमपायहेतुरिति. २ ततस्तयोस्तमपायं दृष्ट्वा निर्वेदो जातः, ततस्तां दारिकां कस्मैचिद्दत्त्वा निर्विण्णकामभोगौ प्रव्रजिताविति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

खेत्तंमि अवक्कमणं दसारवग्गस्स होइ अवरेणं । दीवायणो अ काले भावे मंडुक्किआखवओ ॥ ५६ ॥

व्याख्या–तत्र क्षेत्र इति द्वारपरामर्शः, ततश्च क्षेत्रादपायः क्षेत्रमेव वा तत्कारणत्वादिति । तत्रोदाहरणमपक्रमणम्–अपसर्पणं 'दशारवर्गस्य' दशारसमुदायस्य भवति 'अपरेण' अपरत इत्यर्थः, भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्च वक्ष्यामः । 'द्वैपायनश्च काले' द्वैपायनऋषिः, काल इत्यत्रापि कालादपायः कालापायः काल एव वा तत्कारणत्वादिति, अत्रापि भावार्थः कथानकगम्य एव, तच्च वक्ष्यामः । 'भावे मंडुक्किकाक्षपक' इत्यत्रापि भावादपायो भावापायः स एव वा तत्कारणत्वादिति, अत्रापि च भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्च वक्ष्याम इति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थ उच्यते–खित्तापाओदाहरणं दसारा हरिवंसरायाणो एत्थ महई कहा जहा हरिवंसे । उवओगियं चेव भण्णए, कंसंमि विणिवाइए सावायं खेत्तमेयंतिकाऊण जरासंधरायभएण दसारवग्गो महुराओ अवक्कमिऊण बारवइं गओत्ति । प्रकृतयोजनां पुनर्निर्युक्तिकार एव करिष्यति, किमकाण्ड एव नः प्रयासेन? । कालावाए उदाहरणं पुण–कण्हपुच्छिएण भगवयाऽरिट्ठणेमिणा वागरियं–बारसहिं संवच्छरेहिं दीवायणाओ बारवईणयरीविणासो, उज्जोततराए णगरीए परंपरएण सुणिऊण दीवायणपरि-

१ क्षेत्रापायोदाहरणम्—दशार्हा हरिवंशराजानः, अत्र महती कथा, यथा हरिवंशे, औपयोगिकमेव भण्यते, कंसे विनिपातिते सापायं क्षेत्रमेतदितिकृत्वा जरासन्धराजभयेन दशार्हवर्गो मथुरातोऽपक्रम्य द्वारवतीं गत इति. २ कालापाये उदाहरणं पुनः कृष्णपृष्टेन भगवताऽरिष्टनेमिना व्याकृतम्–द्वादशभिः संवत्सरैर्द्वैपायनाद् द्वारवतीनगरीविनाशः, उद्योततरायां नगर्यां परम्परकेण श्रुत्वा द्वैपायनपरिव्राजको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

व्वायओ मा णगरिं विणासेहामित्ति कालावधिमण्णओ गमेमित्ति उत्तरावहं गओ, सम्मं कालमाणमयाणिऊण य बारसमे चेव संवच्छरे आगओ, कुमारेहिं खलीकओ, कयणिआणो देवो उववण्णो, तओ य णगरीए अवाओ जाओत्ति, णण्णहा जिणभासियंति। भावावाए उदाहरणं खमओ–एगो खमओ चेल्लएण समं भिक्खायरियं गओ, तेण तत्थ मंडुक्कलिया मारिआ, चिल्लएण भणिअं–मंडुक्कलिआ तए मारिआ, खवगो भणइ–रे दुट्ठ सेह! चिरमइआ चेव एसा, ते गआ, पच्छा रत्तिं आवस्सए आलोइंताण खमगेण सा मंडुक्कलिया नालोइया ताहे चिल्लएण भणिअं–खमगा! तं मंडुक्कलियं आलोएहि, खमओ रुट्ठो तस्स चेल्लयस्स खेलमल्लयं घेत्तूण उड्डाइओ, अंसियालए खंभे आवडिओ वेगेण इंतो, मओ य जोइसिएसु उववन्नो, तओ चइत्ता दिट्ठीविसाणं कुले दिट्ठीविसो सप्पो जाओ, तत्थ य एगेण परिहिंडंतेण नगरे रायपुत्तो सप्पेण खइओ, अहितुंडएण विज्जाओ सव्वे सप्पा आवाहिआ, मंडले पवेसिआ भणिया–अण्णे सव्वे गच्छंतु, जेण

दश. ७

१ मा नगरीं विनिनशमिति (विनाशयिष्यामीति) कालावधिमन्यत्र गमयामीति उत्तरापथं गतः। सम्यक्कालमानमज्ञात्वा च द्वादशे चैव संवत्सरे आगतः, कुमारैरुपसर्गितः, कृतनिदानो देव उत्पन्नः, ततश्च नगर्यां अपायो जात इति, नान्यथा जिनभाषितमिति. भावापाये उदाहरणं क्षपकः—एकः क्षपकः शिष्येण समं भिक्षाचर्यां गतः, तेन तत्र मण्डूकिका मारिता, शिष्येण भणितम्—मण्डूकिका त्वया मारिता, क्षपको भणति—रे दुष्टशैक्ष! चिरमृतैवैषा, तौ गतौ, पश्चाद्रात्रावावश्यके आलोचयतां क्षपकेण सा मण्डूकिका नालोचिता तदा शिष्येण भणितम्. क्षपक! तां मण्डूकिकामालोचय, क्षपको रुष्टस्तस्मै शिष्याय, श्लेष्ममल्लकं गृहीत्वोद्धावितः, अंस्यालये स्तम्भे आपतितः वेगेनाऽऽयान्, मृतश्च ज्योतिष्केषूत्पन्नः, ततश्च्युत्वा दृष्टिविषाणां कुले दृष्टिविषः सर्पो जातः, तत्र चैकेन परिहिण्डमानेन नगरे राजपुत्रः सर्पेण दष्टः, आहितुण्डिकेन विद्यया सर्वे सर्पा आहूताः, मण्डले प्रवेशिता भणिताः—अन्ये सर्वे गच्छन्तु, येन.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पुण रायपुत्तो खइओ सो अच्छउ, सव्वे गया, एगो ठिओ, सो भणिओ–अहवा विसं आवियह अहवा एत्थ अग्गिंमि णिवडाहि, सो अ अगंधणो, सप्पाणं किल दो जाईओ–गंधणा अगंधणा य, ते अगंधणा माणिणो, ताहे सो अग्गिंमि पविट्ठो, ण य तेण तं वंतं पच्चाइयं, रायपुत्तोवि मओ, पच्छा रण्णा रुट्ठेण घोसावियं रज्जे–जो मम सप्पसीसं आणेइ तस्साहं दीणारं देमि, पच्छा लोगो दीणारलोभेण सप्पे मारेउं आढत्तो, तं च कुलं जत्थ सो खमओ उप्पन्नो तं जाइसरं रत्तिं हिंडइ दिवसओ न हिंडइ, मा जीवे दहेहामित्तिकाउं, अण्णया आहितुंडिगेहिं सप्पे मग्गंतेहिं रत्तिंचरेण परिमलेण तस्स खमगसप्पस्स बिलं दिट्ठंति दारे से ठिओ, ओसहिओ आवाहेइ, चिंतेइ–दिट्ठो मे कोवस्स विवाओ, तो जइ अहं अभिमुहो णिगच्छामि तो दहिहामि, ताहे पुच्छेण आढत्तो निप्फिडिउं, जत्तियं निप्फेडेइ तावइयमेव आहिंडओ छिंदेइ, जाव सीसं छिण्णं, मओ य, सो सप्पो देवयापरिग्गहिओ, देवयाए रण्णो सुमिणए दरिसणं दिण्णं–जहा मा

१ पुना राजपुत्रो दष्टः स तिष्ठतु, सर्वे गताः एकः स्थितः, स भणितः—अथवा विषमापिब, अथवाऽग्नौ निपत, स चागन्धनः, सर्पाणां किल द्वे जाती—गन्धना अगन्धना च, ते अगन्धना मानिनः, तदा सोऽग्नौ प्रविष्टः, न च तेन तद्वान्तं प्रत्यापीतं, राजपुत्रोऽपि मृतः, पश्चाद्राज्ञा रुष्टेन घोषितं राज्ये—यो मम सर्पशीर्षमानयेत् तस्मायहं दीनारं ददामि, पश्चाल्लोको दीनारलोभेन सर्पान् मारयितुमारब्धः, तच्च कुलं यत्र स क्षपक उत्पन्नस्तज्जातिस्मरं रात्रौ हिण्डते दिवसे न हिण्डते, मा जीवान् धाक्षमितिकृत्वा, अन्यदाऽहितुण्डिकैः सर्पान् मार्गयद्भिः रात्रिंचरेण परिमलेन तस्य क्षपकसर्पस्य बिलं दष्टमिति द्वारे तस्य स्थितः, औषधित आह्वयति, चिन्तयति—दष्टो मया कोपस्य विपाकः, ततो यद्यहमभिमुखो निर्गच्छामि तदा धक्ष्यामि, ततः पुच्छेनारब्धो निःस्फिटितुं, यावन्निस्फिटति तावदेवाहितुण्डिकश्छिनत्ति, यावच्छीर्षं छिन्नं, मृतश्च, स सर्पो देवतापरिगृहीतः, देवतया राज्ञः स्वप्ने दर्शनं दत्तं—यथा मा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥ दीप अनुक्रम [१]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

सप्पे मारेह पुत्तो ते नागकुलाओ उव्वट्टिऊण भविस्सइ, तस्स दारयस्स नागदत्तनामं करेज्जाहि सो अ खमगसप्पो मरित्ता तेण पाणपरिच्चाएण तस्सेव रण्णो पुत्तो जाओ, जाए दारए णामं कयं णागदत्तो, खुड्डुलओ चेव सो पव्वइओ, सो अ किर तेण तिरियाणुभावेण अतीव छुहालुओ, दोसीणवेलाए चेव आढवेइ भुंजिउं जाव सूरत्थमणवेलं, उवसंतो धम्मसद्धिओ य, तम्मि अ गच्छे चत्तारि खमगा, तंजहा–चाउम्मासिओ तिमासिओ दोमासिओ एगमासिओत्ति, रत्तिं च देवया वंदिउं आगया, चाउम्मासिओ पढमट्ठिओ, तस्स पुरओ तेमासिओ, तस्स पुरओ दोमासिओ, तस्स पुरओ एगमासिओ, ताण य पुरओ खुड्डुओ। सव्वे खमगे अतिक्कमित्ता ताए देवयाए खुड्डुओ वंदिओ, पच्छा ते खमगा रुट्ठा, निग्गच्छंती अ गहिया चाउम्मासिअखमएण पोत्ते, भणिआ य अणेण–कडपूयणि! अम्हे तवस्सिणो ण वंदसि, एयं कूरभायणं वंदसित्ति, सा देवया भणइ–अहं भावखमयं वंदामि, ण पूआसक्कारपरे माणिओ अ वंदामि, पच्छा ते चेल्लयं तेण अमरिसं

१ सर्पान् मारय पुत्रस्ते नागकुलादुद्वर्त्त्य भविष्यति, तस्य दारकस्य नागदत्तनाम कुर्याः। स च क्षपकसर्पो मृत्वा तेन प्राणपरित्यागेन तस्यैव राज्ञः पुत्रो जातः, जाते दारके नाम कृतं नागदत्तः, क्षुल्लक एव स प्रव्रजितः, स च किल तेन तिर्यगनुभावेनातीव क्षुधालुः, प्रभातवेलायामेवाद्रियते भोक्तुं यावत्सूर्यास्तमयनवेला, उपशान्तो धर्मश्रद्धिकश्च। तस्मिन् गच्छे चत्वारः क्षपकास्तद्यथा—चातुर्मासिकस्त्रैमासिको द्वैमासिक एकमासिक इति, रात्रौ च देवता वन्दितुमागता. रात्रिवएण रात्रिसत्केन वि० प०. चातुर्मासिकः प्रथमः स्थितः तस्य पुरतः त्रैमासिकः तस्य पुरतो द्वैमासिकः तस्य पुरत एकमासिकः, तेषां च पुरतः क्षुल्लकः। सर्वान् क्षपकानतिक्रम्य तया देवतया क्षुल्लको वन्दितः, पश्चात्ते क्षपका रुष्टाः, निर्गच्छन्ती च गृहीता चातुर्मासिकेन पोते, भणिता चानेन—कटपूतने! अस्माँस्तपस्विनो न वन्दसे, एनं कूरभाजनं वन्दस इति, सा देवता भणति—अहं भावक्षपकं वन्दे, न पूजासत्कारपरान् मानिनश्च वन्दे, पश्चात्ते क्षुल्लकाय तेनामर्ष.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहंति, देवया चिंतेइ–मा एए चेल्लयं खरंटेहिंति, तो सण्णिहिआ चेव अच्छामि, ताहं पडिबोहेहामि, बितिअदिवसे अ चेल्लओ संदिसावेऊण गओ दोसीणस्स, पडिआगओ आलोइत्ता चाउम्मासियखमगं णिमंतेइ, तेण पडिग्गहे से णिच्छूढं, चेल्लओ भणइ–मिच्छामिदुक्कडं जं तुब्भे मए खेलमल्लओ ण पणामिओ, तं तेण उप्पराउ चेव फेडित्ता खेलमल्लए छूढं, एवं जाव तिमासिएणं जाव एगमासिएणं णिच्छूढं, तं तेण तहा चेव फेडिअं, अड्डयालित्ता लंबणे गिण्हामित्तिकाउं खमएण चेल्लओ बाहं गहिओ, तं तेण तस्स चेल्लगस्स अदीणमणसस्स विसुद्धपरिणामस्स लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तदावरणिज्जाणं कम्माणं खएण केवलनाणं समुप्पण्णं, ताहे सा देवया भणइ–किह तुब्भे वंदिअव्वा? जेणेवं कोहाभिभूआ अच्छह, ताहे ते खमगा संवेगमावण्णा मिच्छामिदुक्कडंति, अहो बालो उवसंतचित्तो अम्हेहिं पावकम्मेहिं आसाइओ,

१ वहन्ति, देवता चिन्तयति—मैते क्षुल्लकं निर्भर्त्सयिष्यन्ति, ततः सन्निहितैव तिष्ठामि, तदाऽहं प्रतिबोधयिष्यामि, द्वितीयदिवसे च क्षुल्लकः संदिश्य गतः पर्युषिताय, प्रत्यागत आलोच्य चातुर्मासिकक्षपकं निमन्त्रयति, तेन पतद्ग्हे तस्य श्लेष्म निष्ठूतम्, क्षुल्लको भणति—मिथ्या मे दुष्कृतं यत्तुभ्यं मया श्लेष्ममल्लको न दत्तः. तत्तेनोपरित एव स्फेटयित्वा श्लेष्ममल्लके क्षिप्तम्, एवं यावत् त्रिमासिकेन यावदेकमासिकेन निक्षिप्तं, तत्तेन तथैव स्फेटितम्, आश्लिष्य(बलात्कारं कृत्वा) लम्बनात् गृह्णामीतिकृत्वा क्षपकेन क्षुल्लको बाहौ गृहीतः, तदा तेन तस्य क्षुल्लकस्यादीनमनसो विशुद्ध्यमानपरिणामस्य लेश्याभिर्विशुद्ध्यमानाभिस्तदावरणीयानां कर्मणां क्षयेण केवलज्ञानं समुत्पन्नं, तदा सा देवता भणति—कथं यूयं वन्दितव्याः? येनैवं कोधाभिभूतास्तिष्ठथ, तदा ते क्षपकाः संवेगमापन्ना मिथ्या मे दुष्कृतमिति, अहो बाल उपशान्तचित्तोऽस्माभिः पापकर्मभिराशातितः, एवं तेषामपि शुभाध्यवसानेन केवलज्ञानं समुत्पन्नम्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं तेसिंपि सुहज्झवसाणेणं केवलनाणं समुप्पण्णं, एवं पसंगओ कहियं कहाणयं, उवणओ पुण कोहादिगाओ अपसत्थभावाओ दुग्गइए अवाओ त्ति ॥ परलोकचिन्तायां प्रकृतोपयोगितां दर्शयन्नाह—

सिक्खगअसिक्खगाणं संवेगथिरट्ठयाइ दोण्हंपि । दव्वाईया एवं दंसिज्जंते अवाया उ ॥ ५७ ॥

व्याख्या—'शिक्षकाशिक्षकयोः' अभिनवप्रव्रजितचिरप्रव्रजितयोः अभिनवप्रव्रजितगृहस्थयोर्वा संवेगस्थैर्यार्थं द्वयोरपि द्रव्याद्या 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण वक्ष्यमाणेन वा दर्श्यन्ते अपाया इति, तत्र संवेगो–मोक्षसुखाभिलाषः स्थैर्यं पुनः अभ्युपगतापरित्यागः, ततश्च कथं नु नाम दुःखनिबन्धनद्रव्याद्यवगमात्तयोः संवेगस्थैर्ये स्यातां ? द्रव्यादिषु चाप्रतिबन्ध इति गाथार्थः ॥ तथा चाह—

दविअं कारणगहिअं विगिंचिअव्वमसिवाइखेत्तं च । बारसहिं एस्सकालो कोहाइविवेग भावम्मि ॥ ५८ ॥

व्याख्या–इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा द्रव्यमेवाधिकं वस्त्रपात्राद्यन्यद्वा कनकादि न ग्राह्यं, शिक्षकाहिसंदिष्टादिकारणगृहीतमपि तत्परिसमाप्तौ परित्याज्यम्, अत एवाह–द्रव्यं कारणगृहीतं, किम् ! 'विकिंचितव्यं' परित्याज्यम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायहेतुत्वात्, दुरन्ताग्रहाद्यपायहेतुता च मध्यस्थैः स्वधिया भावनीयेति । एवमशिवादिक्षेत्रं च, परित्याज्यमिति वर्त्तते, अशिवादिप्रधानं क्षेत्रमशिवादिक्षेत्रम्, आदिशब्दादूनोदरताराजद्विष्टादिपरिग्रहः, परित्याज्यं चेदमनेकैहिकामुष्मिकापायसम्भवादिति । तथा द्वादशभिर्वर्षैरेष्यत्कालः,

१ एवं (तत्) प्रसङ्गतः कथितं कथानकम्, उपनयः पुनः क्रोधादिकात् अप्रशस्तभावात् दुर्गतेरपाय इति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ३९ ॥

परित्याज्य इति वर्त्तते, तत एवापायसम्भवादिति भावना, एतदुक्तं भवति–अशिवादिदुष्ट एष्यत्कालः द्वादशभिर्वर्षैरनागतमेवोज्झितव्य इति, उक्तं च—"संवच्छरबारसएण होहिति असिवंति ते तओ णिंति। सुत्तत्थं कुव्वंता अतिसयमादीहिं नाऊणं ॥ १ ॥" इत्यादि। तथा 'क्रोधादिविवेको भाव' इति क्रोधादयोऽप्रशस्तभावास्तेषां विवेकः–नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः, भाव इति–भावापाये, कार्य इत्ययं गाथार्थः ॥ एवं तावद्भस्तुतश्चरणकरणानुयोगमधिकृत्यापायः प्रदर्शितः, साम्प्रतं द्रव्यानुयोगमधिकृत्य प्रदर्श्यते—

दव्वादिएहिं निच्चो एगंतेणेव जेसिं अप्पा उ। होइ अभावो तेसिं सुहदुहसंसारमोक्खाणं ॥ ५९ ॥

व्याख्या—'द्रव्यादिभिः' द्रव्यक्षेत्रकालभावैः नारकत्वविशिष्टक्षेत्रवयोऽवस्थितत्वाप्रसन्नत्वादिभिः 'नित्यः' अविचलितस्वभावः 'एकान्तेनैव' सर्वथैव 'येषां' वादिनाम् 'आत्मा' जीवः तुशब्दादन्यच्च वस्तु भवति–संजायते 'अभावः' असंभवः 'तेषां' वादिनां केषाम्?—'सुखदुःखसंसारमोक्षाणाम्' तत्राह्लादानुभवरूपं क्षणं सुखम्, तापानुभवरूपं दुःखम्, तिर्यग्नरनारकामरभवसंसरणरूपः संसारः, अष्टप्रकारकर्मबन्धवियोगो मोक्षः, तत्र कथं पुनस्तेषां वादिनां सुखाद्यभावः?, आत्मनोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वाद्, अन्यथात्वापरिणतेः सदैव नारकत्वादिभावाद्, अपरित्यक्ताप्रसन्नत्वे पूर्वरूपस्य च प्रसन्नत्वेनाभवनाद्, एवं शेषेष्वपि भावनीयमिति गाथार्थः ॥ ततश्चैवम्—

१ संवत्सरद्वादशकेन भविष्यति अशिवमिति ते ततो निर्यान्ति। सूत्रार्थं कुर्वन्तोऽतिशयादिभिर्ज्ञात्वा ॥ १ ॥

१ द्रुमपुष्पिका० द्रव्याद्या अपायाः ॥ ३९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुहदुक्खसंपओगो न विज्जई निच्चवायपक्खंमि । एगंतुच्छेअंमि अ सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥ ६० ॥

व्याख्या–सुखदुःखसंप्रयोगः, सम्यक् संगतो वा प्रयोगः संप्रयोगः अकल्पित इत्यर्थः 'न विद्यते' नास्ति न घटत इत्यर्थः, क?–'नित्यवादपक्षे' नित्यवादाभ्युपगमे संप्रयोगो न विद्यते, कल्पितस्तु भवत्येव, यथाऽऽहुर्नित्यवादिनः–"प्रकृत्युपधानतः पुरुषस्य सुखदुःखे स्तः, स्फटिके रक्ततादिवद् बुद्धिप्रतिबिम्बाद्वाऽन्ये" इति, कल्पितत्वं चास्य आत्मनस्तत्त्वत एव तथापरिणतिमन्तरेण सुखाद्यभावाद् उपधानसन्निधावप्यन्धोपले रक्ततादिवत्, तदभ्युपगमे चाभ्युपगमक्षतिः, बुद्धिप्रतिबिम्बपक्षेऽप्यविचलितस्यात्मनः सदैवैकस्वभावत्वात् सदैवैकरूपप्रतिबिम्बापत्तेः, स्वभावभेदाभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति । मा भूदनित्यैकान्तग्रह इत्यत आह— 'एकान्तेन' सर्वथा उत्–प्राबल्येन छेदो–विनाशः एकान्तोच्छेदः–निरन्वयो नाश इत्यर्थः, अस्मिँश्च किम् ?–सुखदुःखयोर्विकल्पनं सुखदुःखविकल्पनम्, 'अयुक्तम्' अघटमानकम्, अयमत्र भावार्थः–एकान्तोच्छेदेऽपि सुखाद्यनुभवितुस्तत्क्षण एव सर्वथोच्छेदादहेतुकत्वात्तदुत्तरक्षणस्योत्पत्तिरपि न युज्यते, कुतः पुनस्तद्विकल्पनमिति गाथार्थः ॥ उक्तोऽपायः, साम्प्रतमुपाय उच्यते–तत्रोप–सामीप्येन (आयः) विवक्षितवस्तुनोऽविकलाभहेतुत्वाद्वस्तुनो लाभ एवोपायः–अभिलषितवस्त्ववाप्तये व्यापारविशेष इत्यर्थः, असावपि चतुर्विध एव, तथा चाह—

एमेव चउविगप्पो होइ उवाओऽवि तत्थ दव्वंमि । धातुव्वाओ पढमो नंगलकुलिएहिँ खेत्तं तु ॥ ६१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

व्याख्या—'एवमेव' यथा अपायः, किम्?–'चतुर्विकल्पः' चतुर्भेदः भवत्युपायोऽपि, तद्यथा–द्रव्योपायः क्षेत्रोपायः कालोपायः भावोपायश्च, तत्र 'द्रव्य' इति द्वारपरामर्शः द्रव्योपाये विचार्ये 'धातुर्वादः' सुवर्णपातनोत्कर्षलक्षणो द्रव्योपायः 'प्रथम' इति लौकिकः, लोकोत्तरे त्वध्वादौ पटलादिप्रयोगतः प्रासुकोदककरणम्, क्षेत्रोपायस्तु लाङ्गलादिना क्षेत्रोपक्रमणे भवति, अत एवाह—'लाङ्गलकुलिकाभ्यां क्षेत्रम्' उपक्रम्यत इति गम्यते, ततश्च लाङ्गलकुलिके तदुपायो लौकिकः, लोकोत्तरस्तु विधिना प्रातरशनाद्यर्थमटनादिना क्षेत्रभावनम्, अन्ये तु योनिप्राभृतप्रयोगतः काञ्चनपातनोत्कर्षलक्षणमेव सङ्गातप्रयोजनादौ द्रव्योपायं व्याचक्षते, विद्यादिभिश्च दुस्तराध्वतरणलक्षणं क्षेत्रोपायमिति । अत्र च प्रथमग्रहणपदार्थोऽतिरिच्यमान इवाभाति, पाठान्तरं वा 'धाउव्वाओ भणिओ'त्ति अत्र च कथञ्चिदविरोध एवेति गाथार्थः ॥

कालो अ नालियाइहिँ होइ भावंमि पंडिओ अभओ । चोरस्स कए नट्टिं वड्ढकुमारिं परिकहेइ ॥ ६२ ॥

व्याख्या–कालश्च नालिकादिभिः ज्ञायत इति शेषः, नालिका–घटिका आदिशब्दाच्छङ्कादिपरिग्रहः, ततश्च नालिकादयः कालोपायो लौकिकः, लोकोत्तरस्तु सूत्रपरावर्त्तनादिभिस्तथा भवति, 'भावे' चेति द्वारपरामर्शत्वाद्भावोपाये विचार्ये निदर्शनं, क इत्याह—'पण्डितो' विद्वान् 'अभयः' अभयकुमारस्तथा चाह–चौरनिमित्तं नर्त्तक्यां (नाट्ये) वद्ध (वृद्ध) कुमारीं, किम्?, त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थमाह–परिकथयति, त-

१ तक्खरण्टितचीवरादि वि. प्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तश्च यथा तेनोपायतश्चौरभावो विज्ञातः एवं शिक्षकादीनां तेन तेन विधिनोपायत एव भावो ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ नवरं भावोवाए उदाहरणं–रायगिहं णाम णयरं, तत्थ सेणिओ राया, सो भज्जाए भणिओ जहा मम एगखंभं पासायं करेहि, तेण वड्ढइणो आणत्ता, गया कट्ठच्छिंदगा, तेहिं अडवीए सलक्खणो सरलो महइमहालओ दुमो दिट्ठो, धूवो दिण्णो, जेणेस परिग्गहिओ रुक्खो सो दरिसावेउ अप्पाणं, तो णं ण छिंदामोत्ति, अह ण देइ दरिसावं तो छिंदामोत्ति, ताहे तेण रुक्खवासिणा वाणमंतरेण अभयस्स दरिसावो दिण्णो, अहं रण्णो एगखंभं पासायं करेमि, सव्वोउयं च आरामं करेमि सव्ववणजाइउवेयं, मा छिंदहत्ति, एवं तेण कओ पासाओ। अन्नया एगाए मायंगीए अकाले अंबयाण दोहलो, सा भत्तारं भणइ–मम अंबयाणि आणेहि, तदा अकालो अंबयाणं, तेण ओणामिणीए विज्जाए डालं ओणामियं, अंबयाणि गहिआणि, पुणो अ उण्णमणीए उण्णामियं, पभाए रण्णा दिट्ठं, पयं ण दीसइ, को एस मणुसो अतिगओ, ?

१ भावोपाये उदाहरणं राजगृहं नाम नगरं, तत्र श्रेणिको राजा, स भार्यया भणितः—यथा ममैकस्तम्भं प्रासादं कारय, तेन वर्धकिन आज्ञप्ताः, गताः काष्ठच्छेदकाः (काष्ठानि छेत्तुं), तैरटव्यां सलक्षणः सरलो महाऽतिमहालयो द्रुमो दृष्टः, धूपो दत्तः, येनैष परिगृहीतो वृक्षः स दर्शयत्वात्मानं, तदा एनं न छिन्द्मः इति, अथ न दास्यथ दर्शनं तदा छेत्स्याम इति, तदा तेन वृक्षवासिना व्यन्तरेणाभयाय दर्शनं दत्तम्—अहं राज्ञ एकस्तम्भं प्रासादं करोमि सर्वर्तुकं चारामं करोमि सर्ववनजात्युपेतं, मा छिन्द्धि (छेत्सीः) इति, एवं तेन कृतः प्रासादः। अन्यदैकस्या मातङ्ग्या अकाले दौहृद आम्राणाम्, सा भर्तारं भणति—मह्यमाम्रानानय, तदाऽकाल आम्राणां, तेनावनामिन्या विद्यया शाखाऽवनामिता आम्रा गृहीताः पुनश्चोन्नामिन्योन्नामिता, प्रभाते राज्ञा दृष्टं, पदानि न दृश्यन्ते, क एष मनुष्योऽतिगतः ?,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जस्स एसा एरिसी सत्तित्ति सो मम अंतेउरंपि धरिसेहित्तिकाउं अभयं सद्दावेऊण भणइ–सत्तरत्तस्स अब्भंतरे जइ चोरं णाणेसि तो णत्थि ते जीविअं। ताहे अभओ गवेसिउं आढत्तो, णवरं एगंमि पएसे गोज्जो रमिउकामो, मिलिओ लोगो, तत्थ गंतुं अभओ भणति–जाव गोज्जो मंडेइ अप्पाणं ताव ममेगं अक्खाणगं सुणेह जहा कहिंपि णयरे एगो दरिद्दसिट्ठी परिवसति, तस्स धूया वुड्ढकुमारी अईव रूविणी य, वरणिमित्तं कामदेवं अच्चेइ, सा य एगंमि आरामे चोरिए पुप्फाणि उच्चेंती आरामिएण दिट्ठा, कयत्थिउमाढत्ता, तीए सो भणिओ–मा मइं कुमारिं विणासेहि, तवावि भयणीभाणिज्जीओ अत्थि, तेण भणिआ–एक्काए ववत्थाए मुयामि, जइ णवरं जम्मि दिवसे परिणेज्जसि तद्दिवसं चेव भत्तारेण अणुग्घाडिया समाणी मम सयासं एहिसि तो मुयामि, तीए भणिओ–एवं हवउत्ति, तेण विसज्जिआ अन्नया परिणीआ,

१ यस्यैवेदृशी शक्तिरिति स ममान्तःपुरमपि धर्षयति इतिकृत्वाऽभयं शब्दयित्वा भणति. सप्तरात्रस्याभ्यन्तरे यदि चौरं नानयसि तदा ते नास्ति जीवितम्। तदाऽभयो गवेषयितुमारब्धः, नवरमेकस्मिन् प्रदेशे नर्त्तको रन्तुकामः, मिलितो लोकः, तत्र गत्वाऽभयो भणति–यावन्नर्त्तको मण्डयति आत्मानं तावन्ममैकमाख्यानं शृणुत यथा कस्मिन्नपि नगरे एको दरिद्रश्रेष्ठी परिवसति, तस्य पुत्री वृद्धकुमारी अतीव रूपिणी च, वरनिमित्तं कामदेवमर्चयति, सा चैकस्मिन्नारामे चौर्या पुष्पाण्युच्चिन्वती आरामिकेण दृष्टा, कदर्थितुमारब्धा, तया स भणितः—मा मां कुमारीं विनाशय, तवापि भगिनीभागिनेय्यः सन्ति, तेन भणिता—एकया व्यवस्थया मुञ्चामि यदि परं यस्मिन् दिवसे परिणयसि तस्मिन्नेव दिवसे भर्त्राऽनुद्घाटिता सती मम सकाशमायास्यसि तदा मुञ्चामि, तथा भणितः—एवं भवत्विति, तेन विसृष्टा अन्यदा परिणीता.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाहे अपवरके पवेसिआ ताहे भत्तारस्स सब्भावं कहेइ, विसज्जिया वच्चइ, पट्ठिया आरामं, अंतरा अ चोरेहिं गहिया, तेसिंपि सब्भावो कहिओ, मुक्का, गच्छंतीए अंतरा रक्खसो दिट्ठो, जो छण्हं मासाणं आहारेइ, तेण गहिया, कहिए मुक्का, गया आरामियसगासं, तेण दिट्ठा, सो संभंतो भणइ–कहमागयासि?, ताए भणिअं–मया कओ सो पुव्विं समओ, सो भणइ–कहं भत्तारेण मुक्का?, ताहे तस्स तं सव्वं कहिअं, अहो सच्चपइन्ना एसा महिलत्ति, एत्तिएहिं मुक्का किहाहं दुहामित्ति तेण विमुक्का, पडियंती अ गया सव्वेसिं तेसिं मज्झेणं, आगता तेहिं सव्वेहिं मुक्का, भत्तारसगासं अणहसमग्गा गया। ताहे अभओ तं जणं पुच्छइ–अक्खह एत्थ केण दुक्करं कयं?, ताहे इस्सालुया भणंति–भत्तारेणं, छुहालुया भणंति–रक्खसेणं, पारदारिया भणंति–मालाकारेणं, हरिकेसेण भणंति–चोरेहिं, पच्छा गहिओ चोरो इति।

---

१ यदाऽपवरकं प्रविष्टा तदा भर्तुः सद्भावं कथयति, विसृष्टा व्रजति, प्रस्थिताऽऽरामम्मन्तरा च चौरैर्गृहीता, तेभ्योऽपि सद्भावः कथितः, मुक्ता, गच्छन्त्याऽन्तरा राक्षसो दृष्टः, यः षड्भिर्मासैराहारयति, तेन गृहीता, कथिते मुक्ता, गताऽऽरामिकसकाशं, तेन दृष्टा, स सम्भ्रान्तो भणति—कथमागताऽसि ?, तया भणितम्—मया कृतः स पूर्वं समयः (सङ्केतः), स भणति—कथं भर्त्रा मुक्ता ? तदा तस्मै तत्सर्वं कथितम्, अहो सत्यप्रतिज्ञैषा महिलेति, इयद्भिर्मुक्ता कथमहं दूषयामि ? इति तेनापि मुक्ता, प्रतियान्ती च गता सर्वेषां तेषां मध्येन, आगता सर्वैस्तैर्मुक्ता, भर्तुः सकाशमनघस्वमार्गा गता। तदाऽभयस्तान् जनान् पृच्छति—आख्यातात्र केन दुष्करं कृतं ? तदा ईर्ष्यालुका भणन्ति—भर्त्रा, क्षुधालुका भणन्ति—राक्षसेन, पारदारिका भणन्ति—मालाकारेण, हरिकेशेन भणितम्—चौरैः, पश्चात्स गृहीतः यथैष चौर इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गारेणं, हरिएसेण भणिअं–चोरेहिं, पच्छा सो गहिओ, जहा एस चोरोत्ति । एतावत्प्रकृतोपयोगि । जहा अभएण तस्स चोरस्स उवाएण भावो णाओ एवमिहवि सेहाणमुवट्ठायंतयाणं उवाएण गीअत्थेण विपरिणामादिणा भावो जाणिअव्वोत्ति, किं एए पव्वावणिज्जा नवत्ति, पव्वाविएसुवि तेसु मुंडावणाइसु एमेव विभासा, यदुक्तम्—"पव्वाविओ सियत्ति अ मुंडावेउं न कप्पइ" इत्यादि । कहाणयसंहारो पुण–चोरो सेणियस्स उवणीओ, पुच्छिएण सब्भावो कहिओ, ताहे रण्णा भणियं–जइ नवरं एयाओ विज्जाओ देहि तो न मारेमि, देमित्ति अब्भुवगए आसणे ट्ठिओ पढई, न ठाई, राया भणई–किं न ठाई?, ताहे तं मायंगो भणइ–जहा अविणएणं पढसि, अहं भूमीए तुमं आसणे, णीयतरे उवविट्ठो, ठियातो सिद्धाओ य विज्जाओत्ति । कृतं प्रसङ्गेन । एवं तावल्लौकिकमर्थाक्षिप्तं चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्योक्ता द्रव्योपायादयः, साम्प्रतं द्रव्यानुयोगमधिकृत्य प्रदर्श्यन्त इति । तत्राप्युपायदर्शनतो नित्यानित्यैकान्तवादयोः सुखादिव्यवहाराभावप्रसङ्गेन तथा प्रत्यक्षगोचरातिक्रान्तेश्च वस्तुत आत्माभाव एवेति मा भूच्छिष्यकाणां मतिविभ्रमोऽत उपायत एवात्मास्तित्वमभिधातुकाम आह—

१ यथाऽभयेन तस्य चौरस्योपायेन भावो ज्ञातः एवमिहापि शैक्षकाणामुपस्थाप्यमानानामुपायेन गीतार्थेन विपरिणामादिना भावो ज्ञातव्य इति—किमेते प्रव्राजनीया नवेति, प्रव्राजितेष्वपि तेषु मुण्डनादिषु एवमेव विकल्पः (विभाषा) "प्रव्राजितः स्यादिति च मुण्डयितुं न कल्पते" कथानकसंहारः पुनः चौरः श्रेणिकायोपनीतः, पृष्टेन सद्भावः कथितः, तदा राज्ञा भणितं—यदि नवरमेते विद्ये ददासि तदा न मारयामि, ददामीत्यभ्युपगते आसने स्थितो भणति, न तिष्ठतः, राजा भणति—किं न तिष्ठतः? तदा तं मातङ्गो भणति—यथा अविनयेन पठसि, अहं भूमौ त्वमासने, नीचतरे उपविष्टः, स्थिते सिद्धे च विद्ये इति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं तु इहं आया पच्चक्खं अणुवलब्भमाणोऽवि । सुहदुक्खमाइएहिं गिज्झइ हेऊहिँ अत्थित्ति ॥ ६३ ॥

व्याख्या–एवमेव यथा धातुवादादिभिर्द्रव्यादि 'इह' अस्मिँल्लोके 'आत्मा' जीवः 'प्रत्यक्ष'मिति तृतीयार्थे द्वितीया प्रत्यक्षेण 'अनुपलभ्यमानोऽपि' अदृश्यमानोऽपि 'सुखदुःखादिभिः' आदिशब्दात् संसारपरिग्रहो गृह्यते 'हेतुभिः' युक्तिभिः 'अस्ति' विद्यत इति–एवं गृह्यते, तथाहि–सुखदुःखानां धर्मत्वाद्धर्मस्य चावश्यमनुरूपेण धर्मिणा भवितव्यं, न च भूतसमुदायमात्र एव देहोऽस्यानुरूपो धर्म्मी, तस्याचेतनत्वात् सुखादीनां च चेतनत्वादिति, अत्र बहु वक्तव्यमिति गाथार्थः ॥

जह वऽस्साओ हत्थि गामा नगरं तु पाउसा सरयं । ओदइयाउ उवसमं संकंती देवदत्तस्स ॥ ६४ ॥

व्याख्या—यथा'वे'ति प्रकारान्तरदर्शने 'अश्वात्' घोटकात् 'हस्तिनं' गजं ग्रामात् नगरं तु प्रावृषः शरदं प्रावृट्कालाच्छरत्कालमित्यर्थः, औदयिकाद् भावाद् 'उपशम'मित्यौपशमिकं 'संक्रान्तिः' संक्रमणं सङ्क्रान्तिः कस्य ?—देवदत्तस्य, प्रत्यक्षेणेति शेषः ॥

एवं सउ जीवस्सवि दव्वाईसंकमं पडुच्च उ । अत्थित्तं साहिज्जइ पच्चक्खेणं परोक्खेपि ॥ ६५ ॥

व्याख्या—'एवं' यथा देवदत्तस्य तथा, किम् ?—'सतो' विद्यमानस्य जीवस्यापि द्रव्यादिषु संक्रमः, आदिशब्दात् क्षेत्रकालभावपरिग्रहः, तं 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'अस्तित्वं' विद्यमानत्वं 'साध्यते' अवस्थाप्यते । आह-सतोऽस्तित्वसाधनमयुक्तम्, न, अव्युत्पन्नविप्रतिपन्नविषयत्वात् साधनस्य, 'प्रत्यक्षेण' अश्वादिसंक्रमेण, स-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वथा साक्षात्परिच्छित्तिमङ्गीकृत्य 'परोक्षमपि' अप्रत्यक्षमपि, अवग्रहादिस्वसंवेदनतो लेशतस्तु प्रत्यक्षमेवैतत्, एतदुक्तं भवति–यथा अश्वादिसङ्क्रान्तिर्न देवदत्ताख्यं धर्मिणमतिरिच्य वर्त्तते, एवमियमप्यौदारिकाद्वैक्रिये तिर्यग्लोकादूर्ध्वलोके परिमितवर्षायुष्कपर्यायादपरिमितवर्षायुष्कपर्याये चारित्रभावादविरतभावे च सङ्क्रान्तिर्न जीवाख्यं धर्मिणमन्तरेणोपपद्यत इति वृद्धा व्याचक्षते । अन्ये तु द्वितीयगाथापश्चार्द्धं पाठान्तरतोऽन्यथा व्याचक्षते–तत्रायमभिसम्बन्धः,—'एवं तु इहं आये' त्यादिगाथयोपायत एवात्मास्तित्वमभिधायाधुनोपायत एव सुखदुःखादिभावसङ्क्रतिनिमित्तं नित्यानित्यैकान्तपक्षव्यवच्छेदेनात्मानं परिणामिनमभिधित्सुराह—'जहवऽस्साओ' गाथाव्याख्या पूर्ववत् ॥

एवं सउ जीवस्सवि दव्वाईसंकमं पडुच्च उ । परिणामो साहिज्जइ पच्चक्खेणं परोक्खेवि ॥ ६६ ॥

पूर्वार्द्धं पूर्ववत्, पश्चार्द्धभावना पुनरियम्–न ह्येकान्तनित्यानित्यपक्षयोर्दृष्टाऽपि द्रव्यादिसङ्क्रान्तिर्देवदत्तस्य युज्यते इत्यतस्तद्भावान्यथानुपपत्त्यैव परिणामसिद्धेरिति, उक्तं च—"नार्थान्तरगमो यस्मात्, सर्वथैव न चागमः । परिणामः प्रमासिद्ध, इष्टश्च खलु पण्डितैः ॥ १ ॥ घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥ २ ॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥ ३ ॥" इति गाथाद्वयार्थः ॥ उक्तमुपायद्वारमधुना स्थापनाद्वारमभिधित्सुराह—

ठवणाकम्मं एक्कं दिट्ठंतो तत्थ पोंडरीअं तु । अहवाऽवि सन्नढक्कणहिंगुसिवकयं उदाहरणं ॥ ६७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–स्थाप्यते इति स्थापना तया तस्यास्तस्यां वा कर्म–सम्यगभीष्टार्थप्ररूपणलक्षणा क्रिया स्थापनाकर्म, 'एक'मिति तज्जात्यपेक्षया 'दृष्टान्तो' निदर्शनं 'तत्र' स्थापनाकर्मणि 'पौण्डरीकं तु' तुशब्दात्तथाभूतमन्यच्च, तथा च पौण्डरीकाध्ययने पौण्डरीकं प्ररूप्य प्रक्रिययैवान्यमतनिरासेन स्वमतं स्थापितमिति, अथवेत्यादि पश्चार्द्धं सुगमम्, लौकिकं चेदमिति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–जहा एगम्मि णगरे एगो मालायारो सण्णाइओ करंडे पुप्फे घेत्तूण वीहीए एइ, सो अईव अद्धाइओ, ताहे तेण सिग्घं वोसिरिऊणं सा पुप्फपिडिगा तस्सेव उवरि पल्हत्थिया, ताहे लोओ पुच्छइ–किमेयंति?, जेणित्थ पुप्फाणि छड्डेसित्ति, ताहे सो भणइ–अहं आलोविओ, एत्थ हिंगुसिवो नामं, एतं तं वाणमंतरं हिंगुसिवं नाम उप्पन्नं, लोएण परिग्गहियं, पूया से जाया, खाइगयं अज्जवि तं पाडलिपुत्ते हिंगुसिवं नाम वाणमंतरं। एवं जइ किंचि उड्डाहं पावयणीयं कयं होज्जा केणवि पमाएण ताहे तहा पच्छाएयव्वं जहा पच्चुण्णं पवयणु-

१ यथैकस्मिन् नगरे एको मालाकारः संज्ञापितः करण्डे पुष्पाणि गृहीत्वा वीथ्यामेति, सोऽतीव व्यथितः, तदा तेन शीघ्रं व्युत्सृज्य सा पुष्पपिटिका तस्यैवोपरि पर्यस्ता, तदा लोकः पृच्छति—किमेतदिति?, येनात्र पुष्पाणि त्यजसि इति, तदा स भणति—अहमलोपिकः, अत्र हिङ्गुशिवो नाम, एतत् तत् व्यन्तरिकं हिङ्गुशिवं नामोत्पन्नं, लोकेन परिगृहीतं, पूजा तस्य जाता, स्वातिगतमद्यापि तत्पाटलिपुत्रे हिङ्गुशिवं नाम व्यन्तरिकम् । एवं यदि किञ्चिद् अपभ्राजनाकार्यं प्रावचनिकं कृतं भवेत् केनापि प्रमादेन तदा तथा प्रच्छादयितव्यं यथा प्रत्युत प्रवचनोद्भावना भवति 'संजातायामपभ्राजनायां यथा गिरिसिद्धैः कुशलबुद्धिभिः । लोकस्य धर्मश्रद्धा प्रवचनवर्णेन सुष्ठु कृता ॥१॥"। (१) संज्ञापीडितः। बाधितः वि. प. (२) प्रक्षिप्ता. वि. प. (३) लोठिओ देवतया स्वयमवलोकितः वि. प. (४) पच्चुण्णं प्रत्युत वि. प.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्भावणा हवइ । "संजाए उड्डाहे जह गिरिसिडेहिं कुसलबुद्धीहिं । लोयस्स धम्मसद्धा पवयणवण्णेण सुट्ठु कथा ॥ १ ॥" एवं तावच्चरणकरणानुयोगं लोकं चाधिकृत्य स्थापनाकर्म प्रतिपादितम्, अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्योपदर्शयन्नाह—

सव्वभिचारं हेतुं सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं । उववूहइ सप्पसरं सामत्थं चऽप्पणो नाउं ॥ ६८ ॥

व्याख्या–सह व्यभिचारेण वर्त्तत इति सव्यभिचारस्तं 'हेतुं' साध्यधर्मान्वयादिलक्षणं 'सहसा' तत्क्षणमेव 'वोत्तुं' अभिधाय 'तमेव' हेतुम् 'अन्यैः' हेतुभिरेव 'उपबृंहते' समर्थयति 'सप्रसरम्' अनेकधा स्फारयन् 'सामर्थ्यं' प्रज्ञाबलम्, चशब्दो भिन्नक्रमः 'आत्मनश्च' स्वस्य च 'ज्ञात्वा' विज्ञाय, चशब्दात्परस्य चेति गाथार्थः ॥ भावार्थस्त्वयम्–द्रव्यास्तिकाद्यनेकनयसङ्कुलप्रवचनज्ञेन साधुना तत्स्थापनाय नयान्तरमतापेक्षया सव्यभिचारं हेतुमभिधाय प्रतिपक्षनयमतानुसारतः तथा समर्थनीयः यथा सम्यगनेकान्तवादप्रतिपत्तिर्भवतीति । आह–उदाहरणभेदस्थापनाधिकारचिन्तायां सव्यभिचारहेत्वभिधानं किमर्थमिति ?, उच्यते, तदाश्रयेण भूयसामुदाहरणानां प्रवृत्तेः, तदन्वितं चोदाहरणमपि प्राय इति ज्ञापनार्थम्, अलं प्रसङ्गेन । अभिहितं स्थापनाकर्मद्वारम्, अधुना प्रत्युत्पन्नविनाशद्वारमभिधातुकाम आह—

होंति पडुप्पन्नविणासणंमि गंधव्विया उदाहरणं । सीसोऽवि कत्थवि जइ अज्झोवज्जिज्ज तो गुरुणा ॥ ६९ ॥

व्याख्या–भवन्ति प्रत्युत्पन्नविनाशने विचार्ये गान्धर्विका उदाहरणं लौकिकमिति । तत्र प्रत्युत्पन्नस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुनो विनाशनं प्रत्युत्पन्नविनाशनं तस्मिन्निति समासः । गान्धर्विका उदाहरणमिति यदुक्तं तदिदम्–जहा एगम्मि णगरे एगो वाणियओ, तस्स बहुयाओ भयणीओ भाइणिज्जा भाउज्जायाओ य, तस्स घरसमीवे राउलिया गंधव्विया संगीयं करेंति दिवसस्स तिन्नि वारे, ताओ वणियमहिलाओ तेण संगीयसद्देण तेसु गंधव्विएसु अज्झोववन्नाओ किंचि कम्मादाणं न करेंति, पच्छा तेण वाणियएण चिंतियं–जहा विणट्ठा एयाओत्ति, को उवाओ होज्जा? जहा न विणस्संतित्तिकाउं मित्तस्स कहियं, तेण भण्णइ–अप्पणो घरसमीवे वाणमंतरं करावेहि, तेण कयं, ताहे पाडहियाणं रूवए दाउं वायावेइ, जाहे गंधव्विया संगीयगं आढवेंति ताहे ते पाडहिया पडहे दिंति वंसादिणो य फुसंति गायंति य, ताहे तेसिं गंधव्वियाणं विग्घो जाओ, पडहसद्देण य ण सुव्वइ गीयसद्दो, तओ ते राउले उवट्ठिया, वाणिओ सद्दाविओ, किं विग्घं करेसित्ति? भणइ–मम घरे देवो, अहं तस्स तिन्नि वेला पडहे दवावेमि, ताहे ते भणिया–जहा अन्नत्थ गायह, किं देवस्स दिवे दिवे

१ यथैकस्मिन् नगरे एको वणिक् तस्य बहुका भगिन्यः भागिनेय्यः भ्रातृजायाश्च, तस्य गृहसमीपे राजकुलीया गान्धर्विकाः सङ्गीतं कुर्वन्ति दिवसे त्रीन् वारान्, ता वणिग्महिलास्तेन सङ्गीतशब्देन तेषु गान्धर्विकेषु अध्युपपन्नाः किञ्चित्कर्मादानं न कुर्वन्ति, पश्चात्तेन वणिजा चिन्तितम्—यथा विनष्टा एता इति, क उपायो भवेत्? यथा न विनश्यन्तीतिकृत्वा मित्राय कथितं, तेन भण्यते—आत्मनो गृहसमीपे व्यन्तरिकं कारय, तेन कृतम्, तदा पाटहिकेभ्यो रूप्यकान् दत्त्वा वादयति, यदा गान्धर्विकाः सङ्गीतमारभन्ते तदा ते पाटहिकाः पटहान् ददति वंशादींश्च स्पृशन्ति गायन्ति च, तदा तेषां गान्धर्विकाणां विघ्नो जातः, पटहशब्देन च न श्रूयते गीतशब्दः, ततस्ते राजकुले उपस्थिताः, वणिक् शब्दायितः, किं विघ्नं करोषीति?, भणति–मम गृहे देवः, अहं तस्य तिस्रो वेलाः पटहं दापयामि, तदा ते भणिताः–यथाऽन्यत्र गायत, किं देवस्य दिवसे दिवसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]अंतराइयं कज्जइ ?। एवं आयरिएणवि सीसेसु अगारीसु अज्झोववज्जमाणेसु तारिसो उवाओ कायव्वो जहा तेसिं दोसस्स तस्स णिवारणा हवइ, मा ते चिंतादिएहिं णरयपडणादिए अवाए पावेहिंति, उक्तं च—"चिंतेइ दट्ठुमिच्छइ दीहं णीससइ तह जरो दाहो। भत्तारोयंग मुच्छा उम्मत्तो णं याणई मरणं ॥ १ ॥ पढमे सोयई वेगे दट्ठुं तं गच्छई बिइयवेगे। णीससइ तइयवेगे आरुहइ जरो चउत्थंमि ॥ २ ॥ डज्झइ पंचमवेगे छट्ठे भत्तं न रोयए वेगे। सत्तमियंमि य मुच्छा अट्ठमए होइ उम्मत्तो ॥ ३ ॥ णवमे ण याणइ किंचि दसमे पाणेहिं मुचइ मणूसो। एएसिमवायाणं सीसे रक्खंति आयरिया ॥ ४ ॥ परलोइया अवाया भग्गपइण्णा पडंति नरएसु। ण लहंति पुणो बोहिं हिंडंति य भवसमुद्दंमि ॥ ५ ॥" अमुमेवार्थं चेतस्यारोप्याह—'शिष्योऽपि' विनेयोऽपि 'कचित्' विलयादौ 'यदी' त्यभ्युपगमदर्शने 'अभ्युपपद्येत' अभिष्वङ्गं कुर्यादित्यर्थः ततो 'गुरुणा' आचार्येण, किम् ?–गाथा—

---

१ अन्तरायः क्रियते ?। एवमाचार्येणापि शिष्येष्वगारिणीषु अध्युपपद्यमानेषु तादृश उपायः कर्त्तव्यो यथा तेषां दोषस्य तस्य निवारणं भवति, मा ते चिन्तादिकैर्नरकपतनादिकान् अपायान् प्राप्स्यन्तीति—चिन्तयति द्रष्टुमिच्छति दीर्घं निःश्वसिति तथा ज्वरो दाहः। भक्तारोचको मूर्च्छा उन्मत्तो न जानाति मरणम् ॥ १ ॥ प्रथमे शोचति वेगे द्रष्टुं तां गच्छति द्वितीयवेगे। निःश्वसिति तृतीयवेगे आरोहति ज्वरश्चतुर्थे ॥ २ ॥ दह्यते पञ्चमे वेगे षष्ठे भक्तं न रोचते वेगे। सप्तमे च मूर्च्छा अष्टमे भवत्युन्मत्तः ॥ ३ ॥ नवमे न जानाति किञ्चिद्दशमे प्राणैर्मुच्यते मनुष्यः। एतेभ्योऽपायेभ्यः शिष्यं रक्षयन्त्याचार्याः ॥ ४ ॥ पारलौकिका अपाया भग्नप्रतिज्ञाः पतन्ति नरकेषु। न लभन्ते पुनर्बोधिं हिण्डन्ते च भवसमुद्रे ॥ ५ ॥ स्वयादौ वि. प.

१ द्रुमपुष्पिका० प्रत्युत्पन्नविनाशे गान्धर्विकोदा०

॥ ४५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

वारेयव्वु उवाएण जइवा वाऊलिओ वदेज्जाहि । सव्वेऽवि नत्थि भावा किं पुण जीवो स वोत्तव्वो ॥ ७० ॥

व्याख्या—'वारयितव्यो' निषेद्धव्यः, किं यथाकथञ्चित्? नेत्याह—'उपायेन' प्रवचनप्रतिपादितेन, यथाऽसौ सम्यग्वर्त्तत इति भावार्थः । एवं तावल्लौकिकं चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्य व्याख्यातं प्रत्युत्पन्नविनाशद्वारम्, अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्याह–यदिवा 'वातूलिको' नास्तिको वदेत्, किं?–'सर्वेऽपि' घटपटादयः 'णत्थि'त्ति प्राकृतशैल्या न सन्ति 'भावाः' पदार्थाः किं पुनर्जीवः?, सुतरां नास्तीत्यभिप्रायः, 'स वक्तव्यः' सोऽभिधातव्यः, किमित्याह—

जं भणसि नत्थि भावा वयणमिणं अत्थि नत्थि ? जइ अत्थि । एव पइन्नाहाणी असओ णु निसेहए को णु! ॥ ७१ ॥

व्याख्या—'यद्भणसि' यद्ब्रवीषि 'न सन्ति भावा' न विद्यन्ते पदार्था इति, 'वचनमिदं' भावप्रतिषेधकमस्ति नास्तीति विकल्पौ?, किं चातो?, यद्यस्ति एवं प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिषेधवचनस्यापि भावत्वात्, तस्य च सत्त्वादिति भावार्थः, द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—'असओ णु'त्ति अथासन्निषेधते को नु?, निषेधवचनस्यैवासत्त्वादित्ययमभिप्राय इति गाथात्रयार्थः॥ यदुक्तम्–'किं पुनर्जीवः' इत्यत्रापि प्रत्युत्पन्नविनाशमधिकृत्याह—

णो य विवक्खापुव्वो सद्दोऽजीवुब्भवोत्ति न य सावि । जमजीवस्स उ सिद्धो पडिसेहधणीओ तो जीवो ॥ ७२ ॥

व्याख्या–चशब्दस्यैवकारार्थत्वेनावधारणार्थत्वात् 'न च' नैव 'विवक्षापूर्वो' विवक्षाकारणः इच्छाहेतुसि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यर्थः, 'शब्दो' ध्वनिः 'अजीवोद्भवः' अजीवप्रभव इत्यर्थः, विवक्षापूर्वकश्च जीवनिषेधकः शब्द इति, मा भूद्विवक्षाया एव जीवधर्मत्वासिद्धिरित्यत आह—'न च' नैव 'सापि' विवक्षा 'यद्' यस्मात् कारणाद् 'अजीवस्य तु' अजीवस्यैव, घटादिष्वदर्शनात्, किन्तु मनस्त्वपरिणता(ल्य)न्वितत्तद्द्रव्यसाचिव्यतो जीवस्यैव, यतश्चैवमतः 'सिद्धः' प्रतिष्ठितः 'प्रतिषेधध्वनेः' नास्ति जीव इति प्रतिषेधशब्दादेवेत्यर्थः, 'ततः' तस्मात् 'जीव' आत्मेति, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥ व्याख्यातं प्रत्युत्पन्नविनाशद्वारं, तदन्वाख्यानाच्चोदाहरणमिति मूलद्वारम्, अधुना तद्देशद्वारावयवार्थमभिधित्सुराह—

आहरणं तद्देसे चउहा अणुसट्ठि तह उवालंभो । पुच्छा निस्सावयणं होइ सुभद्दाऽणुसट्ठीए ॥ ७३ ॥

व्याख्या–उदाहरणमिति पूर्ववद्, उपलक्षणं चेदमत्र, तथा चाह–तस्य देशस्तद्देश उदाहरणदेश इत्यर्थः, अयं 'चतुर्द्धा' चतुष्प्रकारः, तदेव चतुष्प्रकारत्वमुपदर्शयति–अनुशासनमनुशास्तिः–सद्गुणोत्कीर्त्तनेनोपबृंहणमित्यर्थः, तथोपालम्भनमुपालम्भः–भङ्ग्यैव विचित्रं भणनमित्यर्थः, पृच्छा–प्रश्नः किं कथं केनेत्यादि, निश्रावचनम्–एकं कञ्चन निश्राभूतं कृत्वा या विचित्रोक्तिरसौ निश्रावचनमिति । तत्र भवति सुभद्रा नाम श्राविकोदाहरणम्, क ?–अनुशास्ताविति गाथाक्षरार्थः ॥ तत्थं अणुसट्ठीए सुभद्दा उदाहरणं–चंपाए णयरीए

१ तत्रानुशास्तौ सुभद्रोदाहरणम्—चम्पायां नगर्यां

॥ ४६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिणदत्तस्स सुसावगस्स सुभद्दा नाम धूया, सा अईव रूववई सा य तच्चणियउवासएण दिट्ठा, सो ताए अज्झोववण्णो, तं मग्गई, सावगो भणइ–नाहं मिच्छादिट्ठिस्स धूयं देमि, पच्छा सो साहूणा समीवं गओ धम्मो य अणेण पुच्छिओ, कहिओ साहूहिं, ताहे कवडसावयधम्मं पगहिओ, तत्थ य से सब्भावेणं चेव उवगओ धम्मो, ताहे तेण साहूणं सब्भावो कहिओ, जहा मए कवडेणं दारियाए कए, णं णायं जहा कवडेणं कज्जहित्ति, अण्णमियाणिं देह मे अणुव्वयाइं, लोगे स पयासो सावओ जाओ, तओ काले गए वरया मालंया पट्ठवेइ, ताहे तेण जिणदत्तेण सावओत्तिकाऊण सुभद्दा दिण्णा, पाणिग्गहणं वत्तं, अन्नया सो भणइ–दारियं घरं णेमि, ताहे तं सावओ भणइ–तं सव्वं उवासयकुलं, एसा तं णाणुवत्तिहिति, पच्छा छोभयं वा लभेज्जत्ति, णिब्बंधे विसज्जिया, णेऊण जुगयं घरं कयं, सासूणणंदाओ पउट्ठाओ भिक्खूणं भत्तिं ण करेइत्ति,

१ जिनदत्तस्य सुश्रावकस्य सुभद्रा नाम पुत्री, साऽतीव रूपिणी, सा च तच्चनिक(बौद्ध)उपासकेन दृष्टा, स तस्यामध्युपपन्नः, तां मार्गयति, श्रावको भणति—नाहं मिथ्यादृष्टये पुत्रीं ददामि, स पश्चात् साधूनां समीपे गतः. धर्मश्चानेन पृष्टः, कथितः साधुभिः, कपटश्रावकेण तदा धर्मः प्रगृहीतः, तत्र च तस्य सद्भावेनैवोपगतो धर्मः, तदा तेन साधुभ्यः सद्भावः कथितः, यथा मया कपटेन दारिकायाः कृते, एतज्ज्ञातं यथा कपटेन क्रियते इति, अन्यत् इदानीं देहि मह्यमणुव्रतानि, लोके स प्रकाशः श्रावको जातः, ततः काले गते वरकाः मालाः प्रस्थापयन्ति, तदा तेन जिनदत्तेन श्रावक इतिकृत्वा सुभद्रा दत्ता, पाणिग्रहणं वृत्तम्, अन्यदा स भणति–दारिकां गृहं नयामि, तदा तं श्रावको भणति–तत् सर्वमुपासककुलम् एषा तन्नानुवर्त्स्यति, पश्चात् अपमानं वा लभेतेति, निर्बन्धे विसृष्टा, नीत्वा पृथग् गृहं कृतं, श्वश्रूननन्दरः प्रद्विष्टाः भिक्षूणां भक्तिं न करोतीति । (१) तव्वणिय० प्र० (२) नेदम् प्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्नया ताहिं सुभद्दाए भत्तारस्स अक्खायं–एसा य सेअवडेहिं समं संसत्ता, सावओ ण सद्दहेइ, अन्नया खमगस्स भिक्खागयस्स अच्छिमि कणुओ पविट्ठो, सुभद्दाए जिब्भाए सो किणुओ फेडिओ, सुभद्दाए चीणपिट्ठेण तिलओ कओ, सो अ खमगस्स निलाडे लग्गो, उवासियाहिं सावयस्स दरिसिओ, सावएण पत्तीयं, ण तहा अणुयत्तइ, सुभद्दा चिंतेइ–किं अच्छेरयं? जं अहं गिहत्थी छोभगं लभामि, जं पवयणस्स उड्डाहो एयं मे दुक्खइत्ति, सा रत्तिं काउस्सग्गेण ठिया, देवो आगओ, संदिसाहि किं करेमि?, सा भणइ–एअं मे अयसं पमज्जाहित्ति, देवो भणइ–एवं हवउ, अहमेयस्स णगरस्स चत्तारि दाराइं ठवेहामि, घोसणयं च घोसेहामित्ति, जहा–जा पइव्वया होइ सा एयाणि दाराणि उग्घाडेहिति, तत्थ तुमं चेव एगा उग्घाडेसि ताणि य कवाडाणि, सयणस्स पच्चयनिमित्तं चालणीए उदगं छोढूण दरिसिज्जासि,

१ अन्यदा ताभिः सुभद्राया भर्त्तारं प्रति आख्यातम्–एषा च श्वेतपटैः संसक्ता, श्रावको न श्रद्दधाति, अन्यदा क्षपकस्य भिक्षागतस्य अक्ष्णि रजः प्रविष्टं, सुभद्रया जिह्वया तद्रजः स्फेटितं, सुभद्रया सिन्दूरेण तिलकः कृतः, स च क्षपकस्य ललाटे लग्नः, उपासिकाभिः श्रावकस्य दर्शितः, श्रावकेण प्रत्यायितं, न तथाऽनुवर्त्तयति, सुभद्रा चिन्तयति–किमाश्चर्यम्? यदहं गृहस्थाऽपमानं लभे, यत्प्रवचनस्यापभ्राजना एतन्मां दुःखयति इति, सा रात्रौ कायोत्सर्गेण स्थिता, देव आगतः, संदिश किं करोमि?, सा भणति–एतन्मेऽयशः प्रमार्जयेति, देवो भणति–एवं भवतु, अहमेतस्य नगरस्य चत्वारि द्वाराणि स्थगयिष्यामि, घोषणां च घोषयिष्यामि इति, यथा–या पतिव्रता भवति सा एतानि द्वाराणि उद्घाटयिष्यतीति, तत्र त्वमेवैकोद्घाटयिष्यसि तानि कपाटानि, स्वजनस्य प्रत्ययनिमित्तं चालन्यामुदकं क्षिप्त्वा दर्शयेः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तओ चालणी फुसियमवि ण गिलिहिति, एवं आसासेऊण णिग्गओ देवो, णयरदाराणि अणेण ठवियाणि, णायरजणो य अद्दण्णो, इओ य आगासे वाया होइ 'णागरजणा मा णिरत्थयं किलिस्सह, जा सीलवई चालणीए छूढं उदगं ण गिलति सा तेण उदगेण दारं अच्छोडेइ, तओ दारं उग्घाडिज्जिस्सति', तत्थ बहुयाओ सेट्ठिसत्थवाहादीणं धूयसुण्हाओ ण सक्कंति पवेसंपि लहिउं, ताहे सुभद्दा सयणं आपुच्छइ, अविसज्जंताण य चालणीए उदयं छोढूण तेसिं पाडिहेरं दरिसेइ, तओ विसज्जिया, उवासिआओ एवं चिंतिउमाढत्ताओ–जहा एसा समणपडिलेहिया उग्घाडेहिति, ताए चालणीए उदयं छूढं, ण गिलइत्ति पिच्छित्ता विसन्नाओ, तओ महाजणेण सक्कारिज्जंती तं दारसमीवं गया, अरहंताणं नमोक्काऊण उदएण अच्छोडिया कवाडा, महया सद्देणं कोंकारवं करेमाणा तिन्नि वि गोपुरदारा उग्घाडिया, उत्तरदारं चालणिपाणिएणं अच्छोडेऊण भणइ–

१ ततश्चालन्या बिन्दुरपि न पतिष्यति, एवमाश्वास्य निर्गतो देवः. नगरद्वाराण्यनेन स्थगितानि, नागरजनश्चार्तिमापन्नः, इतश्चाकाशे वागभूत्–नागरजनाः! मा निरर्थकं क्लेशिषुः, या शीलवती (यया) चालन्यामुदकं क्षिप्तं (सत्) न गिलति सा तेनोदकेन द्वारमाच्छोटयति, ततो द्वारमुद्घाटिष्यते इति, तत्र बह्व्यः श्रेष्ठिसार्थवाहादीनां पुत्रीस्नुषाः न शक्नुवन्ति प्रवेशमपि लब्धुं, तदा सुभद्रा स्वजनमापृच्छते, अविसृजतां च चालन्यामुदकं क्षिप्त्वा तेषां प्रातीहार्यं दर्शयति, ततो विसृष्टा, उपासिका एवं चिन्तितुमारब्धा यथैषा श्रमणप्रतिलेखितोद्घाटयिष्यति, तया चालन्यामुदकं क्षिप्तं, न गिलति इति प्रेक्ष्य विषण्णाः, ततो महाजनेन सत्क्रियमाणा तं द्वारसमीपं गता, अर्हतो नमस्कृत्योदकेन आच्छोटितानि कपाटानि, महता शब्देन कोङ्कारवं कुर्वन्ति त्रीण्यपि गोपुरद्वाराणि उद्घाटितानि, उत्तरद्वारं चालनीपानीयेनाच्छोट्य भणति. (१) पलिकामात्रमपि वि. प.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

जा मया सरिसी सीलवई होहिति सा एयं दारं उग्घाडेहिति, तं अज्जवि ढक्कियं चेव अच्छइ, पच्छा णाय-रजणेण साहुकारो कओ–अहो महासइत्ति, अहो जयइ धम्मोत्ति। एयं लोइयं, चरणकरणाणुओगं पुण पडुच्च वेयावच्चादिसु अणुसासियव्वा, उज्जुत्ता अणुज्जुत्ता य संठवेयव्वा जहा सीलवंताणं इह लोए एरिसं फल-मिति। अमुमेवार्थमुपदर्शयन्नाह—

साहुक्कारपुरोगं जह सा अणुसासिया पुरजणेणं। वेयावच्चाईसु वि एव जयंते णुवोहेज्जा ॥ ७४ ॥

व्याख्या–साधुकारपुरःसरं यथा सुभद्रा 'अनुशासिता' सद्गुणोत्कीर्त्तनेनोपबृंहिता, केन?–'पुरजनेन' नाग-रिकलोकेन, वैयावृत्त्यादिष्वपि–आदिशब्दात् स्वाध्यायादिपरिग्रहः, 'एवं' यथा सा सुभद्रा 'यतमानान्' उद्य-मवतः, किम्?–उपबृंहयेत्, सद्गुणोत्कीर्त्तनेन तत्परिणामवृद्धिं कुर्यात्, यथा—"[3]भरहेणवि पुव्वभवे वेयावच्चं कयं सुविहियाणं। सो तस्स फलविवागेण आसी भरहाहिवो राया ॥ १ ॥ भुंजित्तु[3] भरहवासं सामण्णमणुत्तरं अणुचरित्ता। अट्ठविहकम्ममुक्को भरहनरिंदो गओ सिद्धिं" ॥ इति गाथार्थः ॥ उदाहरणदेशता पुनरस्योदाहृतै-

१ या ममसदृशी शीलवती भविष्यति सैतत् द्वारमुद्घाटयिष्यति, तदद्यापि स्थगितमेवास्ति, पश्चान्नागरजनेन साधुकारः कृतः, अहो महासतीति, अहो जयति धर्म इति। एतल्लौकिकं, चरणकरणानुयोगं पुनः प्रतीत्य वैयावृत्त्यादिषु अनुशासितव्याः, उद्युक्ता अनुद्युक्ताश्च संस्थापयितव्याः यथा शीलवतामिह लोके ईदृशं फलमिति. २ भरतेनापि पूर्वभवे वैयावृत्त्यं कृतं सुविहितानाम्। स तस्य फलविपाकेन आसीद् भरताधिपो राजा ॥ १ ॥ ३ भुक्त्वा भरतवर्षं श्रामण्यमनुत्तरमनुचर्य। अष्टविधकर्ममुक्तो भरतनरेन्द्रो गतः सिद्धिम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कदेशस्यैवोपयोगित्वात्तेनैव चोपसंहारात्, तथा च अप्रमादवद्भिः साधूनां कणुकापनयनादि कर्त्तव्यमिति विहायानुशास्त्योपसंहारमाह, वैयावृत्त्यादिष्वपि देशेनैवोपसंहारः, गुणान्तररहितस्य भरतादेर्निश्चयेन तदकरणादिति भावनीयमिति, एवं तावल्लौकिकं चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्योक्तं तद्देशद्वारे अनुशास्तिद्वारम्, अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्य दर्शयति—

जेसिंपि अत्थि आया वत्तव्वा तेऽवि अम्हवि स अत्थि । किंतु अकत्ता न भवइ वेययइ जेण सुहदुक्खं ॥ ७५ ॥

व्याख्या–'येषामपि' द्रव्यास्तिकादिनयमतावलम्बिनां तन्त्रान्तरीयाणां किम्?—'अस्ति' विद्यते 'आत्मा' जीवः वक्तव्याः 'तेऽपि' तन्त्रान्तरीयाः, साध्वेतत् अस्माकमप्यस्ति सः, तदभावे सर्वक्रियावैफल्यात्, किन्तु 'अकर्त्ता न भवति' सुकृतदुष्कृतानां कर्मणामकर्त्ता न भवति–अनिष्पादको न भवति, किन्तु? कर्त्तैव, अत्रैवोपपत्तिमाह—'वेदयते' अनुभवति 'येन' कारणेन, किम्?—'सुखदुःखं' सुकृतदुष्कृतकर्मफलमिति भावः॥ न चाकर्तुरात्मनस्तदनुभावो युज्यते, अतिप्रसङ्गात्, मुक्तानामपि सांसारिकसुखदुःखवेदनाऽऽपत्तेः, अकर्तृत्वाविशेषात्, प्रकृत्यादिवियोगस्याप्यनाधेयातिशयमेकान्तेनाकर्त्तारमात्मानं प्रत्यकिञ्चित्करत्वाद्, अलं विस्तरेणेति गाथार्थः । उदाहरणदेशता त्वत्राप्युदाहृतस्यैकदेशेनैवोपसंहारात् तत्रैव चासंप्रतिपत्तौ समर्थनाय निदर्शनाभिधानादिति । गतमनुशास्तितद्देशद्वारम्, अधुनोपालम्भद्वारविवक्षयाऽऽह—

१ वैयावृत्त्याकरणात् वि. प्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

उवलम्भम्मि मिगावइ नाहियवाईवि एव वत्तव्वो । नत्थित्ति कुविन्नाणं आयाऽभावे सइ अजुत्तं ॥ ७६ ॥

व्याख्या–उपालम्भे प्रतिपादे मृगावतिदेव्युदाहरणम् । एयं च जहा आवस्सए दव्वपरंपराए भणियं तहेव दट्ठव्वं, जाव पव्वइया अज्जचंदणाए सिस्सिणी दिण्णा । अन्नया भगवं विहरमाणो कोसंबीए समोसरिओ, चंदादिच्चा सविमाणेहिं वंदिउं आगया, चउपोरसीयं समोसरणं काउं अत्थमणकाले पडिगया, तओ मिगावई संभंता, अयि ! वियालीकयंति भणिऊणं साहुणीसहिया जाव अज्जचंदणासगासं गया, ताव य अंधयारयं जायं, अज्जचंदणापमुहाहिं साहुणीणं ताव पडिक्कंतं, ताहे सा मिगावई अज्जा अज्जचंदणाए उवालब्भइ, जहा एवं णाम तुमं उत्तमकुलप्पसूया होइऊण एवं करेसि ?, अहो न लट्ठयं, ताहे पणमिऊण पाएसु पडिया, परमेण विणएण खामेइ, खमह मे एगमवराहं, णाहं पुणो एवं करेहामित्ति । अज्जचंदणा य किल तंमि समए संथारोवगया पसुत्ता, इयरीए वि परमसंवेगगयाए केवलनाणं समुप्पन्नं, परमं च अंधयारं वट्टइ,

१ एतच्च यथाऽऽवश्यके द्रव्यपरम्परायां भणितं तथैव द्रष्टव्यं यावत्प्रव्रजिता आर्यचन्दनायै शिष्या दत्ता । अन्यदा भगवान् विहरन् कोशाम्ब्यां समवसृतः, चन्द्रादित्यौ स्वविमानाभ्यां वन्दितुमागतौ, चतुष्पौरुषीकं समवसरणं कृत्वाऽस्तमयनकाले प्रतिगतौ, ततो मृगावती सम्भ्रान्ता—अयि ! विकालीकृतमिति भणित्वा साध्वीसहिता यावदार्यचन्दनासकाशं गता तावच्चान्धकारं जातम्, आर्यचन्दनाप्रमुखाभिः साध्वीभिस्तावत्प्रतिक्रान्तं, तदा सा मृगावत्यार्या आर्यचन्दनयोपालभ्यते—यथैवं नाम त्वमुत्तमकुलप्रसूता भूत्वा एवं करोषि ?, अहो न लष्टं, तदा प्रणम्य पादयोः पतिता परमेण विनयेन क्षमयति, क्षमस्व ममैकमपराधं, नाहं पुनरेवं करिष्यामि इति । आर्यचन्दना च किल तस्मिन् समये संस्तारोपगता प्रसुप्ता, इतरस्या अपि परमसंवेगगतायाः केवलज्ञानं समुत्पन्नं, परमं चान्धकारं वर्त्तते.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

सप्पो य तेणंतरेण आगच्छइ, पव्वत्तिणीए य हत्थो लंबमाणो तीए उप्पाडिओ, पडिबुद्धा य अज्जचंदणा, पुच्छिया–किमेयं?, सा भणइ–दीहजाइओ, कहं तुमं जाणसि? किं कोइ अतिसओ? आमंति, पडिवाइ अप्पडिवाइत्ति पुच्छिया सा भणइ–अप्पडिवाइत्ति, तओ खामिया । लोगलोगुत्तरसाहरणमेयं । एवं पमायंतो सीसो उवालंभेयव्वोत्ति । उदाहरणदेशता पूर्ववद्योजनीयेति । एवं तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्य व्याख्यातमुपालम्भद्वारम्, अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्य व्याख्यायते—'नास्तिकवाद्यपि' चार्वाकोऽपि जीवनास्तित्वप्रतिपादक इत्यर्थः एवं 'वक्तव्यः' अभिधातव्यः—'नास्ति' न विद्यते, कः? प्रकरणाज्जीव इति, एवंभूतं 'कुविज्ञानं' जीवसत्ताप्रतिषेधावभासीत्यर्थः, आत्माऽभावे सति न युक्तम्, आत्मधर्मत्वाद् ज्ञानस्येति भावना, भूतधर्मता पुनरस्य धर्म्यननुरूपत्वादेव न युक्ता, तत्समुदायकार्यताऽपि प्रत्येकं भावाभावविकल्पद्वारेण तिरस्कर्त्तव्येति गाथार्थः ॥ अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह—

अत्थित्ति जा वियक्का अहवा नत्थित्ति जं कुविन्नाणं । अत्तंताभावे पोग्गलस्स एयं चिअ न जुत्तं ॥ ७७ ॥

व्याख्या–अस्ति जीव इति एवंभूता या वितर्काऽथवा 'नास्ति' न विद्यत इति एवंभूतं यत्कुविज्ञानं

१ सर्पश्च तेनान्तरेण (मार्गेण मध्येन वा) आगच्छति, प्रवर्त्तिन्याश्च हस्तो लम्बमानस्तयोत्पाटितः, प्रतिबुद्धा चार्यचन्दना, पृष्टा किमेतत्?, सा भणति—दीर्घजातीयः, कथं त्वं जानासि? किं कश्चिदतिशयः? ओमिति, प्रतिपात्यप्रतिपाती वेति पृष्टा सा भणति—अप्रतिपातीति, ततः क्षामिता । लोकलोकोत्तरसाधारणमेतत्, एवं प्रमाद्यन् शिष्य उपालम्भनीय इति. २ °र्थमुपसंहरन्नाह. प्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकोत्तरापकारि अत्यन्ताभावे 'पुद्गलस्य' जीवस्य 'इदमेव न युक्तम्', इदमेवान्याख्यं । भावना पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ उदाहरणदेशता नास्तिकस्य परलोकादिप्रतिषेधवादिनो जीवसाधनाद् भावनीयेति । गतमुपाल-म्भद्वारम्, अधुना शेषद्वारद्वयं व्याचिख्यासुराह—

पुच्छाए कोणिओ खलु निस्सावयणंमि गोयमस्सामी । नाहियवाइं पुच्छे जीवत्थित्तं अणिच्छंतं ॥ ७८ ॥

व्याख्या–'पृच्छायां' प्रश्न इत्यर्थः, 'कोणिकः' श्रेणिकपुत्रः खलूदाहरणम् । जहा तेण सामी पुच्छिओ–चक्कवट्टिणो अपरिचत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा कहिं उववज्जंति ?, सामिणा भणियं–अहे सत्तमीए चक्कवट्टीणो उववज्जंति, ताहे भणइ–अहं कत्थ उववज्जिस्सामि ?, सामिणा भणियं–तुमं छट्ठीपुढवीए, सो भणइ–अहं सत्तमीए किं न उववज्जिस्सामि ?, सामिणा भणियं–सत्तमीए चक्कवट्टिणो उववज्जंति, ताहे सो भणइ–अहं किं न होमि चक्कवट्टी ? ममवि चउरासी दन्तिसयसहस्साणि, सामिणा भणियं–तव रयणाणि निहीओ य णत्थि, ताहे सो कित्तिमाइं रयणाइं करित्ता ओवतिउमारद्धो, तिमिसगुहाए पविसिउं पवत्तो,

१ यथा तेन स्वामी पृष्टः—चक्रवर्त्तिनोऽपरित्यक्तकामभोगाः कालमासे कालं कृत्वा क्वोत्पद्यन्ते ?, स्वामिना भणितम्—अधःसप्तम्यां चक्रवर्त्तिन उत्पद्यन्ते, तदा भणति—अहं क्वोत्पत्स्ये ?, स्वामिना भणितं—त्वं षष्ठ्यां पृथिव्यां, स भणति—अहं सप्तम्यां किं नोत्पत्स्ये ? स्वामिना भणितं-सप्तम्यां चक्रवर्त्तिन उत्पद्यन्ते, तदा स भणति—अहं किं चक्रवर्त्ती न भवामि. ममापि चतुरशीतिर्दन्तिशतसहस्राणि, स्वामिना भणितं—तव रत्नानि निधयश्च न सन्ति, तदा स कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वाऽवपतितुं (जेतुं) आरब्धः, तमिस्रागुहायां प्रवेष्टुं प्रवृत्तः,

॥ ५० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

भणिओ य किरिमालएणं–वोलीणा चक्कवट्टिणो बारसवि, विणस्सिहिसि तुमं, वारिज्जंतो वि ण ठाई, पच्छा कयमालएण आहओ, मओ य छट्ठिं पुढविं गओ, एयं लोइयं । एवं लोगुत्तरेवि बहुस्सुआ आयरिया अट्ठाणि हेऊ य पुच्छियव्वा, पुच्छित्ता य सक्कणिज्जाणि समायरियव्वाणि, असक्कणिज्जाणि परिहरियव्वाणि, भणियं च—"पुच्छह पुच्छावेह य पंडियए साहवे चरणजुत्ते । मा मयलेववलिप्ता पारत्तहियं ण याणिहिह ॥ १ ॥" उदाहरणदेशता पुनरस्याभिहितैकदेश एव प्रष्टुर्ग्रहात् तेनैव चोपसंहारादिति । एवं तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्य व्याख्यातं पृच्छाद्वारम्, अधुनैतत्प्रतिबद्धां द्रव्यानुयोगवक्तव्यतामपास्य गाथोपन्यासानुलोमतो निश्रावचनमभिधातुकाम आह—'निश्रावचने' निरूप्ये गौतमस्वाम्युदाहरणमिति । ऐत्थ गागलिमादी जहा पव्वइया तावसा य एवं जहा वइरसामिउप्पत्तीए आवस्सए तहा ताव नेयं जाव गोयमसामिस्स किल अधिई जाया । तत्थ भगवया भण्णइ–चिरसंसट्ठोऽसि मे गोयमा ! चिरपरिचितोऽसि मे गोयमा ! चिरभाविओऽसि मे गोयमा ! तं मा अधिइं करेहि, अंते दोन्निवि तुल्ला भविस्सामो, अन्ने य

१ भणितश्च किरिमालकेन–व्यतिक्रान्ता द्वादशापि चक्रवर्त्तिनः, विनङ्क्ष्यसि त्वं, वार्यमाणोऽपि न तिष्ठति, पश्चात्कृतमालकेनाहतः, मृतश्च षष्ठीं पृथ्वीं गतः । एतल्लौकिकमेवं लोकोत्तरेऽपि बहुश्रुता आचार्याः प्रष्टव्या अर्थान् हेतूंश्च, पृष्ट्वा च शकनीयान्याचरितव्यानि अशकनीयानि परिहर्त्तव्यानि, भणितं च "पृच्छथ पृच्छथ पण्डितान् साधून् चरणयुक्तान् । मा मदलेपविलिप्ताः पारत्रिकहितं न ज्ञासिष्ट ॥१॥ २ अत्र गाङ्गल्यादयो यथा प्रव्रजितास्तापसाश्च, एवं यथा वज्रस्वाम्युत्पत्तावावश्यके तथा तावज्ज्ञेयं यावद् गौतमस्वामिनः किलाधृतिर्जाता । तत्र भगवता भण्यते—चिरसंसृष्टोऽसि मम गौतम ! चिरपरिचितोऽसि मम गौतम ! चिरभावितोऽसि मे गौतम ! तन्माऽधृतिं कार्षीः, अन्ते द्वावपि तुल्यौ भविष्यावः. अन्ये च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

तन्निस्साए अणुसासिया दुमपत्तए अज्झयणित्ति। एवं जे असहणा विणेया ते अन्ने मद्दवसंपन्ने णिस्सं काऊण तहाऽणुसासियव्वा उवाएण जहा सम्मं पडिवज्जंति । उदाहरणदेशता त्वस्य देशेन–प्रदर्शितलेशत एव तथानुशासनाद्। एवं तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्य व्याख्यातं पृच्छानिश्रावचनद्वारद्वयम्, अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्य व्याख्यायते–तत्रेदं गाथादलम्—'णाहियवाइ'मित्यादि, 'नास्तिकवादिनं' चार्वाकं पृच्छेज्जीवास्तित्वमनिच्छन्तं सन्तमिति गाथार्थः ॥ किं पृच्छेत् ?—

केणंति नत्थि आया जेण परोक्खोत्ति तव कुविन्नाणं । होइ परोक्खं तम्हा नत्थित्ति निसेहए को णु ? ॥ ७९ ॥

व्याख्या–'केनेति' केन हेतुना ? 'नास्त्यात्मा' न विद्यते जीव इति पृच्छेत्, स चेद् ब्रूयात् 'येन परोक्ष' इति येन प्रत्यक्षेण नोपलभ्यत इत्यर्थः, स च वक्तव्यः–भद्र ! तव 'कुविज्ञानं' जीवास्तित्वनिषेधकध्वनिनिमित्तत्वेन तन्निषेधकं भवति परोक्षम्, अन्यप्रमातृणामिति गम्यते, 'तस्माद् भवदुपन्यस्तयुक्त्या नास्तीति कृत्वा निषेधते को नु?, विवक्षाऽभावे विशिष्टशब्दानुत्पत्तेरिति गाथार्थः ॥ उदाहरणदेशता चास्य पूर्ववदिति गतं पृच्छाद्वारम् ॥

अन्नावएसओ नाहियवाई जेसिँ नत्थि जीवो उ । दाणाइफलं तेसिं न विज्जइ चउह तद्दोसं ॥ ८० ॥

व्याख्या–'अन्यापदेशतः' अन्यापदेशेन 'नास्तिकवादी' लोकायतो वक्तव्य इति शेषः, अहो धिक्कष्टं 'येषां'

१ तन्निश्रयाऽनुशासिता द्रुमपत्रकेऽध्ययन इति । एवं येऽसहना विनेयास्तेऽन्यान् मार्दवसंपन्नान् निश्रीकृत्य तथाऽनुशासितव्या उपायेन यथा सम्यक् प्रतिपद्यन्ते.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादिनां 'नास्ति जीव एव' न विद्यते आत्मैव 'दानादिफलं तेषां न विद्यते' दानहोमयागतपःसमाध्यादिफलं–स्वर्गापवर्गादि तेषां–वादिनां न विद्यते–नास्तीत्यर्थः । कदाचित्त एवं श्रुत्वैवं ब्रूयुः–मा भवतु, का नो हानिः?, 'न ह्यभ्युपगमा एव बाधायै भवन्ती'ति, ततश्च सत्त्ववैचित्र्यान्यथानुपपत्तितस्ते सम्प्रतिपत्तिमानेतव्याः, इत्यलं विस्तरेण, गमनिकामात्रमेतद्, उदाहरणदेशता चरणकरणानुयोगानुसारेण भावनीयेति। गतं निश्राद्वारं, तदन्वाख्यानाच्च तद्देशद्वारम्, अधुना तद्दोषद्वारावयवार्थप्रचिकटयिषयोपन्यासार्थं गाथावयवमाह —'चउह तद्दोसं' चतुर्धा तद्दोष–इति उदाहरणदोषः, अनुस्वारस्त्वलाक्षणिकः, अथवोदाहरणेनैव सामानाधिकरण्यं, ततश्च तद्दोषमिति तस्योदाहरणस्यैव दोषा यस्मिंस्तत्तद्दोषमिति गाथार्थः ॥ उपन्यस्तं चातुर्विध्यं प्रतिपादयन्नाह—

पढमं अहम्मजुत्तं पडिलोमं अत्तणो उवन्नासं । दुरुवणियं तु चउत्थं अहम्मजुत्तंमि नलदामो ॥ ८१ ॥

व्याख्या–'प्रथमम्' आद्यम् 'अधर्मयुक्तं' पापसम्बद्धमित्यर्थः, तथा 'प्रतिलोमं' प्रतिकूलम्, 'आत्मन उपन्यास' इति आत्मन एवोपन्यासः–तथानिवेदनं यस्मिन्निति, 'दुरुपनीतं चेति दुष्टमुपनीतं–निगमितमस्मिन्निति चतुर्थमिदं वर्त्तते, अमीषामेव यथोपन्यासमुदाहरणैर्भावार्थमुपदर्शयति–अधर्मयुक्ते नलदामः कुविन्दः, लौकिकमुदाहरणमिति गाथाक्षरार्थः ॥ पर्यन्तावयवार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–चाणक्येण णंदे उत्थाइए

१ °णानुसारेण प्र० २ चाणक्येन नन्दे उत्थापिते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ५२ ॥

चंदगुत्ते रायाणए ठविए एवं सव्वं वण्णित्ता जहा सिक्खाए, तत्थ णंदसंतिएहिं मणुस्सेहिं सह चोरग्गाहो मिलिओ, णगरं मुसइ, चाणक्कोऽवि अन्नं चोरग्गाहं ठविउकामो तिदंडं गहेऊण परिवायगवेसेण णयरं पविट्ठो, गओ णलदामकोलियसगासं, उवविट्ठो वणणसालाए अच्छइ, तस्स दारओ मक्कोडएहिं खइओ, तेण कोलिएण बिलं खणित्ता दड्ढा, ताहे चाणक्केण भण्णइ–किं एए डहसि?, कोलिओ भणइ–जइ एए समूलजाला ण उच्छाइज्जंति, तो पुणोऽवि खाइस्संति, ताहे चाणक्केण चिंतियं–एस मए लद्धो चोरग्गाहो, एस णंदतेणया समूलया उद्धरिस्सिहिइत्ति चोरग्गाहो कओ, तेण तिखंडिया विसंभिया अम्हे संमिलिया मुसामोत्ति, तेहिं अन्नेवि अक्खाया जे तत्थ मुसगा, बहुया सुहतरागं मुसामोत्ति, तेहिं अन्नेवि अक्खाया, ताहे ते तेण चोरग्गाहेण मिलिऊण सव्वेऽवि मारिया। एवं अहम्मजुत्तं ण भाणियव्वं, ण य कायव्वंति। इदं तावल्लौकिकम्, अनेन लोकोत्तरमपि चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्य सूचितमवगन्तव्यम्, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'-

१ चन्द्रगुप्ते राजनि स्थापिते एवं सर्वं वर्णयित्वा यथा शिक्षायाम्, तत्र नन्दसत्कैर्मनुष्यैः सह चौरग्राहो मिलितः, नगरं मुष्णाति, चाणक्योऽपि अन्यं चौरग्राहं स्थापयितुकामः त्रिदण्डं गृहीत्वा परिव्राजकवेषेण नगरं प्रविष्टः, गतो नलदामकोलिकसकाशमुपविष्टो वयनशालायां तिष्ठति, तस्य दारको मत्कोटकैः खादितः, तेन कोलिकेन बिलं खनित्वा दग्धाः, तदा चाणक्येन भण्यते—किमेतान् दहसि?, कोलिको भणति—यद्येते समूलजाला नोच्छाद्यन्ते तदा पुनरपि खादिष्यन्ति, तदा चाणक्येन चिन्तितम्—एष मया लब्धश्चौरग्राहः, एष नन्दस्तेनकान् समूलान् उद्धरिष्यतीति चौरग्राहः कृतः, तेन त्रिखण्डिकाः (स्तेनाः) विश्रम्भिताः—वयं सम्मिलिता मुष्णाम इति, तैरन्येऽप्याख्याता ये तत्र मोषकाः, बहवः सुखतरं मुष्णीम इति, तैरन्येऽप्याख्याताः, तदा तेन ते चौरग्राहेण मिलित्वा सर्वेऽपि मारिताः। एवमधर्मयुक्तं न भणितव्यं न च कर्तव्यमिति.

१ द्रुमपुष्पिका० तद्दोषे अधर्मयुक्तं

॥ ५२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिति न्यायात् । तत्र चरणकरणानुयोगेन '[1]णेवं अहम्मजुत्तं कायव्वं किंचि भाणियव्वं वा । थोवगुणं बहुदोसं विसेसओ ठाणपत्तेणं ॥ १ ॥ जम्हा सो अन्नेसिंपि आलंबणं होइ' । द्रव्यानुयोगे तु—'वादम्मि तहारूवे विज्जाय बलेण पवयणट्ठाए । कुज्जा सावज्जं पिहु जह मोरीणउलिमादीसु ॥ १ ॥ सो परिवायगो विलक्खीकओ त्ति' । उदाहरणदोषता चास्याधर्मयुक्तत्वादेव भावनीयेति । गतमधर्मयुक्तद्वारम्, अधुना प्रतिलोमद्वारावयवार्थव्याचिख्यासयाऽऽह—

पडिलोमे जह अभओ पज्जोयं हरइ अवहिओ संतो । गोविंदवायगोऽविय जह परपक्खं नियत्तेइ ॥ ८२ ॥

व्याख्या–'प्रतिलोमे' उदाहरणदोषे यथा 'अभयः' अभयकुमारः प्रद्योतं राजानं हृतवान् अपहृतः सन्निति, एतद् ज्ञापकम्, इह च त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थो वर्त्तमाननिर्देश इत्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्च यथाऽऽवश्यके शिक्षायां तथैव द्रष्टव्यमिति । एवं तावल्लौकिकं प्रतिलोमं, लोकोत्तरं तु द्रव्यानुयोगमधिकृत्य सूचयन्नाह—'गोविंदे'त्यादि गाथादलम्, अनेन चरणकरणानुयोगमप्यधिकृत्य सूचितमवगन्तव्यम्, आद्यन्तग्रहणे तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेनैव ग्रहणात्, तत्र चरणकरणे '[2]णो किंचि य पडिलोमं कायव्वं

१ नैवमधर्मयुक्तं कर्त्तव्यं किञ्चिद् भणितव्यं वा । स्तोकगुणं बहुदोषं विशेषतः स्थानप्राप्तेन ॥ १ ॥ यस्मात् सोऽन्येषामप्यालम्बनं भवति । वादे तथारूपे विद्याया बलेन प्रवचनार्थाय । कुर्यात् सावद्यमपि यथा मयूरीनकुल्यादिभिः ॥ १ ॥ स परिव्राट् विलक्षीकृतः इति. २ नो किञ्चिदपि प्रतिलोमं कर्त्तव्यं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवभएण मण्णेसिं । अविणीयसिक्खगाण उ जयणाइ जहोचिअं कुज्जा ॥ १ ॥[1] द्रव्यानुयोगे तु गोपेन्द्रवाचकोऽपि च यथा परपक्षं निवर्त्तयतीत्यर्थः । [2]सो य किर तच्चण्णिओ आसि, विणा (ण्णा) सणणिमित्तं पव्वइओ, पच्छा भावो जाओ, महावादी जात इत्यर्थः । सूचकमिदम्, अत्र च—[3]दव्वट्ठियस्स पज्जवणयट्ठियमेयं तु होइ पडिलोमं । सुहदुक्खाइअभावं इयरेणियरस्स चोइज्जा ॥ १ ॥ [4]अण्णे उ दुट्ठवादिम्मि, किंचि बूया उ किल पडिकूलं । दोरासिपइण्णाए तिण्णि जहा पुच्छ पडिसेहो ॥ २ ॥ उदाहरणदोषता त्वस्य प्रथमपक्षे साध्यार्थासिद्धेः, द्वितीयपक्षे तु शास्त्रविरुद्धभाषणादेव भावनीयेति गाथार्थः ॥ गतं प्रतिलोमद्वारम्, इदानीमात्मोपन्यासद्वारं विवृण्वन्नाह—

अत्तउवन्नासंमि य तलागभेयंमि पिंगलो थवई ।

व्याख्या–आत्मन एवोपन्यासो–निवेदनं यस्मिंस्तदात्मोपन्यासं तत्र च तडागभेदे पिङ्गलस्थपतिः उदाहरणमित्यक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकगम्यः, तच्चेदम्–[5]इह एगस्स रण्णो तलागं सव्वरज्जस्स सारभूअं, तं च

१ भवभयेना (जननम) न्येषाम् । अविनीतशिक्षकाणां तु यतनया यथोचितं कुर्यात् ॥ १ ॥ २ स च किल बौद्ध आसीत्, विनाशन(विज्ञान)निमित्तं प्रव्रजितः, पश्चाद्भावो जातः. ३ द्रव्यार्थिकस्य पर्यायनयार्थिकं (वचनम्) एतत्तु भवति प्रतिकूलम् । सुखदुःखाद्यभावमितरस्येतरेण (रः) चोदयेत् ॥ १ ॥ ४ अन्ये तु दुष्टवादिनि किञ्चिद्ब्रूयात्तु किल प्रतिकूलम् । द्विराशिप्रतिज्ञायां, त्रयो यथा पृच्छा प्रतिषेधः ॥ २ ॥ ५ एकस्य राज्ञस्तटाकः सर्वराज्यस्य सारभूतः, स च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तलागं वरिसे वरिसे भरियं भिज्जइ, ताहे राया भणइ–को सो उवाओ होज्जा? जेण तं न भिज्जेज्जा, तत्थ एगो कविलओ मणूसो भणइ–जइ नवरं महाराय! इत्थ पिंगलो कविलियाओ से दाढियाओ सिरं से कविलियं सो जीवंतो चेव जंमि ठाणे भिज्जइ तंमि ठाणे णिक्खमइ, तो णवरं ण भिज्जइ, पच्छा कुमारामच्चेण भणियं–महाराय! एसो चेव एरिसो जारिसयं भणइ, एरिसो णत्थि अन्नो, पच्छा सो तत्थेव मारेत्ता निक्खित्तो। एवं एरिसं न भाणियव्वं जं अप्पवहाए भवइ। इदं लौकिकम्, अनेन च लोकोत्तरमपि सूचितम्, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्, तत्र चरणकरणानुयोगे नैवं ब्रूयात् यदुत—'लोइयधम्माओविहु जे पब्भट्ठा णराहमा ते उ। कह दव्वसोयरहिया धम्मस्साराहया होंति? ॥ १ ॥ इत्यादि। द्रव्यानुयोगे पुनरेकेन्द्रिया जीवाः, व्यक्तोच्छ्वासनिश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावात्, घटवत्, इह ये जीवा न भवन्ति न तेषु व्यक्तोच्छ्वासनिश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावो, यथा घटे, न च तथैतेष्वसद्भाव इति, तस्माज्जीवा एवैत इति, अत्रात्मनोऽपि तद्रूपाऽऽपत्त्यात्मोपन्यासत्वं भावनीयमिति। उदाहरणदोषता चास्यात्मोपघातजनकत्वेन प्रकटार्थैवेति न भाव्यते। गतमात्मोपन्यासद्वारम्, अधुना दुरुपनीतद्वारं व्याचिख्यासुराह—

१ तटाको वर्षे वर्षे भृतो भिद्यते, तदा राजा भणति—कः स उपायो भवेत् येनासौ न भिद्यते, तत्रैकः कपिलको मनुष्यो भणति—यदि परं महाराज! अत्र पिङ्गलः कपिलास्तस्य श्मश्रुकेशाः शिरस्तस्य कपिलं स जीवन्नेव यस्मिन् स्थाने भिद्यते तस्मिन् स्थाने निक्षिप्यते ततः परं न भिद्यते, पश्चात् कुमारामात्येन भणितं—महाराज! एष एव ईदृशो यादृशं भणति तादृशो नास्त्यन्यः, पश्चात्स तत्रैव मारयित्वा निक्षिप्तः। एवमीदृशं न भणितव्यं यदात्मवधाय भवति. २ लौकिकधर्मादपि ये प्रभ्रष्टा नराधमास्ते तु। कथं द्रव्यशौचरहिता धर्मस्याराधका भवन्ति ॥ १ ॥ ३ एकेन्द्रियत्वापत्त्या.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणिमिसगिण्हण भिक्खुग दुरुवणीए उदाहरणं ॥ ८३ ॥

व्याख्या–अत्रानिमिषा–मत्स्यास्तद्ग्रहणे भिक्षुरुदाहरणम्, इदं च लौकिकम्, अनेन चोक्तन्यायाल्लोकोत्तरमप्याक्षिप्तं वेदितव्यमिति गाथादलाक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–किल कोइ तच्चणिओ जालवावडकरो मच्छगवहाए चलिओ, धुत्तेण भण्णइ–आयरिय! अघणा ते कंथा, सो भणइ जालमेतमित्यादि श्लोकादवसेयम्—"कन्थाऽऽचार्याघना ते ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यान्?, ते मे मद्योपदंशान् पिबसि ननु? युतो वेश्यया यासि वेश्याम्? । कृत्वाऽरीणां गलेऽङ्घ्री क्व नु तव रिपवो? येषु सन्धिं छिनद्मि, चौरस्त्वं? द्यूतहेतोः कितव इति कथं? येन दासीसुतोऽस्मि ॥ १ ॥ इदं लौकिकं, चरणकरणानुयोगे तु–ईय सासणस्सऽवण्णो जायइ जेणं न तारिसं बूया । वादेवि उवहसिज्जइ निगमणओ जेण तं चेव ॥ १ ॥ उदाहरणदोषता पुनरस्य स्पष्टैवेति । गतं दुरुपनीतद्वारं, मूलद्वाराणां चोदाहरणदोषद्वारमिति, साम्प्रतमुपन्यासद्वारं व्याख्यायते, तत्राह—

चत्तारि उवन्नासे तव्वत्थुग अन्नवत्थुगे चेव । पडिणिभए हेउम्मि य होंति इणमो उदाहरणा ॥ ८४ ॥

व्याख्या–चत्वारः 'उपन्यासे' विचार्ये अधिकृते वा, भेदा भवन्ति इति शेषः, ते चामी–सूचनात् सूत्र-

१ किल कश्चित् बौद्धः जालव्यापृतकरो मत्स्यवधाय चलितः, धूर्तेन भण्यते—आचार्या अघना ते कन्था, स भणति—जालमेतत्. २ इति शासनस्यावर्णो जायते येन न तादृशं ब्रूयात् । वादेऽप्युपहस्यते निगमनतो येन तच्चैव ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

मितिकृत्वा तथाधिकारानुवृत्तेश्च तद्वस्तूपन्यासस्तथा तदन्यवस्तूपन्यासः तथा प्रतिनिभोपन्यासः तथा हेतूपन्यासश्च । तत्रैतेषु भेदेषु भवन्ति 'अमूनि' वक्ष्यमाणान्युदाहरणानीति गाथार्थः ॥ भावार्थस्तु प्रतिभेदं स्वयमेव वक्ष्यति निर्युक्तिकारः । तत्राद्यभेदव्याचिख्यासयाऽऽह—

तव्वत्थुयंमि पुरिसो सव्वं भमिऊण साहइ अपुव्वं ।

अस्या व्याख्या–'तद्वस्तुके' तद्वस्तूपन्यास इत्यर्थः, पुरि शयनात्पुरुषः 'सर्वं भ्रान्त्वा' सर्वमाहिण्ड्य किम्?–कथयति अपूर्वम्, वर्त्तमाननिर्देशः पूर्ववदिति गाथादलार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–एगम्मि देवकुले कप्पडिया मिलिया भणंति–केण भे भमन्तेहिं किंचि अच्छेरियं दिट्ठं?, तत्थ एगो कप्पडिगो भणइ-मए दिट्ठंति, जइ पुण एत्थ समणोवासओ नत्थि तो साहेमि, तओ सेसेहिं भणियं–णत्थित्थ समणोवासओ, पच्छा सो भणइ–मए हिंडंतेणं पुव्ववेतालीए समुद्दस्स तडे रुक्खो महइमहंतो दिट्ठो, तस्सेगा साहा समुद्दे पइट्ठिया, एगा य थले, तत्थ जाणि पत्ताणि जले पडंति ताणि जलचराणि सत्ताणि हवंति, जाणि थले ताणि थलचराणि हवंति, ते कप्पडिया भणंति–अहो अच्छेरयं देवेण भट्टारएण णिम्मियंति, तत्थेगो सावगो

१ एकस्मिन् देवकुले कार्पटिका मिलिता भणन्ति—केनचित् भवतां भ्रमता किञ्चिदाश्चर्यं दृष्टं?, तत्रैकः कार्पटिको भणति—मया दृष्टमिति, यदि पुनरत्र श्रमणोपासको नास्ति तदा कथयामि, ततः शेषैर्भणितं—नास्त्यत्र श्रमणोपासकः, पश्चात्स भणति—मया हिण्डमानेन पूर्ववैतालिकायां समुद्रस्य तटे वृक्षोऽतिपुरुको दृष्टः, तस्यैका शाखा समुद्रे प्रतिष्ठिता एका च स्थले, तत्र यानि पत्राणि जले पतन्ति तानि जलचराः सत्त्वा भवन्ति, यानि स्थले तानि स्थलचरा भवन्ति, ते कार्पटिका भणन्ति—अहो आश्चर्यं देवेन भट्टारकेन निर्मितमिति, तत्रैकः श्रावकः (१) पूर्वकूलं वि. प.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंप्पडिओ, सो भणइ–जाणि अद्धमज्झे पडंति ताणि किं हवंति?, ताहे सो खुड्डो भणइ–मया पुव्वं चेव भणियं–जइ सावओ नत्थि तो कहेमि। एतेणं तं चेव पडणवत्थुमहिकिच्चोदाहरियं। एवं तावल्लौकिकम्, इदं चोक्तन्यायाल्लोकोत्तरस्यापि सूचकं, तत्र चरणकरणानुयोगे यः कश्चिद्विनेयः कञ्चनासङ्गाहं गृहीत्वा न सम्यग्वर्त्तते स खलु तद्वस्तूपन्यासेनैव प्रज्ञापनीयः, यथा कश्चिदाह—"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥" इदं च किलैवमेव युज्यते, प्रवृत्तिमन्तरेण निवृत्तेः फलाभावात्, निर्विषयत्वेनासम्भवाच्च, तस्मात्फलनिबन्धननिवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रवृत्तिरप्यदुष्टैवेति, अत्रोच्यते, इह निवृत्तेर्महाफलत्वं किं दुष्टप्रवृत्तिपरिहारात्मकत्वेनाहोस्विददुष्टप्रवृत्तिपरिहारात्मकत्वेनेति?, यद्याद्यः पक्षः कथं प्रवृत्तेरदुष्टत्वम्, अथापरस्ततो निवृत्तेरप्यदुष्टत्वात् तन्निवृत्तेरपि प्रवृत्तिरूपाया महाफलत्वप्रसङ्गः, तथा च सति पूर्वापरविरोध इति भावना। द्रव्यानुयोगे तु य एवमाह–एकान्तनित्यो जीवः अमूर्त्तत्वादाकाशवदिति, स खलु तदेवामूर्त्तत्वमाश्रित्य तस्योत्क्षेपणादावनित्ये कर्मण्यपि तावद्वक्तव्यः, कर्मामूर्त्तमनित्यं

१ कार्पटिकः स भणति—यानि अर्धमध्ये पतन्ति तानि के भवन्ति?, तदा स क्षुब्धो भणति—मया पूर्वमेव भणितं यदि श्रावको नास्ति ततः कथयामि, एतेन तदेव पतनवस्त्वधिकृत्योदाहृतम्. (१) खत्थो विलक्षः वि. प्र. २ दुष्टत्वाङ्गीकारात्तस्याः, दुष्टपरिहारात्मकत्वात् निवृत्तेः ३ विवक्षितायाः. निवृत्तेर्निवृत्तिः प्रवृत्तिः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

चेत्ययं वृद्धदर्शनेनोदाहरणदोष एव, यथाऽन्येषां[1] साधर्म्यसमा जातिरिति। गतं तद्वस्तूपन्यासद्वारम्, अधुना तदन्यवस्तूपन्यासद्वारमभिधातुकाम आह—

तयअन्नवत्थुगंमिवि अन्नत्ते होइ एगत्तं ॥ ८४ ॥

व्याख्या–तदन्यवस्तुकेऽपि उदाहरणे, किम्?–अन्यत्वे भवत्येकत्वमित्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्–कश्चिदाह इह यस्य वादिनोऽन्यो जीवः अन्यच्च शरीरमिति, तस्यान्यशब्दस्याविशिष्टत्वात्तयोरपि[2] तद्वाच्ययाविशिष्टत्वेनैकत्वप्रसङ्ग इति, तस्य जीवशरीरापेक्षया[3] तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः कर्त्तव्यः, कथम्?, नन्वेवं सति सर्वे भावानां परमाणुद्व्यणुकघटपटादीनामेकत्वप्रसङ्गः, अन्यः परमाणुरन्यो द्विप्रदेशिक इत्यादिना प्रकारेणान्यशब्दस्याविशिष्टत्वात्, तेषां च तद्वाच्यत्वेनाविशिष्टत्वादिति, तस्मादन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमित्येतदेव शोभनमिति। एतद्व्यानुयोगे, अनेन चेतरस्याप्याक्षेपः, तत्र चरणकरणानुयोगे 'न मांसभक्षण' इत्यादावेव कुग्राहे तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः, कथम्?, 'न हिंस्यात् सर्वाणि भूतानी'त्येतदेवं विरुध्यते इति। लौकिकं तु तस्मिन्नेवोदाहरणे तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः–जहा जाणि पुण पाडिऊण पाडिऊण कोइ खाइ वीणेइ वा ताणि किं हवंति त्ति?। गतं तदन्यवस्तूपन्यासद्वारम्, साम्प्रतं प्रतिनिभमभिधित्सुराह—

१ °मतेन. २ नैयायिकानां. ३ वादिनः. ४ जीवशरीरयोः. ५ अन्यशब्दवाच्याभेदेन. ६ यथा यानि पुनः पातयित्वा पातयित्वा कश्चित्खादति (अव) चिनुते वा तानि के भवन्ति?.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुज्झ पिया मह पिउणो धारेइ अणूणयं पडिनिभंमि ।

गाथादलम् । अस्य व्याख्या—तव पिता मम पितुर्धारयत्यनूनं शतसहस्रमित्यादि गम्यते । 'प्रतिनिभ' इति द्वारोपलक्षणम्, अयमक्षरार्थः, भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–एगम्मि नगरे एगो परिव्वायगो सोवण्णएण खोरएण तहिं हिंडइ, सो भणइ–जो मम असुयं सुणावेइ तस्स एयं देमि खोरयं, तत्थ एगो सावओ, तेण भणिअं"तुज्झ पिया मम पिउणो धारेइ अणूणयं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ अह न सुयं खोरयं देहि ॥ १ ॥ इदं लौकिकम्, अनेन च लोकोत्तरमपि सूचितमवगन्तव्यम्, तत्र चरणकरणानुयोगे येषां सर्वथा हिंसायामधर्मः तेषां विध्यनशनविषयोद्रेकचित्तभङ्गादात्महिंसायामपि अधर्म एवेति तदकरणम्। द्रव्यानुयोगे पुनरदुष्टं मद्वचनमिति मन्यमानो यः कश्चिदाह—'अस्ति जीव' इति, अत्र वद किञ्चित्, स वक्तव्यो यद्यस्ति जीवः एवं तर्हि घटादीनामप्यस्तित्वाज्जीवत्वप्रसङ्ग इति । गतं प्रतिनिभम्, अधुना हेतुमाह—

किं नु जवा किज्जंते ? जेण मुहाए न लब्भंति ॥ ८५ ॥

व्याख्या–किं नु यवाः क्रीयन्ते ?, येन मुधा न लभ्यन्त इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्–कोवि गोधो जवे किणाइ,

१ एकस्मिन् नगरे एकः परिव्राजकः सौवर्णेन खोरकेण (तापसभाजनेन) तत्र हिण्डते, स भणति—यो मद्यमश्रुतं श्रावयति तस्मै एतद्दामि खोरकं, तत्रैकः श्रावकः, तेन भणितम्—"तव पिता मम पितुः धारयति अनूनं शतसहस्रम् । यदि श्रुतपूर्वं ददातु अथ न श्रुतं खोरकं देहि ॥ १ ॥ २ कोऽपि व्यवहारी यवान् क्रीणाति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

सो अन्नेण पुच्छिज्जइ–किं जवे किणासि?, सो भणइ–जेण मुहियाए ण लब्भामि। लौकिकमिदं हेतूपन्यासोदाहरणम्, अनेन च लोकोत्तरमप्याक्षिप्तमवगन्तव्यम्, तत् चरणकरणानुयोगे तावत् यद्याह विनेयः–किमितीयं भिक्षाटनाद्याऽतिकष्टा क्रिया क्रियते?, स वक्तव्यो–येन नरकादिषु न कष्टतरा वेदना वेद्यत इति। द्रव्यानुयोगे तु यद्याह कश्चित्–किमित्यात्मा न चक्षुरादिभिरुपलभ्यते?, स वक्तव्यो–येनातीन्द्रिय इति। गतं हेतुद्वारम्, तदभिधानाच्चोपन्यासद्वारम्, तदभिधानाच्चोदाहरणद्वारमिति ॥ ८५ ॥ साम्प्रतं हेतुरुच्यते–तथा चाह—

अहवावि इमो हेऊ विन्नेओ तत्थिमो चउविअप्पो। जावग थावग वंसग लूसग हेऊ चउत्थो उ ॥ ८६ ॥

व्याख्या–अथवा तिष्ठतु एष उपन्यासः, उदाहरणचरमभेदलक्षणो हेतुः, 'अपिः' सम्भावने, किं सम्भावयति?, 'इमो' अयं अन्यद्वार एवोपन्यस्तत्वात्तदुपन्यासनान्तरीयकत्वेन गुणभूतत्वादहेतुरपि, किं तु 'हेऊ विण्णेओ तत्थिमो'त्ति व्यवहितोपन्यासात् तत्रायं–वक्ष्यमाणो हेतुर्विज्ञेयः 'चतुर्विकल्प' इति चतुर्भेदः, विकल्पानुपदर्शयति–यापकः स्थापकः व्यंसकः लूषकः हेतुः चतुर्थस्तु। अन्ये त्वेवं पठन्ति—'हेउत्ति दारमहुणा, चउव्विहो सो उ होइ नायव्वो'त्ति, अत्राप्युक्तमुदाहरणम्, हेतुरित्येतद् द्वारमधुना–तुशब्दस्य पुनःशब्दा-

१ सोऽन्येन पृच्छ्यते–किं यवान् क्रीणासि?, स भणति—येन मुधिकया न लभे. (१) पूर्वोक्ते. (२) पूर्वोक्त० (३) अनन्तरभावित्वात्. (४) प्रस्तुत उदाहरण चरमभेदरूपः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ५७ ॥

थैत्वात् स पुनर्हेतुश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इत्येवं गमनिका क्रियते, पश्चार्द्धं तु पूर्ववदेवेति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थं तु यथावसरं स्वयमेव वक्ष्यति ॥ ८६ ॥ तत्राद्यभेदव्याचिख्यासयाऽऽह—

उब्भामिगा य महिला जावगहेउंमि उंटलिंडाई ।

गाथादलम्। व्याख्या–असती महिला, किम्?–यापयतीति यापकः यापकश्चासौ हेतुश्च यापकहेतुः तस्मिन् उदाहरणमिति शेषः, उष्ट्रलिण्डानीति कथानकसंसूचकमेतदिति अक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदं कथानकम्–एगो वाणियओ भज्जं गिण्हेऊण पचंतं गओ, पाएण खीणदव्वा धणियपरद्धा कयावराहा य। पचंतं सेवंती पुरिसा दुरहीयविज्जा य ॥१॥ सा य महिला उब्भामिया, एगंमि पुरिसे लग्गा, तं वाणिययं सागारियंति चिंतिऊण भणइ–वच्च वाणिज्जेण, तेण भणिया–किं घेत्तूण वच्चामि?, सा भणइ–उट्टलिंडियाओ घेत्तूणं वच्च उज्जेणिं, पच्छा सो सगडं भरेत्ता उज्जेणिं गतो, ताए भणिओ य–जहा एक्केक्कयं दीणारेण दिज्जहत्ति, सा चिंतेइ –वरं खु चिरं खिप्पंतो अच्छउ, तेण ताओ वीहीए उड्डियाओ, कोइ ण पुच्छइ, मूलदेवेण दिट्ठो, पुच्छिओ य,

१ द्रुमपुष्पिका० यापकहेतावुष्ट्रलिण्डिका ॥ ५७ ॥

१ एको वणिक् भार्यां गृहीत्वा प्रस्थन्तं गतः,—प्रायेण क्षीणद्रव्या (धनिकापराद्धाः) धनिकप्रारब्धाः कृतापराधाश्च । प्रस्थन्तं सेवन्ते पुरुषा दुरधीतविद्याश्च॥१॥ सा च महिला उद्भामिका, एकस्मिन् पुरुषे लग्ना, तं वणिजं सागारिकमिति चिन्तयित्वा भणति—व्रज वाणिज्येन, तेन भणिता—किं गृहीत्वा व्रजामि?, सा भणति-उष्ट्रलिण्डिका गृहीत्वा व्रजोज्जयिनीं, पश्चात् स शकटं भृत्वोज्जयिनीं गतः, तया भणितश्च यथैकैकिकां दीनारेण दद्या इति, सा चिन्तयति—वरमेव चिरं (क्षिप्यन्) प्रतीक्षमाणस्तिष्ठतु तेन ता वीथ्यामवतारिता, कोऽपि न पृच्छति, मूलदेवेन दृष्टः, पृष्टश्च,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिट्ठं तेण, मूलदेवेण चिंतियं–जहा एस वराओ महिलाछोभिओ, ताहे मूलदेवेण भण्णति–अहमेयाउ तव विक्किणामि जइ ममवि मुल्लस्स अद्धं देहि, तेण भणियं–देमित्ति, अब्भुवगए पच्छा मूलदेवेणं सो हंसो जाएऊण आगासे उप्पइओ, णगरस्स मज्झे ठाइऊण भणइ–जस्स गलए चेडरूवस्स उट्टलिंडिया न बद्धा तं मारेमि, अहं देवो, पच्छा सव्वेण लोएण भीएण दीणारिक्काओ उट्टलिंडियाओ गहियाओ, विक्कियाओ य, ताहे तेण मूलदेवस्स अद्धं दिन्नं । मूलदेवेण य सो भणइ–मंदभग्ग! तव महिला धुत्ते लग्गा, ताए तव एयं कयं, ण पत्तियति, मूलदेवेण भण्णइ–एहि वच्चामो जा ते दरिसेमि जदि ण पत्तियसि, ताहे गया अन्नाए लेसाए, वियाले ओवासो मग्गिओ, ताए दिण्णो, तत्थ एगंमि पएसे ठिया, सो धुत्तो आगओ, इयरी वि धुत्तेणसह पिबेउमाढत्ता, इमं च गायइ—'हरिमंदिरपण्णहारओ, मह कंतु गतो वणिजारओ । चिरिसाण सयं च जीवउ मा जीवंतु घरं कयाइ एउ ॥ १ ॥ मूलदेवो भणइ—'कयलीवणपत्तवेढिया, पइ भणामि–

१ शिष्टं तेन, मूलदेवेन चिन्तितं—यथैष वराको महिलाक्षोभितः, तदा मूलदेवेन भण्यते—अहमेतास्तव विक्रापयामि, यदि ममापि मूल्यस्यार्द्धं दास्यसि, तेन भणितं—ददामीति, अभ्युपगते पश्चान्मूलदेवेन स हंसो याचयित्वा आकाशे उत्पतितं, नगरस्य मध्ये स्थित्वा भणति—यस्य गलके (ग्रीवायां) चेटरूपस्य उष्ट्रलिण्डिका न बद्धा तं मारयामि, अहं देवः, पश्चात् सर्वेण लोकेन भीतेन दैनारिका उष्ट्रलिण्डिका गृहीताः, विक्रीताश्च, तदा तेन मूलदेवायार्द्धं दत्तं, मूलदेवेन च भण्यते सः–मन्दभाग्य! तव महिला धूर्त्ते लग्ना, तया तवैतत्कृतं, न प्रत्येति, मूलदेवेन भण्यते–एहि व्रजावो यावत्तव दर्शयामि यदि न प्रत्येषि, तदा गतौ अन्यया लेश्यया, विकालेऽवकाशो मार्गितः, तया दत्तः, तत्रैकस्मिन् प्रदेशे स्थितौ, स धूर्तः आगतः, इतरापि धूर्त्तेन सह पातुमारब्धा, एतच्च गायति–लक्ष्मीमन्दिरपण्यधारकः, मम कान्तो गतो वणिज्यारतः । वर्षाणां शतं जीवतु मा जीवन् गृहं कदाचिद् गमद् ॥१॥ मूलदेवो भणति–कदलीवनपत्रवेष्टिते! प्रतिभणामि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

देवं जं मद्दलएण गज्जती, मुणउ तं मुहुत्तमेव ॥ १ ॥ पच्छा मूलदेवेण भण्णति–किं धुत्ते ?, तओ पभाए निग्गंतूणं पुणरवि आगओ, तीय पुरओ ठिओ, सा सहसा संभंता अब्भुट्ठिया, तओ खाणपिबणे वट्टंते तेण वाणिएणं सव्वं तीए गीयपज्जन्तयं संभारियं। एसो लोइओ हेऊ, लोउत्तरेवि चरणकरणाणुयोगे एवं सीसोऽवि केइ पयत्थे असद्दहंतो कालेण विज्जादीहिं देवतं आयंपइत्ता सद्दहावेयव्वो । तहा दव्वाणुओगेवि पडिवाइं नाऊण तहा विसेसणबहुलो हेऊ कायव्वो जहा कालजावणा हवइ, तओ सो णावगच्छइ पगयं, कुत्तियावणचचरी वा कज्जइ, जहा सिरिगुत्तेण छलुए कया । उक्तो यापकहेतुः, साम्प्रतं स्थापकहेतुमधिकृत्याह—

लोगस्स मज्झजाणण थावगहेऊ उदाहरणं ॥ ८७ ॥

अस्य व्याख्या—'लोकस्य' चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य मध्यज्ञानम्, किम् ?, स्थापकहेतावुदाहरणमित्यक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–एगो परिव्वायगो हिंडइ, सो य परूवेइ–खेत्ते दाणाई सफलंतिकट्टु

१ देव (दैवतं) यत् । मार्दलकेन गर्जति मुणतु तन्मुहूर्त्तमेव ॥ १ ॥ पश्चान् मूलदेवेन भण्यते किं धूर्त्ते ?, ततः प्रभाते निर्गत्य पुनरपि आगतः, तस्याः पुरतः स्थितः, सा सहसा सम्भ्रान्ता अभ्युत्थिता, ततः खादनपाने वर्त्तमाने तेन वणिजा सर्वं तस्या गीतपर्यन्तं संस्मारितम् । एष लौकिको हेतुः, लोकोत्तरेऽपि चरणकरणानुयोगे एवं शिष्योऽपि कांश्चित् पदार्थान् अश्रद्दधानः कालेन विद्यादिभिर्देवतामाकम्प्य श्रद्धावान् कर्त्तव्यः । तथा द्रव्यानुयोगेऽपि प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति, ततः स नावगच्छति प्रकृतं, कुत्रिकापणचर्चरी वा क्रियते, यथा श्रीगुप्तेन षडुलूके कृता. २ एकः परिव्राजको हिण्डते, स च प्ररूपयति–क्षेत्रे दानादि सफलमितिकृत्वा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संमखेत्ते कायव्वं, अहं लोअस्स मज्झं जाणामि ण पुण अन्नो, तो लोगो तमाढाति, पुच्छिओ य संतो चउसुवि दिसासु खीलए णिहणिऊण रज्जूए पमाणं काऊण माइट्ठाणिओ भणइ–एयं लोयमज्झंति, तओ लोओ विम्हयं गच्छइ–अहो भट्टारएण जाणियंति, एगो य सावओ, तेण नायं, कहं धुत्तो लोयं पयारेइत्ति ?, तो अहंपि वंचामित्ति कलिऊण भणियं–ण एस लोयमज्झो, भुल्लो तुमंति, तओ सावएण पुणो मवेऊण अण्णो देसो कहिओ, जहेस लोयमज्झोत्ति, लोगो तुट्ठो, अण्णे भणंति–अणेगट्ठाणेसु अन्नं अन्नं मज्झं परूवंतयं दट्ठूण विरोधो चोइओत्ति । एवं सो तेण परिवायगो णिप्पिट्ठपसिणवागरणो कओ । एसो लोइओ थावगहेऊ, लोउत्तरेऽवि चरणकरणाणुयोगे कुस्सुतीसु असंभावणिज्जासग्गाहरओ सीसो एवं चेव पण्णवेयव्वो । दव्वाणुजोगे वि साहुणा तारिसं भाणियव्वं तारिसो य पक्खो गेण्हियव्वो जस्स परो उत्तरं चेव दाउं न तीरइ, पुव्वावरविरुद्धो दोसो य ण हवइ ॥ ८७ ॥ उक्तः स्थापकः, साम्प्रतं व्यंसकमाह—

१ समक्षेत्रे कर्त्तव्यम्, अहं लोकस्य मध्यं जानामि न पुनरन्यः, ततो लोकस्तमाद्रियते, पृष्टश्च सन् चतसृष्वपि दिक्षु कीलकान् निहत्य रज्ज्वा प्रमाणं कृत्वा मातृस्थानिकः (मायिकः) भणति–एतल्लोकमध्यमिति, ततो लोको विस्मयं गच्छति–अहो भट्टारकेण ज्ञातमिति, एकश्च श्रावकः, तेन ज्ञातं–कथं धूर्त्तो लोकं प्रतारयति इति, ततोऽहमपि वञ्चये इति कलयित्वा भणितं–नैतल्लोकमध्यं, भ्रान्तस्त्वमिति, ततः श्रावकेण पुनः मित्वाऽन्यो देशः कथितः–यथैतल्लोकमध्यमिति, लोकस्तुष्टः । अन्ये भणन्ति–अनेकस्थानेषु अन्यदन्यन्मध्यं प्ररूपयन्तं दृष्ट्वा विरोधश्चोदित इति । एवं स तेन परिव्राजको निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणः कृतः । एष लौकिकः स्थापकहेतुः, लोकोत्तरेऽपि चरणकरणानुयोगे कुश्रुतिभिरसम्भावनीयासद्ग्राहरतः शिष्य एवमेव प्रज्ञापयितव्यः, द्रव्यानुयोगेऽपि साधुना तादृग् वक्तव्यं तादृशश्च पक्षो ग्रहीतव्यो यस्य परः उत्तरमेव दातुं न शक्नोति, पूर्वापरविरुद्धो दोषश्च न भवति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा सगडतित्तिरी वंसगंमि हेउम्मि होइ नायव्वा ।

व्याख्या–सा शकटतित्तिरी व्यंसकहेतौ भवति ज्ञातव्येत्यक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–जहा एगो गामेल्लगो सगडं कट्ठाण भरेऊण णगरं गच्छइ, तेण गच्छंतेण अंतरा एगा तित्तिरी मइया दिट्ठा, सो तं गिण्हेऊण सगडस्स उवरिं पक्खिविऊण णगरं पइट्ठो, सो एगेण नगरधुत्तेण पुच्छिओ–कहं सगडतित्तिरी लब्भइ ?, तेण गामेल्लएण भण्णइ–तप्पणादुयालियाए लब्भति, तओ तेण सक्खिण उआहणित्ता सगडं तित्तिरीए सह गहियं, एत्तिलगो चेव किल एस वंसगो त्ति, गुरवो भणंति–तओ सो गामेल्लगो दीणमणसो अच्छइ, तत्थ य एगो मूलदेवसरिसो मणुस्सो आगच्छइ, तेण सो दिट्ठो, तेण पुच्छिओ–किं झियायसि अरे देवाणुप्पिया ?, तेण भणियं–अहमेगेण गोहेण इमेण पगारेण छलिओ, तेण भणियं–मा बीहिह, तप्पणादुयालियं तुमं सोवयारं मग्ग, माइट्ठाणं सिक्खाविओ, एवं भवउत्ति भणिऊण तस्स सगासं गओ,

१ यथैको ग्रामेयकः शकटं काष्ठैर्भृत्वा नगरं गच्छति, तेन गच्छता अन्तरैका तित्तिरिका मृता दृष्टा, स तां गृहीत्वा शकटस्योपरि प्रक्षिप्य नगरं प्रविष्टः, स एकेन नगरधूर्तेन पृष्टः—कथं शकटतित्तिरी लभ्यते ?, तेन ग्रामेयकेण भण्यते, मध्यमानसाक्तुकेन (प्राकृतत्वाद्व्यत्ययः) लभ्यते, ततस्तेन साक्षिण उपाहृत्य शकटं तित्तिरीं सह गृहीतम्, एतावानेव किलैष व्यंसक इति । गुरवो भणन्ति—ततः स ग्रामेयको दीनमनाः तिष्ठति. तत्र चैको मूलदेवसदृशो मनुष्य आगमत्, तेन स दृष्टः, तेन पृष्टः—किं ध्यायसि अरे देवानुप्रिय ?, तेन भणितम्—अहमेकेन व्यवहारिणाऽनेन प्रकारेण छलितः, तेन भणितं—मा भैषीः, मध्यमानसक्तुकं त्वं सोपचारं मार्गय, मातृस्थानं शिक्षितः, एवं भवत्विति भणित्वा तस्य सकाशं गतो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भणियं चणेण–मम जइ सगडं हियं तो मे इयाणिं तप्पणादुयालियं सोवयारं दवावेहि, एवं होउत्ति, घरं णीओ, महिला संदिट्ठा, अलंकियविभूसिया परमेण विणएण एअस्स तप्पणादुयालियं देहि, सा वयणसमं उवट्ठिया, तओ सो सागडिओ भणति–मम अंगुली छिन्ना, इमा चीरेणावेढिया, ण सक्केमि उड्डुयालेउं, तुमं अदुयालिउं देहि, अदुआलिया तेण हत्थेण गहिया, गामं तेण संपट्ठिओ, लोगस्स य कहेइ–जहा मए सतित्तिरीगेण सगडेण गहिया तप्पणादुयालिया, ताहे तेण धुत्तेण सगडं विसज्जियं, तं च पसाएऊण भज्जा णियत्तिया। एस पुण लूसओ चेव कहाणयवसेण भणिओ। एस लोइओ, लोगुत्तरेऽवि चरणकरणाणुयोगे कुस्सुतिभावियस्स तस्स तहा वंसगो पउज्जति जहा संमं पडिवज्जइ। दव्वाणुओगे पुण कुप्पावयणिओ चोइज्जा–जहा जइ जिणपणीए मग्गे अत्थि जीवो अत्थि घडो, अत्थित्तं जीवेऽवि घडेवि, दोसु अविसेसेण

१ भणितं चानेन—मम यदि शकटं हृतं तदा मह्यमिदानीं मथ्यमानसक्तुकं सोपचारं दापय, एवं भवत्विति, गृहं नीतः, महिला संदिष्टा, अलंकृतविभूषिता परमेण विनयेनैतस्मै मथ्यमानसक्तुकं देहि, सा वचनसमुपस्थिता, ततः स शाकटिको भणति—ममाङ्गुली छिन्ना, इयं चीवरेणावेष्टिता, न शक्नोमि मथितुं, त्वं मथयित्वा देहि, मथिका तेन हस्तेन गृहीता, ग्रामं तया समं (ग्राममार्गेण) प्रस्थितः, लोकाय च कथयति—यथा मया सतित्तिरिकेण शकटेन गृहीता सक्तुमथिका, तदा तेन धूर्तेन शकटं विसृष्टं, तं च प्रसाद्य भार्या निर्वर्तिता, एष पुनर्लूषकः एव कथानकवशेन भणितः। एष लौकिकः, लोकोत्तरेऽपि चरणकरणानुयोगे कुश्रुतिभावितस्य तस्य तथा व्यंसकः प्रयुज्यते यथा सम्यक् प्रतिपद्यते। द्रव्यानुयोगे पुनः कुप्रावचनिकः चोदयेत् यथा यदि जिनप्रणीते मार्गेऽस्ति जीवः अस्ति घटः, अस्तित्वं जीवेऽपि घटेऽपि, द्वयोरप्यविशेषेण,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वट्टइत्ति, तेण अत्थित्तसद्दतुल्लत्तणेण जीवघडाणं एगत्तं भवति, अह अत्थिभावाओ वतिरित्तो जीवो, तेण जीवस्स अभावो भवइत्ति। एस किल एद्दहमेत्तो चेव वंसगो, लूसगेण पुण एत्थ इमं उत्तरं भाणितव्वं– जइ जीवघडा अत्थित्ते वट्टंति, तम्हा तेसिमेगत्तं संभावेहि, एवं ते सव्वभावाणं एगत्तं भवति, कहं ?, अत्थि घडो अत्थि पडो अत्थि परमाणू अत्थि दुपएसिए खंधे, एवं सव्वभावेसु अत्थिभावो वट्टइत्तिकाउं किं सव्वभावा एगीभवंतु ?, एत्थ सीसो भणति–कहं पुण एयं जाणियव्वं ? सव्वभावेसु अत्थिभावो वट्टइ, न य ते एगीभवंति, आयरिओ आह–अणेगंताओ एयं सिज्झइ, एत्थ दिट्ठंतो–खइरो वणस्सई वणस्सई पुण खदिरो पलासो वा, एवं जीवोऽवि णियमा अत्थि, अत्थिभावो पुण जीवो व होज्ज अन्नो वा धम्माधम्मागासादीणं ति। उक्तो व्यंसकः, साम्प्रतं लूषकमधिकृत्याह—

तउसगवंसग लूसगहेउम्मि य मोयओ य पुणो ॥ ८८ ॥

---

१ वर्त्तत इति, तेनास्तित्वशब्दतुल्यत्वेन जीवघटयोरेकत्वं भवति, अथास्तिभावाद्व्यतिरिक्तो जीवस्तेन जीवस्याभावो भवतीति। एष किल एतावन्मात्रस्थैव व्यंसकः, लूषकेण पुनरत्रैतदुत्तरं भणितव्यं—यदि (यतो) जीवघटौ अस्तित्वे वर्त्तेते तस्मात्तयोरेकत्वं सम्भावयसि, एवं तव सर्वभावानामेकत्वं भवति, कथम्?, अस्ति घटः अस्ति पटः अस्ति परमाणुः अस्ति द्विप्रदेशिकः स्कन्धः, एवं सर्वभावेष्वस्तिभावो वर्त्तत इतिकृत्वा किं सर्वभावा एकीभवन्तु ? अत्र शिष्यो भणति— कथं पुनरेतत् ज्ञातव्यं सर्वभावेष्वस्तित्वं वर्त्तत, न च ते एकीभवन्ति, आचार्य आह—अनेकान्तादेतत् सिध्यति, अत्र दृष्टान्तः—खदिरो वनस्पतिः वनस्पतिः पुनः खदिरः पलाशो वा, एवं जीवोऽपि नियमादस्ति, अस्तिभावः पुनर्जीवो वा भवेदन्यतमो वा धर्माधर्माकाशादीनामिति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–त्रपुषव्यंसकप्रयोगे पुनर्लूषके हेतौ च मोदको निदर्शनमिति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–जहा एगो मणुस्सो तउसाणं भरिएण सगडेण नयरं पविसइ, सो पविसंतो धुत्तेण भण्णइ–जो एयं तउसाण सगडं खाइज्जा तस्स तुमं किं देसि?, ताहे सगडत्तेण सो धुत्तो भणिओ–तस्साहं तं मोयगं देमि जो नगरदारेण ण णिप्फडइ, धुत्तेण भण्णति–तोऽहं एयं तउससगडं खयामि, तुमं पुण तं मोयगं देज्जासि जो नगरदारेण ण नीसरति, पच्छा सागडिएण अब्भुवगए धुत्तेण सक्खिणो कया, सगडं अहिट्ठित्ता तेसिं तउसाणं एक्केक्कयं खंडं अवणित्ता पच्छा तं सागडियं मोदकं मग्गति, ताहे सागडिओ भणति–इमे तउसा ण खाइया तुमे, धुत्तेण भण्णति–जइ न खाइया तउसा अग्घवेह तुमं, तओ अग्घविएसु कइया आगया, पासंति खंडिया तउसा, ताहे कइया भणंति–को एए खइए तउसे किणइ?, तओ करणे ववहारो जाओ खइयत्ति, जिओ सागडिओ। एस वंसगो चेव लूसगनिमित्तमुवण्णत्थो, ताहे धुत्तेण मोदगं मग्गि-

१ यथैको मनुष्यः त्रपुषां भृतेन शकटेन नगरं प्रविशति, स प्रविशन् धूर्तेन भण्यते—य एतत् त्रपुषां शकटं खादेत् तस्मै त्वं किं ददासि? तदा शाकटिकेन स धूर्तो भणितः—तस्मायहं तं मोदकं ददामि यो नगरद्वारेण न निस्सरति, धूर्तेन भण्यते—तदाहमेतत्त्रपुषां शकटं खादामि, त्वं पुनस्तं मोदकं दद्याः यो नगरद्वारेण न निस्सरति, पश्चात् शाकटिकेनाभ्युपगते धूर्तेन साक्षिणः कृताः, शकटमधिष्ठाय तेषां त्रपुषामेकैकं खण्डमपनीय पश्चात्तं शाकटिकं मोदकं मार्गयति. तदा शाकटिको भणति—इमानि त्रपूंषि न खादितानि त्वया, धूर्तेन भण्यते—यदा न खादितानि तदा त्रपूंषित्वं अर्घय, ततोऽर्घितेषु कयिका आगताः अपश्यन् खण्डितानि त्रपूंषि, तदा कयिका भणन्ति—क एतानि खादितानि त्रपूंषि क्रीणाति, ततः करणे व्यवहारो जातः खादितानीति, जितः शाकटिकः, एष व्यंसकश्चैव लूषकनिमित्तमुपन्यस्तः। तदा धूर्तेन मोदको मार्ग्यते.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जति, अचांइओ सागडिओ, जूतिकरा ओलग्गिया, ते तुट्ठा पुच्छंति, तेसिं जहावत्तं सव्वं कहेति, एवं कहिते तेहिं उत्तरं सिक्खाविओ–जहा तुमं खुड्डयं मोदगं णगरदारे ठवित्ता भण एस स मोदगो ण णीसरइ णगरदारेण, गिण्हाहि, जिओ धुत्तो। एस लोइओ, लोगुत्तरेवि चरणकरणाणुयोगे कुस्सुतिभावितस्स तहा लूसगो पउंजइ–जहा सम्मं पडिवज्जइ। दव्वाणुजोगे पुण पुज्जा भणंति–पुव्वं दरिसिओ चेव। अण्णे पुण भणंति–पुव्वं सयमेव सव्वभिचारं हेउं उच्चारेऊण परविसंभणानिमित्तं सहसा वा भणितो होज्जा, पच्छा तमेव हेउं अण्णेणं निरुत्तवयणेणं ठावेइ। उक्तो लूषकस्तदभिधानाच्च हेतुरपि। साम्प्रतं यदुक्तं 'क्वचित्पञ्चावयव'मिति, तदधिकृतमेव सूत्रं 'धम्मो मंगल'मित्यादिलक्षणमधिकृत्य निदर्श्यते–अहिंसासंयमतपोरूपो धर्मः मङ्गलमुत्कृष्टमिति प्रतिज्ञा, इह च धर्म इति धर्मिनिर्देशः, अहिंसासंयमतपोरूप इति धर्मिविशेषणम्, उत्कृष्टं मङ्गलमिति साध्यो धर्मः, धर्मिधर्मसमुदायः प्रतिज्ञा, इयं श्लोकार्द्धेनोक्ता इति, देवादिपूजितत्वादिति हेतुः, आदिशब्दात् सिद्धविद्याधरनरपरिग्रहः, अयं च श्लोकतृतीयपादेन खलूक्तोऽवसेयः, अर्हदादिवदिति दृष्टान्तः,

---

१ व्यथितः शाकटिको, द्यूतकरा अवलगिताः, ते तुष्टाः पृच्छन्ति, तेभ्यो यथावृत्तं सर्वं कथयति, एवं कथिते तैरुत्तरं शिक्षितं यथा त्वं क्षुल्लकं मोदकं नगरद्वारे स्थापयित्वा भण—एष स मोदको न निस्सरति नगरद्वारेण, गृहाण, जितो धूर्तः। एष लौकिकः, लोकोत्तरेऽपि चरणकरणानुयोगे कुश्रुतिभाविताय तथा लूषकः प्रयोक्तव्यो यथा सम्यक् प्रतिपद्यते। द्रव्यानुयोगे पुनः पूज्या भणन्ति—पूर्वं दर्शित एव। अन्ये पुनर्भणन्ति—पूर्वं स्वयमेव सव्यभिचारं हेतुमुच्चार्य परविश्रम्भहेतवे सहसा वा भणितो भवेत् पश्चात् तमेव हेतुमन्येन निरुक्तवचनेन स्थापयति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्रापि चादिशब्दाद् गणधरादिपरिग्रहः, अयं च श्लोकचरमपादेनोक्तो वेदितव्य इति । न च भावमङ्गलेऽधिकृत्यार्हद्दृष्टान्तेऽस्ति कश्चिद्विरोध इति, इह यो यो देवादिपूजितः स स उत्कृष्टं मङ्गलं यथाऽर्हदादयस्तथा च देवादिपूजितो धर्म इत्युपनयः, तस्माद्देवादिपूजितत्वादुत्कृष्टं मङ्गलमिति निगमनम् । इदं चाध्ययनद्वयं सूत्रोक्तावयवत्रयाविनाभूतमितिकृत्वा तेन सूचितमवगन्तव्यमित्यलं विस्तरेण ॥ ८८ ॥ साम्प्रतमेतानेवावयवान् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रतिपादयन्नाह—

धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममंगल पइन्ना । देवावि लोगपुज्जा पणमंति सुधम्ममिइ हेऊ ॥ ८९ ॥

व्याख्या—'धर्मः' प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स च क इत्याह–गुणा अहिंसादयः, आदिशब्दात् संयमतपःपरिग्रहः, तुरेवकारार्थः, अहिंसादय एव, ते परममङ्गलमिति प्रतिज्ञा, तथा देवा अपि, अपिशब्दात् सिद्धविद्याधरनरपतिपरिग्रहः, 'लोकपूज्या' लोकपूजनीयाः 'प्रणमंति' नमस्कुर्वन्ति, कम् ?—'सुधर्माणं' शोभनधर्मव्यवस्थितमिति, अयं हेत्वर्थसूचकत्वाद्धेतुरिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥

दिट्ठंतो अरहंता अणगारा य बहवो उ जिणसीसा । वत्तणुवत्ते नजइ जं नरवइणोऽवि पणमंति ॥ ९० ॥

व्याख्या—'दृष्टान्तः' प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स चाशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तथा अनगाराश्च बहव एव जिनशिष्या इति, न गच्छन्तीत्यगा–वृक्षास्तैः कृतमगारं–गृहं तत्रैषां वित्थत इति

१ द्रव्यमनःसत्त्वात् पूर्वावस्थामाश्रित्य वा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्शआदेराकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः अगारा–गृहस्थाः न अगारा–अनगाराः, चशब्दः समुच्चयार्थः, तुरेवकारार्थः, ततश्च बहव एव नाल्पाः, रागादिजेतृत्वाज्जिनास्तच्छिष्याः–तद्विनेया गौतमादयः, आह–अर्हदादीनां परोक्षत्वात् दृष्टान्तत्वमेवायुक्तम्, कथं चैतद्विनिश्चीयते ? यथा ते देवादिपूजिता इति, उच्यते, यत्तावदुक्तं 'परोक्षत्वा'दिति, तदुष्टम्, सूत्रस्य त्रिकालगोचरत्वात् कदाचित्प्रत्यक्षत्वात्, देवादिपूजिता इति च एतद्विनिश्चयायाह–वृत्तम्–अतिक्रान्तम् अनुवर्त्तमानेन–साम्प्रतकालभाविना ज्ञायते, कथमित्यत आह—'यद्' यस्माद् नरपतयोऽपि–राजानोऽपि प्रणमन्ति, इदानीमपि भावसाधुं, ज्ञानादिगुणयुक्तमिति गम्यते। अनेन गुणानां पूज्यत्वमावेदितं भवतीति गाथार्थः ॥ ९० ॥

उवसंहारो देवा जह तह रायावि पणमइ सुधम्मं । तम्हा धम्मो मंगलमुक्किट्ठमिइ अ निगमणं ॥ ९१ ॥

व्याख्या—'उपसंहारः' उपनयः, स चायम्–देवा यथा तीर्थकरादीन् तथा राजाऽप्यन्योऽपि जनः प्रणमतीदानीमपि सुधर्माणमिति। यस्मादेवं तस्मादेवादिपूजितत्वाद् धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति च निगमनम्। 'प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमन'मिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ उक्तं पञ्चावयवम्, एतदभिधानाच्चार्थाधिकारोऽपि धर्मप्रशंसा। साम्प्रतं दशावयवं तथा स चैहैव जिनशासन इत्यधिकारं चोपदर्शयति–इह च दशावयवाः–प्रतिज्ञादय एव प्रतिज्ञादिशुद्धिसहिता भवन्ति। अवयवत्वं च तच्छुद्धीनामधिकृतवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीनामिव भावनीयमिति, अत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रत्वात् प्रारम्भस्येति ॥ साम्प्रतमधिकृतदशावयवप्रतिपादनायाह—

बिइयपइन्ना जिणसासणंमि साहेंति साहवो धम्मं । हेऊ जम्हा सब्भाविएसुऽहिंसाइसु जयंति ॥ ९२ ॥

व्याख्या–द्वितीया पञ्चावयवोपन्यस्तप्रथमप्रतिज्ञापेक्षया, प्रतिज्ञा पूर्ववत्, द्वितीया चासौ प्रतिज्ञा च द्वितीयप्रतिज्ञा, सा चेयम्—'जिनशासने' जिनप्रवचने, किम्?—'साधयन्ति' निष्पादयन्ति 'साधवः' प्रव्रजिताः 'धर्मं' प्राग्निरूपितशब्दार्थम् । इह च साधव इति धर्म्मिनिर्देशः, शेषस्तु साध्यधर्म इति, अयं प्रतिज्ञानिर्देशः । हेतुनिर्देशमाह–हेतुर्यस्मात् 'सद्भाविकेषु' पारमार्थिकेषु निरुपचरितेष्वर्थेष्वित्यर्थः अहिंसादिषु, आदिशब्दान्मृषावादादिविरतिपरिग्रहः, अन्ये तु व्याचक्षते—'सब्भाविएहिं'ति सद्भावेन निरुपचरितसकलदुःखक्षयायैवेत्यर्थः 'यतन्ते' प्रयत्नं कुर्वन्ति इति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ साम्प्रतं प्रतिज्ञाशुद्धिमभिधातुकाम आह—

जह जिणसासणनिरया धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं । न कुतित्थिएसु एवं दीसइ परिवालणोवाओ ॥ ९३ ॥

व्याख्या—'यथा' येन प्रकारेण जिनशासननिरता–निश्चयेन रता 'धर्मं' प्राग्निरूपितशब्दार्थं 'पालयन्ति' रक्षन्ति 'साधवः' प्रव्रजिताः षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारितादिपरिवर्जनेन च 'शुद्धम्' अकलङ्कं, नैवं तत्रान्तरीयाः, यस्मान्न कुतीर्थिकेषु, 'एवं' यथा साधुषु दृश्यते परिपालनोपायः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाद्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावात् । उपायग्रहणं च साभिप्रायकम्, शास्त्रोक्तः खलूपायोऽत्र चिन्त्यते, न पुरुषानुष्ठानं, कापुरुषा हि वितथकारिणोऽपि भवन्त्येवेति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ अत्राह—

तेसुवि य धम्मसद्दो धम्मं निययं च ते पसंसंति । नणु भणिओ सावज्जो कुतित्थिधम्मो जिणवरेहिं ॥ ९४ ॥

व्याख्या—'तेष्वपि च' तन्त्रान्तरीयधर्मेषु, किम् ?—धर्मशब्दो लोके रूढः, तथा धर्मं 'निजं च' आत्मीयमेव यथातथं ते 'प्रशंसन्ति' स्तुवन्ति, ततश्च कथमेतदिति, अत्रोच्यते, 'नन्वि'त्यक्षमायां 'भणित' उक्तः पूर्वं 'सावद्यः' सपापः 'कुतीर्थिकधर्मः' चरकादिधर्मः । कैः ?—'जिनवरैः' तीर्थकरैः "ण जिणेहिं उ पसत्थो" इति वचनात्, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाद्यभावादेवेति, अत्रापि बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ तथा—

जो तेसु धम्मसद्दो सो उवयारेण निच्छएण इहं । जह सीहसद्दु सीहे पाहण्णुवयारओऽण्णत्थ ॥ ९५ ॥

व्याख्या–यः 'तेषु' तन्त्रान्तरीयधर्मेषु धर्मशब्दः स 'उपचारेण' अपरमार्थेन, निश्चयेन 'अत्र' जिनशासने, कथम् ?–यथा सिंहशब्दः सिंहे व्यवस्थितः प्राधान्येन, 'उपचारतः' उपचारेण 'अन्यत्र' माणवकादौ, यथा सिंहो माणवकः, उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्यादयः धर्मे त्वहिंसाद्यभिधानादय इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

एस पइन्नासुद्धी हेऊ अहिंसाइएसु पंचसुवि । सब्भावेण जयंती हेउविसुद्धी इमा तत्थ ॥ १ ॥ (भाष्यम्) ॥

व्याख्या—'एषा' उक्तस्वरूपा प्रतिज्ञायाः शुद्धिः प्रतिज्ञाशुद्धिः, हेतुरहिंसादिषु पञ्चस्वपि सद्भावेन यतन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति, अयं च प्राग् व्याख्यात एव, शुद्धिमभिधातुकामेन च भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति, अत एवाह–हेतोर्विशुद्धिहेंतुविशुद्धिः, विषयविभाषाव्यवस्थापनं विशुद्धिः, 'इमा' इयं 'तत्र' प्रयोग इति गाथार्थः ॥

जं भत्तपाणउवगरणवसहिसयणासणाइसु जयंति । फासुयअकयअकारियअणणुमयाणुद्दिट्ठभोई य ॥ २ ॥ (भाष्यम्) ॥

व्याख्या—'यद्' यस्मात्, भक्तं च पानं चोपकरणं च वसतिश्च शयनासनादयश्चेति समासस्तेषु, किम्?—'यतन्ते' प्रयत्नं कुर्वन्ति, कथमेतदेवमित्यत्राह–यस्मात् प्रासुकं चाकृतं चाकारितं चाननुमतं चानुद्दिष्टं च तद्भोक्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः, तत्रासवः–प्राणाः प्रगता असवः–प्राणा यस्मादिति प्रासुकं–निर्जीवम्, तच्च स्वकृतमपि भवत्यत आह–अकृतम्, तदपि कारितमपि भवत्यत आह–अकारितम्, तदप्यनुमतमपि भवत्यत आह–अननुमतम्, तदप्युद्दिष्टमपि भवति यावदर्थिकादि न च तदिष्यत इत्यत आह–अनुद्दिष्टमिति । एतत्परिज्ञानोपायश्चोपन्यस्तसकलप्रदानादिलक्षणसूत्रादवगन्तव्य इति गाथार्थः ॥ तदन्ये पुनः किमित्यत आह—

अफासुयकयकारियअणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि । तसथावराहिंसाए जणा अकुसला उ लिप्पंति ॥ ३ ॥ (भाष्यम्) ॥

व्याख्या–अप्रासुककृतकारितानुमोदितोद्दिष्टभोजिनश्चरकादयः, हन्दीत्युपप्रदर्शने, किमुपप्रदर्शयति?–त्रसन्तीति त्रसाः–द्वीन्द्रियादयः तिष्ठन्तीति स्थावराः–पृथिव्यादयः तेषां हिंसा–प्राणव्यपरोपणलक्षणा तया 'जनाः' प्राणिनः 'अकुशला': अनिपुणाः स्थूलमतयश्चरकादयो 'लिप्यन्ते' सम्बध्यन्त इत्यर्थः, इह च हिंसाकि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

याजनितेन कर्मणा लिप्यन्त इति भावनीयम्, कारणे कार्योपचारात्, ततश्च ते शुद्धधर्मसाधका न भवन्ति, साधव एव भवन्तीति गाथार्थः ॥

एसा हेउविसुद्धी दिट्ठंतो तस्स चेव य विसुद्धी । सुत्ते भणिया उ फुडा सुत्तफासे उ इयमन्ना ॥ ४ ॥ (भाष्यम्) ॥

व्याख्या—'एषा' अनन्तरोक्ता 'हेतुविशुद्धिः' प्राग्निरूपितशब्दार्था, अधुना 'दृष्टान्तः' प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तथा 'तस्यैव च' दृष्टान्तस्य विशुद्धिः, किम् ?–सूत्रे भणिता, उक्तैव 'स्फुटा' स्पष्टा ॥ तच्चेदं सूत्रम्—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं । ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

अस्य व्याख्या–अत्राह–अथ कस्माद्दशावयवनिरूपणायां प्रतिज्ञादीन् विहाय सूत्रकृता दृष्टान्त एवोक्त इति ?, उच्यते, दृष्टान्तादेव हेतुप्रतिज्ञे अभ्यूह्ये इति न्यायप्रदर्शनार्थम्, कृतं प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमः । तत्र 'यथा' येन प्रकारेण 'द्रुमस्य' प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य 'पुष्पेषु' प्राग्निरूपितशब्दार्थेष्वेव, असमस्तपदाभिधानमनुमेये (उपमेये) गृहिद्रुमाणामाहारादिपुष्पाण्यधिकृत्य विशिष्टसंबन्धप्रतिपादनार्थमिति, तथा च अन्यायोपार्जितवित्तदानेऽपि ग्रहणं प्रतिषिद्धमेव, 'भ्रमरः' चतुरिन्द्रियविशेषः, किम् ?—'आपिबति' मर्यादया पिबत्यापिबति, कम् ?–रस्यत इति रसस्तं–निर्यासं मकरन्दमित्यर्थः, एष दृष्टान्तः, अयं च तद्देशोदाहरणमधिकृत्य वेदितव्य इति, एतच्च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तौ दर्शयिष्यति, उक्तं च 'सूत्रस्पर्शे स्वियमन्ये'ति । अधुना दृष्टा-

१ उदाहरणभेदचतुष्के प्रथमभेदगतं, स्थापितं च प्राक् एतत् २ भाष्यगतचतुर्थगाथायाम्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्तविशुद्धिमाह—'न च' नैव 'पुष्पं' प्राग्निरूपितस्वरूपं 'क्लामयति' पीडयति, 'स च' भ्रमरः 'प्रीणाति' तर्पयत्यात्मानमिति सूत्रसमुदायार्थः ॥ अवयवार्थं तु निर्युक्तिकारो महता प्रपञ्चेन व्याख्यास्यति । तथा चाह—

जह भमरोत्ति य एत्थं दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे । चंदमुहि दारिगेयं सोमत्तवहारण ण सेसं ॥ ९६ ॥

व्याख्या–यथा भ्रमर इति च 'अत्र' प्रमाणे दृष्टान्तो भवत्युदाहरणदेशमधिकृत्य, यथा चन्द्रमुखी दारिकेयमित्यत्र सौम्यत्वावधारणं गृह्यते, न शेषं–कलङ्काङ्कितत्वानवस्थितत्वादीति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

एवं भमराहरणे अणिययवित्तित्तणं न सेसाणं । गहणं दिट्ठंतविसुद्धि सुत्त भणिया इमा चऽन्ना ॥ ९७ ॥

व्याख्या–एवं भ्रमरोदाहरणे अनियतवृत्तित्त्वं, गृह्यत इति शेषः, न 'शेषाणाम्' अविरत्यादीनां भ्रमरधर्माणां ग्रहणं, दृष्टान्त इति। एषा दृष्टान्तविशुद्धिः सूत्रे भणिता, इयं चान्या सूत्रस्पर्शनिर्युक्ताविति गाथार्थः॥९७॥

एत्थ य भणिज्ज कोई समणाणं कीरए सुविहियाणं । पागोवजीविणो त्ति य लिप्पंतारंभदोसेणं ॥ ९८ ॥

व्याख्या–अत्र चैवं व्यवस्थिते सति ब्रूयात्कश्चिद्यथा–श्रमणानां क्रियते सुविहितानामिति, एतदुक्तं भवति–यदिदं पाकनिर्वर्तनं गृहिभिः क्रियते, इदं पुण्योपादानसंकल्पेन श्रमणानां क्रियते 'सुविहितानां'मिति तपस्विनां, गृह्णन्ति च ते ततो भिक्षामित्यतः पाकोपजीविन इतिकृत्वा लिप्यन्ते आरम्भदोषेण–आहारकरणक्रियाफलेनेत्यर्थः, तथा च लौकिका अप्याहुः—'क्रयेण क्रायको हन्ति, उपभोगेन खादकः । घातको वधचित्तेन, इत्येष त्रिविधो वधः ॥ १ ॥' इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ साम्प्रतमेतत्परिहरणाय गुरुराह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासइ न तणस्स कए न तणं वड्ढइ कए मयकुलाणं । न य रुक्खा सयसाला फुल्लन्ति कए महुयराणं ॥ ९९ ॥

व्याख्या–वर्षति न तृणस्य कृते, न तृणार्थमित्यर्थः, तथा न तृणं वर्धते कृते मृगकुलानाम्–अर्थाय तथा नच वृक्षाः शतशाखाः पुष्प्यन्ति 'कृते' अर्थाय मधुकराणाम्, एवं गृहिणोऽपि न साध्वर्थं पाकं निर्वर्तयन्ती-त्यभिप्राय इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ अत्र पुनरप्याह—

अग्गिम्मि हवी हूयइ आइच्चो तेण पीणिओ संतो । वरिसइ पयाहियाए तेणोसहिओ परोहंति ॥ १०० ॥

व्याख्या–इह यदुक्तं 'वर्षति न तृणार्थ'मित्यादि, तदसाधु, यस्मादग्नौ हविर्हूयते, आदित्यः 'तेन' हविषा घृतेन प्रीणितः सन् वर्षति, किमर्थम्?—'प्रजाहितार्थं' लोकहिताय, 'तेन' वर्षितेन, किम्?, औषध्यः 'प्ररोहन्ति' उद्ग-च्छन्ति, तथा चोक्तम्—"अग्नावाज्याहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ १०० ॥ अधुनैतत्परिहारायेदमाह—

किं दुब्भिक्खं जायइ? जइ एवं अह भवे दुरिट्ठं तु । किं जायइ सव्वत्था दुब्भिक्खं अह भवे इंदो? ॥१०१॥

वासइ तो किं विग्घं निग्घायाईहिं जायए तस्स । अह वासइ उउसमए न वासई तो तणट्ठाए ॥ १०२ ॥

व्याख्या–किं दुर्भिक्षं जायते यद्येवम्?, कोऽभिप्रायः?–तद्विदः सदा हूयत एव, ततश्च कारणाविच्छेदे न कार्यविच्छेदो युक्त इति, अथ भवेद् 'दुरिष्टं तु' दुर्नक्षत्रं दुर्यजनं वा, अत्राप्युत्तरम्–किं जायते सर्वत्र दु-

१ वर्षातृणानि तस्य प्रतिषेधे इत्येतच्च भाष्यकृता प्राक् प्रपञ्चितमेवेति वचनात् प्रतीयते यदुतैता एकोनविंशतिर्भाष्यगाथाः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षं ?, नक्षत्रस्य दुरिष्टस्य वा नियतदेशविषयत्वात्, सदैव सत्यज्वनां भावात्, उक्तं च—"सदैव देवाः सद्भावो, ब्राह्मणाश्च क्रियापराः। यतयः साधवश्चैव, विद्यन्ते स्थितिहेतवः ॥ १ ॥" इत्यादि, अथ भवेदिन्द्र इति, किम्?, वर्षति, ततः किं 'विघ्नः' अन्तरायो निर्घातादिभिर्जायते?, आदिशब्दाद्दिग्दाहादिपरिग्रहः, 'तस्य' इन्द्रस्य, परमैश्वर्ययुक्तत्वेन विघ्नानुपपत्तेरिति भावना, अथ वर्षति ऋतुसमये गर्भसङ्गात इति वाक्यशेषः, न वर्षति ततस्तृणार्थं, तस्येत्थम्भूतस्याभिसन्धेरभावादिति गाथाद्वयार्थः ॥ १०१–१०२ ॥ किं च—

किं च दुमा पुप्फंति भमराणं कारणा अहासमयं । मा भमरमहुयरिगणा किलामएज्जा अणाहारा ॥ १०३ ॥

व्याख्या–किं च द्रुमाः पुष्प्यन्ति भ्रमराणां 'कारणात्' कारणेन 'यथासमयं' यथाकालं मा भ्रमरमधुकरीगणाः 'क्लामन्' (क्लामिषुः) ग्लानिं प्रतिपद्येरन्, 'अनाहारा' अविद्यमानाहाराः सन्तः, काका नैवैतादित्थमिति गाथार्थः ॥ १०३ ॥ साम्प्रतं पराभिप्रायमाह—

कस्सइ बुद्धी एसा वित्ती उवकप्पिया पयावइणा । सत्ताणं तेण दुमा पुप्फंति महुयरिगणट्ठा ॥ १०४ ॥

व्याख्या—अथ 'कस्यचिद्बुद्धिः' कस्यचिदभिप्रायः स्याद्यदुत–एषा वृत्तिरुपकल्पिता, केन ?–प्रजापतिना, केषाम् ?—'सत्त्वानां' प्राणिनां तेन कारणेन द्रुमाः पुष्प्यन्ति मधुकरीगणार्थमेवेति गाथार्थः॥१०४॥अत्रोत्तरमाह—

तं न भवइ जेण दुमा नामागोयस्स पुव्वविहियस्स । उदएणं पुप्फफलं निवत्तयंती इमं चऽन्नं ॥ १०५ ॥

व्याख्या–यदुक्तं परेण तन्न भवति, कुत इत्याह–येन द्रुमा नामगोत्रस्य कर्मणः 'पूर्वविहितस्य' जन्मा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [२]

न्तरोपात्तस्य 'उदयेन' विपाकानुभवलक्षणेन पुष्पफलं 'निर्वर्त्तयन्ति' कुर्वन्ति, अन्यथा सदैव तद्भावप्रसङ्ग इति भावनीयम्। इदं चान्यत्कारणं, वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ १०५ ॥

अत्थि बहू वणसंडा भमरा जत्थ न उवेंति न वसंति। तत्थऽवि पुप्फंति दुमा पगई एसा दुमगणाणं ॥ १०६ ॥

व्याख्या–सन्ति बहूनि वनखण्डानि तेषु तेषु स्थानेषु, भ्रमरा यत्र नोपयान्ति अन्यतः, न वसन्ति तेष्वेव, तथापि पुष्प्यन्ति द्रुमाः, अतः 'प्रकृतिरेषा' स्वभाव एष द्रुमगणानामिति गाथार्थः ॥ १०६ ॥ अत्राह—

जइ पगई कीस पुणो सव्वं कालं न देंति पुप्फफलं। जं काले पुप्फफलं दयंति गुरुराह अत एव ॥ १०७ ॥

पगई एस दुमाणं जं उउसमयम्मि आगए संते। पुप्फंति पायवगणा फलं च कालेण बंधंति ॥ १०८ ॥

व्याख्या–यदि प्रकृतिः किमिति पुनः सर्वकालं 'न ददति' न प्रयच्छन्ति, किम्?–पुष्पफलम्?, एवमाशङ्क्याह–यद्–यस्मात्काले नियत एव पुष्पफलं ददति, गुरुराह–अत एव–अस्मादेव हेतोः ॥ प्रकृतिरेषा द्रुमाणां यद् 'ऋतुसमये' वसन्तादावागते सति पुष्प्यन्ति 'पादपगणा' वृक्षसङ्घाताः तथा फलं च कालेन बध्नन्ति, तदर्थानभ्युपगमे तु नित्यप्रसङ्ग इति गाथाद्वयार्थः ॥ १०७–१०८ ॥ साम्प्रतं प्रकृतेऽप्युक्तार्थयोजनां कुर्वन्नाह—

किं नु गिही रंधंती समणाणं कारणा अहासमयं। मा समणा भगवंतो किलामएज्जा अणाहारा ॥ १०९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–किं नु गृहिणो 'राध्यन्ति' पाकं निर्वर्तयन्ति श्रमणानां कारणेन यथाकालं?, 'मा श्रमणा भगवन्तः क्षामन्ननाहारा' इति पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ १०९ ॥ न चैतदित्थमित्यभिप्रायः ॥ अत्राह—

समणऽणुकंपनिमित्तं पुण्णनिमित्तं च गिहनिवासी उ । कोइ भणिज्जा पागं करेंति सो भण्णइ न जम्हा ॥ ११० ॥
कंतारे दुब्भिक्खे आयंके वा महइ समुप्पन्ने । रत्तिं समणसुविहिया सव्वाहारं न भुंजंति ॥ १११ ॥
अह कीस पुण गिहत्था रत्तिं आयरतरेण रंधंति । समणेहिं सुविहिएहिं चउव्विहाहारविरएहिं ? ॥ ११२ ॥

व्याख्या–श्रमणेभ्योऽनुकम्पा श्रमणानुकम्पा तन्निमित्तम्, न ह्येते हिरण्यग्रहणादिना अस्माकमनुकम्पां कुर्वन्तीति मत्वा भिक्षादानार्थं पाकं निर्वर्तयन्त्यतः श्रमणानुकम्पानिमित्तं, तथा सामान्येन पुण्यनिमित्तं च गृहनिवासिन एव कश्चिद् ब्रूयात्पाकं कुर्वन्ति, स भण्यते–नैतदेवम्, कुतः?–यस्मात् 'कान्तारे' अरण्यादौ 'दुर्भिक्षे' अन्नाकाले 'आतङ्के वा' ज्वरादौ महति समुत्पन्ने सति रात्रौ श्रमणाः 'सुविहिताः' शोभनानुष्ठानाः, किम् ?—'सर्वाहारम्' ओदनादि न भुञ्जते ॥ अथ किमिति पुनर्गृहस्थाः तत्रापि रात्रौ 'आदरतरेण' अत्यादरेण राध्यन्ति, श्रमणैः सुविहितैश्चतुर्विधाहारविरतैः सद्भिरिति गाथात्रयार्थः ॥ ११०–१११–११२ ॥ किंच—

अत्थि बहुगामनगरा समणा जत्थ न उवेंति न वसंति । तत्थवि रंधंति गिही पगई एसा गिहत्थाणं ॥ ११३ ॥

१ प्राकृतवाक्यप्रतिरूपकमिति, तत्र च सप्तम्यर्थे तृतीया, हेतुत्वापेक्षया वा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [२]

व्याख्या–सन्ति बहूनि ग्रामनगराणि तेषु तेषु देशेषु 'श्रमणाः' साधवो यत्र नोपयान्ति अन्यतो, न वसन्ति तत्रैव, अथ च तत्रापि राध्यन्ति गृहिणः, अतः प्रकृतिरेषा गृहस्थानामिति गाथार्थः ॥ ११३ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

पगई एस गिहीणं जं गिहिणो गामनगरनिगमेसुं । रंधंति अप्पणो परियणस्स कालेण अट्ठाए ॥ ११४ ॥

व्याख्या–प्रकृतिरेषा गृहिणां वर्त्तते यद्गृहिणो ग्रामनगरनिगमेषु, निगमः–स्थानविशेषः, राध्यन्ति आत्मनः परिजनस्य 'अर्थाय' निमित्तं कालेनेति योग इति गाथार्थः ॥ ११४ ॥

सत्थ समणा तवस्सी परकडपरनिट्ठियं विगयधूमं । आहारं एसंति जोगाणं साहणट्ठाए ॥ ११५ ॥

व्याख्या–तत्र श्रमणाः 'तपस्विन' इति उद्यतविहारिणो नेतरे, परकृतपरनिष्ठितमिति, कोऽर्थः?–परार्थं कृतम्–आरब्धं परार्थं च निष्ठितम्–अन्तं गतं, विगतधूमम्–धूमरहितम्, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति न्यायाद्विगताङ्गारं च रागद्वेषमन्तरेणेत्यर्थः, उक्तं च—"[1]रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं वियाणाहि" 'आहारम्' ओदनादिलक्षणम् 'एषन्ते' गवेषन्ते, किमर्थम्? अत्राह—'योगानां' मनोयोगादीनां संयमयोगानां वा साधनार्थं, न तु वर्णाद्यर्थमिति गाथार्थः ॥ ११५ ॥

नवकोडीपरिसुद्धं उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं । छट्ठाणरक्खणट्ठा अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥ १ ॥

१ रागेण साङ्गारं द्वेषेण सधूमकं विजानीहि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [३]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

व्याख्या–इयं च किल भिन्नकर्तृकी, अस्या व्याख्या–नवकोटिपरिशुद्धम्, तत्रैता नव कोट्यः, यदुत–ण हणइ १ ण हणावेइ २ हणंतं नाणुजाणइ ३, एवं न किणइ ३, एवं न पयई ३, एताभिः परिशुद्धं, तथा उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धमिति, एतद्भस्तुतः सकलोपाधिविशुद्धकोटिख्यापनमेव, एवम्भूतमपि किमर्थं भुञ्जते ?—षट्स्थानरक्षणार्थम्, तानि चामूनि—'वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ १ ॥' अमून्यपि च भवान्तरे प्रशस्तभावनाभ्यासाद्हिंसानुपालनार्थम्, तथा चाह—"नाहारत्यागतोऽभावितमतेर्देहत्यागो भवान्तरेऽप्यहिंसायै भवती"तिगाथार्थः ॥ १ ॥

दिट्ठंतसुद्धि एसा उवसंहारो य सुत्तनिद्दिट्ठो। संति विज्जंतित्ति य संतिं सिद्धिं च साहेंति ॥ ११६ ॥

व्याख्या–दृष्टान्तशुद्धिरेषा, प्रतिपादिता, 'उपसंहारस्तु' उपनयस्तु 'सूत्रनिर्दिष्टः' सूत्रोक्तः, तच्चेदं सूत्रम्—

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो। विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणा(णे)रया ॥ ३ ॥

अस्य व्याख्या–'एवम्' अनेन प्रकारेण 'एते' येऽधिकृताः प्रत्यक्षेण वा परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, श्राम्यन्तीति श्रमणाः, तपस्यन्तीत्यर्थः, एते च तत्रान्तरीया अपि भवन्ति, यथोक्तम्—"निर्ग्रंथसक्कतापसगेरिकाजीवा पंचहा समणा" अत आह—'मुक्ता' बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन, ये 'लोके' अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रपरिमाणे 'सन्ति'

१ न हन्ति न घातयति घ्नन्तं नानुजानाति, एवं न क्रीणाति ३, एवं न पचति ३. २ वेदनायै वैयावृत्त्यायेर्यार्थं च संयमार्थं च। तथा प्राणवृत्त्यै षष्ठं पुनः धर्मचिन्तायै ॥ १ ॥ ३ निर्ग्रंथशाक्यतापसगैरिकाजीवाः पंचधा श्रमणाः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यन्ते, अनेन समयक्षेत्रे सदैव विद्यन्त इत्येतदाह, साधयन्तीति साधवः, किं साधयन्ति?–ज्ञानादीति गम्यते। अत्राह–ये मुक्तास्ते साधव एवेत्यत इदमयुक्तम्, अत्रोच्यते, इह व्यवहारेण निह्नवा अपि मुक्ता भवन्त्येव न च ते साधव इति तद्व्यवच्छेदार्थत्वान्न दोषः। आह–न च ते 'सदैवसन्ती'त्यनेनैव व्यवच्छिन्ना इति, उच्यते, वर्तमानतीर्थापेक्षयैवेदं सूत्रमिति न दोषः, अथवा–अन्यथा व्याख्यायते–ये लोके सन्ति साधव इत्यत्र य इत्युद्देशः, लोक इत्यनेन समयक्षेत्र एव नान्यत्र, किम्?–शान्तिः–सिद्धिरुच्यते तां साधयन्तीति शान्तिसाधवः, तथा चोक्तं निर्युक्तिकारेण—"संति विज्जंतित्ति य संतिं सिद्धिं व साहेंति" इदं व्याख्यातमेव। 'विहंगमा इव' भ्रमरा इव पुष्पेषु, किम्?—'दानभक्तैषणासु रताः' दानग्रहणादत्तं गृह्णन्ति नादत्तम्, भक्तग्रहणेन तदपि भक्तं प्रासुकं न पुनराधाकर्मादि, एषणाग्रहणेन गवेषणादित्रयपरिग्रहः, तेषु स्थानेषु 'रताः' सक्ता इति सूत्रसमासार्थः। अवयवार्थं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रतिपादयति–तत्रापि च विहङ्गमं व्याचष्टे–स द्विविधः–द्रव्यविहङ्गमो भावविहङ्गमश्च। तत्र तावद्द्रव्यविहङ्गमं प्रतिपादयन्नाह—

धारेइ तं तु दव्वं तं दव्वविहङ्गमं वियाणाहि। भावे विहंगमो पुण गुणसन्नासिद्धिओ दुविहो ॥ ११७ ॥

व्याख्या–'धारयति' आत्मनि लीनं धत्ते तत्तु 'द्रव्य'मित्यनेन पूर्वोपात्तं कर्म निर्दिशति, येन हेतूभूतेन विहङ्गमेषूत्पत्स्यत इति, तुशब्द एवकारार्थः, अस्थानप्रयुक्तश्च, एवं तु द्रष्टव्यः–धारयत्येव, अनेन च धारयत्येव यदा तदा द्रव्यविहङ्गमो भवति नोपभुङ्क्ते इत्येतदावेदितं भवति, द्रव्यमिति चात्र कर्मपुद्गलद्रव्यं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृह्यते, न पुनराकाशादि, तस्यामूर्त्तत्वेन धारणायोगात्, संसारिजीवस्य च कथञ्चिन्मूर्त्तत्वेऽपि प्रकृतानुपयोगित्वात्, तथाहि–यदसौ भवान्तरं नेतुमलं यच्च विहङ्गमहेतुतां प्रतिपद्यते तदत्र प्रकृतं, न चैवमन्यः संसारिजीव इति, 'तं द्रव्यविहङ्गम'मित्यत्र यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धादन्यतरोपादानेनान्यतरपरिग्रहादयं वाक्यार्थ उपजायते–धारयत्येव तद्द्रव्यं यस्तं द्रव्यविहङ्गममिति, द्रव्यं च तद्विहङ्गमश्च स इति द्रव्यविहङ्गमः, द्रव्यं जीवद्रव्यमेव, विहङ्गमपर्यायेणाऽऽवर्तनाद्, विहङ्गमस्तु कारणे कार्योपचारादिति, तं 'विजानीहि' अनेकैः प्रकारैरागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्त इत्येवमादिभिर्जानीहि 'भावे विहङ्गम' इत्यत्रायं भावशब्दो बहुर्थः, क्वचिद्द्रव्यवाचकस्तद्यथा '[1]नासओ भुवि भावस्स, सदो हवइ केवलो' भावस्य–द्रव्यस्य वस्तुन इति गम्यते, क्वचिच्छुक्लादिष्वपि वर्त्तते—"[2]जं जं जे जे भावे परिणमइ" इत्यादि यान् २ शुक्लादीन् भावानिति गम्यते, क्वचिदौदयिकादिष्वपि वर्तते यथा—'ओदइए[3] ओवसमिए' इत्याद्युक्त्वा 'छव्विहो[4] भावलोगो उ' औदयिकादय एव भावा लोक्यमानत्वाद् भावलोक इति, तदेवमनेकार्थवृत्तिः सन्नौदयिकादिष्वेव वर्तमान इह गृहीत इति, भवनं भावः भवन्त्यस्मिन्निति वा भावः तस्मिन् भावे–कर्मविपाकलक्षणे, किम्?—'विहङ्गमो' वक्ष्यमाणशब्दार्थः, पुनःशब्दो विशेषणे, न पूर्वस्मादत्यन्तमयमन्य एव जीवः, किंतु स एव जीवस्त एव पुद्गलास्तथाभूता इति विशेषयति, गुणश्च संज्ञा च गुणसंज्ञे गुणः–अन्वर्थः संज्ञा पारिभाषिकी ताभ्यां सिद्धिः गुणसंज्ञासिद्धिः, सिद्धिशब्दः सम्ब-

१ नासतो भुवि भावस्य शब्दो भवति केवलः. २ यद्यदान्यान् भावान् परिणमति. ३ औदयिक औपशमिकः. ४ षड्विधो भावलोकः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

न्धवाचकः, तथा च लोकेऽपि "सिद्धिर्भवतु" इत्युक्ते इष्टार्थसम्बन्ध एव प्रतीयत इति, तया गुणसंज्ञासिद्ध्या हेतुभूतया, किम् ?—'द्विविधो' द्विप्रकारः, गुणसिद्ध्या–अन्वर्थसम्बन्धेन तथा संज्ञासिद्ध्या च–यदृच्छाभिधानयोगेन च। आह–यद्येवं द्विविध इति न वक्तव्यम्, गुणसंज्ञासिद्ध्येत्यनेनैव द्वैविध्यस्य गतत्वात्, न, अनेनैव प्रकारेणेह द्वैविध्यं, आगमनोआगमादिभेदेन[1] नेति ज्ञापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ११७ ॥ तत्र 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायमाश्रित्य गुणसिद्ध्या यो भावविहङ्गमस्तमभिधित्सुराह—

विहमागासं भण्णइ गुणसिद्धी तप्पइट्ठिओ लोगो। तेण उ विहङ्गमो सो भावत्थो वा गई दुविहा ॥ ११८ ॥

व्याख्या–विजहाति–विमुञ्चति जीवपुद्गलानिति विहं, ते हि स्थितिक्षयात्स्वयमेव तेभ्य आकाशप्रदेशेभ्यश्च्यवन्ते, ताँश्च्यवमानान्विमुञ्चतीति, शरीरमपि च मलगण्डोलकादि विमुञ्चत्येव (इति) मा भूत् संदेह इत्यत आह–आकाशं भण्यते, न शरीरादि, संज्ञाशब्दत्वात्, आकाशन्ते–दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र तदाकाशम्, किम् ?–संतिष्ठत इत्यादिक्रियाव्यपोहार्थमाह—'भण्यते' आख्यायते, गुणसिद्धिरित्येतत्पदं गाथाभङ्गभयादस्थाने प्रयुक्तम्, संबन्धश्चास्य 'तेन तु विहंगमः स' इत्यत्र तेन त्वित्यनेन सह वेदितव्य इति, ततश्चायं वाक्यार्थः–तेन तुशब्दस्यैवकारार्थत्वेनावधारणार्थत्वाद्येन विहंमाकाशं भण्यते तेनैव कारणेन गुणसिद्ध्या–अन्वर्थसम्बन्धेन विहङ्गमः, कोऽभिधीयत? इत्याह—'तत्प्रतिष्ठितो लोकः' तदित्यनेनाकाशपरामर्शः,

१ °भेदेनेति प्र० २ विहङ्गमा० प्र०

॥ ६९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मिन्नाकाशे प्रतिष्ठितः तत्प्रतिष्ठितः, प्रतिष्ठति स्म प्रतिष्ठितः–प्रकर्षेण स्थितवानित्यर्थः, अनेन स्थितः स्थास्यति चेति गम्यते, कोऽसावित्थमित्यत आह—'लोकः' लोक्यत इति लोकः, केवलज्ञानभास्वता दृश्यत इत्यर्थः, इह धर्मादिपञ्चास्तिकायात्मकत्वेऽपि लोकस्याकाशास्तिकायस्याधारत्वेन निर्दिष्टत्वाच्चत्वार एवास्तिकाया गृह्यन्ते, यतो निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि—'तत्प्रतिष्ठितो लोकः', 'विहङ्गमः स' इत्यत्र विहे–नभसि गतो गच्छति गमिष्यति चेति विहङ्गमः, गमिरयमनेकार्थत्वाद्धातूनामवस्थाने वर्त्तते, ततश्च विहे स्थितवांस्तिष्ठति स्थास्यति चेति भावार्थः, स इति–चतुरस्तिकायात्मकः, 'भावार्थ' इति भावश्चासावर्थश्च भावार्थः, अयं भावविहङ्गम इत्यर्थः । उक्त एकेन प्रकारेण भावविहङ्गमः, पुनरपि गुणसिद्धिमन्येन प्रकारेणाभिधातुकाम आह—'वा गतिर्द्विविधे'ति, वाशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, एवं तु द्रष्टव्यः–गतिर्वा द्विविधेति, तत्र गमनं गच्छति वाऽनयेति गतिः, द्वे विधे यस्याः सेयं द्विविधा, द्वैविध्यं वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः ॥११८॥ तथा चेदमेव द्वैविध्यमुपदर्शयन्नाह—

भावगई कम्मगई भावगइं पप्प अत्थिकाया उ । सव्वे विहंगमा खलु कम्मगईए इमे भेया ॥ ११९ ॥

व्याख्या–भवन्ति भविष्यन्ति भूतवन्तश्चेति भावाः, अथवा भवन्त्येतेषु खगता उत्पादविगमध्रौव्याख्याः परिणामविशेषा इति भावा–अस्तिकायास्तेषां गतिः–तथापरिणामवृत्तिर्भावगतिः, तथा कर्मगतिरित्यत्र क्रियत इति कर्म–ज्ञानावरणादि पारिभाषिकम्, क्रिया वा, कर्म च तद्गतिश्चासौ कर्मगतिः, गमनं गच्छत्यनया वेति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतिः, तत्र 'भावगतिं प्राप्य अस्तिकायास्तु' इति अत्र भावगतिः पूर्ववत्तां प्राप्य–अभ्युपगम्याश्रित्य, किम्? 'अस्तिकायास्तु' धर्मादयः, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, तस्य च व्यवहितः प्रयोगः, भावगतिमेव प्राप्य न पुनः कर्मगतिं, 'सर्वे विहङ्गमाः खलु' सर्वे–चत्वारः नाकाशमाधारत्वात्, 'विहङ्गमा इति' विहं गच्छन्त्यवतिष्ठन्ते खसत्तां बिभ्रतीति विहङ्गमाः, खलुशब्दोऽवधारणे, विहङ्गमा एव, न कदाचिन्न विहङ्गमा इति। 'कर्मगतेः' प्राग्निरूपितशब्दार्थायाः, किम्?—'इमौ भेदौ' वक्ष्यमाणलक्षणाविति गाथार्थः ॥ ११९ ॥ तावेवोपदर्शयन्नाह—

विहगगई चलणगई कम्मगई उ समासओ दुविहा। तदुदयवेययजीवा विहंगमा पप्प विहगगई ॥ १२० ॥

व्याख्या–इह गम्यतेऽनया नामकर्मान्तर्गतया प्रकृत्या प्राणिभिरिति गतिः, विहायसि–आकाशे गतिर्विहायोगतिः, कर्मप्रकृतिरित्यर्थः, तथा चलनगतिरिति, चलिरयं परिस्पन्दने वर्त्तते, चलनं स्पन्दनमित्येकोऽर्थः, चलनं च तद्गतिश्च सा चलनगतिः–गमनक्रियेति भावः। कर्मगतिस्तु समासतो द्विविधेत्यत्र तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, कर्मगतिरेव द्विविधा न भावगतिः, तस्या एकरूपत्वेन व्याख्यातत्वात्, तत्र 'तदुदयवेदकजीवा' इति, अत्र तदित्यनेनानन्तरनिर्दिष्टां विहायोगतिं निर्दिशति, तस्या–विहायोगतेः उदयस्तदुदयो विपाक इत्यर्थः, तथा वेदयन्ति–निर्जरयन्ति उपभुञ्जन्तीति वेदकाः तदुदयस्य वेदकाश्च ते जीवाश्चेति समासः, आह–तदुदयवेदका जीवा एव भवन्तीति विशेषणानर्थक्यम्, न, जीवानां वेदकत्वावेदकत्वयोगेन सफल-

॥ ७० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यात्, अवेदकाश्च सिद्धा इति । 'विहङ्गमाः प्राप्य विहायोगति'मिति, अत्र विहे विहायोगतेरुदयादुद्गच्छन्तीति विहङ्गमाः, 'प्राप्य' आश्रित्य, किं प्राप्य?—'विहायोगतिम्' विहायोगतिरुक्ता तां, विपर्यस्तान्यक्षराण्येवं तु द्रष्टव्यानि–विहायोगतिं प्राप्य तदुदयवेदकजीवा विहङ्गमा इति गाथार्थः ॥ १२० ॥ अधुना द्वितीयकर्मगतिभेदमधिकृत्याह—

चलनंकम्मगइं खलु पडुच्च संसारिणो भवे जीवा । पोग्गलदव्वाइं वा विहंगमा एस गुणसिद्धी ॥ १२१ ॥

व्याख्या–चलनं–स्पन्दनं, तेन कर्मगतिर्विशेष्यते, कथम् ?–चलनाख्या या कर्मगतिः सा चलनकर्मगतिः, एतदुक्तं भवति–कर्मशब्देन क्रियाऽभिधीयते, सैव गतिशब्देन सैव चलनशब्देन च । तत्र गतेर्विशेषणं क्रिया क्रियाविशेषणं चलनम् । कुतः?–व्यभिचारात्, इह गतिस्तावन्नरकादिका भवति अतः क्रियया विशेष्यते, क्रियाऽप्यनेकरूपा भोजनादिका ततश्चलनेन विशेष्यते, अतश्चलनाख्या कर्मगतिश्चलनकर्मगतिस्ताम्, अनुस्वारोऽलाक्षणिकः, खलुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, चलनकर्मगतिमेव, न विहायोगतिं, 'प्रतीत्य' आश्रित्य, किम्?–संसरणं संसारः, संसरणं ज्ञानावरणादिकर्मयुक्तानां गमनं, स एषामस्तीति संसारिणः, अनेन सिद्धानां व्युदासः, 'भवे' इति, अयं शब्दो भवेयुरित्यस्यार्थे प्रयुक्तः, 'जीवा' उपयोगादिलक्षणाः । ततश्चायं वाक्यार्थः–चलनकर्मगतिमेव प्रतीत्य संसारिणो भवेयुर्जीवा विहङ्गमा इति, विहं गच्छन्ति–चलन्ति सर्वैरात्मप्रदेशैरिति विहङ्गमाः । तथा 'पुद्गलद्रव्याणि वे'त्यादि, पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः, पुद्गलाश्च ते द्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याणि च तानि पुद्गलद्रव्याणि, द्रव्यग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्, तथा चैते पुद्गलाः कैश्चिद्द्रव्याः सन्तोऽभ्युपगम्यन्ते, 'सर्वे भावा निरात्मानः' इत्यादिवचनाद्, अतः पुद्गलानां परमार्थसद्रूपताख्यापनार्थं द्रव्यग्रहणम्, वाशब्दो विकल्पवाची, पुद्गलद्रव्याणि वा संसारिणो वा जीवा विहङ्गमा इति। तत्र जीवानधिकृत्यान्वर्थो निदर्शितः, पुद्गलास्तु विहं गच्छन्तीति विहङ्गमाः, तच्च गमनमेषां स्वतः परतश्च संभवति, अत्र स्वतः परिगृह्यते, विहङ्गमा इति च प्राकृतशैल्या जीवापेक्षया वोक्तम्, अन्यथा द्रव्यपक्षे विहङ्गमानीति वक्तव्यम्, एष भावविहङ्गमः, कथम्?—'गुणसिद्ध्या' अन्वर्थसम्बन्धेन, प्राकृतशैल्या वाऽन्यथोपन्यास इति गाथार्थः॥१२१॥

एवं गुणसिद्ध्या भावविहङ्गम उक्तः, साम्प्रतं संज्ञासिद्ध्या अभिधातुकाम आह—

सन्नासिद्धिं पप्पा विहंगमा होंति पक्खिणो सव्वे। इहई पुण अहिगारो विहासगमणेहिं भमरेहिं ॥ १२२ ॥

व्याख्या–संज्ञानं संज्ञा नाम रूढिरिति पर्यायाः तया सिद्धिः संज्ञासिद्धिः, संज्ञासम्बन्ध इतियावत्, तां संज्ञासिद्धिं 'प्राप्य' आश्रित्य, किम्?–विहे गच्छन्तीति विहङ्गमा भवन्ति, के?—पक्षा येषां सन्ति ते पक्षिणः, 'सर्वे' समस्ता हंसादयः, पुद्गलादीनां विहङ्गमत्वे सत्यप्यमीषामेव लोके प्रतीतत्वात्, इत्थमनेकप्रकारं विहङ्गममभिधाय प्रकृतोपयोगमुपदर्शयति—'इह' सूत्रे, पुनःशब्दोऽवधारणे, इहैव नान्यत्र 'अधिकारः' प्रस्तावः प्रयोजनम्, कैरित्याह—विहायोगमनैः' आकाशगमनैः 'भ्रमरैः' षट्पदैरिति गाथार्थः ॥ १२२ ॥

१ पुद्गलद्रव्याणां नपुंसकत्वादत्र पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्. २ तृतीयां प्रथमेति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [४]

दाणेति दत्तगिण्हण भत्ते भज सेव फासुगेण्हणया । एसणतिगंमि निरया उवसंहारस्स सुद्धि इमा ॥ १२३ ॥

व्याख्या–'दानेति' सूत्रे दानग्रहणं दत्तग्रहणप्रतिपादनार्थम्, दत्तमेव गृह्णन्ति, नादत्तम्, 'भक्त' इति भक्तग्रहणं 'भज सेवायाम्' इत्यस्य निष्ठान्तस्य भवति, अर्थश्चास्य प्रासुकग्रहणं, प्रासुकम्–आधाकर्मादिरहितं गृह्णन्ति, नेतरदिति, एसण त्ति एषणाग्रहणम्, 'एषणात्रितये' गवेषणादिलक्षणे 'निरताः' सक्ताः, उपसंहारस्य–उपनयस्य शुद्धिः 'इयं' वक्ष्यमाणलक्षणेति गाथार्थः ॥ १२३ ॥

अवि भमरमहुयरिगणा अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं । समणा पुण भगवन्तो नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति ॥ १२४ ॥

व्याख्या–अपि भ्रमरमधुकरीगणा, मधुकरीग्रहणमिहापि स्त्रीसंग्रहार्थं, जातिसंग्रहार्थमिति चान्ये, अविदत्तं सन्तं, किम्?—आपिबन्ति 'कुसुमरसं' कुसुमासवम्, श्रमणाः पुनर्भगवन्तो नादत्तं भोक्तुमिच्छन्तीति विशेष इति गाथार्थः ॥ १२४ ॥ साम्प्रतं सूत्रेणैवोपसंहारविशुद्धिरुच्यते–कश्चिदाह—'दाणभत्तेसणे रया' इत्युक्तम्, यत एवमत एव लोको भक्त्याकृष्टमानसस्तेभ्यः प्रयच्छत्याधाकर्मादि, अस्य ग्रहणे सत्त्वोपरोधः, अग्रहणे स्ववृत्त्यलाभ इति, अत्रोच्यते—

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ । अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥४॥

अस्य व्याख्या–वयं च वृत्तिं 'लप्स्यामः' प्राप्स्यामः तथा यथा न कश्चिदुपहन्यते, वर्तमानैष्यत्कालोपन्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

सत्रैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थः, तथा चैते साधवः सर्वकालमेव 'यथाकृतेषु' आत्मार्थमभिनिर्वर्तितेष्वाहारादिषु 'रीयन्ते' गच्छन्ति, वर्त्तन्ते इत्यर्थः, 'पुष्पेषु भ्रमरा यथा' इति, एतच्च पूर्वं भावितमेवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ यतश्चैवमतो—

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया। नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥ ५ ॥

त्तिबेमि । पढमं दुमपुप्फियज्झयणं समत्तं ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या–'मधुकरसमा' भ्रमरतुल्याः बुध्यन्ते स्म बुद्धा–अधिगततत्त्वा इत्यर्थः, क एवंभूता इत्यत आह–ये भवन्ति भ्रमन्ति वा 'अनिश्रिताः' कुलादिष्वप्रतिबद्धा इत्यर्थः, अत्राह—

अस्संजएहिं भमरेहिं जइ समा संजया खलु भवंति । एवं(यं) उवमं किच्चा नूणं अस्संजया समणा ॥ १२५ ॥

व्याख्या—'असंयतैः' कुतश्चिदप्यनिवृत्तैः 'भ्रमरैः' षट्पदैः यदि 'समाः' तुल्याः 'संयताः' साधवः, खल्विति समा एव भवन्ति, ततश्चासंज्ञिनोऽपि ते, अत एवैनामित्थंप्रकारामुपमां कृत्वा इदमापद्यते–नूनमसंयताः श्रमणा इति गाथार्थः ॥ १२५ ॥ एवमुक्ते सत्याहाचार्यः–एतच्चायुक्तं, सूत्रोक्तविशेषणतिरस्कृतत्वात्, तथा च बुद्धग्रहणादसंज्ञिनो व्यवच्छेदः, अनिश्रितग्रहणाच्चासंयतत्वस्येति । निर्युक्तिकारस्त्वाह—

उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया । अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥ १२६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–उपमा खलु 'एषा' मधुकरसमेत्यादिरूपा कृता 'पूर्वोक्तात्' पूर्वोक्तेन 'देशलक्षणोपनयाद्' देशलक्षणोपनयेन, यथा चन्द्रमुखी कन्येति, तृतीयार्था चेह पञ्चमी, इयं चानियतवृत्तिनिमित्तं कृता, अहिंसानुपालनार्थम्, इदं च भावय(यिष्य)त्येवेति गाथार्थः ॥ १२६ ॥

जह दुमगणा उ तह नगरजणवया पयणपायणसहावा । जह भमरा तह मुणिणो नवरि अदत्तं न भुंजंति ॥ १२७ ॥

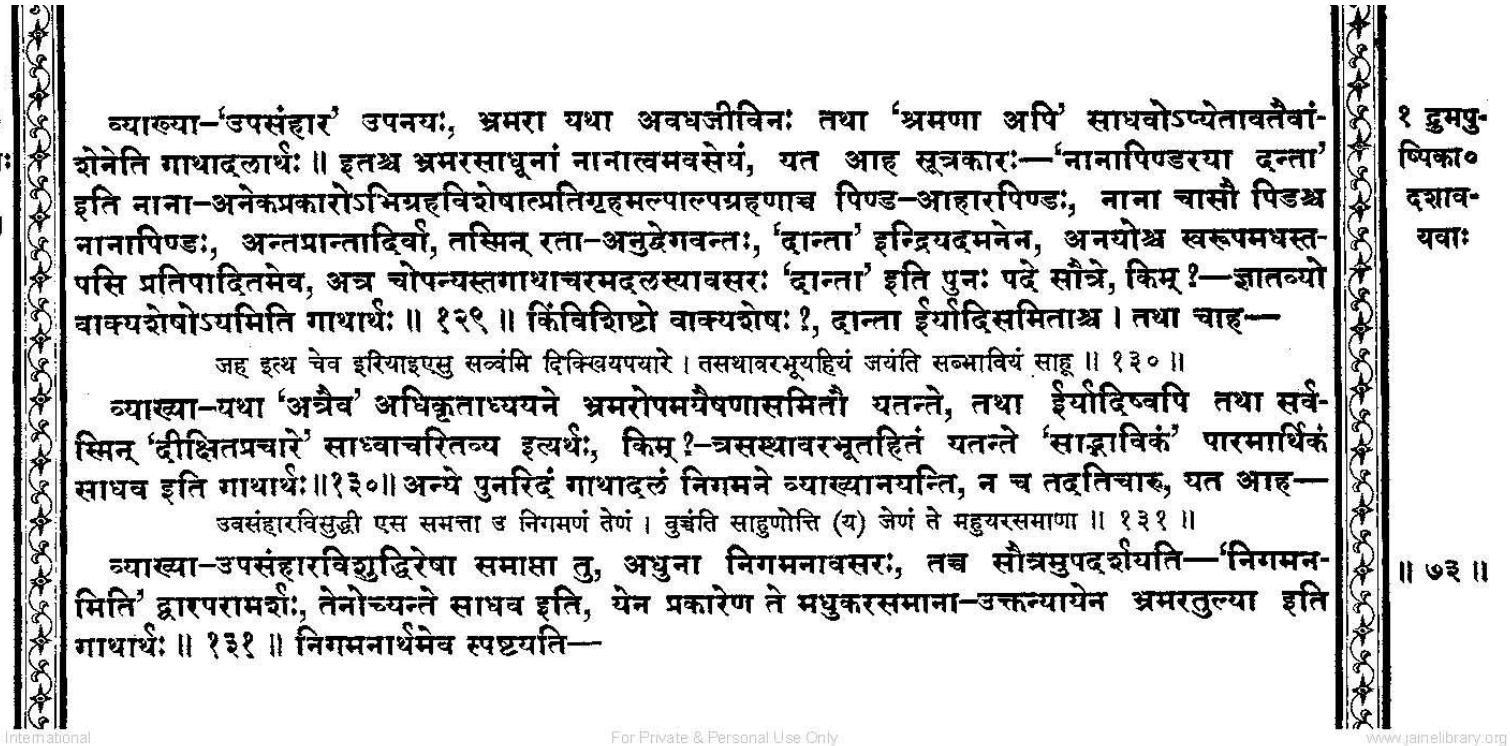
व्याख्या–यथा 'द्रुमगणाः' वृक्षसङ्घाताः स्वभावत एव पुष्पफलनस्वभावाः तथैव 'नगरजनपदा' नगरादिलोकाः स्वयमेव पचनपाचनस्वभावा वर्तन्ते, यथा भ्रमरा इति, भावार्थं वक्ष्यति, तथा मुनयो नवरम्–एतावान्विशेषः–अदत्तं स्वामिभिर्न भुञ्जन्त इति गाथार्थः ॥ १२७ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयति—

कुसुमे सहावफुल्ले आहारंति भमरा जह तहा उ । भत्तं सहावसिद्धं समणसुविहिया गवेसंति ॥ १२८ ॥

व्याख्या–'कुसुमे' पुष्पे 'स्वभावफुल्ले' प्रकृतिविकसिते 'आहारयन्ति' कुसुमरसं पिबन्ति 'भ्रमरा' मधुकरा 'यथा' येन प्रकारेण कुसुमपीडामनुत्पादयन्तः 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'भक्तम्' ओदनादि 'स्वभावसिद्धम्' आत्मार्थं कृतम् उद्गमादिदोषरहितम् इत्यर्थः, श्रमणाश्च ते सुविहिताश्च श्रमणसुविहिताः–शोभनानुष्ठानवन्त इत्यर्थः 'गवेषयन्ति' अन्वेषयन्तीति गाथार्थः ॥ १२८ ॥ साम्प्रतं पूर्वोक्तो यो दोषः मधुकरसमा इत्यत्र तत्परिजिहीर्षयैव यावतोपसंहारः क्रियते तदुपदर्शयन्नाह—

उवसंहारो भमरा जह तह समणावि अवहजीवित्ति । दंतत्ति पुण पयंमी नायव्वं वक्कसेसमिणं ॥ १२९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ७३ ॥

व्याख्या–'उपसंहार' उपनयः, भ्रमरा यथा अवधजीविनः तथा 'श्रमणा अपि' साधवोऽप्येतावतैवांशेनेति गाथादलार्थः ॥ इतश्च भ्रमरसाधूनां नानात्वमवसेयं, यत आह सूत्रकारः—'नानापिण्डरया दन्ता' इति नाना–अनेकप्रकारोऽभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड–आहारपिण्डः, नाना चासौ पिडश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्तादिर्वा, तस्मिन् रता–अनुद्वेगवन्तः, 'दान्ता' इन्द्रियदमनेन, अनयोश्च स्वरूपमधस्तपसि प्रतिपादितमेव, अत्र चोपन्यस्तगाथाचरमदलस्यावसरः 'दान्ता' इति पुनः पदे सौत्रे, किम् ?—ज्ञातव्यो वाक्यशेषोऽयमिति गाथार्थः ॥ १२९ ॥ किंविशिष्टो वाक्यशेषः ?, दान्ता ईर्यादिसमिताश्च । तथा चाह—

जह इत्थ चेव इरियाइएसु सव्वंमि दिक्खियपयारे । तसथावरभूयहियं जयंति सब्भावियं साहू ॥ १३० ॥

व्याख्या–यथा 'अत्रैव' अधिकृताध्ययने भ्रमरोपमयैषणासमितौ यतन्ते, तथा ईर्यादिष्वपि तथा सर्वस्मिन् 'दीक्षितप्रचारे' साध्वाचरितव्य इत्यर्थः, किम् ?–त्रसस्थावरभूतहितं यतन्ते 'साद्भाविकं' पारमार्थिकं साधव इति गाथार्थः ॥१३०॥ अन्ये पुनरिदं गाथादलं निगमने व्याख्यानयन्ति, न च तदतिचारु, यत आह—

उवसंहारविसुद्धी एस समत्ता उ निगमणं तेणं । वुच्चंति साहुणोत्ति (य) जेणं ते महुयरसमाणा ॥ १३१ ॥

व्याख्या–उपसंहारविशुद्धिरेषा समाप्ता तु, अधुना निगमनावसरः, तच्च सौत्रमुपदर्शयति—'निगमनमिति' द्वारपरामर्शः, तेनोच्यन्ते साधव इति, येन प्रकारेण ते मधुकरसमाना–उक्तन्यायेन भ्रमरतुल्या इति गाथार्थः ॥ १३१ ॥ निगमनार्थमेव स्पष्टयति—

१ द्रुमपुष्पिका० दशावयवाः ॥ ७३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥ दीप अनुक्रम [५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

तम्हा दयाइगुणसुट्ठिएहिं भमरोव्व अवहवित्तीहिं । साहूहिं साहिउ त्ति उकिट्ठं मंगलं धम्मो ॥ १३२ ॥

व्याख्या–तस्माद्दयादिगुणसुस्थितैः, आदिशब्दात् सत्यादिपरिग्रहः, भ्रमर इवावधवृत्तिभिः, कैः?–साधुभिः 'साधितो' निष्पादितः, 'उत्कृष्टं मङ्गलम्' प्रधानं मङ्गलं 'धर्मः' प्राग्निरूपितशब्दार्थ इति गाथार्थः ॥ १३२ ॥ इदानीं निगमनविशुद्धिमभिधातुकाम आह—

निगमणसुद्धी तित्थंतरावि धम्मत्थमुज्जया विहरे । भण्णइ कायाणं ते जयणं न मुणंति न करेंति ॥ १३३ ॥

व्याख्या–निगमनशुद्धिः प्रतिपाद्यते, अत्राह—'तीर्थान्तरीया अपि' चरकपरिव्राजकादयः, किम्?–'धर्मार्थं' धर्माय 'उद्यता' उद्युक्ता विहरन्ति, अतस्तेऽपि साधवः एवेत्यभिप्रायः । भण्यतेऽत्र प्रतिवचनम्, 'कायानां' पृथिव्यादीनां 'ते' चरकादयः, किम्?–यतनां-प्रयत्नकरणलक्षणां 'न मन्यन्ते(मुणन्ति)' न जानन्ति न मन्वते वा तथाविधागमाश्रवणात्, न कुर्वन्ति, परिज्ञानाभावात्, भावितमेवेदमधस्तादिति गाथार्थः ॥१३३॥ किंच—

न य उग्गमाइसुद्धं भुंजंती महुयरा वऽणुवरोही । नेव य तिगुत्तिगुत्ता जह साहू निच्चकालंपि ॥ १३४ ॥

व्याख्या–न चोद्गमादिशुद्धं भुञ्जते, आदिशब्दादुत्पादनादिपरिग्रहः, 'मधुकरा इव' भ्रमरा इव सत्त्वानामनुपरोधिनः सन्तो, नैव च त्रिगुप्तिगुप्ताः, यथा साधवो नित्यकालमपि, एतदुक्तं भवति–यथा साधवो

१ यथा साधवोऽनुपरोधिनः सन्तो भ्रमरा इव उद्गमादिशुद्धं भुञ्जते न तथा ते चरकादयः न च त्रिगुप्तिगुप्ता यथा साधवः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

नित्यकालं त्रिगुप्तिगुप्ता एवं ते न कदाचिदपि, तत्परिज्ञानशून्यत्वात्, तस्मान्नैते साधव इति गाथार्थः ॥१३४॥ साधव एव तु साधवः, कथम्?, यतः—

कायं वायं च मणं च इंदियाइं च पंच दमयंति । धारेंति बंभचेरं संजमयंति कसाए य ॥ १३५ ॥

व्याख्या–कायं वाचं मनश्चेन्द्रियाणि च पञ्च दमयन्ति, तत्र कायेन सुसमाहितपाणिपादास्तिष्ठन्ति गच्छन्ति वा, वाचा निष्प्रयोजनं न ब्रुवते प्रयोजनेऽप्यालोच्य सत्त्वानुपरोधेन, मनसा अकुशलमनोनिरोधं कुशलमनउदीरणं च कुर्वन्ति, इन्द्रियाणि पञ्च दमयन्ति इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाकरणेन, पञ्चेति साङ्ख्यपरिकल्पितैकादशेन्द्रियव्यच्छेदार्थम्, तथा च वाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसीन्द्रियाणि तेषामिति, धारयन्ति ब्रह्मचर्यं, सकलगुप्तिपरिपालनात्, तथा संयमयन्ति कषायाँश्च, अनुदयेनोदयविफलीकरणेन चेति गाथार्थः ॥ १३५ ॥

जं च तवे उज्जुत्ता तेणेसिं साहुलक्खणं पुण्णं । तो साहुणो त्ति भण्णति साहवो निगमणं चेयं ॥ १३६ ॥

व्याख्या–यच्च 'तपसि' प्राग्वर्णितस्वरूपे, किम्?–'उद्युक्ताः' उद्यताः तेन कारणेनैषां साधुलक्षणं 'पूर्णम्' अविकलम्, कथम्?–अनेन प्रकारेण साधयन्त्यपवर्गमिति साधवः, यतश्चैवं ततः साधव एव भण्यन्ते साधवो, न चरकादय इति, निगमनं चैतदिति गाथार्थः ॥ १३६ ॥ इत्थमुक्तं दशावयवम्, प्रयोगं त्वेवं वृद्धा दर्शयन्ति– अहिंसादिलक्षणधर्मसाधकाः साधव एव, स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारित्वात्, तदन्यैवंविधपुरुषवत्, विपक्षो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बरभिक्षुभौतादिवत्, इह ये स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारिणस्ते उभयप्रसिद्धैवंविधपुरुषवदहिंसादिलक्षणधर्मसाधका दृष्टाः, तथा च साधवः स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारिण इत्युपनयः, तस्मात्स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारित्वात्तेऽहिंसादिलक्षणधर्मसाधकाः साधव एवेति निगमनम्, पक्षादिशुद्धयस्तु निदर्शिता एवेति न प्रतन्यन्ते ॥ १३६ ॥ एवमर्थाधिकारद्वयवशात् पञ्चावयवदशावयववाभ्यां वाक्याभ्यां व्याख्यातमध्ययनमिदम्, इदानीं भूयोऽपि भङ्ग्यन्तरभाजा दशावयवेनैव वाक्येन सर्वमध्ययनं व्याचष्टे निर्युक्तिकारः—

ते उ पइन्न विभत्ती हेउ विभत्ती विवक्ख पडिसेहो । दिट्ठंतो आसंका तप्पडिसेहो निगमणं च ॥ १३७ ॥

व्याख्या–'ते' इति अवयवाः, तुः पुनःशब्दार्थः, ते पुनरमी प्रतिज्ञादयः–तत्र प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा–वक्ष्यमाणस्वरूपेत्येकोऽवयवः, तथा विभजनं विभक्तिः–तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः, तथा हिनोतिगमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुस्तृतीयः, तथा विभजनं विभक्तिरिति पूर्ववच्चतुर्थः, तथा विसदृशः पक्षो विपक्षः साध्यादिविपर्यय इति पञ्चमः, तथा प्रतिषेधनं प्रतिषेधः विपक्षस्येति गम्यते इत्यर्थं षष्ठः, तथा दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्त इति सप्तमः, तथा आशङ्कनमाशङ्का प्रक्रमाद् दृष्टान्तस्यैवेत्यष्टमः, तथा तत्प्रतिषेधः अधिकृताशङ्काप्रतिषेध इति नवमः, तथा निश्चितं गमनं निगमनं निश्चितोऽवसाय इति दशमः, चशब्द उक्तसमुच्चयार्थ इति गाथासमासार्थः ॥ १३७ ॥ व्यासार्थं तु प्रत्यवयवं वक्ष्यति ग्रन्थकार एव, तथा चाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मो मंगलमुक्किट्ठंति पइन्ना [1]अत्तवयणनिद्देसो । सो य इहेव जिणमए नन्नत्थ पइन्नपविभत्ती ॥ १३८ ॥

व्याख्या–'धर्मो मङ्गलमुत्कृष्ट' मिति पूर्ववत् इयं प्रतिज्ञा, आह–केयं प्रतिज्ञेति?, उच्यते, 'आप्तवचननिर्देश' इति तत्राप्तः–अप्रतारकः, अप्रतारकश्चाशेषरागादिक्षयाद्भवति, उक्तं च—"आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥ १ ॥" तस्य वचनम् आप्तवचनं तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देशः, आह–अयमागमं[2] इति, उच्यते, विप्रतिपन्नसंप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वेनैष एव प्रतिज्ञेति न[3] दोषः, पाठान्तरं वा साध्यवचननिर्देश इति, साध्यत इति साध्यम् उच्यत इति वचनम्–अर्थः यस्मात्स एवोच्यते, साध्यं च तद्वचनं च साध्यवचनं साध्यार्थ इत्यर्थः, तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेति, उक्तः प्रथमोऽवयवः, अधुना द्वितीय उच्यते–स च–अधिकृतो धर्मः किम्?–'इहैव जिनमते' अस्मिन्नेव मौनीन्द्रे प्रवचने 'नान्यत्र' कपिलादिमतेषु, तथाहि–प्रत्यक्षत एवोपलभ्यन्ते वस्त्राद्यपूतप्रभूतोदकाद्युपभोगेषु परिव्राट्प्रभृतयः प्राण्युपमर्दं कुर्वाणाः, ततश्च कुतस्तेषु धर्मः?, इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद् भावितत्वाच्चेति । प्रतिज्ञाप्रविभक्तिरियं–प्रतिज्ञाविषयविभागकथनमिति गाथार्थः ॥ १३८ ॥ उक्तो द्वितीयोऽवयवः, अधुना तृतीय उच्यते–तत्र

सुरपूइओत्ति हेऊ धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परमे । हेउविभत्ति निरुवहि जियाण अवहेण य जियंति ॥ १३९ ॥

१ सज्ञ. २ अयमागमो वचनरूपत्वात् न प्रतिज्ञा. ३ नैष० प्र० ४ अर्थः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–सुरा–देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः, सुरग्रहणमिन्द्राद्युपलक्षणम्, इतिशब्द उपप्रदर्शने, कोऽयम्?-'हेतुः' पूर्ववत्, हेत्वर्थसूचकं चेदं वाक्यम्, हेतुस्तु सुरेन्द्रादिपूजितत्वादिति द्रष्टव्यः, अस्यैव सिद्धतां दर्शयति—'धर्मः' पूर्ववत् तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानम्, धर्मश्चासौ स्थानं च धर्मस्थानम्, स्थानम्–आलयः, तस्मिन् स्थिताः, तुरयमेवकारार्थः, स चावधारणे, अयं चोपरिष्टात् क्रियया सह योक्ष्यते, 'यद्' यस्मात्, किंभूते धर्मस्थाने?–'परमे' प्रधाने, किम्?–सुरेन्द्रादिभिः पूज्यन्त एवेति वाक्यशेषः, इति तृतीयोऽवयवः, अधुना चतुर्थ उच्यते–हेतुविभक्तिरियम्–हेतुविषयविभागकथनम्, अथ क एते धर्मस्थाने स्थिता इत्यत्राह—'निरुपधयः' उपधिः छद्म मायेत्यनर्थान्तरम्, अयं च क्रोधाद्युपलक्षणम्, ततश्च निर्गता उपध्यादयः सर्व एव कषाया येभ्यस्ते निरुपधयो–निष्कषायाः, 'जीवानां' पृथ्वीकायादीनाम् 'अवधेन' अपीडया, चशब्दात्तपश्चरणादिना च हेतुभूतेन 'जीवन्ति' प्राणान् धारयन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्थिताः, नान्य इति गाथार्थः ॥ १३९ ॥ उक्तश्चतुर्थोऽवयवः, अधुना पञ्चममभिधित्सुराह—

जिणवयणपदुट्ठेवि हु ससुराईए अधम्मरुइणोऽवि । मंगलबुद्धीइ जणो पणमइ आईदुयविवक्खो ॥ १४० ॥

व्याख्या–इह विपक्षः पञ्चम इत्युक्तम्, स चायम्–प्रतिज्ञाविभक्त्योरिति, जिनाः–तीर्थकराः तेषां वचनम्–आगमलक्षणं तस्मिन् प्रद्विष्टा–अप्रीता इति समासस्तान्, अपिशब्दादप्रद्विष्टानपि, हु इत्ययं निपातोऽवधा-

१ विपक्षः प्रतिज्ञाविभक्त्योः सत्कः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

रणार्थः अस्थानप्रयुक्तश्च, स्थानं तु दर्शयिष्यामः, 'श्वशुरादीन्' श्वशुरो–लोकप्रसिद्धः, आदिशब्दात्पित्रादि-परिग्रहः, न विद्यते धर्मे रुचिर्येषां तेऽधर्मरुचयस्तान्, अपिशब्दाद्धर्मरुचीनपि, किम्?–'मङ्गलबुद्ध्या' मङ्गल-प्रधानया धिया, मङ्गलबुद्ध्यैव नामङ्गलबुद्ध्येत्येवमवधारणस्थानम्, किम्?–'जनो' लोकः, प्रकर्षेण नमति प्रण-मति, 'आद्यद्वयविपक्ष' इति अत्राद्यद्वयं प्रतिज्ञा तच्छुद्धिश्च तस्य विपक्षः साध्यादिविपर्यय इति आद्यद्वय-विपक्षः, तत्राधर्मरुचीनपि मङ्गलबुद्ध्या जनः प्रणमतीत्यनेन प्रतिज्ञाविपक्षमाह, तेषामधर्माव्यतिरेकात्, जिन-वचनप्रद्विष्टानपीत्यनेन तु तच्छुद्धेः, तत्रापि हेतुप्रयोगप्रवृत्त्या धर्मसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ १४० ॥

विइयदुयस्स विवक्खो सुरेहिँ पूजंति जण्णजाईवि । बुद्धाईवि सुरणया वुच्चन्ते णायपडिवक्खो ॥ १४१ ॥

व्याख्या–द्वयोः पूरणं द्वितीयं द्वितीयं च तद्वयं च द्वितीयद्वयं–हेतुस्तच्छुद्धिश्च, इदं च प्रागुक्तद्वयापेक्षया द्वि-तीयमुच्यते, तस्यायं विपक्षः–इह सुरैः पूज्यन्ते यज्ञयाजिनोऽपीति, इयमत्र भावना–यज्ञयाजिनो हि मङ्गलरूपा न भवन्त्यथ च सुरैः पूज्यन्ते ततश्च सुरपूजितत्वमकारणमिति, एष हेतुविपक्षः, तथा अजितेन्द्रियाः सोपध-यश्च यतस्ते वर्तन्ते अतोऽनेनैव ग्रन्थेन 'धर्मस्थाने स्थिताः परम' इत्यादिकाया हेतुविभक्तेरपि विपक्ष उक्तो वेदितव्य इति । उदाहरणविपक्षमधिकृत्याह–बुद्धादयोऽप्यादिशब्दात्कपिलादिपरिग्रहः, ते किम्?–'सुरनता' देवपूजिता 'उच्यन्ते' भण्यन्ते तच्छासनप्रतिपन्नैरिति ज्ञातप्रतिपक्ष इति गाथार्थः ॥१४१॥ आह–ननु दृष्टान्तमु-परिष्टाद्वक्ष्यति, एवं ततश्च तत्स्वरूप उक्ते तत्रैव विपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च वक्तुं युक्तः तत्किमर्थमिह विपक्षः तत्प्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिषेधश्चाभिधीयते?, उच्यते, विपक्षसाम्यादधिकृत एव विपक्षद्वारे लाघवार्थमभिधीयते, अन्यथेदमपि पृथग्द्वारं स्यात्, तथैव तत्प्रतिषेधोऽपि द्वारान्तरं प्राप्नोति, तथा च सति ग्रन्थगौरवं जायते, तस्माल्लाघवार्थमत्रैवोक्त्यत इत्यदोषः। आह—"दिट्ठंतो आसंका तप्पडिसेहो" त्ति वचनात् उत्तरत्र दृष्टान्तमभिधाय पुनराशङ्कां तत्प्रतिषेधं च वक्ष्यत्येव, तदाशङ्का च तद्विपक्ष एव, तत् किमर्थमिह पुनर्विपक्षप्रतिषेधावभिधीयेते?, उच्यते, अनन्तरपरम्पराभेदेन दृष्टान्तद्वैविध्यख्यापनार्थम्, यः खल्वनन्तरमुक्तोऽपि परोक्षत्वादागमगम्यत्वादार्ष्टान्तिकार्थसाधनायालं न भवति तत्प्रसिद्धये चाध्यक्षसिद्धो योऽन्य उच्यते स परम्परादृष्टान्तः, तथा च तीर्थकरांस्तथा साधूँश्च द्वावपि भिन्नावेवोत्तरत्र दृष्टान्तावभिधास्येते, तत्र तीर्थकृल्लक्षणं दृष्टान्तमङ्गीकृत्येह विपक्षप्रतिषेधावुक्तौ, साधूँस्त्वधिकृत्य तत्रैवाशङ्कातत्प्रतिषेधौ दर्शयिष्येते इत्यदोषः। स्यान्मतं–प्रागुक्तेन विधिना लाघवार्थमनुक्ते एव दृष्टान्ते उच्यतां कामम्, इहैव दृष्टान्तविपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च, स एव दृष्टान्तः किमित्युत्तरत्रोपदिश्यते? येन हेतुविभक्तेरनन्तरमिहैव न भण्यते, तथाहि–अत्र दृष्टान्ते भण्यमाने प्रतिज्ञादीनामिव द्विरूपस्यापि दृष्टान्तस्यार्हत्साधुलक्षणस्य एतावेव विपक्षतत्प्रतिषेधावुपपद्येते, ततश्च साधुलक्षणस्य दृष्टान्तस्याशङ्कातत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग् वक्तव्यौ भवतः, तथा च सति ग्रन्थलाघवं जायते, तथा प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः सविशुद्धिकास्त्रयोऽप्यवयवाः क्रमेणोक्ता भवन्तीति, अत्रोच्यते, इहाभिधीयमाने दृष्टान्त-

१ दृष्टान्त आशङ्का तत्प्रतिषेधः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

स्येव प्रतिज्ञादीनामपि प्रत्येकमाशङ्कातत्प्रतिषेधौ वक्तव्यौ स्तः, तथा च सत्यवयवबहुत्वं, दृष्टान्तस्य वा प्रतिज्ञादीनामिव विपक्षतत्प्रतिषेधाभ्यां पृथगाशङ्कातत्प्रतिषेधौ न वक्तव्यौ स्याताम्, एवं सति दशावयवा न प्राप्नुवन्ति, दशावयवं चेदं वाक्यं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपिपादयिषितम्, अस्यापि न्यायस्य प्रदर्शनार्थम्, अत एव यदुक्तं 'साधुलक्षणदृष्टान्तस्याशङ्कातत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग् वक्तव्यौ स्याता'मित्यादि तदपाकृतं वेदितव्यम्, इत्यलं प्रसङ्गेन । एवं प्रतिज्ञादीनां प्रत्येकं विपक्षोऽभिहितः, अधुनाऽयमेव प्रतिज्ञादिविपक्षः पञ्चमोऽवयवो वर्तत इत्येतदर्शयन्निदमाह—

एवं तु अवयवाणं चउण्ह पडिवक्खु पंचमोऽवयवो । एत्तो छट्ठोऽवयवो विवक्खपडिसेह तं वोच्छं ॥ १४२ ॥

व्याख्या–'एवम्' इत्ययम्, एव(वं)कार उपप्रदर्शने, तुरवधारणे, अयमेव 'अवयवानां' प्रमाणाङ्गलक्षणानां 'चतुर्णां' प्रतिज्ञादीनां 'प्रतिपक्षो' विपक्षः, पञ्चमोऽवयव इति, आह–दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव, तत्किमर्थं चतुर्णामित्युक्तम्?, उच्यते, हेतोः सपक्षविपक्षाभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वात्, तद्विपक्ष एव चास्यान्तर्भावाददोष इति । उक्तः पञ्चमोऽवयवः, षष्ठ उच्यते, तथा चाह—'इत' उत्तरत्र 'षष्ठोऽवयवो' विपक्षप्रतिषेधस्तं 'वक्ष्ये' अभिधास्य इति गाथार्थः ॥ १४२ ॥ इत्थं सामान्येनाभिधायेदानीमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधमभिधातुकाम आह—

सायं संमत्त पुमं हासं रइ आउनामगोयसुहं । धम्मफलं आइदुगे विवक्खपडिसेह मो एसो ॥ १४३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–'सायं'ति सातवेदनीयं कर्म 'संमत्तं'ति सम्यक्त्वं सम्यग्भावः सम्यक्त्वं–सम्यक्त्वमोहनीयं कर्मैव, 'पुमं' ति पुंवेदमोहनीयं 'हासं'ति हस्यतेऽनेनेति हासः तद्भावो हास्यं–हास्यमोहनीयम्, रम्यतेऽनयेति रतिः–क्रीडाहेतुः रतिमोहनीयं कर्मैव, 'आउनामगोयसुहं'ति अत्र शुभशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते अन्ते वचनात्,ततश्च आयुः शुभं नाम शुभं गोत्रं शुभम्, तत्रायुः शुभं तीर्थकरादिसम्बन्धि नामगोत्रे अपि कर्मणी शुभे तेषामेव भवतः, तथाहि–यशोनामादि शुभं तीर्थकरादीनामेव भवति, तथोच्चैर्गोत्रं तदपि शुभं तेषामेवेति, 'धर्मफल'मिति धर्मस्य फलम् धर्मफलं, धर्मेण वा फलं धर्मफलम्, एतद् अहिंसादेर्जिनोक्तस्यैव धर्मस्य फलम्, अहिंसादिना जिनोक्तेनैव वा धर्मेण फलमवाप्यते, सर्वमेव चैतत्सुखहेतुत्वाद्धितम्, अतः स एव धर्मो मङ्गलं न श्वशुरादयः, तथाहि–मङ्गयते हितमनेनेति मङ्गलम्, तच्च यथोक्तधर्मेणैव मङ्गयते नान्येन, तस्मादसावेव मङ्गलं न जिनवचनबाह्याः श्वशुरादय इति स्थितम्। आह—'मङ्गलबुद्ध्यैव जनः प्रणमती'त्युक्तं तत्कथम्? इति, उच्यते, मङ्गलबुद्ध्यापि गोपालाङ्गनादिर्मोहतिमिरोपप्लुतबुद्धिलोचनो जनः प्रणमन्नपि न मङ्गलत्वनिश्चयायालम्, तथाहि–न तैमिरिकद्विचन्द्रोपदर्शनं सचेतसां चक्षुष्मतां द्विचन्द्राकारायाः प्रतीतेः प्रत्ययतां प्रतिपद्यते, अतद्रूप एव तद्रूपाध्यारोपद्वारेण तत्प्रवृत्तेरिति। 'आइदुगं'ति आद्यद्वयं प्रागुक्तं तस्मिन् आद्यद्वयविषये, विपक्षप्रतिषेधः, 'मो' इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः 'एष' इति यथा वर्णित इति गाथार्थः ॥ १४३ ॥ इत्थमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधः प्रतिपादितः, सम्प्रति हेतुतच्छुक्ल्योर्विपक्षप्रतिषेधप्रतिपिपादयिषयेदमाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अजिइंदिय सोवहिया वहगा जइ तेऽवि नाम पुज्जंति । अग्गीवि होज्ज सीओ हेउविभत्तीण पडिसेहो ॥ १४४ ॥

व्याख्या–न जितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि यैस्ते तथोच्यन्ते, उपधिश्छद्म मायेत्येनर्थान्तरम्, उपधिना-सह वर्त्तन्त इति सोपधयो–मायाविनः परव्यंसका इतियावत् अथवा उपद्धातीत्युपधिः–वस्त्राद्यनेकरूपः परिग्रहः, तेन सह वर्त्तन्ते ये ते तथाविधा महापरिग्रहा इत्यर्थः, वधंन्तीति वधकाः–प्राण्युपमर्दकर्त्तारः, 'जइ तेऽवि नाम पुज्जंति'त्ति यदीति पराभ्युपगमसंसूचकः, त इति याज्ञिकाः, अपिः संभावने, नाम इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः, येऽजितेन्द्रियादिदोषदुष्टा यज्ञयाजिनो वर्त्तन्ते, यदि ते नाम पूज्यन्ते तर्ह्यग्निरपि भवेच्छीतः, न च कदाचिदप्यसौ शीतो भवति, तथा वियदिन्दीवरस्रजोऽपि वान्ध्येयोरःस्थलशोभामाद-धीरन्, न चैतद् भवति, यथैवमादिरत्यन्ताभावस्तथेदमपीति मन्यते, अथापि कालदौर्गुण्येन कथञ्चिदविवेकिना जनेन पूज्यन्ते तथापि तेषां न मङ्गलत्वसंप्रसिद्धिः, अप्रेक्षावतामतद्रूपेऽपि वस्तूनि तद्रूपाध्यारोपेण प्रवृत्तेः, तथाहि–अकलङ्कधियामेव प्रवृत्तिर्वस्तुनस्तद्वत्तां गमयति, अतथाभूते वस्तुनि तद्बुद्ध्या तेषामप्रवृत्तेः, सुविशुद्धबुद्धयश्च दैत्यामरेन्द्रादयः, ते चाहिंसादिलक्षणं धर्ममेव पूजयन्ति न यज्ञयाजिनः, तस्मादैत्या-मरेन्द्रादिपूजितत्वाद्धर्म एवोत्कृष्टं मगलं न याज्ञिका इति स्थितम्, 'हेउविभत्तीण'त्ति एष हेतुतद्विभक्त्योः

१ पर्यायाः प्र० २ वध हिंसायामित्यन्यपठितधातुगणापेक्षयाऽयं प्रयोगः, अगणपठितं वधि हिंसार्थमाश्रित्य स्यात्परं तत्रात्मनेपदसम्भवः, यदि च तेषामर्थान्तरेऽपि अनियमस्त्यादीन् प्रतीत्यपेक्ष्य स्यात्परस्मैपदिता तदा तत्रापि न दोषः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पडिसेहो'त्ति विपक्षप्रतिषेधः, विपक्षशब्द इहानुक्तोऽपि प्रकरणाज्ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ १४४ ॥ एवं हेतुतच्छुद्धयोर्विपक्षप्रतिषेधो दर्शितः, साम्प्रतं दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधं दर्शयन्नाह—

बुद्धाई उवयारे पूयाठाणं जिणा उ सब्भावं । दिट्ठंते पडिसेहो छट्ठो एसो अवयवो उ ॥ १४५ ॥

व्याख्या–'बुद्धादयः' आदिशब्दात्कपिलादिपरिग्रहः, उपचार इति 'सुपां सुपो भवन्ती'ति न्यायादुपचारेण किञ्चिदतीन्द्रियं कथयन्तीतिकृत्वा न वस्तुस्थित्या पूजायाः स्थानं पूजास्थानम्, जिनास्तु 'सद्भावं' परमार्थमधिकृत्येति वाक्यशेषः सर्वज्ञत्वाद्यसाधारणगुणयुक्तत्वादिति भावना, 'दृष्टान्तप्रतिषेध' इति विपक्षशब्दलोपाद् दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधः, किम्?–षष्ठ एषोऽवयवः, तुर्विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि?–सर्वोऽप्ययमनन्तरोदितः प्रतिज्ञादिविपक्षप्रतिषेधः पञ्चप्रकारोऽप्येक एवेति गाथार्थः ॥ १४५ ॥ षष्ठमवयवमभिधायेदानीं सप्तमं दृष्टान्तनामानमभिधातुकाम आह—

अरिहंत मग्गगामी दिट्ठंतो साहुणोऽवि समचित्ता । पागरएसु गिहीसु एसंते अवहमाणा उ ॥ १४६ ॥

व्याख्या–पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, न रुहन्तीति वा अरुहन्तः, किम्?–दृष्टान्त इति सम्बन्धः, तथा 'मार्गगामिन' इति प्रक्रमात्तदुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं येषां त एव गृह्यन्ते, के च त इत्यत–आह—'साधवः' साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः, तेऽपि दृष्टान्त इति योगः, किंभूताः?–'समचित्ता' रागद्वेषरहितचित्ता इत्यर्थः, किमिति तेऽपि दृष्टान्त इति?, अहिंसादिगुणयुक्तत्वात्, आह च—'पाकरतेषु' आत्मा-

दश. १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

थैमेव पाकसक्तेषु 'गृहिषु' अगारिषु 'एषन्ते' गवेषयन्ति पिण्डपातमित्यध्याहारः, किं कुर्वाणा इत्यत आह— 'अवहमाणा उ' न घ्नन्तोऽघ्नन्तः, तुरवधारणार्थः, ततश्चाघ्नन्त एव, आरम्भाकरणेन पीडामकुर्वाणा इत्यर्थः। एवं द्विविधोऽपि दृष्टान्त उक्तः, दृष्टान्तवाक्यं चेदं, स तु संस्कृत्य कर्त्तव्योऽर्हदादिवदिति गाथार्थः ॥ १४६ ॥ उक्तः सप्तमोऽवयवः, साम्प्रतमष्टममभिधित्सुराह—

तत्थ भवे आसंका उद्दिस्स जइवि कीरए पागो। तेण र विसमं नायं वासतणा तस्स पडिसेहे ॥ १४७ ॥

व्याख्या–'तत्र' तस्मिन् दृष्टान्ते 'भवेदाशङ्का' भवत्याक्षेपः, यथा 'उद्दिश्य' अङ्गीकृत्य 'यतीनपि' संयतानपि, अपिशब्दादपत्यादीन्यपि, 'क्रियते' निर्वर्त्यते पाकः, कैः?–गृहिभिरिति गम्यते, ततः किमित्यत आह– तेन कारणेन, र इति निपातः किलशब्दार्थः, 'विषमम्' अतुल्यं 'ज्ञातम्' उदाहरणं, वस्तुतः पाकोपजीवित्वेन साधूनामनवद्यवृत्त्यभावादिति, भावितमेवैतत् पूर्वम्, इत्यष्टमोऽवयवः, इदानीं नवममधिकृत्याह—'वर्षातृणानि तस्य प्रतिषेधे' इति, एतच्च भाष्यकृता प्राक् प्रपञ्चितमेवेति न प्रतन्यत इति गाथार्थः ॥ १४७ ॥ उक्तो नवमोऽवयवः, साम्प्रतं चरममभिधित्सुराह—

तम्हा उ सुरनराणं पुज्जत्ता मंगलं सया धम्मो। दसमो एस अवयवो पइन्नहेऊ पुणोवयणं ॥ १४८ ॥

व्याख्या–यस्मादेवं तस्मात् 'सुरनराणां' देवमनुष्याणां पूज्यत इति पूज्यस्तद्भावस्तस्मात् पूज्यत्वात् 'मङ्गलं' प्राग्निरूपितशब्दार्थं 'सदा' सर्वकालं 'धर्मः' प्रागुक्तः, 'दशम एषोऽवयव' इति सङ्ख्याकथनम्, किंविशिष्टो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

ऽयमित्यत आह—'प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं' पुनर्हेतुप्रतिज्ञावचनमिति गाथार्थः ॥ १४८ ॥ उक्तं द्वितीयं दशावयवं, साधनाङ्गता चावयवानां विनेयापेक्षया विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वेन भावनीयेति । उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नया उच्यन्ते–ते च नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदभिन्नाः खल्वोघतः सप्त भवन्ति, स्वरूपं चैतेषामध आवश्यकसामायिकाध्ययने न्यक्षेण प्रदर्शितमेवातो नेह प्रतन्यते, इह पुनः स्थानाशून्यार्थमेते ज्ञानक्रियानयद्वयान्तर्भावद्वारेण समासतः प्रोच्यन्ते–ज्ञाननयः क्रियानयश्च, तत्र ज्ञाननयदर्शनमिदम्–ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चाह—

णायंमि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वंमि चेव अत्थंमि । जइयव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नामं ॥ १४९ ॥

व्याख्या–'णायंमि'त्ति ज्ञाते सम्यक्परिच्छिन्ने 'गिण्हियव्वे'त्ति ग्रहीतव्य उपादेये 'अगिण्हियव्वंमि'त्ति अग्रहीतव्येऽनुपादेये हेय इत्यर्थः, चशब्दः खल्वुभयोर्ग्रहीतव्याग्रहीतव्ययोर्ज्ञातत्वानुकर्षणार्थः उपेक्षणीयसमुच्चयार्थो वा, एवकारस्त्ववधारणार्थः, तस्य चैवं व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः–ज्ञात एव ग्रहीतव्ये तथाऽग्रहीतव्ये तथोपेक्षणीये चार्थे तु ज्ञात एव नाज्ञाते, 'अत्थंमि'त्ति अर्थे ऐहिकामुष्मिके, तत्रैहिको ग्रहीतव्यः स्वकुचन्दनाङ्गनादिः अग्रहीतव्यो विषशस्त्रकण्टकादिः उपेक्षणीयः तृणादिः, आमुष्मिको ग्रहीतव्यः सम्यग्दर्शनादिः अग्रहीतव्यो मिथ्यात्वादिः उपेक्षणीयो विवक्षयाऽभ्युदयादिरिति, तस्मिन्नर्थे 'यतितव्यमेवे'ति अनुस्वारलोपाद्यतितव्यम्, एवम्–अनेन प्रक्रमेणैहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्त्यादिलक्षणः प्रयत्नः कार्य इ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

॥ ८० ॥

त्यर्थः । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, सम्यगज्ञाते प्रवर्त्तमानस्य फलविसंवाददर्शनात्, तथा चान्यैरप्युक्तम्—"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलप्राप्तेरसंभवात् ॥ १ ॥" तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनापि ज्ञात एव यतितव्यम्, तथा चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः, यत उक्तम्—"[१]पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए । अन्नाणी किं काही?, किंवा णाहिति छेयपावगं? ॥१॥" इतश्चैतदेवाङ्गीकर्त्तव्यं यस्मात्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थानां केवलानां विहारक्रियाऽपि निषिद्धा, तथा चागमः—"[२]गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसिओ चेव । इत्तो तइयविहारो णाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥१॥" यस्मादन्धेनान्धः समाकृष्यमाणः सम्यक्पन्थानं न प्रतिपद्यत इत्यभिप्रायः । एवं तावत्क्षायोपशमिकं ज्ञानमधिकृत्योक्तं, क्षायिकम(प्य)ङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्वं तस्यैव विज्ञेयम्, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधितटस्थस्य दीक्षां प्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिः संजायते यावज्जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदरूपं केवलज्ञानं नोत्पन्नमिति, तस्माज्ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम् 'इति जो उवएसो सो णओ णाम'-ति 'इति' एवमुक्तेन न्यायेन य उपदेशो–ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम–ज्ञाननय इत्यर्थः, अयं च ज्ञानवचनक्रियारूपेऽस्मिन्नध्ययने ज्ञानरूपमेवेदमिच्छति, ज्ञानात्मकत्वादस्य, वचनक्रिये तु तत्कार्यत्वात्तदाय-

१ प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतः । अज्ञानी किं करिष्यति? किं वा ज्ञास्यति छेकपापकम् ॥ १ ॥ २ गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रितश्चैव । इतस्तृतीयो विहारो नानुज्ञातो जिनवरैः ॥ १ ॥

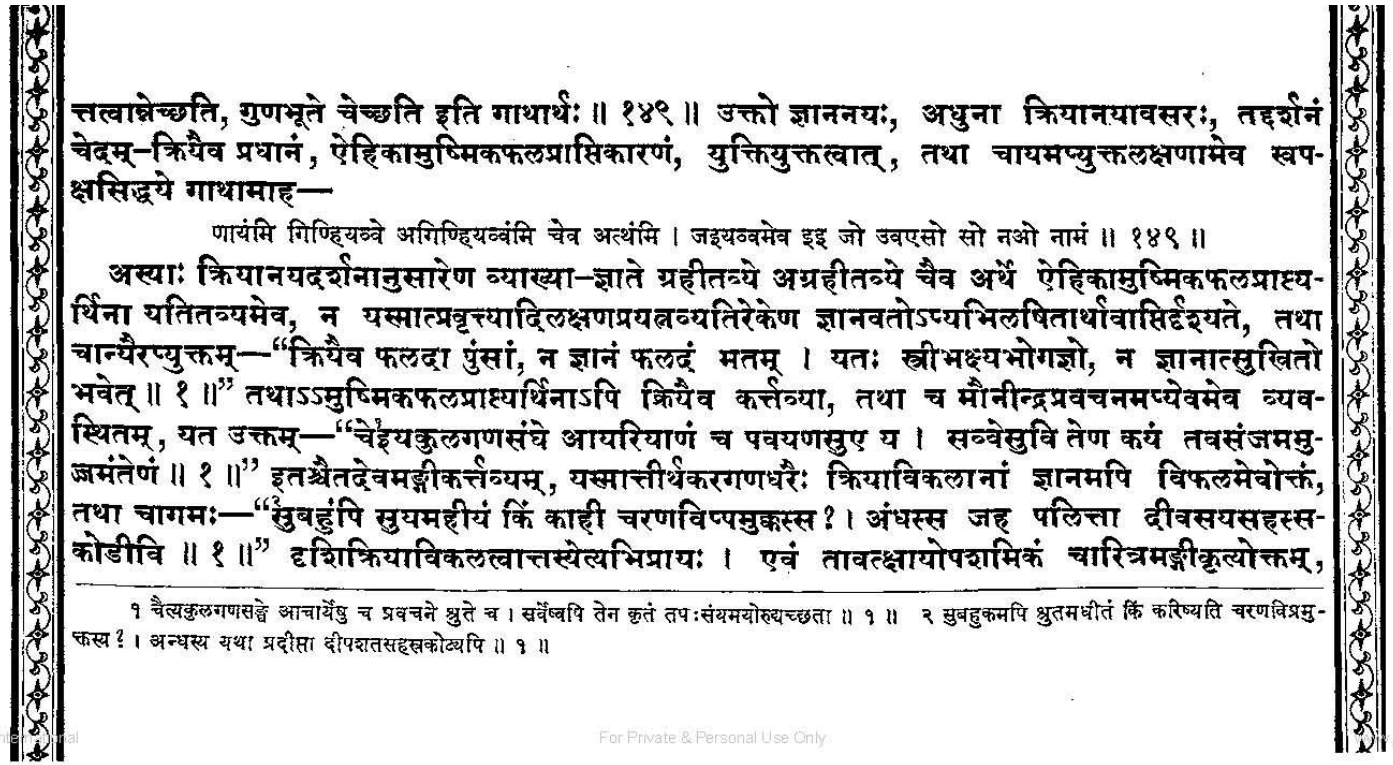
॥ ८० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



त्तत्वाश्नेच्छति, गुणभूते चेच्छति इति गाथार्थः ॥ १४९ ॥ उक्तो ज्ञाननयः, अधुना क्रियानयावसरः, तद्दर्शनं चेदम्–क्रियैव प्रधानं, ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह—

णायंमि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वंमि चेव अत्थंमि । जइयव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नामं ॥ १४९ ॥

अस्याः क्रियानयदर्शनानुसारेण व्याख्या–ज्ञाते ग्रहीतव्ये अग्रहीतव्ये चैव अर्थे ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना यतितव्यमेव, न यस्मात्प्रवृत्त्यादिलक्षणप्रयत्नव्यतिरेकेण ज्ञानवतोऽप्यभिलषितार्थावाप्तिर्दृश्यते, तथा चान्यैरप्युक्तम्—"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥ १ ॥" तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि क्रियैव कर्त्तव्या, तथा च मौनीन्द्रप्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितम्, यत उक्तम्—"चेइयकुलगणसंघे आयरियाणं च पवयणसुए य । सव्वेसुवि तेण कयं तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ १ ॥" इतश्चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम्, यस्मात्तीर्थकरगणधरैः क्रियाविकलानां ज्ञानमपि विफलमेवोक्तं, तथा चागमः—"[2]सुबहुंपि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पमुक्कस्स ? । अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥ १ ॥" दृशिक्रियाविकलत्वात्तस्येत्यभिप्रायः । एवं तावत्क्षायोपशमिकं चारित्रमङ्गीकृत्योक्तम्,

१ चैत्यकुलगणसङ्घे आचार्येषु च प्रवचने श्रुते च । सर्वेष्वपि तेन कृतं तपःसंयमयोरुद्यच्छता ॥ १ ॥ २ सुबहुकमपि श्रुतमधीतं किं करिष्यति चरणविप्रमुक्तस्य ? । अन्धस्य यथा प्रदीप्ता दीपशतसहस्रकोट्यपि ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र मूल संपादने मुद्रणदोषात् निर्युक्ति-क्रम १४९ द्विवारान् मुद्रितं, तत् कारणात् मया '१४९ R' इति लिखितं

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

चारित्रं क्रियेत्यनर्थान्तरम्, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य प्रकृष्टफलसाधकत्वं तस्यैव विज्ञेयम्, यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्त्यवाप्तिः संजायते, यस्मा(याव)दखिलकर्मेन्धनानलभूता ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रकालावस्थायिनी सर्वसंवररूपा चारित्रक्रिया नावाप्नोति, तस्मात्क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम्। 'इति जो उवएसो सो णओ णामं'ति 'इति' एवमुक्तेन न्यायेन य उपदेशः किम्?– क्रियाप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम–क्रियानय इत्यर्थः। अयं च ज्ञानवचनक्रियारूपेऽस्मिन्नध्ययने क्रियारूपमेवेदमिच्छति, तदात्मकत्वादस्य, ज्ञानवचने तु तदर्थमुपादीयमानत्वादप्रधानत्वान्नेच्छति गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ १४९ ॥ उक्तः क्रियानयः, इत्थं ज्ञाननयक्रियानयस्वरूपं श्रुत्वाऽविदिततदभिप्रायो विनेयः संशयापन्नः सन्नाह–किमत्र तत्त्वं?, पक्षद्वयेऽपि युक्तिसंभवाद्, आचार्यः पुनराह–अथवा ज्ञानक्रियानयमतं प्रत्येकमभिधायाधुना स्थितपक्षमुपदर्शयन् पुनराह—

सव्वेसिंपि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता। तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १५० ॥

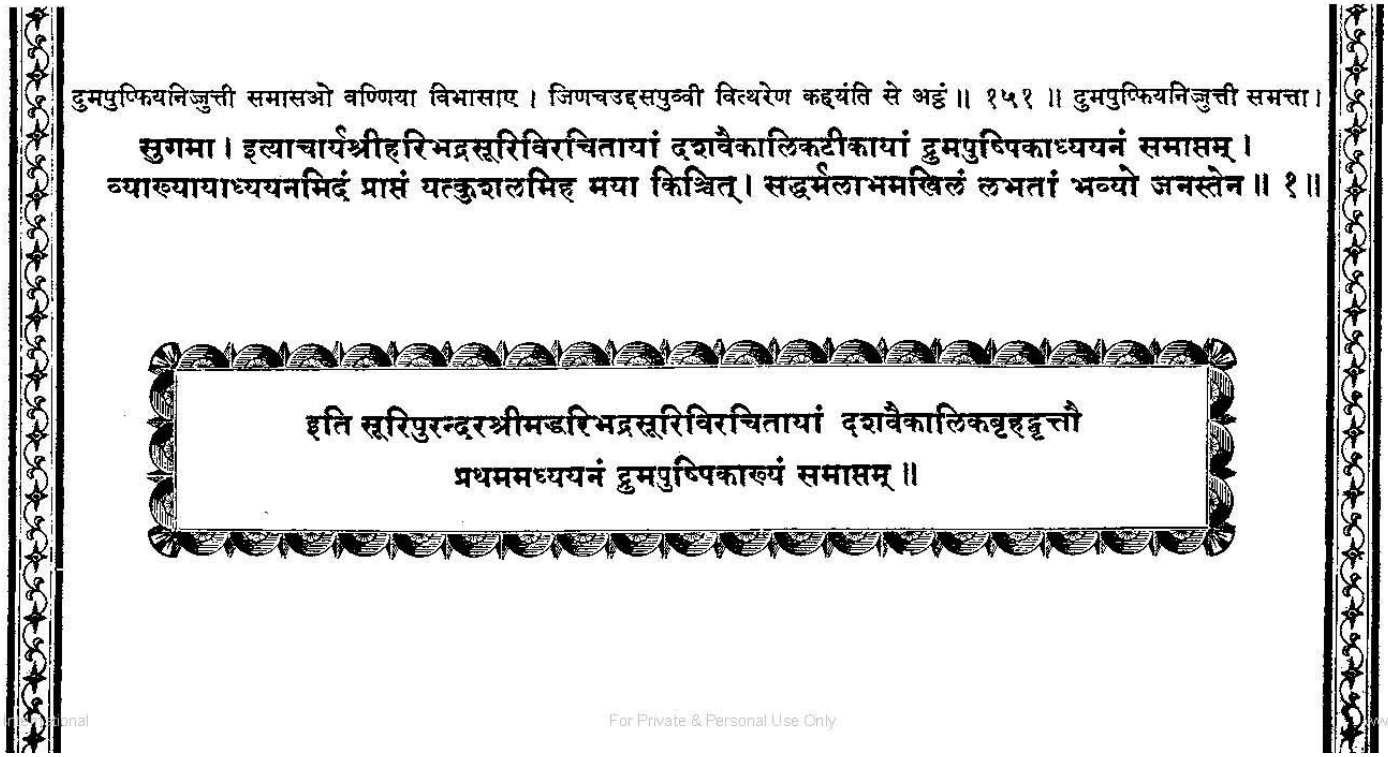
व्याख्या–'सर्वेषा'मिति मूलनयानामपिशब्दात्तद्भेदानां च द्रव्यास्तिकादीनां 'बहुविधवक्तव्यतां' सामान्यमेव विशेषा एव उभयमेव वाऽनपेक्षमित्यादिरूपाम्, अथवा नामादीनां नयानां कः कं साधुमिच्छतीत्यादिरूपां 'निशम्य' श्रुत्वा तत् 'सर्वनयविशुद्धं' सर्वनयसंमतं वचनं 'यचरणगुणस्थितः साधुः' यस्मात्सर्वनया एव (सर्वेऽपि नया)भावविषयं निक्षेपमिच्छन्तीति गाथार्थः ॥ १५० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दुमपुप्फियनिज्जुत्ती समासओ वण्णिया विभासाए । जिणचउद्दसपुव्वी वित्थरेण कहयंति से अट्ठं ॥ १५१ ॥ दुमपुप्फियनिज्जुत्ती समत्ता ।

सुगमा । इत्याचार्यश्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकटीकायां द्रुमपुष्पिकाध्ययनं समाप्तम् ।
व्याख्यायाध्ययनमिदं प्राप्तं यत्कुशलमिह मया किञ्चित् । सद्धर्मलाभमखिलं लभतां भव्यो जनस्तेन ॥ १ ॥

इति सूरिपुरन्दरश्रीमद्धरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकबृहद्वृत्तौ
प्रथममध्ययनं द्रुमपुष्पिकाख्यं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -१- परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५..॥

दीप अनुक्रम [५..]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

व्याख्यातं द्रुमपुष्पिकाध्ययनम्, अधुना श्रामण्यपूर्वकाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तराध्ययने धर्मप्रशंसोक्ता, सा चेहैव जिनशासन इति, इह तु तदभ्युपगमे सति मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः संमोह इत्यतो धृतिमता भवितव्यमित्येतदुच्यते, उक्तं च—"जस्स धिई तस्स तवो जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलभा। जे अधिइमंत पुरिसा तवोऽवि खलु दुल्लहो तेसिं ॥ १ ॥" अनेनाभिसंबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि पूर्ववत्, नवरं नामवदध्ययनविषयत्वादुपक्रमादिद्वारकलापस्य व्याप्तिप्राधान्यतो नामनिष्पन्नं निक्षेपमभिधित्सुराह निर्युक्तिकारः—

सामण्णपुव्वगस्स उ निक्खेवो होइ नामनिप्फन्नो। सामण्णस्स चउक्को तेरसगो पुव्वयस्स भवे ॥ १५२ ॥

व्याख्या–श्राम्यतीति श्रमणः, [श्राम्यति तपस्यति] तद्भावः श्रामण्यं, तस्य पूर्वं–कारणं श्रामण्यपूर्वं तदेव श्रामण्यपूर्वकमिति संज्ञायां कन्, श्रामण्यकारणं च धृतिः, तन्मूलत्वात्तस्य, तत्प्रतिपादकं चेदमध्ययनमिति भावार्थः। अतः श्रामण्यपूर्वकस्य तु निक्षेपो भवति नामनिष्पन्नः, कोऽसौ?–अन्यस्याश्रुतत्वात् श्रामण्यपूर्वकमित्ययमेव, तुशब्दः सामान्यविशेषवन्नामविशेषणार्थः, श्रामण्यपूर्वकमिति सामान्यम्, श्रामण्यं पूर्वं चेति विशेषः, तथा चाह–श्रामण्यस्य चतुष्ककस्त्रयोदशकः पूर्वकस्य भवेन्निक्षेप इति गाथार्थः ॥ १५२ ॥ निक्षेपमेव विवृणोति—

१ यस्य धृतिस्तस्य तपो यस्य तपस्तस्य सुगतिः सुलभा। येऽधृतिमन्तः पुरुषास्त्वपोऽपि खलु दुर्लभं तेषाम् ॥ १ ॥ २ रूढनामेति ३ नामनिष्पन्ननिक्षेपस्य.

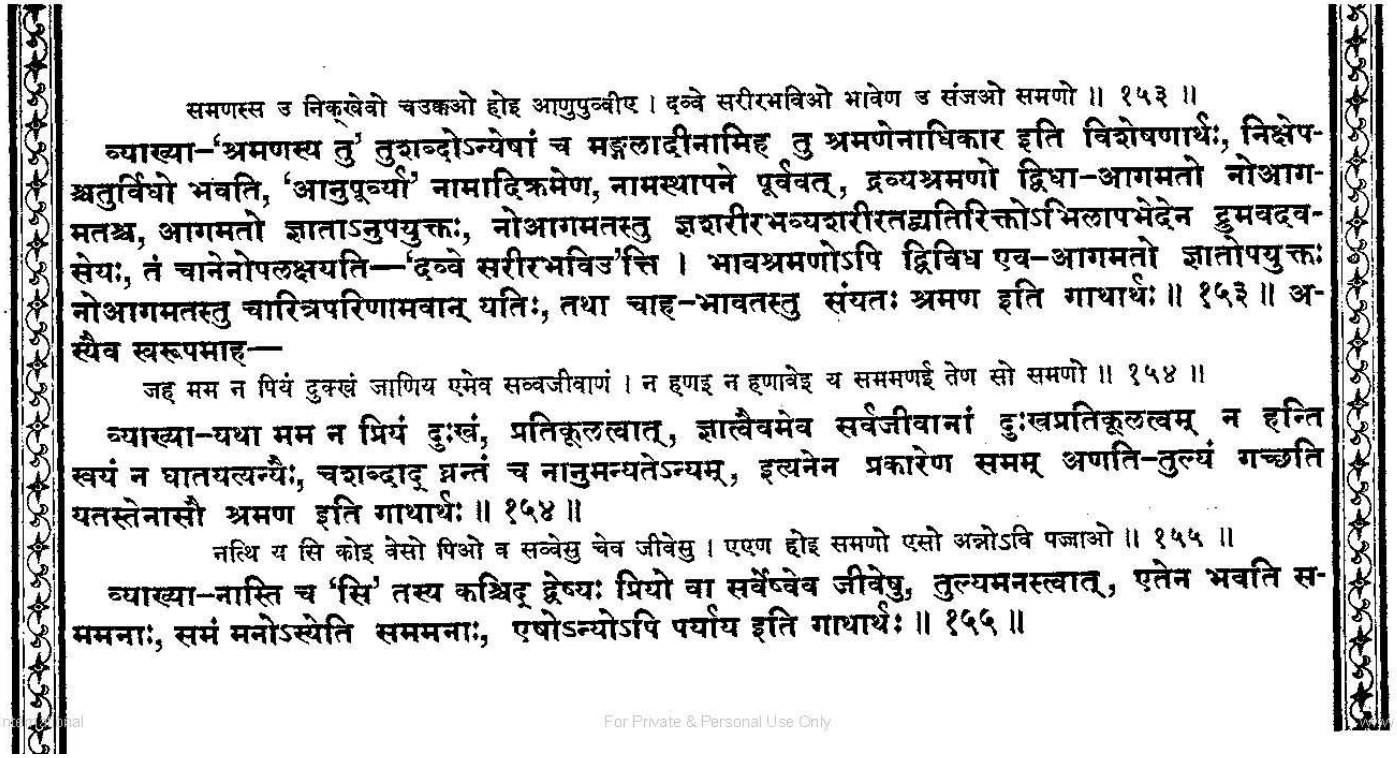
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -२- श्रामण्यपूर्वकं आरभ्यते

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५..॥

दीप अनुक्रम [५..]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



समणस्स उ निक्खेवो चउक्कओ होइ आणुपुव्वीए । दव्वे सरीरभविओ भावेण उ संजओ समणो ॥ १५३ ॥

व्याख्या–'श्रमणस्य तु' तुशब्दोऽन्येषां च मङ्गलादीनामिह तु श्रमणेनाधिकार इति विशेषणार्थः, निक्षेपश्चतुर्विधो भवति, 'आनुपूर्व्या' नामादिक्रमेण, नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यश्रमणो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तोऽभिलापभेदेन द्रुमवदवसेयः, तं चानेनोपलक्षयति—'दव्वे सरीरभविउ'त्ति । भावश्रमणोऽपि द्विविध एव–आगमतो ज्ञातोपयुक्तः नोआगमतस्तु चारित्रपरिणामवान् यतिः, तथा चाह–भावतस्तु संयतः श्रमण इति गाथार्थः ॥ १५३ ॥ अस्यैव स्वरूपमाह—

जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं । न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥ १५४ ॥

व्याख्या–यथा मम न प्रियं दुःखं, प्रतिकूलत्वात्, ज्ञात्वैवमेव सर्वजीवानां दुःखप्रतिकूलत्वम् न हन्ति स्वयं न घातयत्यन्यैः, चशब्दाद् घ्नन्तं च नानुमन्यतेऽन्यम्, इत्यनेन प्रकारेण समम् अणति–तुल्यं गच्छति यतस्तेनासौ श्रमण इति गाथार्थः ॥ १५४ ॥

नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु । एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ १५५ ॥

व्याख्या–नास्ति च 'सि' तस्य कश्चिद् द्वेष्यः प्रियो वा सर्वेष्वेव जीवेषु, तुल्यमनस्त्वात्, एतेन भवति सममनाः, समं मनोऽस्येति सममनाः, एषोऽन्योऽपि पर्याय इति गाथार्थः ॥ १५५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'श्रमण' शब्दस्य निक्षेपाः एवं व्याख्याः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५..॥

दीप अनुक्रम [५..]

तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो । सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु ॥ १५६ ॥

व्याख्या–ततः श्रमणो यदि सुमनाः, द्रव्यमनः प्रतीत्य, भावेन च यदि न भवति पापमनाः, एतत्फलमेव दर्शयति–स्वजने च जने च समः, समश्च मानापमानयोरिति गाथार्थः ॥ १५६ ॥

उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई । भमरमिगधरणिजलरुहरविपवणसमो जओ समणो ॥ १५७ ॥

व्याख्या–उरगसमः परकृतबिलनिवासित्वादाहारानास्वादनात्संयमैकदृष्टित्वाच्च, गिरिसमः परीषहपवनाकम्प्यत्वात्, ज्वलनसमः तपस्तेजःप्रधानत्वात् तृणादिष्विव सूत्रार्थेष्वतृप्तेः एषणीयाशनादौ चाविशेषप्रवृत्तेरिति, सागरसमो गम्भीरत्वाज्ज्ञानादिरत्नाकरत्वात् स्वमर्यादानतिक्रमाच्च, नभस्तलसमः सर्वत्र निरालम्बनत्वात्, तरुगणसमः अपवर्गफलार्थिसत्त्वशकुनालयत्वात् वासीचन्दनकल्पत्वाच्च, भ्रमरसमः अनियतवृत्तित्वात्, मृगसमः संसारभयोद्विग्नत्वात्, धरणिसमः सर्वखेदसहिष्णुत्वात्, जलरुहसमः कामभोगोद्भवलेऽपि पङ्कजलाभ्यामिव तदूर्ध्ववृत्तेः, रविसमः धर्मास्तिकायादिलोकमधिकृत्य विशेषेण प्रकाशकत्वात्, पवनसमः अप्रतिबद्धविहारित्वात्, इत्थमुरगादिसमश्च यतो भवति ततः श्रमण इति गाथार्थः ॥ १५७ ॥

प्रक्षेपगाथा

विसतिणिसवायवंजुलकणियारुप्पलसमेण समणेणं । भमरुंदुरुनडकुक्कुडअद्दागसमेण होयव्वं ॥ १ ॥ (प्र.)

व्याख्या–श्रमणेन विषसमेन भवितव्यं भावतः सर्वरसानुपातित्वमधिकृत्य, तथा तिनिशसमेन मानपरि-

१ विषे सर्वरसानामन्तर्भावात्, न तेषामनुभवस्तस्मिन्.

॥ ८३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यागतो नम्रेण, वातसमेनेति पूर्ववत्, वञ्जुलो–वेतसस्तत्समेन क्रोधादिविषाभिभूतजीवानां तदपनयनेन, एवं हि श्रूयते–किल वेतसमवाप्य निर्विषा भवन्ति सर्पा इति, कर्णिकारसमेनेति तत्पुष्पवत्प्रकटेन अशुचिगन्धापेक्षया च निर्गन्धेनेति, उत्पलसदृशेन प्रकृतिधवलतया सुगन्धित्वेन च, भ्रमरसमेनेति पूर्ववत्, उन्दुरुसमेन उपयुक्तदेशकालचारितया, नटसमेन तेषु तेषु प्रयोजनेषु तत्तद्वेषकरणेन, कुर्कुटसमेन संविभागशीलतया, स हि किल प्राप्तमाहारं पादेन विक्षिप्यान्यैः सह भुङ्क्त इति, आदर्शसमेन निर्मलतया तरुणाद्यनुवृत्तिप्रतिबिम्बभावेन च, उक्तं च—"तरुणंमि होइ तरुणो थेरो थेरेहिं डहरए डहरो। अद्दाओविव रूवं अणुयत्तइ जस्स जं सीलं ॥ १ ॥" एवंभूतेन श्रमणेन भवितव्यमिति गाथार्थः ॥ इयं किल गाथा भिन्नकर्तृकी, अतः पवनादिषु न पुनरुक्तदोष इति ॥ १ ॥

साम्प्रतं 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति न्यायाच्छ्रमणस्यैव पर्यायशब्दानभिधित्सुराह—

पव्वइए अणगारे पासंडे चरग तावसे भिक्खू। परिवाइए य समणे निग्गंथे संजए मुत्ते ॥ १५८ ॥

व्याख्या–प्रकर्षेण व्रजितो–गतः प्रव्रजितः, आरम्भपरिग्रहादिति गम्यते, अगारं–गृहं तदस्यास्तीत्यगारो–गृही न अगारोऽनगारः, द्रव्यभावगृहरहित इत्यर्थः, पाखण्डं–व्रतं तदस्यास्तीति पाखण्डी, उक्तं च—"पाखण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि। स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद्विनिर्गतः (तम्) ॥ २ ॥" चरतीति चरकः

१ तरुणे भवति तरुणः स्थविरः स्थविरेषु बाले बालः। आदर्श इव रूपमनुवर्त्तते यस्य यच्छीलम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'श्रमण' शब्दस्य पर्याय-शब्दानाम् व्याख्या:

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥५..॥

दीप अनुक्रम [५..]

तप इति गम्यते, तपोऽस्यास्तीति तापसः, भिक्षणशीलो भिक्षुः भिनत्ति वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भिक्षुः, परि-समन्तात्पापवर्जनेन व्रजति-गच्छतीति परिव्राजकः, चः समुच्चये, श्रमणः पूर्ववत्, निर्गतो ग्रन्थान्निर्ग्रन्थः बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहित इत्यर्थः, सम्-एकीभावेनाहिंसादिषु यतः-प्रयत्नवान् संयतः, मुक्तो बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनैवेति गाथार्थः ॥ १५८ ॥

तिन्ने ताई दविए मुणी य खंते य दन्त विरए य । लूहे तीरट्ठेऽविय हवंति समणस्स नामाइं ॥ १५९ ॥

व्याख्या-तीर्णवांस्तीर्णः, संसारमिति गम्यते, त्रायत इति त्राता, धर्मकथादिना संसारदुःखेभ्य इति भावः, रागादिभावरहितत्वाद्द्रव्यम्, द्रवति-गच्छति ताँस्तान् ज्ञानादिप्रकारानिति द्रव्यम्, मुनिः पूर्ववत्, चः समुच्चये, क्षाम्यतीति क्षान्तः-क्रोधविजयी, एवमिन्द्रियादिदमनाद्दान्तः, विरतः-प्राणातिपातादिनिवृत्तः, स्नेहपरित्यागाद्रूक्षः, तीरेणार्थोऽस्येति तीरार्थी, संसारस्येति गम्यते, तीरस्थो वा सम्यक्त्वादिप्राप्तेः संसारपरिमाणात्, एतानि भवन्ति श्रमणस्य 'नामानि' अभिधानानीति गाथार्थः ॥ १५९ ॥ निरूपितः श्रमणशब्दः, अधुना पूर्वशब्दश्चिन्त्यते-अस्य च त्रयोदशविधो निक्षेपः, तथा चाह—

णामं ठवणा दविए खेत्ते काले दिसि तावखेत्ते य । पन्नवगपुव्ववत्थू पाहुडअइपाहुडे भावे ॥ १६० ॥

व्याख्या-नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यपूर्वम् अङ्कुराद्बीजं दध्नः क्षीरं फाणिताद्रस इत्यादि, क्षेत्रपूर्वं यवक्षेत्राच्छालिक्षेत्रं, तत्पूर्वकत्वात्तस्य, अपेक्षया चान्यथाऽप्यदोषः, कालपूर्वं पूर्वः कालः शरदः प्रावृट् रजन्या दिवस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि आवलिकाया वा समय इत्यादि, दिक्पूर्वं पूर्वा दिग्, इयं च रुचकापेक्षया, तापक्षेत्रपूर्वम्–आदित्योदयमधिकृत्य यत्र या पूर्वा दिक्, उक्तं च—"जस्स जओ आदिच्चो उदेइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा" इत्यादि, प्रज्ञापकपूर्वं–प्रज्ञापनं (कं) प्रतीत्य पूर्वा दिक् यदभिमुख एवासौ सैव पूर्वा, पूर्वपूर्वं चतुर्दशानां पूर्वाणामाद्यं, तच्च उत्पादपूर्वम्, एवं वस्तुप्राभृतातिप्राभृतेष्वपि योजनीयम्, अप्रत्यक्षस्वरूपाणि चैतानि, भावपूर्वम्–आद्यो भावः स चौदयिक इति गाथार्थः ॥ १६० ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपस्यावसरः, इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्, तच्चेदम्—

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए । पए पए विसीदंतो, संकप्पस्स वसं गओ? ॥१॥

अस्य व्याख्या–इह च संहितादिक्रमेण प्रतिसूत्रं व्याख्याने ग्रन्थगौरवमिति तत्परिज्ञाननिबन्धनं भावार्थमात्रमुच्यते–तत्रापि कत्यहं कदाहं कथमहमित्याद्यदृश्यपाठान्तरपरित्यागेन दृश्यं व्याख्यायते—'कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं यः कामान्न निवारयति?' 'कथं' केन प्रकारेण, नु क्षेपे, यथा कथं नु स राजा यो न रक्षति?, कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते, एवं कथं नु स कुर्यात् 'श्रामण्यं' श्रमणभावं यः कामान् 'न निवारयति' न प्रतिषेधते ?, किमिति न करोति ?, तत्र "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति वचनात्

१ यस्य यत आदित्य उदेति सा तस्य भवति पूर्वदिग्. २ पूर्ववृत्तौ दर्शनेऽप्यादर्शेषु दृश्यमानेष्वदृश्यमानता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [६]

कारणमाह—'पदे पदे विषीदन् संकल्पस्य वशं गतः' कामानिवारणेनेन्द्रियाद्यपराधपदापेक्षया पदे पदे विषीदनात्संकल्पस्य वशंगतत्वात्। [अप्रशस्ताध्यवसायः संकल्पः] इति सूत्रसमासार्थः ॥ १ ॥ अवयवार्थं तु सूत्रस्पर्शनिर्युक्त्या प्रतिपादयति–तत्रापि शेषपदार्थान् परित्यज्य कामपदार्थस्य हेयतयोपयोगित्वात्स्वरूपमाह—

नामंठवणाकामा दव्वकामा य भावकामा य। एसो खलु कामाणं निक्खेवो चउविहो होइ ॥ १६१ ॥

व्याख्या–नामस्थापनाकामा इत्यत्र कामशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, द्रव्यकामाश्च भावकामाश्च, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ, एष खलु कामानां निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गाथार्थः ॥ १६१ ॥ तत्र नामस्थापने श्रुणत्वादनादृत्य द्रव्यकामान् प्रतिपादयन्नाह—

सद्दरसरूवगंधाफासा उदयंकरा य जे दव्वा। दुविहा य भावकामा इच्छाकामा मयणकामा ॥ १६२ ॥

व्याख्या–शब्दरसरूपगन्धस्पर्शाः मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः, मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि संघाटकविकटमांसादीनि तान्यपि मदनकामाख्यभावकामहेतुत्वाद्द्रव्यकामा इति, भावकामानाह—'द्विविधाश्च' द्विप्रकाराश्च भावकामाः, इच्छाकामा मदनकामाश्च, तत्रैषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामाः, मदयतीति तथा मदनः–चित्रो मोहोदयः स एव कामप्रवृत्तिहेतुत्वात्कामा मदनकामा इति गाथार्थः ॥ १६२ ॥ इच्छाकामान् प्रतिपादयति—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'काम' शब्दस्य निक्षेपाः वर्णयते

इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य मयणंमि वेयउवओगो । तेणहिगारो तस्स उ वयंति धीरा निरुत्तमिणं ॥ १६३ ॥

व्याख्या–इच्छा प्रशस्ता अप्रशस्ता च, अनुस्वारोऽलाक्षणिकः सुखमुखोचारणार्थः, तत्र प्रशस्ता धर्मेच्छा मोक्षेच्छा, अप्रशस्ता युद्धेच्छा राज्येच्छा, उक्ता इच्छाकामाः, मदनकामानाह—'मदने' इति उपलक्षणार्थत्वान्मदनकामे निरूप्ये कोऽसावित्यत आह—'वेदोपयोगः' वेद्यत इति वेदः–स्त्रीवेदादिस्तदुपयोगः–तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये, यथा स्त्रीवेदोदयेन पुरुषं प्रार्थयत इत्यादि, 'तेनाधिकार' इति मदनकामेन, शेषा उच्चारितसदृशा इति प्ररूपिताः, 'तस्य तु' मदनकामस्य वदन्ति 'धीराः' तीर्थकरगणधरा निरुक्तम्, 'इदं' वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः ॥ १६३ ॥

विसयसुहेसु पसत्तं अबुहजणं कामरागपडिबद्धं । उक्कामयंति जीवं धम्माओ तेण ते कामा ॥ १६४ ॥

व्याख्या–विषीदन्ति–अवबध्यन्ते एतेषु प्राणिन इति विषयाः–शब्दादयः तेभ्यः सुखानि तेषु प्रसक्तः–आसक्तस्तं, जीवमिति योगः, स एव विशेष्यते–अबुधः–अविपश्चिज्जनः–परिजनो यस्य सः अबुधजनस्तम्, अकल्याणमित्रपरिजनमित्यर्थः, अनेन बाह्यं विषयसुखप्रसक्तिहेतुमाह, 'कामरागप्रतिबद्ध'मिति कामा–मदनकामास्तेभ्यो रागा–विषयाभिष्वङ्गास्तैः प्रतिबद्धो–व्याप्तस्तम्, अनेन त्वान्तरं विषयसुखप्रसक्तिहेतुमाह, ततश्चाबुधजनत्वात्कामरागप्रतिबद्धत्वाच्च विषयसुखेषु प्रसक्तमिति भावः, किम्?–निरुक्तवैचित्र्यादाह–तत्प्रत्यनीकत्वादुत्कामयन्ति–अपनयन्ति जीवमनन्तरविशेषितम्, कुतो?, धर्मात्, यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येन कारणेन तेन (ते) सामान्येनैव कामरागः कामा इति गाथार्थः ॥ अन्ये पठन्ति–उत्कामयन्ति यस्मादिति, अत्र चाबुधजन एव विशेष्यः, शेषं पूर्ववत् ॥ १६४ ॥

अन्नंपिय से नामं कामा रोगत्ति पंडिया बिंति । कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेइ खलु जंतू ॥ १६५ ॥

व्याख्या–अन्यदपि च 'एषां' कामानां नाम, किंभूतमित्याह–कामा रोगा 'इति' एवं पण्डिता ब्रुवते, किमित्येतदेवमत आह–कामान् प्रार्थयमानः–अभिलषन् रोगान् प्रार्थयते खलु जन्तुः, तद्रूपत्वादेव, कारणे कार्योपचारादिति गाथार्थः ॥ १६५ ॥ इत्थं पूर्वार्धे सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमभिधायाधुनोत्तरार्धे पदावयवमधिकृत्याह—

णामपयं ठवणपयं दव्वपयं चेव होइ भावपयं । एक्केक्कंपिय एत्तो णेगविहं होइ नायव्वं ॥ १६६ ॥

व्याख्या–नामपदं स्थापनापदं द्रव्यपदं चैव भवति भावपदम्, एकैकमपि च 'अत' एतेभ्योऽनेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति गाथासमासार्थः ॥ १६६ ॥ अवयवार्थं तु नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यपदमभिधित्सुराह—

आउट्टिमउक्किन्नं उण्णेज्जं पीलिमं च रंगं च । गंथिमवेढिमपूरिम वाइमसंघाइमच्छेज्जं ॥ १६७ ॥

व्याख्या–आकोट्टिमं जहा रूवओ हेट्ठा वि उवरिं पि मुहं काऊण आउडिज्जति, उत्कीर्णं शिलादिषु ना-

१ आकुट्टिकं यथा रूप्यकोऽधस्तादपि उपर्यपि मुखं कृत्वाऽऽकुट्यते.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मकादि, तहा[1] बउलादिपुप्फसंठाणाणि चिक्खिल्लमयपडिबिंबगाणि काउं पचंति, तओ तेसु वग्घारित्ता मयणं छुब्भति, तओ मयणमया पुप्फा हवन्ति, एतदुपनेयम्, पीडावच्च–संवेष्टितवस्त्रभङ्गावलीरूपं, रत्तावं[2]यवच्छविविचित्तरूवं रङ्गं, चः समुच्चये, 'ग्रथितं' मालादि, 'वेष्टिमं' पुष्पमयमुकुटरूपं, चिक्खि[3]ल्लमयं कुण्डिकारूपं अणेगच्छिद्दं पुप्फथामं पूरिमं, वातव्यं कुविन्दैर्वस्त्रविनिर्मितमश्वादि, संघात्यं–कञ्चुकादि, छेद्यं–पत्रच्छेद्यादि। पदता चास्य पद्यतेऽनेनेत्यर्थयोगात्, द्रव्यता च तद्रूपत्वादिति गाथार्थः ॥ १६७ ॥ उक्तं द्रव्यपदम्, अधुना भावपदमाह—

भावपयंपि य दुविहं अवराहपयं च नो य अवराहं। नोअवराहं दुविहं माउगनोमाउगं चेव ॥ १६८ ॥

व्याख्या–भावपदमपि च द्विविधम्, द्वैविध्यमेव दर्शयति–अपराधहेतुभूतं पदमपराधपदम्–इन्द्रियादि वस्तु, चशब्दः स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थः, 'णोअवराहं'ति चशब्दस्य व्यवहितोपन्यासान्नोअपराधपदं च, चः पूर्ववत्, नोअपराधमिति–नोअपराधपदं द्विविधम्—'माउअ नोमाउअं चेव'त्ति मातृकापदं नोमातृकापदं च, तत्र मातृकापदं–मातृकाक्षराणि, मातृकाभूतं वा पदं मातृकापदं, यथा दृष्टिवादे "उप्पन्ने इ वा" इत्यादि, नोमातृकापदं त्वनन्तरगाथया वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ १६८ ॥

१ तथा बकुलादिपुष्पसंस्थानानि कर्दममयप्रतिबिम्बानि कृत्वा पच्यन्ते ततस्तेषु उष्णीकृत्य मदनं क्षिप्यते, ततो मदनमयानि पुष्पाणि भवन्ति. २ रक्तावयवच्छविविचित्ररूपम्. ३ कर्दममयं कुण्डिकारूपम् अनेकच्छिद्रं पुष्पस्थानम्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

नोमाउगंपि दुविहं गहियं च पइन्नयं च बोद्धव्वं । गहियं चउप्पयारं पइन्नगं होइ[अ]णेगविहं ॥ १६९ ॥

व्याख्या—'नोमाउयंपि' त्ति नोमातृकापदमपि द्विविधम्, कथमित्याह—'ग्रथितं च प्रकीर्णकं च बोद्धव्यम्' ग्रथितं रचितं बद्धमित्यनर्थान्तरम्, अतोऽन्यत्प्रकीर्णकं-प्रकीर्णककथोपयोगिज्ञानपदमित्यर्थः, ग्रथितं चतुष्प्रकारं-गद्यादिभेदात्, प्रकीर्णकं भवत्यनेकविधम्, उक्तलक्षणत्वादेवेति गाथार्थः ॥ १६९ ॥ ग्रथितमभिधातुकाम आह—

गज्जं पज्जं गेयं चुण्णं च चउव्विहं तु गहियपयं । तिसमुट्ठाणं सव्वं इइ बेंति सलक्खणा कइणो ॥ १७० ॥
महुरं हेउनिजुत्तं गहियमपायं विरामसंजुत्तं । अपरिमियं चउवसाणे कव्वं गज्जं ति नायव्वं ॥ १७१ ॥
पज्जं तु होइ तिविहं सममद्धसमं च नाम विसमं च । पाएहिं अक्खरेहिं य एव विहिण्णू कई बेंति ॥ १७२ ॥
तंतिसमं तालसमं वण्णसमं गहसमं लयसमं च । कव्वं तु होइ गेयं पंचविहं गीयसन्नाए ॥ १७३ ॥
अत्थबहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्गगंभीरं । बहुपायमवोच्छिन्नं गमणयसुद्धं च चुण्णपयं ॥ १७४ ॥ नोअवराहपयं गयं

व्याख्या—गद्यं पद्यं गेयं चौर्णं च चतुर्विधमेव ग्रथितपदम्, एभिरेव प्रकारैर्ग्रथनात्, एतच्च त्रिभ्यो धर्मार्थकामेभ्यः समुत्थानं-तद्विषयत्वेनोत्पत्तिरस्येति त्रिसमुत्थानं 'सर्वं' निरवशेषम्, आह-एवं मोक्षसमुत्थानस्य गद्यादेरभावप्रसङ्गः, न, तस्य धर्मसमुत्थान एवान्तर्भावात्, धर्मकार्यत्वादेव मोक्षस्येति, लौकिकपदलक्षणमेवैतदित्यन्ये, अतस्त्रिसमुत्थानं सर्वम्, 'इइ' एवं ब्रुवते 'सलक्षणा' लक्षणज्ञाः कवय इति गाथार्थः ॥१७०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गद्यलक्षणमाह—'मधुरं' सूत्रार्थोभयैः श्रव्यम् 'हेतुनियुक्तं' सोपपत्तिकम् 'ग्रथितं' बद्धमानुपूर्व्या 'अपादं' विशिष्टच्छन्दोरचनायोगात्पादवर्जितम् विरामः–अवसानं तत्संयुक्तमर्थतो न तु पाठतः इत्येके, जहा–जिणवरपादारविंदसंदाणिउरुणिम्मलसहस्स एवमादि असमाणिउं न चिट्ठइत्ति, यतिविशेषसंयुक्तं अन्ये, अपरिमितं चावसाने बृहद्भवतीत्येके, अन्ये त्वपरिमितमेव भवति बृहदित्यर्थः, अवसाने मृदु पठ्यत इति शेषः, काव्यं गद्यम्, 'इति' एवंप्रकारं ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ १७१ ॥ अधुना पद्यमाह—पद्यं तु, तुशब्दो विशेषणार्थः, भवति 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं, सममर्धसमं च नाम विषमं च, कैः सममित्यादि?, अत्राह–पादैरक्षरैश्च, पादैः चतुःपादादिभिरक्षरैः गुरुलघुभिः, अन्ये तु व्याचक्षते–समं यत्र चतुर्ष्वपि पादेषु समान्यक्षराणि, अर्धसमं यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च समान्यक्षराणि, विषमं तु सर्वपादेष्वेव विषमाक्षरमित्येवं 'विधिज्ञाः' छन्दःप्रकारज्ञाः कवयो ब्रुवत इति गाथार्थः ॥ १७२ ॥ अधुना गेयमाह—तन्त्रीसमं तालसमं वर्णसमं ग्रहसमं लयसमं च काव्यं तु भवति, तुशब्दोऽवधारणार्थ एव, गीयत इति गेयं, 'पञ्चविधम्' उक्तैर्विधिभिः 'गीतसंज्ञायां' गेयाख्यायाम्, तत्र तन्त्रीसमं वीणादितन्त्रीशब्देन तुल्यं मिलितं च, एवं तालादिष्वपि योजनीयम्, नवरं ताला–हस्तगमाः, वर्णा–निषादपञ्चमादयः, ग्रहा–उत्क्षेपाः, प्रारम्भरसविशेषा इत्यन्ये, लयाः–तन्त्रीस्वन-

१ यथा जिनवरपादारविन्दसंदानितोरुनिर्मलसहस्र एवमाद्यसमाप्य न तिष्ठति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषाः । तत्थं किल कोणएण तंती छिप्पइ तओ णहेहि अणुमज्जिज्जइ, तत्थ अण्णारिसो सरो उट्ठेइ, सो लयो त्ति गाथार्थः ॥ १७३ ॥ साम्प्रतं चौर्णं पदमाह—अर्थो बहुलो यस्मिँस्तदर्थबहुलम्, 'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥ १ ॥' ततश्चैभिः प्रकारैर्बहर्थम्, महान्–प्रधानो हेयोपादेयप्रतिपादकत्वेनार्थो यस्मिँस्तन्महार्थम्, 'हेतुनिपातोपसर्गैर्गभीरम्' तत्रान्यथाऽनुपपत्तिलक्षणो हेतुः, यथा–मदीयोऽयमश्वो विशिष्टचिह्नोपलक्षितत्वात्, चवाखल्वादयो निपाताः, पर्युतसमवादय उपसर्गाः, एभिरगाधम्, 'बहुपादम्' अपरिमितपादम् 'अव्यवच्छिन्नं' श्लोकवद्विरामरहितम्, गमनयैः शुद्धम्, गमाः–तदक्षरोच्चारणप्रवणा भिन्नार्थाः, यथा 'इह खलु छज्जीवणिया० कयरा खलु सा छज्जीवणिया०' इत्यादि, नयाः–नैगमादयः प्रतीताः, तुरवधारणे, गमनयशुद्धमेव चौर्णं पदं ब्रह्मचर्याध्ययनपदवदिति गाथार्थः ॥ १७४ ॥ उक्तं ग्रथितं, प्रकीर्णकं लोकादवसेयम्, उक्तं नोअपराधपदम्, अधुना अपराधपदमाह—

इंदियविसयकसाया परीसहा वेयणा य उवसग्गा । एए अवराहपया जत्थ विसीयंति दुम्मेहा ॥ १७५ ॥

व्याख्या–इन्द्रियाणि–स्पर्शनादीनि विषयाः–स्पर्शादयः कषायाः–क्रोधादयः इन्द्रियाणि चेत्यादिद्वन्द्वः, 'परीषहाः' क्षुत्पिपासादयः 'वेदना' असातानुभवलक्षणा उपसर्गा–दिव्यादयः, एतानि 'अपराधपदानि'

१ तत्र किल कोणकेन तन्त्री स्पृश्यते, ततो नखैरनुसृप्यते, तत्रान्यादृशः स्वर उत्तिष्ठते, स लय इति । २ इह खलु षड्जीवनिका° कतरा खलु सा षड्जीवनिका.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपराधपदस्य वर्णनं क्रियते

मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थानानि, 'यत्र' येष्विन्द्रियादिषु सत्सु 'विषीदन्ति' आ(अव)बध्यन्ते, किं सर्व एव?, नेत्याह —दुर्मेधसः क्षुल्लकवत्, कृतिनस्तु एभिरेव कारणभूतैः संसारकान्तारमुत्तरन्तीति गाथार्थः ॥१७५॥ क्षुल्लकस्तु पदे पदे विषीदन् संकल्पस्य वशं गतः, कोऽसौ खुल्लओ त्ति?, कहाणयं–कुंकुणओ जहा एगो खंतो सपुत्तो पव्वइओ, सो य चेल्लओ तस्स अईव इट्ठो, सीयमाणो य भणइ–खंता! ण सक्केमि अणुवाहणो हिंडिउं, अणुकंपाए खंतेण दिण्णाओ उवाहणाओ, ताहे भणइ–उवरितला सीएणं फुट्टंति, खल्लिता से कयाओ, पुणो भणइ–सीसं मे अईव डज्झइ, ताहे सीसदुवारिया से अणुण्णाया, ताहे भणइ–ण सक्केमि भिक्खं हिंडिउं, तो से पडिसए ठियस्स आणेइ, एवं ण तरामि खंत! भूमिए सुविउं, ताहे संथारो से अणुण्णाओ, पुणो भणइ–ण तरामि खंत! लोयं काउं, तो खुरेण पकिज्जियं, ताहे भणइ–अण्हाणयं न सक्केमि, तओ से फासुयपाणएण कप्पो दिज्जइ, आयरियपाउग्गं वत्थजुयलयं घिप्पइ, एवं जं जं भणइ तं तं सो खंतो णेहपडिबद्धो तस्सणुजाणइ, एवं काले गच्छमाणे पभणिओ–न तरामि अविरइयाए विणा अच्छिउं खंतस्ति, ताहे खंतो भणइ–सढो, अजो-

१ क्षुल्लक इति?, कथानकम्–कोङ्कणकः यथा एको वृद्धः सपुत्रः प्रव्रजितः, स च क्षुल्लकः तस्यातीवेष्टः, सीदंश्च भणति–वृद्ध! न शक्नोमि अनुपानत्को हिण्डितुमनुकम्पया वृद्धेन दत्तौ उपानहौ, तदा भणति–उपरितलौ शीतेन स्फाटयतः, खल्लयौ तस्य कृते, पुनर्भणति–शीर्षं मे अतीव दह्यते, तदा शीर्षद्वारिका तस्यानुज्ञाता, तदा भणति—न शक्नोमि भिक्षां हिण्डितुं, ततस्तस्य प्रतिश्रये स्थितस्य आनयति, एवं न शक्नोमि वृद्ध! भूमौ स्वपुम्, तदा संस्तारकः तस्य अनुज्ञातः, पुनर्भणति–न शक्नोमि वृद्ध! लोचं कर्त्तुं, ततः क्षुरेण प्रकृतं, तदा भणति–अस्नानतां न शक्नोमि, ततस्तस्य प्रासुकस्नानकेन कल्पं ददाति, आचार्यप्रायोग्यं वस्त्रयुगलकं गृह्यते, एवं यद् यद्भणति तत्तत् स वृद्धः स्नेहप्रतिबद्धः तस्यानुजानाति, एवं काले गच्छति प्रभणति–न शक्नोमि अविरतिकया विना स्थातुं वृद्ध! इति, तदा वृद्धो भणति–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

ग्गोत्ति काऊण पडिसयाओ णिप्फेडिओ, कम्मं काउं ण याणेइ, अयाणंतो खणसंखडीए धाणिं काउं अजिण्णेण मओ, विसयविसट्टो महिसो आयाओ, वाहिज्जइ य, सो य खंतो सामण्णपरियागं पालेऊण आउक्खए कालगओ देवेसु उववण्णो, ओहिं पउंजइ, ओहिणा आभोएऊण तं चेल्लयं तेण पुव्वणेहेणं तेसिं गोहाणं हत्थओ किणइ, वेउव्वियभंडीए जोएइ, वाहेइ य गरुगं, तं अतरंतो वोढुं तोत्तएण विंधेउं भणइ–ण तरामि खंता! भिक्खं हिण्डउं, एवं भूमीए सयणं लोयं काउं एवं ताणि वयणाणि सव्वाणि उच्चारेइ जाव अविरययाए विणा न तरामि खंतत्ति, ताहे एवं भणंतस्स तस्स महिसस्स इमं चित्तं जायं–कहिं एरिसं वक्कं सुअं ति?, ताहे ईहावुहमग्गणगवेसणं करेइ, एवं चिंतयंतस्स तस्स जाईसरणं समुप्पन्नं, देवेण ओही पउत्ता, संबुद्धो, पच्छा भत्तं पच्चक्खाइत्ता देवलोगं गओ। एवं पए पए विसीदन्तो संकप्पस्स वसं गच्छइ, जम्हा एस दोसो तम्हा अट्ठारससीलंगसहस्साणं सारणाणिमित्तं एए अवराहपए वज्जेज्ज। तथा चाह—

१ शठः, अयोग्य इतिकृत्वा प्रतिश्रयात् निष्कासितः, कर्म कर्तुं न जानाति, अजानन् क्षणसंखण्डयां धाणिं कृत्वाऽजीर्णेन मृतः, विषयविषार्तो मृत्वा महिषो जातः, वाह्यते च, स च वृद्धः श्रामण्यपर्यायं पालयित्वा आयुःक्षये कालगतो देवेषूपन्नः अवधिं प्रयुणक्ति, अवधिना आभोगयित्वा तं क्षुल्लकं तेन पूर्वस्नेहेन तेषां गोधानां हस्तात् क्रीणाति, वैक्रियगुटिकया योजयति, वाहयति च गुरुकं, तं अशक्नुवन्तं वोढुं तोत्रकेण वेधयित्वा भणति–न शक्नोमि वृद्ध! भिक्षां हिण्डितुम्, एवं भूमौ शयनं, लोचं कर्तुम्, एवं तानि वचनानि सर्वाणि उच्चारयति, यावदविरतिकया विना न शक्नोमि वृद्धेति, तदा एवं भणतस्तस्य महिषस्य इदं चित्तं जातं–कुत्र? एतादृशं वाक्यं श्रुतमिति, तदा ईहापोहमार्गणगवेषणाः करोति, एवं चिन्तयतस्तस्य जातिस्मरणं समुत्पन्नं, देवेनावधिः प्रयुक्तः संबुद्धः पश्चात् भक्तं प्रत्याख्याय, देवलोकं गतः, एवं पदे पदे विषीदन् संकल्पस्य वशं गच्छति, यस्मात् एष दोषः तस्मादष्टादशशीलाङ्गसहस्राणां स्मरणनिमित्तं एतानि अपराधपदानि वर्जयेत्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अट्ठारस उ सहस्सा सीलंगाणं जिणेहिं पन्नत्ता । तेसिँ पडि(रि)रक्खणट्ठा अवराहपए उ वज्जेज्जा ॥ १७६ ॥

व्याख्या–अष्टादश सहस्राणि, तुरवधारणे, अष्टादशैव, शीलं–भावसमाधिलक्षणं तस्याङ्गानि–भेदाः कारणानि वा शीलाङ्गानि तेषां 'जिनैः' प्राग्निरूपितशब्दार्थैः 'प्रज्ञप्तानि' प्ररूपितानि, 'तेषां' शीलाङ्गानां 'परिरक्षणार्थं'परिरक्षणनिमित्तम् 'अपराधपदानि' प्राग्निरूपितस्वरूपाणि 'वर्जयेत्' जह्यादिति गाथार्थः ॥ १७६ ॥ साम्प्रतं शीलाङ्गसहस्रप्रतिपादनोपायभूतमिदं गाथासूत्रमाह—

जोए करणे सन्ना इंदिय भोमाइ समणधम्मे य । सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ॥ १७७ ॥ सामण्णपुव्वयनिज्जुत्ती समत्ता ॥२॥

व्याख्या–[1]तत्थ ताव जोगो तिविहो, कायेण वायाए मणेणं ति, करणं तिविहं–कयं कारियं अणुमोइयं, सन्ना चउव्विहा, तंजहा–आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा, इंदिए पंच, तंजहा–सोइंदिए चक्खिंदिए घाणिंदिए जिब्भिंदिए फासिंदिए, पुढविकाइयाइया पञ्च, बेइंदिया जाव पंचेंदिया अजीवनिकायपंचमा,समणधम्मो दसविहो, तंजहा–खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे तवे संजमे य आकिंचणया बंभचेरवासे ।

१ तत्र तावद्योगस्त्रिविधः–कायेन वाचा मनसेति, करणं त्रिविधं–कृतं कारितमनुमोदितं, संज्ञा चतुर्विधा, तद्यथा–आहारसंज्ञा भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा परिग्रहसंज्ञा, इन्द्रियाणि पञ्च, तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियं चक्षुरिन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं जिह्वेन्द्रियं स्पर्शनेन्द्रियं, पृथ्वीकायिकादयः पञ्च, द्वीन्द्रिया यावत् पञ्चेन्द्रियाः अजीवनिकायपञ्चमाः, श्रमणधर्मो दशविधः, तद्यथा–क्षान्तिर्मुक्तिरार्जवं मार्दवं लाघवं सत्यं तपः संयमश्च अकिञ्चनता ब्रह्मचर्यवासः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अष्टादश सहस्राणि शिलांग"स्य वर्णनं

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

ऐसा ठाणपरूवणा, इयाणिं अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं समुक्कित्तणा–काएणं न करेमि आहारसन्नाप-डिविरए सोइंदियपरिसंवुडे पुढविकायसमारंभपडिविरए खंतिसंपजुत्ते, एस पढमो गमओ १, इयाणिं बिइओ भण्णइ–काएणं ण करेमि आहारसण्णापडिविरए सोइंदियपरिसंवुडे पुढविकायसमारंभपडिविरए मुत्ति-संपजुत्ते, एस बीइओ गमओ, इयाणिं तइयओ एवं एएण कमेण जाव दसमो गमओ बंभचेरसंपउत्तो, एस दस-मओ गमओ । एए दस गमा पुढविकायसंजमं अमुंचमाणेण लद्धा, एवं आउकाएणवि दस चेव, एवं जाव अ-जीवकाएणवि दस चेव, एवमेयं अणूणं सयं गमयाणं सोइंदियसंवुडं अमुंचमाणेण लद्धं, एवं चक्खिंदिएणवि सयं, घाणिंदिएणवि सयं, जिब्भिंदिएणवि सयं, फासिंदिएणवि सयं, एवमेयाणि पंच गमसयाणि आहार-सण्णापडिविरयममुंचमाणेणं लद्धाणि, एवं भयसण्णाएवि पंच सयाणि, मेहुणसण्णाएवि पंचसयाणि, परिग्गह-

१ एषा स्थानप्ररूपणा, इदानीं अष्टादशानां शीलाङ्गसहस्राणां समुत्कीर्त्तना–कायेन न करोमि आहारसंज्ञाप्रतिविरतः श्रोत्रेन्द्रियसंवृतः पृथ्वीकायसमारम्भप्रतिविरतः क्षान्तिसंप्रयुक्तः, एष प्रथमो गमः, इदानीं द्वितीयो भण्यते–कायेन न करोमि आहारसंज्ञाप्रतिविरतः श्रोत्रेन्द्रियसंवृतः पृथ्वीकायसमारम्भप्रतिविरतः मुक्ति-संप्रयुक्तः एष द्वितीयो गमः, इदानीं तृतीयः, एवमेतेन क्रमेण यावद्दशमो गमः ब्रह्मचर्यसंप्रयुक्तः एष दशमो गमः, एते दश गमाः पृथ्वीकायसंयममुञ्चता लब्धाः, एवमप्कायेनाऽपि दशैव, एवं यावदजीवकायेनापि दशैव, एवमेतत् अनूनं शतं गमकानां श्रोत्रेन्द्रियसंवृतममुञ्चता लब्धम्, एवं चक्षुरिन्द्रियेणापि शतं, घ्राणेन्द्रियेणापि शतं, जिह्वेन्द्रियेणापि शतं, स्पर्शनेन्द्रियेणापि शतं, एवमेतानि पञ्च गमशतानि आहारसंज्ञाप्रतिविरतममुञ्चता लब्धानि, एवं भयसंज्ञयाऽपि पञ्च शतानि मैथुन-संज्ञयाऽपि पञ्च शतानि परिग्रहसंज्ञयापि

॥ ९० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकारकृत् त्यागी-अत्यागिनाम् व्याख्या

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [७]

सण्णाएवि पंच सयाणि, एवमेयाणि वीसं गमसयाणि ण करेमि असुअमाणेण लद्धाणि, एवं ण कारवेमित्ति वीसं सयाणि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामित्ति वीसं सयाणि, एवमेयाणि छ सहस्साणि कायं असुंचमाणेण लद्धाणि, एवं वायाएवि छ सहस्साणि, एवं मणेणवि छ सहस्साणि । एवमेतेन प्रकारेण शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकस्य निष्पत्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ १७७ ॥ न केवलमयमधिकृतसूत्रोक्तः उक्तवच्छ्रामण्याकरणादश्रमणः किन्त्वाजीविकादिभयप्रव्रजितः संक्लिष्टचित्तो द्रव्यक्रियां कुर्वन्नप्यश्रमण एव–अत्यागीयेव, कथम्?, यत आह सूत्रकारः—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य । अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥

अस्य व्याख्या–'वस्त्रगन्धालङ्कारानि'ति, अत्र वस्त्राणि–चीनांशुकादीनि गन्धाः–कोष्ठपुटादयः अलङ्काराः –कटकादयः, अनुस्वारोऽलाक्षणिकः, स्त्रियोऽनेकप्रकाराः, 'शयनानि' पर्यङ्कादीनि, चशब्द आसनाद्यनुक्तसमुच्चयार्थः, एतानि वस्त्रादीनि किम्?, 'अच्छन्दाः' अस्ववशा ये केचन 'न भुञ्जते' नासेवन्ते, किं बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशः?, विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवत्येवेतिकृत्वा, आह—'नासौ त्यागीत्युच्यते' सुबन्धुवन्नासौ श्रमण इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ कः पुनः सुबन्धुरिति?, अत्र कथानकम्–जया णंदो चंदगुत्तेण

१ पञ्च शतानि, एवमेतानि विंशतिर्गमशतानि न करोमीति असुअता लब्धानि, एवं न कारयामीति विंशतिः शतानि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामीति विंशतिः शतानि, एवमेतानि षट् सहस्राणि कायमसुअता लब्धानि, एवं वाचाऽपि षट् सहस्राणि, एवं मनसाऽपि षट् सहस्राणि यदा नन्दश्चन्द्रगुप्तेन

दश. १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णिच्छुहो, तया तस्स दारेण निगच्छंतस्स दुहिया चंदगुत्ते दिट्ठिं बंधेइ, एयं अक्खाणयं जहा आवस्सए जाव बिंदुसारो राया जाओ, णंदसंतिओ य सुबंधू णाम अमच्चो, सो चाणक्कस्स पदोसमावण्णो छिद्दाणि मग्गइ, अण्णया रायाणं विण्णवेइ–जइवि तुम्हे अम्हं वित्तं ण देह तहावि अम्हेहिं तुम्ह हियं वत्तव्वं, भणियं च–तुम्ह माया चाणक्केण मारिया, रण्णा धाई पुच्छिया, आमंति, कारणं ण पुच्छियं, केणवि कारणेण रण्णो य सगासं चाणक्को आगओ, जाव दिट्ठिं न देई ताव चाणक्को चिंतेइ–रुट्ठो एस राया, अहं गयाउओत्तिकाउं दव्वं पुत्त-पउत्ताणं दाऊणं संगोवित्ता य गंधा संजोइआ, पत्तयं च लिहिऊण सोऽवि जोगो समुग्गे छूढो, समुग्गो य चउसु मंजूसासु छूढो, तासु छुभित्ता पुणो गन्धोवरए छूढो, तं बहूहिं कीलियाहिं सुघडियं करेत्ता दव्व-जायं णातिवग्गं च धम्मे णिओइत्ता अडवीए गोकुलट्ठाणे इंगिणिमरणं अब्भुवगओ, रण्णा य पुच्छियं–

१ निक्षिप्तः (निष्काशितः), तदा तस्य द्वारेण निर्गच्छतो पुत्री चन्द्रगुप्ते दृष्टिं बध्नाति, एतदाख्यानकं यथाऽऽवश्यके यावद्बिन्दुसारो राजा जातः, नन्दसत्कश्च सुबन्धुनामाऽमात्यः, स चाणक्ये प्रद्वेषमापन्नः, छिद्राणि मार्गयति, अन्यदा राजानं विज्ञपयति—यद्यपि यूयमस्मभ्यं वित्तं न दत्थ तथाप्यस्माभिर्युष्माकं हितं वक्तव्यं, भणितं च—युष्माकं माता चाणक्येन मारिता, राज्ञा धात्री पृष्टा, ओमिति, कारणं न पृष्टं, केनापि कारणेन राज्ञश्च सकाशं चाणक्य आगतः, यावद्दृष्टिं न ददाति तावच्चाणक्यः चिन्तयति—रुष्ट एष राजा, अहं गतायुरितिकृत्वा द्रव्यं पुत्रपौत्रेभ्यो दत्त्वा संगोप्य च गन्धाः संयोजिताः, पत्रकं च लिखित्वा सोऽपि योगः समुद्गे क्षिप्तः, समुद्गश्च चतसृषु मञ्जूषासु क्षिप्तः, तासु क्षिप्त्वा पुनर्गन्धापवरके क्षिप्तः, तं बहुभिः कीलिकाभिः सुघटितं कृत्वा द्रव्यजातं ज्ञातिवर्गे च धर्मे नियोज्याटव्यां गोकुलस्थाने इङ्गिनीमरणमभ्युपगतवान्, राज्ञा च पृष्टं—

॥ ९१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [७]

चाणक्को किं करेइ?, धाई य से सव्वं जहावत्तं परिकहेइ, गहियपरमत्थेण य भणियं–अहो मया असमिक्खियं कयं, सव्वंतेउरजोहबलसमग्गो खामेउं निग्गओ, दिट्ठो अणेण करीसमज्झट्ठिओ, खामियं सबहुमाणं, भणिओ अणेण–णगरं वच्चामो, भणइ–मए सव्वपरिच्चाओ कओत्ति। तओ सुबंधुणा राया विण्णविओ–अहं से पूयं करेमि अणुजाणह, अणुण्णाए धूवं डहिऊण तंमि चेव एगप्पएसे करीसस्सोवरि ते अंगारे परिट्ठवेइ, सो य करीसो पलित्तो, दड्ढो चाणक्को, ताहे सुबंधुणा राया विण्णविओ–चाणक्कस्स संतियं घरं ममं अणुजाणह, अणुण्णाए गओ, पच्चिक्खमाणेण य घरं दिट्ठो अपवरओ घट्टिओ, सुबंधू चिंतेइ–किमवि इत्थत्ति कवाडे भंजित्ता उग्घाडिओ, मंजूसं पासइ, सावि उग्घाडिया, जाव समुग्गं पासइ, मघमघंतं गंधं सपत्तयं पेच्छइ, तं पत्तयं वाएइ, तस्स य पत्तगस्स एसो अत्थो–जो एयं चुण्णयं अग्घाइ सो जइ ण्हाइ वा समालभइ वा अलंकारेइ सीउदगं पिवइ महईए सेज्जाए सुवइ जाणेण गच्छइ गंधव्वं वा सुणेइ एवमाई अण्णे वा इट्ठे

१ चाणक्यः किं करोति?, धात्री च तस्मै सर्वं यथावृत्तं परिकथयति, गृहीतपरमार्थेन च भणितं—अहो मया असमीक्षितं कृतं, सर्वान्तःपुरयोधबलसमग्रः क्षमयितुं निर्गतः, दृष्टोऽनेन करीषमध्यस्थितः, क्षमितं सबहुमानं, भणितमनेन—नगरं व्रजामः, भणति—मया सर्वपरित्यागः कृत इति। ततः सुबन्धुना राजा विज्ञप्तः –अहं तस्य पूजां करोमि अनुजानीत, अनुज्ञाते धूपं दग्ध्वा तस्मिन्नेवैकप्रदेशे करीषस्योपरि तानङ्गारान् परिस्थापयति, स च करीषः प्रदीप्तः, दग्धश्चाणक्यः, तदा सुबन्धुना राजा विज्ञप्तः—चाणक्यस्य सत्कं गृहं मह्यमनुजानीत, अनुज्ञाते गतः, प्रत्युपेक्षमाणेन च गृहं दृष्टोऽपवरको घट्टितः, सुबन्धुश्चिन्तयति—किमप्यत्रेति कपाटौ भंक्त्वोद्घाटितः, मञ्जूषां पश्यति, साऽप्युद्घाटिता, यावत्समुद्गं पश्यति, मघमघायमानं गन्धं सपत्रकं पश्यति, तं पत्रं वाचयति, तस्य च पत्रस्यैषोऽर्थः—य एतच्चूर्णं जिघ्रति स यदि स्नाति वा समालभते वाऽलङ्करोति शीतोदकं पिबति महत्यां शय्यायां स्वपिति यानेन गच्छति गान्धर्वं वा शृणोति एवमादीनन्यानपि इष्टान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विसए सेवेइ जहा साहुणो अच्छंति तह सो जइ ण अच्छेइ तो मरइ, ताहे सुबंधुणा विण्णासणत्थं अण्णो पुरिसो अग्घावित्ता सद्दाइणो विसए भुंजाविओ मओ य, तओ सुबंधू जीवियट्ठी अकामो साहू जहा अच्छंतोवि ण साहू । एवमधिकृतसाधुरपि न साधुः, अतो न त्यागीत्युच्यते, अभिधेयार्थाभावात् ॥ यथा चोच्यते तथाऽभिधातुकाम आह—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ । साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥ ३ ॥

अस्य व्याख्या–चशब्दस्यावधार(णार्थ)त्वात् य एव 'कान्तान्' कमनीयान् शोभनानित्यर्थः 'प्रियान्' इष्टान्,इह कान्तमपि किञ्चित् कस्यचित् कुतश्चिन्निमितान्तरादप्रियं भवति, यथोक्तम्—"चउहिं ठाणेहिं संते गुणे णासेज्जा, तंजहा–रोसेणं पडिनिवेसेणं अकयण्णुयाए मिच्छत्ताभिनिवेसेणं" अतो विशेषणं प्रियानिति, 'भोगान्' शब्दादीन् विषयान् 'लब्धान्' प्राप्तान् उपनतानितियावत्, 'विपिट्ठिकुव्वइ'त्ति विविधम्–अनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः पृष्ठतः करोति, परित्यजतीत्यर्थः, स च न बन्धनबद्धः प्रोषितो वा किन्तु? 'स्वाधीनः' अपरायत्तः स्वाधीनानेव त्यजति भोगान्, पुनस्त्यागग्रहणं प्रतिसमयं त्यागपरिणामवृद्धिसंसूचनार्थम्, भोगग्रहणं तु

१ विषयान् सेवते यथा साधवस्तिष्ठन्ति तथा स यदि न तिष्ठति तदा म्रियते । तदा सुबन्धुना विन्यासनार्थं (जिज्ञासार्थं) पुरुषोऽन्य आघ्राप्य शब्दादीन् विषयान् भोजितः मृतश्च । ततः सुबन्धुर्जीवितार्थी अकामः साधुर्यथा तिष्ठन्नपि न साधुः. । २ चतुर्भिः स्थानैः सतो गुणान्नाशयेत्, तद्यथा—रोषेण प्रतिनिवेशेन अकृतज्ञतया मिथ्यात्वाभिनिवेशेन.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [८]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

संपूर्णभोगग्रहणार्थं–त्यक्तोपनतभोगसूचनार्थं वा, ततश्च य ईदृशः हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् स एव त्यागी-त्युच्यते, भरतादिवदिति। अत्राह–जइ भरहजंबुनामाइणो जे संते भोए परिचयंति ते परिचाइणो, एवं ते भणंतस्स अयं दोसो हवइ–जे केऽवि अत्थसारहीणा दमगाइणो पव्वइऊण भावओ अहिंसाइगुणजुत्ते सा-मण्णे अब्भुज्जुया ते किं अपरिचाइणो हवंति?, आयरिय आह–तेऽवि तिण्णि रयणकोडीओ परिचइऊण पव्व-इया–अग्गी उदयं महिला तिण्णि रयणाणि लोगसाराणि परिचइऊण पव्वइया, दिट्ठंतो–एगो पुरिसो सुधम्म-सामिणो सयासे कट्ठहारओ पव्वइओ, सो भिक्खं हिंडंतो लोएण भण्णइ–एसो कट्ठहारओ पव्वइओ, सो सेहत्तेण आयरियं भणइ–ममं अण्णत्थ णेह, अहं न सक्केमि अहियासेत्तए, आयरिएहिं अभओ आपुच्छिओ –वच्चामोत्ति, अभओ भणइ–मासकप्पपाउग्गं खित्तं किं एयं न भवइ? जेण अत्थके अण्णत्थ वच्चह?, आयरि-एहिं भणियं–जहा सेहनिमित्तं, अभओ भणइ–अच्छह वीसत्था, अहमेयं लोगं उवाएण निवारेमि, ठिओ

१ यदि भरतजम्बूनामादयः ये सतो भोगान् परित्यजन्ति ते परित्यागिनः एवं तव भणतोऽयं दोषो भवति–ये केऽपि अर्थसारहीना द्रमकादयः प्रव्रज्य भाव-तोऽहिंसादियुक्ते श्रामण्ये अभ्युद्यताः ते किमपरित्यागिनो भवन्ति? आचार्य आह—तेऽपि तिस्रो रत्नकोटीः परित्यज्य प्रव्रजिताः—अग्निरुदकं महिला त्रीणि रत्नानि लोकसाराणि परित्यज्य प्रव्रजिताः, दृष्टान्तः–एकः पुरुषः सुधर्मस्वामिनः सकाशे काष्ठहारकः प्रव्रजितः, स भिक्षां हिण्डमानो लोकेन भण्यते–एष काष्ठहारकः प्रव्रजितः, स शैक्षत्वेनाचार्यं भणति—मामन्यत्र नयत, अहं न शक्नोम्यध्यासितुम्, आचार्यैरभय आपृष्टो व्रजाम इति, अभयो भणति—मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रं किमेतन्न भ-वति येनाकाण्डेऽन्यत्र व्रजथ—आचार्यैर्भणितं—यथा शैक्षनिमित्तम्, अभयो भणति—तिष्ठथ विश्वस्ताः, अहमेनं लोकमुपायेन निवारयामि, स्थितः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [८]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

आयरिओ। बिइए दिवसे तिण्णि रयणकोडीओ ठवियाओ, उग्घोसावियं नगरे–जहा अभओ दाणं देइ, लोगो आगओ, भणियं चऽणेण–तस्साहं एयाओ तिण्णि कोडिओ देमि जो एयाइं तिण्णि परिहरइ–अग्गीं पाणियं महिलियं च, लोगो भणइ–एएहिं विणा किं सुवन्नकोडिहिं?, अभओ भणइ–ता किं भणह–दमओ-त्ति पव्वइओ, जोऽवि णिरत्थओ पव्वइओ तेणवि एयाओ तिण्णि सुवन्नकोडीओ परिचत्ताओ, सच्चं सामि! ठिओ लोगो पत्तीओ। तम्हा अत्थपरिहीणोऽवि संजमे ठिओ तिण्णि लोगसाराणि अग्गी उदयं महिलाओ य परिचयंतो चाइत्ति लब्भइ। कृतं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा । न सा महं नोवि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥ ४ ॥

तस्यैवं त्यागिनः 'समया' आत्मपरतुल्यया प्रेक्ष्यतेऽनयेति प्रेक्षा–दृष्टिस्तया प्रेक्षया–दृष्ट्या परि–समन्तात्

१ आचार्यः। द्वितीये दिवसे तिस्रो रत्नकोट्यः स्थापिताः, उद्घोषितं नगरे—यथा अभयो दानं ददाति, लोक आगतः, भणितं चानेन–तस्मायहमेतास्तिस्रोऽपि कोटीर्ददामि य एतानि त्रीणि परिहरति–अग्निं पानीयं महिलां च, लोको भणति—एतैर्विना किं सुवर्णकोटीभिः?, अभयो भणति—तदा किं भणथ—द्रमक इति प्रव्रजितः, योऽपि निरर्थकः प्रव्रजितः तेनाप्येतास्तिस्रः सुवर्णकोट्यः परित्यक्ताः, सत्यं स्वामिन्! स्थितो लोकः प्रतीतः। तस्मादर्थपरिहीनोऽपि संयमे स्थितस्त्रीणि लोकसाराणि—अग्निमुदकं महिलाश्च परित्यजन् त्यागीति लभ्यते.

॥ ९३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रजतो–गच्छतः परिव्रजतः, गुरूपदेशादिना संयमयोगेषु वर्तमानस्येत्यर्थः, 'स्यात्' कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगतेः मनो निःसरति 'बहिर्धा' बहिः भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मनः–अन्तःकरणं निःसरति–निर्गच्छति बहिर्धा–संयमगेहाद्बहिरित्यर्थः। एत्थ उदाहरणम्–जहा एगो रायपुत्तो बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अभिरमंतो अच्छइ, दासी य तेण अंतेण जलभरियघडेण वोलेइ, तओ तेण तीए दासीए सो घडो गोलियाए भिन्नो, तं च अधिइं करिंतिं दट्ठूण पुणरावत्ती जाया, चिंतियं च –जे चेव रक्खगा ते चेव लोलगा कत्थ कुविउं सक्का?। उदगाउ समुज्जलिओ अग्गी किह विज्झवेयव्वो ॥ १ ॥ पुणो चिक्खलगोलएण तक्खणा एव लहुहत्थयाए तं घडछिड्डं ढक्कियं। एवं जइ संजयस्स संजमं करेंतस्स बहिया मणो णिग्गच्छइ तत्थ पसत्थेण परिणामेण तं असुहसंकप्पछिड्डं चरित्तजलरक्खणट्ठाए ढक्केयव्वं। केनालम्बनेनेति?, यस्यां राग उत्पन्नस्तां प्रति चिन्तनीयम्–न सा मम नाप्यहं तस्याः, पृथक्कर्मफलभुजो हि प्राणिन इति, एवं ततस्तस्याः सकाशाद्व्यपनयेत रागं, तत्त्वदर्शिनो हि सन्निवर्त्तन्त (स निवर्त्तते) एव, अतत्व-

१ अत्रोदाहरणम्—यथैको राजपुत्रः बाह्यिरिकायामास्थानसभायामभिरममाणस्तिष्ठति, दासी च तेन मार्गेण जलभृतघटेन व्रजति, ततस्तेन तस्या दास्याः स घटो गोलिकया भिन्नः, तां चाधृतिं कुर्वतीं दृष्ट्वा पुनरावृत्तिर्जाता, चिन्तितं च, य एव रक्षकास्त एव लोठकाः कुत्र क्रूजितुं शक्यम्? उदकात् समुज्वलितोऽग्निः कथं विध्यापयितव्यः? ॥ १ ॥ पुनः कर्दमगोलकेन तत्क्षणादेव लघुहस्ततया तद् घटच्छिद्रं स्थगितम्। एवं यदि संयतस्य संयमं कुर्वतो बहिर्मनो निर्गच्छति तत्र प्रशस्तेन परिणामेन तदशुभसंकल्पच्छिद्रं चारित्रजलरक्षणार्थाय स्थगयितव्यम्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शननिमित्तत्वात्तस्येति। तत्थ न सा मह णोऽवि अहंवि तीसेत्ति, एत्थ उदाहरणं–एगो वाणियदारओ, सो जायं उज्झित्ता पव्वइओ, सो य ओहाणुप्पेही भूओ, इमं च घोसेइ–न सा मह णोवि अहंपि तीसे, सो चिंतेइ–सावि ममं अहंपि तीसे, सा ममाणुरत्ता कहमहं तं छड्डेहामित्तिकाउं गहियायारभंडगणेवत्थो चेव संपट्ठिओ। गओ अ तं गामं जत्थ सा सो इ (य) णिवाणतडं संपत्तो, तत्थ य सा पुव्वजाया पाणियस्स आगया, सा य साविया जाया पव्वइउकामा य, ताए सो णाओ, इयरो तं न याणइ, तेण सा पुच्छिया–अमुगस्स धूया किं मया जीवइ वा?, सो चिंतेइ–जइ सासहरा तो उप्पव्वयामि, इयरहा ण, ताए णायं–जहा एस पव्वज्जं पयहिउकामो, तो दोवि संसारे भमिस्सामि (मो) त्ति, भणियं चऽणाए–सा अण्णस्स दिण्णा, तओ सो चिंतिउमारद्धो–सच्चं भगवंतेहिं साहूहिं अहं पाढिओ–जहा ण सा मह णोवि अहंपि तीसे, परमसंवेग–

१ तत्र न सा मम नो अपि अहमपि तस्या इति। अत्रोदाहरणम्—एको वणिग्दारकः, स जायामुज्झित्वा प्रव्रजितः, स चावधावनानुप्रेक्षी भूतः, इदं च घोषयति—न सा मम नो अपि अहमपि तस्याः, स चिन्तयति—सापि मम अहमपि तस्याः, सा मय्यनुरक्ता कथमहं तां त्यजामीतिकृत्वा गृहीताचारभाण्डनेपथ्य एव संप्रस्थितः, गतश्च तं ग्रामं यत्र सा, श्रोतो (स च) निपानतटं संप्राप्तः तत्र सा पूर्वजाया पानीयायागता, सा च श्राविका जाता प्रव्रजितुकामा च, तया स ज्ञात इतरस्तां न जानाति, तेन सा पृष्टा—अमुकस्य दुहिता किं मृता जीवति वा?, स चिन्तयति—यदि श्वासधरा तदोत्प्रव्रजामि, इतरथा न, तया ज्ञातं—यथैष प्रव्रज्यां प्रहातुकामः, ततो द्वावपि संसारे भ्रमिष्याव इति, भणितं चानया—साऽन्यस्मै दत्ता, ततः स चिन्तयितुमारब्धः—सत्यं भगवद्भिः साधुभिरहं पाठितः यथा न सा मम नो अपि अहमपि तस्याः, परमसंवेग–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मावण्णो, भणियं चऽणेण–पडिणियत्तामि, तीए वेरग्गपडिओत्ति णाऊण अणुसासिओ 'अणिच्चं जीवियं कामभोगा इत्तरिया' एवं तस्स केवलिपन्नत्तं धम्मं पडिकहेइ, अणुसिट्ठो जाणाविओ य पडिगओ आयरियसगासं पवज्जाए थिरीभूओ। एवं अप्पा साहारेतव्वो जहा तेणंति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ एवं तावदान्तरो मनोनिग्रहविधिरुक्तः, न चायं बाह्यविधिमन्तरेण कर्तुं शक्यते अतस्तद्विधानार्थमाह—

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

अस्य व्याख्या–संयमगेहान्मनसोऽनिर्गमनार्थम् 'आतापय' आतापनां कुरु, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति न्यायाद्यथानुरूपमूनोदरतादेरपि विधिः, अनेनात्मसमुत्थदोषपरिहारमाह, तथा 'त्यज सौकुमार्यं' परित्यज सुकुमारत्वम्, अनेन तूभयसमुत्थदोषपरिहारम्, तथाहि–सौकुमार्यात्कामेच्छा प्रवर्तते योषितां च प्रार्थनीयो भवति, एवमुभयासेवनेन 'कामान्' प्राग्निरूपितस्वरूपान् 'क्राम' उल्लङ्घय, यतस्तैः क्रान्तैः क्रान्तमेव दुःखं, भवति इति शेषः, कामनिबन्धनत्वाद्दुःखस्य, खुशब्दोऽवधारणे, अधुनाऽऽन्तरकामक्रमणविधिमाह–छिन्धि द्वेषं व्यपनय रागं सम्यग्ज्ञानबलेन विपाकालोचनादिना, क?, कामेष्विति गम्यते, शब्दादयो हि

१ मापन्नः, भणितं चानेन—प्रतिनिवर्तें, तथा वैराग्यपतित इति ज्ञात्वाऽनुशासितः, 'अनित्यं जीवितं कामभोगा इत्वराः' एवं तस्मै केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं परिकथयति, अनुशिष्टो ज्ञापितश्च प्रतिगत आचार्यसकाशं प्रव्रज्यायां स्थिरीभूतः, एवमात्मा धारयितव्यः यथा तेनेति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषया एव कामा इतिकृत्वा । एवं कृते फलमाह—'एवम्' अनेन प्रकारेण प्रवर्तमानः, किम् ?–सुखमस्यास्तीति सुखी भविष्यसि, क्व ?–'संपराये' संसारे, यावदपवर्गं न प्राप्स्यसि तावत्सुखी भविष्यसि, 'संपराये' परीषहोपसर्गसंग्राम इत्यन्ये । कृतं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ किं च संयमगेहान्मनस एवानिर्गमनार्थमिदं चिन्तयेत्, यदुत—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं । नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥

अस्य व्याख्या–'प्रस्कन्दन्ति' अध्यवस्यन्ति 'ज्वलितं' ज्वालामालाकुलं न मुर्मुरादिरूपं, कम् ?–'ज्योतिषम्' अग्निं 'धूमकेतुं' धूमचिह्नं धूमध्वजं नोल्कादिरूपं 'दुरासदं' दुःखेनासाद्यतेऽभिभूयत इति दुरासदस्तं, दुरभिभवमित्यर्थः, चशब्दलोपात् न चेच्छन्ति–न च वाञ्छन्ति 'वान्तं भोक्तुं' परित्यक्तमादातुं, विषमिति गम्यते, के ?–नागा इति गम्यते, किंविशिष्टा इत्याह–कुले 'जाताः' समुत्पन्ना अगन्धने । नागानां हि भेदद्वयं–गन्धनाश्चागन्धनाश्च, तत्थ गंधणा णाम जे डसिए मंतेहिं आकड्ढिया तं विसं वणमुहाओ आवियंति, अगंधणाओ अवि मरणमज्झवस्संति ण य वंतमावियंति । उदाहरणं द्रुमपुष्पिकायामुक्तमेव । उपसंहारस्त्वेवं भावनीयः–यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति न च वान्तं भुञ्जते तत्कथमहं जिनवचनाभिज्ञो विपाकदारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये ? इति सूत्रार्थः ॥ अस्मिन्नेवार्थे द्वितीयमुदाहरणम्–

१ तत्र गन्धना नाम ये दष्टा मन्त्रैराकृष्टास्तद्विषं व्रणमुखादापिबन्ति, अगन्धना अपि मरणमध्यवस्यन्ति न च वान्तमापिबन्ति इति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२]

यदा किल अरिष्टनेमी पव्वइओ तया रहणेमी तस्स जेट्ठो भाउओ राइमइं उवयरइ, जइ णाम एसा ममं इच्छिज्जा, सावि भगवई निव्विण्णकामभोगा, णायं च तीए–जहा एसो मम अज्झोववण्णो, अण्णया य तीए महुघयसंजुत्ता पेज्जा पीया, रहनेमी आगओ, मयणफलं मुहे काऊण य तीए वंतं, भणियं च–एयं पेज्जं पियाहि, तेण भणियं–कहं वन्तं पिज्जइ?, तीए भणिओ–जइ न पिज्जइ वंतं तओ अहंपि अरिट्ठनेमिसामिणा वंता कहं पिविउमिच्छसि?। तथा ह्यधिकृतार्थसंवादेवाह—

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा । वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

व्याख्या–तत्र राजीमतिः किलैवमुक्तवती—'धिगस्तु' धिक्शब्दः कुत्सायाम् 'अस्तु' भवतु 'ते' तव, पौरुषमिति गम्यते, हे यशस्कामिन्निति सासूयं क्षत्रियामन्त्रणम्, अथवा अकारप्रश्लेषादयशस्कामिन्!, धिगस्तु तव यस्त्वं 'जीवितकारणात्' असंयमजीवितहेतोः वान्तमिच्छस्यापातुं–परित्यक्तां भगवता अभिलषसि भोक्तुम्, अत उत्क्रान्तमर्यादस्य 'श्रेयस्ते मरणं भवेत्' शोभनतरं तव मरणं, न पुनरिदमकार्यासेवनमिति सू-

१ यदा किलारिष्टनेमिः प्रव्रजितः तदा रथनेमिस्तस्य ज्येष्ठो भ्राता राजीमतीमुपचरति, यदि नामैषा मामिच्छेत्, सापि भगवती निर्विण्णकामभोगा, ज्ञातं च तया—यथैष मयि अध्युपपन्नः। अन्यदा च तया मधुघृतसंयुक्ता पेया पीता, रथनेमिरागतः, मदनफलं मुखे कृत्वा च तया वान्तं, भणितं च—एनां पेयां पिब, तेन भणितम्—कथं वान्तं पीयते?, तया भणितः—यदि न पीयते वान्तं तदाऽहमपि अरिष्टनेमिस्वामिना वान्ता कथं पातुमिच्छसि?.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [१२]

त्रार्थः ॥ तओ धम्मो से कहिओ, संबुद्धो पव्वइओ य, राईमईवि तं बोहेऊणं पव्वइया। पच्छा अन्नया कयाइ सो रहनेमी बारवईए भिक्खं हिंडिऊणं सामिसगासमागच्छन्तो वासवद्दलएण अब्भाहओ एक्कं गुहं अणुप्पविट्ठो। राईमईवि सामिणो वंदणाए गया, वंदित्ता पडिस्सयमागच्छइ, अंतरे य वरिसिउमाढत्तो, तिंता य (भिन्ना) तमेव गुहमणुप्पविट्ठा–जत्थ सो रहनेमी, वत्थाणि य पविसारियाणि, ताहे तीए अंगपच्चंगं दिट्ठं, सो रहणेमी तीए अज्झोववन्नो, दिट्ठो अणाए इंगियागारकुसलाए य णाओ असोहणो भावो एयस्स। ततोऽसाविदमवोचत—

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो । मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ८ ॥ जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ । वायाविद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ९ ॥ तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं । अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥ एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवि-

१ ततो धर्मस्तस्मै कथितः, संबुद्धः प्रव्रजितश्च, राजीमत्यपि तं बोधयित्वा प्रव्रजिता। पश्चादन्यदा कदाचित् स रथनेमिर्द्वारिकायां भिक्षां हिण्डयित्वा स्वामिसकाशमागच्छन् वर्षावार्दलेनाभ्याहत एकां गुफां अनुप्रविष्टः, राजीमत्यपि स्वामिनो वन्दनाय गता, वन्दित्वा प्रतिश्रयमागच्छति, अन्तरा च वर्षितुमारब्धः, भिन्ना (क्लिन्ना) तामेव गुफामनुप्रविष्टा, यत्र स रथनेमिः, वस्त्राणि च प्रविसारितानि। तदा तस्या अङ्गप्रत्यङ्गानि दृष्टानि, स रथनेमिस्तस्यामध्युपपन्नो, दृष्टोऽनया, इङ्गिताकारकुशलया च ज्ञातोऽशोभनो भाव एतस्य.

॥ ९६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [१६]

यक्खणा । विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥ ११ ॥ त्तिबेमि ॥ सामन्नपुव्वियज्झयणं समत्तं ॥ २ ॥

अहं च भोगराजः–उग्रसेनस्य, दुहितेति गम्यते, त्वं च भवसि अन्धकवृष्णेः–समुद्रविजयस्य, सुत इति गम्यते, अतो मा एकैकप्रधानकुले आवां गन्धनौ भूव, उक्तं च—'[1]जह न सप्पतुल्ला होमुत्ति भणियं होइ' अतः संयमं निभृतश्चर–सर्वदुःखनिवारणं क्रियाकलापमव्याक्षिप्तः कुर्विति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ किञ्च–यदि त्वं करिष्यसि भावम्–अभिप्रायं प्रार्थनामित्यर्थः, क?–या या द्रक्ष्यसि नारीः–स्त्रियः, तासु तासु एताः शोभना एताश्चाशोभना अतः सेवे काममित्येवंभूतं भावं यदि करिष्यसि ततो वाताविद्ध इव हडः–वातप्रेरित इवाबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः अस्थितात्मा भविष्यसि, सकलदुःखक्षयनिबन्धनेषु संयमगुणेष्व[प्रति]बद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति सूत्रार्थः ॥९॥ 'तस्याः' राजीमत्या 'असौ' रथनेमिः 'वचनम्' अनन्तरोदितं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य, किंविशिष्टायास्तस्याः?—'संयताया' प्रव्रजिताया इत्यर्थः, किंविशिष्टं वचनम्?–'सुभाषितं' संवेगनिबन्धनम्, अङ्कुशेन यथा 'नागो' हस्ती एवं धर्मे संप्रतिपादित धर्मे स्थापित इत्यर्थः, केन?–अङ्कुशतुल्येन वचनेन। 'अङ्कुशेन जहा [2]नागो' त्ति, एत्थ उदाहरणं–वसंतपुरं नयरं, तत्थ एगा इब्भणद्धुया नदीए

१ यथा न (गन्धन) सर्पतुल्यौ भवाव इति भणितं भवति. २ यथा नाग इति, अत्रोदाहरणं, वसन्तपुरं नगरं, तत्रैकेभ्यवधूर्नद्यां स्नाति, अन्यश्च तरुणस्तां दृष्ट्वा भणति–सुस्नाते ते पृच्छति एषा नदी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र 'नूपुरपण्डिता'या; दृष्टांतः प्रस्तुयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [१६]

एहाइ, अन्नो य तरूणो तं दट्ठूण भणइ–सुण्हायं ते पुच्छइ एसा नइ [1]पवरसोहियतरङ्गा। एए य नदीरुक्खा अहं च पाएसु ते पडिओ ॥ १ ॥ ताहे सा पडिभणइ—'सुहया होउ नईते चिरं च जीवंतु जे नईरुक्खा। सुण्हायपुच्छयाणं घत्तीहामो पियं काउं ॥ १ ॥' सो य तीसे घरं वा दारं वा ण याणइ, तीसे य बितिज्जियाणि चेडरूवाणि रुक्खे पलोयंताणि अच्छंति, तेण ताणं पुप्फफलाणि सुबहूणि दिण्णाणि पुच्छियाणि य–का एसा?, ताणि भणन्ति–अमुगस्स सुण्हा, सो य तीए विरहं न लहति, तओ परिव्वाइयं ओलग्गिउमाढत्तो, भिक्खा दिन्ना, सा तुट्ठा भणइ–किं करेमि ओलग्गाए फलं?, तेण भणिया–अमुगस्स सुण्हं मम कए भणाहि, तीए गन्तूण भणिया–अमुगो ते एवंगुणजातीओ पुच्छई, ताए रुट्ठाए पउल्लगाणि धोवन्तीए मसिलित्तएण हत्थेण पिट्ठीए आहया, पंचंगुलियं उट्ठियं, अवदारेण निच्छुहा, गया तस्स साहइ–णामं पि सा तव ण सुणेइ, तेण णायं–कालपंचमीए अवदारेण अइगंतव्वं, अइगओ य, असोगवणियाए मिलियाणि सुत्ताणि य, जाव पस्सवणागएण ससुरेण

१ प्रवरशोभिततरङ्गा। एते च नदीवृक्षा अहं च पादयोस्ते पतितः ॥ १ ॥ तदा सा प्रतिभणति—शुभता भवतु नद्याः चिरं च जीवन्तु ते नदीवृक्षाः। सुस्नातप्रच्छकानां यतिष्यामहे प्रियं कर्तुम् ॥ १ ॥ स च तस्या गृहं वा द्वारं वा न जानाति, तस्याश्च द्वैतीयिकाश्चेटरूपा वृक्षान् प्रलोकयन्तस्तिष्ठन्ति, तेन तेभ्यः पुष्पफलानि सुबहूनि दत्तानि पृष्टाश्च—कैषा?, ते भणन्ति—अमुकस्य स्नुषा, स च तया विरहं न लभते, ततः परिव्राजिकामवलगितुमारब्धः, भिक्षा दत्ता, सा तुष्टा भणति—किं करोमि सेवायाः फलं?, तेन भणिता—अमुकस्य स्नुषां मम कृते भणेः, तया गत्वा भणिता—एवंगुणजातीयोऽमुकस्ते पृच्छति, तया रुष्टया भाजनानि प्रक्षालयन्त्या मषीलिप्तेन हस्तेन पृष्ठ्यामाहता, पश्चाद्गुलक उत्थितः अपद्वारेण निष्काशिता, गता तस्यै कथयति–नामापि सा तव न शृणोति, तेन ज्ञातं—कृष्णपञ्चम्यामपद्वारेणातिगन्तव्यं, अतिगतश्च, अशोकवनिकायां मिलितौ सुप्तौ च, यावत् प्रश्रवणायागतेन श्वशुरेण

॥ ९७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिट्ठाणि, तेण णायं–ण एस मम पुत्तो, पारदारिओ कोइ, पच्छा पायाओ तेण णेउरं गहियं, चेइयं च तीए, सो भणिओ–णास लहुं, आवइकाले साहेज्जं करेज्जासि, इयरी गंतूण भत्तारं भणइ–एत्थ घम्मो असोयवणियं वचामो, गंतूण सुत्ताणि, खणमेत्तं सुविऊणं भत्तारं उट्ठवेइ भणइ य–एयं तुज्झ कुलाणुरूवं? जं णं मम पायाओ ससुरो णेउरं कड्ढइ, सो भणइ–सुवसु पभाए लब्भिहिति, पभाए थेरेणं सिट्ठं, सो य रुट्ठो भणइ–विवरीओ थेरोत्ति, थेरो भणइ–मया दिट्ठो अन्नो पुरिसो, विवाए जाए सा भणइ–अहं अप्पाणं सोहयामि?, एवं करेहि, तओ ण्हाया कयबलिकम्मा गया जक्खघरं, तस्स जक्खस्स अंतरेणं गच्छंतो जो कारगारी सो लग्गइ, अकारगारी नीसरइ, तओ सो विडपियतमो पिसायरूवं काऊण णिरंतरं घणं कंठे गिण्हइ, तओ सा गंतूण तं जक्खं भणइ–जो मम मायापिउदिन्नओ भत्तारो तं च पिसायं मोत्तूण जइ अन्नं पुरिसं जाणामि

१ दृष्टौ, तेन ज्ञातं—नैष मम पुत्रः, पारदारिकः कश्चित्, पश्चात्पदो नूपुरं तेन गृहीतं, ज्ञातं च तया, स भणितः—नश्य लघु, आपत्काले साहाय्यं कुर्याः, इतरा गत्वा भर्त्तारं भणति—अत्र धर्मः अशोकवनिकां व्रजावः, गत्वा सुप्तौ, क्षणमात्रं सुप्त्वा भर्त्तारमुत्थापयति भणति च—एतत्तव कुलानुरूपं? यन्मम पदः श्वशुरो नूपुरं कर्षति, स भणति—स्वपिहि प्रातर्लप्स्यते, प्रभाते स्थविरेण शिष्टं, स च रुष्टो भणति—विपरीतः स्थविर इति, स्थविरो भणति—मया दृष्टोऽन्यः पुरुषः, विवादे जाते सा भणति—अहमात्मानं शोधयामि?, एवं कुरु, ततः स्नाता कृतबलिकर्मा गता यक्षगृहं, तस्य यक्षस्य पदोरन्तरेण गच्छन् योऽपराधी स लगति, अनपराधो निस्सरति, ततः स विटः प्रियतमः पिशाचरूपं कृत्वा निरन्तरं घनं कण्ठे गृह्णाति, ततः सा गत्वा तं यक्षं भणति—यो मम मातापितृदत्तो भर्त्ता तं च पिशाचं मुक्त्वा यथन्यं पुरुषं जानामि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो मे तुमं जाणिज्जसित्ति, जक्खो विलक्खो चिंतेइ–एस य (पास) केरिसाइं धुत्ती मंतेइ?, अहगंपि वंचिओ तीए, णत्थि सइत्तणं खु धुत्तीए, जाव जक्खो चिंतेइ ताव सा णिप्फिडिया, तओ सो थेरो सव्वलोगेण विलक्खीकओ हीलिओ य। तओ थेरस्स तीए अधिईए णिद्दा णट्ठा, रन्नो य कन्ने गयं, रन्ना सद्दाविऊण अंतेउरवालओ कओ, अभिसेक्कं च हत्थिरयणं वासघरस्स हेट्ठा बद्धं अच्छइ, इओ य एगा देवी हत्थिमिंठे आसत्ता, णवरं हत्थी चोंवालयाओ हत्थेण अवतारेइ, पभाए पडिणीणेइ, एवं वच्चइ कालो। अन्नया य एगाए रयणीए चिरस्स आगया हत्थिमिंठेण रुट्ठेण हत्थिसंकलाए आहया, सा भणइ–एयारिसो तारिसो य ण सुव्वइ, मा मज्झ रूसह, तं थेरो पिच्छइ, चिंतियं च णेण–एवंपि रक्खिज्जमाणीओ एयाओ एवं ववहरंति, किं पुण ताओ सदा सच्छंदाओ त्ति? सुत्तो, पभाए सव्वलोगो उट्ठिओ, सो ण उट्ठेइ, रन्नो कहियं, रन्ना भणियं–सुवउ, चिरस्स य उट्ठिओ पुच्छिओ य, कहियं सव्वं, भणइ–जहा एगा देवी ण याणामि कयरावि, तओ

१ तदा मां त्वं जानीया इति, यक्षो विलक्षश्चिन्तयति—एषा धूर्त्ता कीदृशि मन्त्रयति?, अहमपि वञ्चितोऽनया, नास्ति सतीत्वं धूर्त्तायाः, यावद्यक्षश्चिन्तयति तावत् सा निर्गता, ततः स स्थविरः सर्वलोकेन विलक्षीकृतो हीलितश्च। ततः स्थविरस्य तयाऽधृत्या निद्रा नष्टा, राज्ञश्च कर्णे गतं, राज्ञा शब्दयित्वा अन्तःपुरपालकः कृतः, अभिषेक्कीयं हस्तिरत्नं वासगृहस्याधस्तात् बद्धं तिष्ठति। इतश्चैका राज्ञी हस्तिमिण्ठे आसक्ता, परं हस्ती मालात् हस्तेनावतारयति, प्रभाते प्रतिमुञ्चति, एवं व्रजति कालः। अन्यदा चैकस्यां रजन्यां चिरेणागता हस्तिमिण्ठेन रुष्टेन हस्तिशृङ्खलयाऽऽहता, सा भणति—ईदृशस्तादृशश्च न खपिति मा मह्यं रौषीः, ततः स्थविरः प्रेक्षते, चिन्तितं चानेन—एवमपि रक्ष्यमाणा एता एवं व्यवहरन्ति किं पुनस्ताः सदा स्वच्छन्दा इति सुप्तः, प्रभाते सर्वो लोक उत्थितः स नोत्तिष्ठते, राज्ञे कथितं, राज्ञा भणितं—खपितु, चिरेणोत्थितः पृष्टः, कथितं सर्वं, भणति—यथैका देवी न जाने कतरापि, ततो

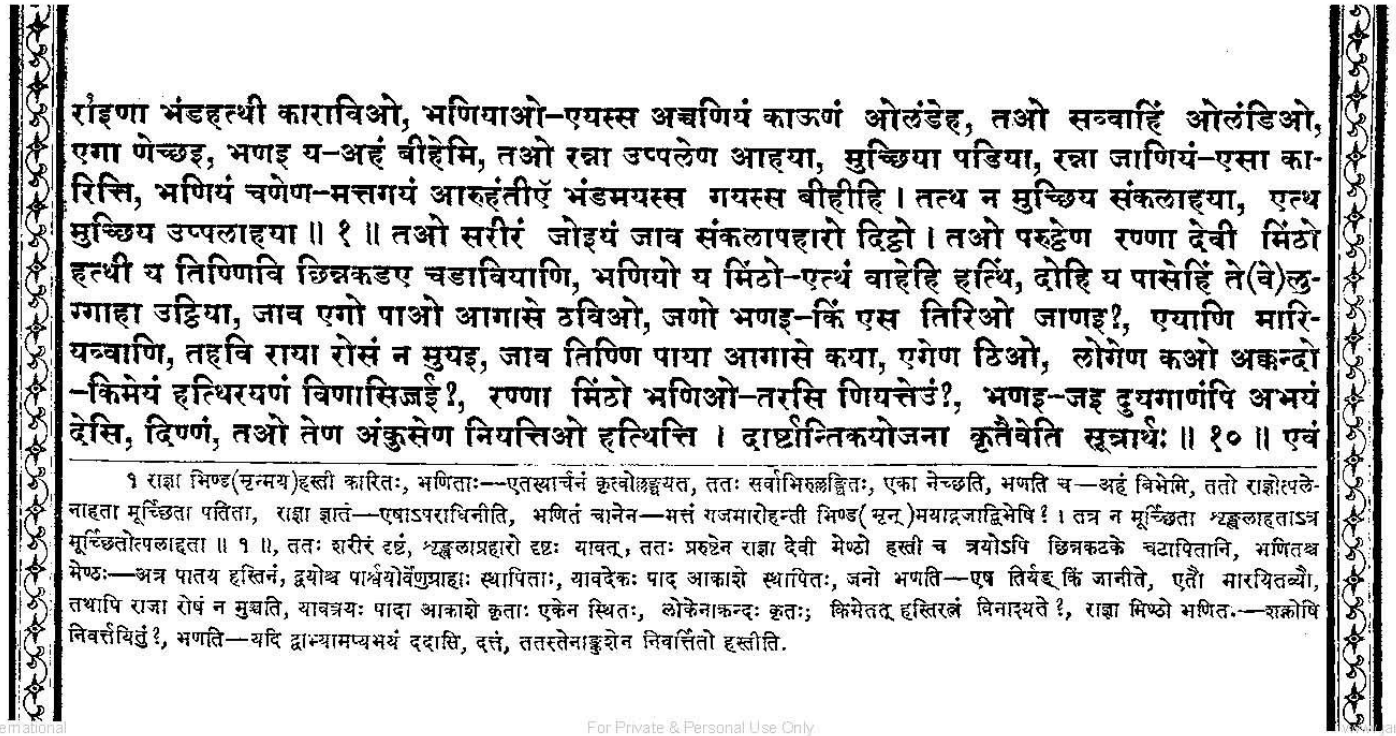
॥ ९८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक/ गाथांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [१६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



रण्णा भंडहत्थी काराविओ, भणियाओ–एयस्स अच्चणियं काऊणं ओलंडेह, तओ सव्वाहिं ओलंडिओ, एगा णेच्छइ, भणइ य–अहं बीहेमि, तओ रन्ना उप्पलेण आहया, मुच्छिया पडिया, रन्ना जाणियं–एसा कारित्ति, भणियं चणेण–मत्तगयं आरुहंतीए भंडमयस्स गयस्स बीहीहि। तत्थ न मुच्छिय संकलाहया, एत्थ मुच्छिय उप्पलाहया ॥ १ ॥ तओ सरीरं जोइयं जाव संकलापहारो दिट्ठो। तओ परुट्ठेण रण्णा देवी मिंठो हत्थी य तिण्णिवि छिन्नकडए चडाविआणि, भणियो य मिंठो–एत्थं वाहेहि हत्थिं, दोहि य पासेहिं ते(वे)लुग्गाहा उट्ठिया, जाव एगो पाओ आगासे ठविओ, जणो भणइ–किं एस तिरिओ जाणइ?, एयाणि मारियव्वाणि, तहवि राया रोसं न मुयइ, जाव तिण्णि पाया आगासे कया, एगेण ठिओ, लोगेण कओ अक्कन्दो –किमेयं हत्थिरयणं विणासिज्जई?, रण्णा मिंठो भणिओ–तरसि णियत्तेउं?, भणइ–जइ दुयगाणंपि अभयं देसि, दिण्णं, तओ तेण अंकुसेण नियत्तिओ हत्थित्ति। दार्ष्टान्तिकयोजना कृतैवेति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ एवं

१ राज्ञा भिण्ड(मृन्मय)हस्ती कारितः, भणिताः—एतस्यार्चनं कृत्वोल्लङ्घयत, ततः सर्वाभिरुल्लङ्घितः, एका नेच्छति, भणति च—अहं बिभेमि, ततो राज्ञोत्पलेनाहता मूर्च्छिता पतिता, राज्ञा ज्ञातं—एषाऽपराधिनीति, भणितं चानेन—मत्तं गजमारोहन्ती भिण्ड(मृन्)मयाद्गजाद्बिभेषि?। तत्र न मूर्च्छिता शृङ्खलाहताऽत्र मूर्च्छितोत्पलाहता ॥ १ ॥, ततः शरीरं दृष्टं, शृङ्खलाप्रहारो दृष्टः यावत्, ततः प्ररुष्टेन राज्ञा देवी मेण्ठो हस्ती च त्रयोऽपि छिन्नकटके चटापितानि, भणितश्च मेण्ठः—अत्र पातय हस्तिनं, द्वयोश्च पार्श्वयोर्वेणुप्राहाः स्थापिताः, यावदेकः पाद आकाशे स्थापितः, जनो भणति—एष तिर्यङ् किं जानीते, एतौ मारयितव्यौ, तथापि राजा रोषं न मुञ्चति, यावत्रयः पादा आकाशे कृताः एकेन स्थितः, लोकेनाक्रन्दः कृतः; किमेतत् हस्तिरत्नं विनाश्यते?, राज्ञा मिण्ठो भणितः—शक्नोषि निवर्त्तयितुं?, भणति—यदि द्वाभ्यामप्यभयं ददासि, दत्तं, ततस्तेनाङ्कुशेन निवर्त्तितो हस्तीति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुर्वन्ति 'संबुद्धा' बुद्धिमन्तो बुद्धाः सम्यग्–दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः संबुद्धा–विदितविषयस्वभावाः, सम्यग्दृष्टय इत्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते–पण्डिताः प्रविचक्षणाः, तत्र पण्डिताः–सम्यग्ज्ञानवन्तः प्रविचक्षणाः–चरणपरिणामवन्तः, अन्ये तु व्याचक्षते–संबुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्तः पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञाः प्रविचक्षणा अवद्यभीरव इति, किं कुर्वन्ति?—'विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः' विविधम्–अनेकैः प्रकारैरनादिभवाभ्यासबलेन कदर्थ्यमाना अपि मोहोदयेन [वि]निवर्तन्ते भोगेभ्यो–विषयेभ्यः, यथा क इत्यत्राह–यथाऽसौ 'पुरुषोत्तमः' रथनेमिः। आह–कथं तस्य पुरुषोत्तमत्वं, यो हि प्रव्रजितोऽपि विषयाभिलाषीति?, उच्यते, अभिलाषेऽप्यप्रवृत्तेः, कापुरुषस्त्वभिलाषानुरूपं चेष्टत एवेति। अपरस्त्वाह–दशवैकालिकं नियतश्रुतमेव, यत उक्तम्—"णायज्झयणाहरणा इसिभासियमो पइन्नयसुया य। एए होंति अणियया णियतं पुण सेसमुस्सन्नं ॥ १ ॥" तत्कथमभिनवोत्पन्नमिदमुदाहरणं युज्यते इति?, उच्यते, एवम्भूतार्थस्यैव नियतश्रुतेऽपि भावाद्, उत्सन्नग्रहणाच्चादोषः, प्रायो नियतं न तु सर्वथा नियतमेवेत्यर्थः। ब्रवीमीति न स्वमनीषिकया किन्तु तीर्थकरगणधरोपदेशेन। उक्तोऽनुगमो, नयाः पूर्ववदिति ॥ इत्याचार्यश्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकटीकायां द्वितीयं श्रामण्यपूर्वकाध्ययनं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

इति श्रीदशवैकालिके द्वितीयाध्ययनं सवृत्तिकं समाप्तम् ॥

१ दर्शनपरिणाम० प्र० २ ज्ञाताध्ययनाहरणानि ऋषिभाषितानि प्रकीर्णकश्रुतं च। एतानि भवन्ति अनियतानि नियतं पुनः शेषमुत्सन्नं (प्रायः) ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -२- परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

अथ तृतीयाध्ययनं क्षुल्लिकाचारकथाख्यं ॥

व्याख्यातं श्रामण्यपूर्वकाध्ययनमिदानीं क्षुल्लिकाचारकथाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने धर्माभ्युपगमे सति मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः संमोह इत्यतो धृतिमता भवितव्यमित्युक्तं, इह तु सा धृतिराचारे कार्या नत्वनाचारे, अयमेवात्मसंयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तञ्च—"तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतः सदा। स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनोदितः ॥ १ ॥" इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि पूर्ववत्, नामनिष्पन्ने निक्षेपे क्षुल्लिकाचारकथेति नाम, तत्र क्षुल्लकनिक्षेपः कार्यः, आचारस्य कथायाश्च, महदपेक्षया च क्षुल्लकमित्यतश्चित्रन्यायप्रदर्शनार्थमपेक्षणीयमेव महदभिधित्सुराह—

नामंठवणादविए खेत्ते काले पहाण पइभावे। एएसि महंताणं पडिवक्खे खुड्डया होंति ॥ १७८ ॥ पइखुड्डएण पगयं आयारस्स उ चउक्कनिक्खेवो। नामंठवणादविए भावायारे य बोद्धव्वे ॥ १७९ ॥ नामणधावणवासणसिक्खावणसुकरणाविरोहीणि। दव्वाणि जाणि लोए दव्वायारं वियाणाहि ॥ १८० ॥

नाममहन्महदिति नाम, स्थापनामहन्महदिति स्थापना, द्रव्यमहानचित्तमहास्कन्धः, क्षेत्रमहल्लोकालोकाका-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित.....आगमसूत्र-[४२], मूल सूत्र-[३] "दशवैकालिक" मूलं एवं हरिभद्रसूरि-विरचिता वृत्ति :

अध्ययनं -३- "क्षुल्लिकाचारकथा" आरभ्यते

शम्, कालमहानतीतादिभेदः सम्पूर्णः कालः, प्रधानमहत्त्रिविधम्–सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्, सचित्तं त्रिविधम्–द्विपदचतुष्पदापदभेदात्, तत्र द्विपदानां तीर्थकरः प्रधानः चतुष्पदानां हस्ती अपदानां पनसः अचित्तानां वैडूर्यरत्नं मिश्राणां तीर्थकर एव वैडूर्यादिविभूषितः प्रधान इत्यत एव चैतेषां महत्त्वमिति, प्रतीत्यमहद्–आपेक्षिकम्, तद्यथा–आमलकं प्रतीत्य महत् बिल्वं बिल्वं प्रतीत्य कपित्थमित्यादि, भावमहत्त्रिविधं–प्राधान्यतः कालत आश्रयतश्चेति, प्राधान्यतः क्षायिको महान् मुक्तिहेतुत्वेन तस्यैव प्रधानत्वात्, कालतः पारिणामिकः, जीवत्वाजीवत्वपरिणामस्यानाद्यपर्यवसितत्वान्न कदाचिज्जीवा अजीवतया परिणमन्ते अजीवाश्च जीवतयेति, आश्रयतस्त्वौदयिकः, प्रभूत[संसारि]सत्त्वाश्रयत्वात् सर्वसंसारिणामेवासौ विद्यत इति, 'एतेषाम्'अनन्त-रोदितानां महतां प्रतिपक्षे क्षुल्लकानि भवन्ति, 'अभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्ती'ति न्यायात् यथार्थं क्षुल्लक-लिङ्गवचनमिति, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यक्षुल्लकः परमाणुः, द्रव्यं चासौ क्षुल्लकश्चेति, क्षेत्रक्षुल्लक आकाश-प्रदेशः, कालक्षुल्लकः समयः, प्रधानक्षुल्लकं त्रिविधम्–सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्, सचित्तं त्रिविधम्–द्विपदचतु-ष्पदापदभेदात्, द्विपदेषु क्षुल्लकाः प्रधानाश्चानुत्तरसुराः, शरीरेषु क्षुल्लकमाहारकम्, चतुष्पदेषु प्रधानः क्षु-ल्लकश्च सिंहः, अपदेषु जातिकुसुमानि, अचित्तेषु वज्रं प्रधानं क्षुल्लकं च, मिश्रेष्वनुत्तरसुरा एव शयनीयगता इति, प्रतीत्यक्षुल्लकं तु कपित्थं प्रतीत्य बिल्वं क्षुल्लकं बिल्वं प्रतीत्यामलकमित्यादि, भावक्षुल्लकस्तु क्षायिको भावः स्तोकजीवाश्रयत्वादिति गाथार्थः । इत्थं क्षुल्लकनिक्षेपमभिधायाधुना प्रकृतयोजनापुरःसरमाचारनि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेपमाह–प्रतीत्य यत् क्षुल्लकमुपदिष्टं तेनात्राधिकारः, यतो महती खल्वाचारकथा धर्मार्थकामाध्ययनं तदपेक्षया क्षुल्लिकेयमिति ॥ आचारस्य तु चतुष्को निक्षेपः, स चायम्–नामाचारः स्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च बोद्धव्य इति गाथाक्षरार्थः॥ भावार्थं तु वक्ष्यति, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, अतो द्रव्याचारमाह–नामनधावनवासनशिक्षापनसुकरणाविरोधीनि द्रव्याणि यानि लोके तानि द्रव्याचारं विजानीहि। अयमत्र भावार्थः –आचरणं आचारः द्रव्यस्याचारो द्रव्याचारः, द्रव्यस्य यदाचरणं तेन तेन प्रकारेण परिणमनमित्यर्थः, तत्र नामनमवनतिकरणमुच्यते, तत्प्रति द्विविधं द्रव्यं भवति–आचारवदनाचारवच्च, तत्परिणामयुक्तमयुक्तं चेत्यर्थः, तत्र तिनिशलतादि आचारवत्, एरण्डाद्यनाचारवत्, एतदुक्तं भवति–तिनिशलताद्याचरति तं भावं–तेन रूपेण परिणमति न त्वेरण्डादि, एवं सर्वत्र भावना कार्या, नवरमुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते–धावनं प्रति हरिद्रारक्तं वस्त्रमाचारवत् सुखेन प्रक्षालनात्, कृमिरागरक्तमनाचारवत् तद्वस्त्रनोऽपि रागानपगमात्, वासनं प्रति कवेलुकाद्याचारवत् सुखेन पाटलाकुसुमादिभिर्वास्यमानत्वात्, वैडूर्याद्यनाचारवत् अशक्यत्वात्, शिक्षणं प्रत्याचारवच्छुकसारिकादि सुखेन मानुषभाषासम्पादनात्, अनाचारवच्छकुन्तादि तदनुपपत्तेः, सुकरणं प्रत्याचारवत् सुवर्णादि सुखेन तस्य तस्य कटकादेः करणात्, अनाचारवत् घण्टालोहादि तत्रान्यस्य तथाविधस्य कर्तुमशक्यत्वादिति, अविरोधं प्रत्याचारवन्ति गुडदध्यादीनि रसोत्कर्षादुपभोगगुणाच्च, अनाचारवन्ति तैलक्षीरादीनि विपर्ययादिति, एवम्भूतानि द्रव्याणि यानि लोके तान्येव तस्याचारस्य तद्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

व्याव्यतिरेकाद्द्रव्याचारस्य च विवक्षितत्वात्तथाऽऽचरणपरिणामस्य भावत्वेऽपि गुणाभावाद्द्रव्याचारं विजानीहि–अवबुध्यस्वेति गाथार्थः ॥ उक्तो द्रव्याचारः, साम्प्रतं भावाचारमाह—

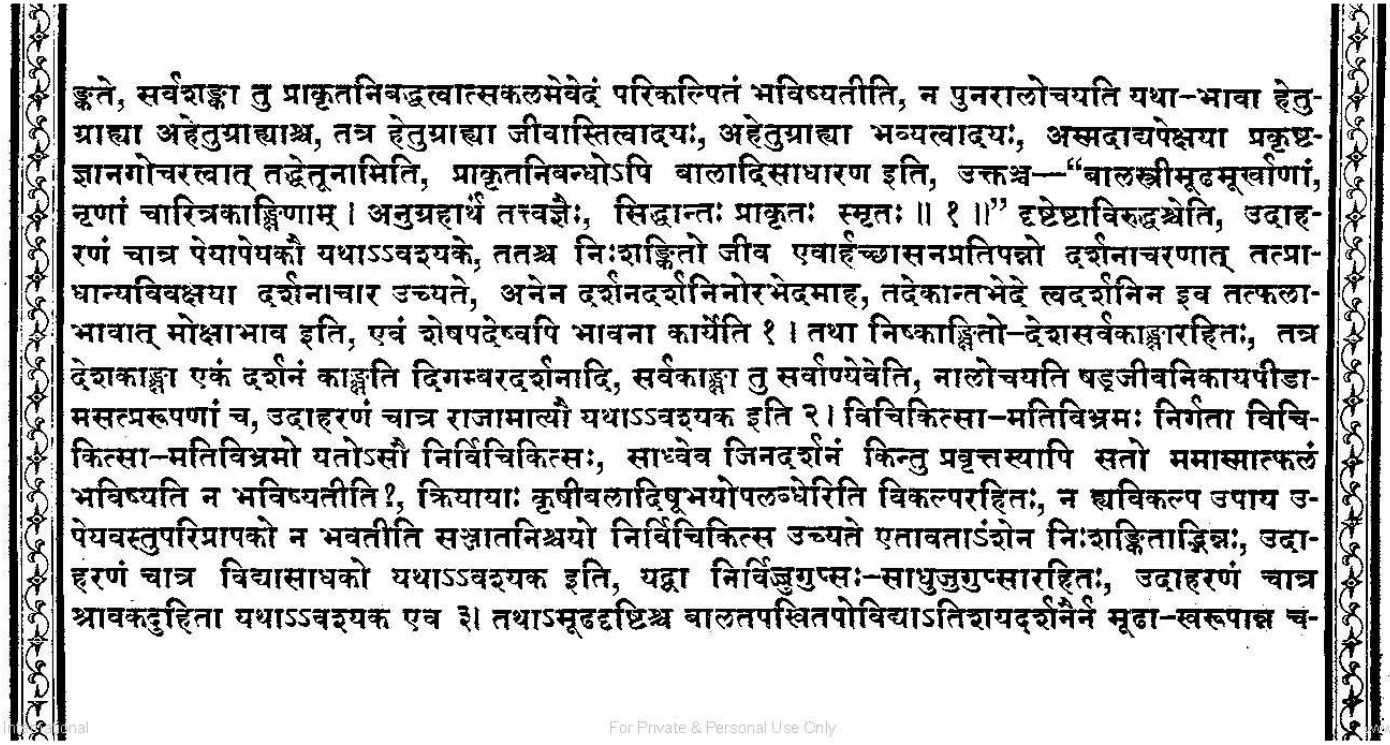
दंसणनाणचरित्ते तवआयारे य वीरियायारे। एसो भावायारो पंचविहो होइ नायव्वो ॥१८१॥ निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ । उववूह थिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥१८२॥ अइसेसइड्ढियायरियवाइधम्मकहीखमगनेमित्ती । विज्जारायागणसंमया य तित्थं पभाविंति ॥ १८३ ॥ काले विणए बहुमाणे उवहाणे तह य अनिण्हवणे । वंजणअत्थतदुभए अट्ठविहो नाणमायारो ॥ १८४ ॥ पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समिईहिँ तिहि य गुत्तीहिं । एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ १८५ ॥ बारसविहम्मिवि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे । अगिलाइ अणाजीवी नायव्वो सो तवायारो ॥ १८६ ॥ अणिगूहियबलविरियो परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ अ जहाथामं नायव्वो वीरियायारो ॥ १८७ ॥

व्याख्या–दर्शनज्ञानचारित्रादिष्वाचारशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, दर्शनाचारो ज्ञानाचारश्चारित्राचारस्तप-आचारो वीर्याचारश्चेति, तत्र दर्शनं सम्यग्दर्शनमुच्यते, न चक्षुरादिदर्शनं, तच्च क्षायोपशमिकादिरूपत्वाद्भाव एव, ततश्च तदाचरणं दर्शनाचार इत्येवं शेषेष्वपि योजनीयं, भावार्थं तु वक्ष्यति–एष भावाचारः पञ्चविधो भवति ज्ञातव्यः, इति गाथाक्षरार्थः। अधुना भावार्थ उच्यते–तत्र 'यथोद्देशं निर्देश' इत्यादौ दर्शनाचारभावार्थः, दर्शनाचारश्चाष्टधा, तथा चाह गाथा–'निस्संकी'त्यादि, निःशङ्कित इत्यत्र शङ्का शङ्कितं निर्गतं शङ्कितं यतोऽसौ निःशङ्कितः देशसर्वशङ्कारहित इत्यर्थः, तत्र देशशङ्का समाने जीवत्वे कथमेको भव्योऽपरस्त्वऽभव्य इति श-

॥ १०१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन आदि पंच-आचाराणां निर्युक्तिः तथा तेषां भेदानां व्याख्याः ।



ङ्कते, सर्वशङ्का तु प्राकृतनिबद्धत्वात्सकलमेवेदं परिकल्पितं भविष्यतीति, न पुनरालोचयति यथा–भावा हेतुग्राह्या अहेतुग्राह्याश्च, तत्र हेतुग्राह्या जीवास्तित्वादयः, अहेतुग्राह्या भव्यत्वादयः, अस्मदाद्यपेक्षया प्रकृष्टज्ञानगोचरत्वात् तद्धेतूनामिति, प्राकृतनिबन्धोऽपि बालादिसाधारण इति, उक्तञ्च—"बालस्त्रीमूढमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ १ ॥" दृष्टेष्टाविरुद्धश्चेति, उदाहरणं चात्र पेयापेयकौ यथाऽऽवश्यके, ततश्च निःशङ्कितो जीव एवार्हच्छासनप्रतिपन्नो दर्शनाचरणात् तत्प्राधान्यविवक्षया दर्शनाचार उच्यते, अनेन दर्शनदर्शिनोरभेदमाह, तदेकान्तभेदे त्वदर्शिनि इव तत्फलाभावात् मोक्षाभाव इति, एवं शेषपदेष्वपि भावना कार्येति १ । तथा निष्काङ्क्षितो–देशसर्वकाङ्क्षारहितः, तत्र देशकाङ्क्षा एकं दर्शनं काङ्क्षति दिगम्बरदर्शनादि, सर्वकाङ्क्षा तु सर्वाण्येवेति, नालोचयति षड्जीवनिकायपीडामसत्प्ररूपणां च, उदाहरणं चात्र राजामात्यौ यथाऽऽवश्यक इति २। विचिकित्सा–मतिविभ्रमः निर्गता विचिकित्सा–मतिविभ्रमो यतोऽसौ निर्विचिकित्सः, साध्वेव जिनदर्शनं किन्तु प्रवृत्तस्यापि सतो ममास्मात्फलं भविष्यति न भविष्यतीति?, क्रियायाः कृषीबलादिषूभयोपलब्धेरिति विकल्परहितः, न ह्यविकल्प उपाय उपेयवस्तुपरिप्रापको न भवतीति सज्ञातनिश्चयो निर्विचिकित्स उच्यते एतावताऽंशेन निःशङ्किताद्भिन्नः, उदाहरणं चात्र विद्यासाधको यथाऽऽवश्यक इति, यद्वा निर्विजुगुप्सः–साधुजुगुप्सारहितः, उदाहरणं चात्र श्रावकदुहिता यथाऽऽवश्यक एव ३। तथाऽमूढदृष्टिश्च बालतपस्वितपोविद्याऽतिशयदर्शनैर्न मूढा–स्वरूपान्न च-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

लिता दृष्टिः–सम्यग्दर्शनरूपा यस्यासावमूढदृष्टिः, अत्रोदाहरणं सुलसा साविया, जहा लोइयरिसी अंबडो रायगिहं गच्छंतो बहुयाणं भवियाणं थिरीकरणणिमित्तं सामिणा भणिओ–सुलसं पुच्छिज्जासि, अंबडो चिंतेइ –पुन्नमतिया सुलसा जं अरहा पुच्छेइ, तओ अम्बडेण परिक्खणाणिमित्तं सा भत्तं मग्गिया, ताए ण दिन्नं, तओ तेण बहूणि रूवाणि विउव्वियाणि, तहवि ण दिन्नं, ण य संमूढा, तह कुतित्थियरिद्धीओ दट्ठूण अमूढदिट्ठिणा भवियव्वं ४। एतावान् गुणिप्रधानो दर्शनाचारनिर्देशः, अधुना गुणप्रधानः 'उपबृंहणस्थिरीकरणे' इति, उपबृहणं च स्थिरीकरणं च उपबृंहणस्थिरीकरणे, तत्रोपबृंहणं नाम समानधार्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणम्, स्थिरीकरणं तु धर्माद्विषीदतां सतां तत्रैव स्थापनं । [२]उववूहणाए उदाहरणं जहा रायगिहे नयरे सेणिओ राया, इओ य सक्को देवराया सम्मत्तं पसंसइ । इओ य एगो देवो असद्दहंतो नगरबाहिं सेणियस्स णिग्गयस्स चेल्लयरूवं काऊणं अणिमिसे गेण्हइ, ताहे तं निवारेइ, पुणरवि अण्णत्थ संजई गुव्विणी पुरओ ठिया, ताहे अपवरगे ठविऊण जहा ण कोइ जाणइ तहा सूइगिहं कारवेइ, जं किंचि सुइकम्मं तं सयमेव

१ सुलसा श्राविका यथा लौकिकऋषिरम्बडो राजगृहं गच्छन् बहूनां भव्यानां स्थिरीकरणनिमित्तं स्वामिना भणितः—सुलसां पृच्छेः, अम्बडश्चिन्तयति—पुण्यवती सुलसा यामर्हन् पृच्छति, ततोऽम्बडेन परीक्षणनिमित्तं सा भक्तं मार्गिता, तया न दत्तं, ततस्तेन बहूनि रूपाणि विकुर्वितानि, तथापि न दत्तं, न च संमूढा, तथा कुतीर्थिकर्धाद्दृष्ट्वाऽमूढदृष्टिना भवितव्यं, २ उपबृंहणायामुदाहरणं यथा राजगृहे नगरे श्रेणिको राजा, इतश्च शक्रो देवराजः सम्यक्त्वं प्रशंसति, इतश्चैको देवोऽश्रद्दधानो नगराद्बहिः श्रेणिके निर्गते क्षुल्लकरूपं कृत्वाऽनिमेषान् गृह्णाति, तदा तं निवारयति, पुनरप्यन्यत्र संयती गर्भिणी पुरतः स्थिता, तदाऽपवरके स्थापयित्वा यथा न कोऽपि जानाति तथा सूतिकागृहं कारयति यत्किञ्चिदपि सूतिकाकर्म तत् स्वयमेव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

करेइ, तओ सो देवो संजईरूवं परिचइऊण दिव्वं देवरूवं दरिसेइ, भणइ य–भो सेणिय! सुलद्धं ते जम्मजीवियस्स फलं जेण ते पवयणस्सुवरिं एरिसी भत्ती भवइत्ति उववूहेऊण गओ। एवं उववूहियव्वा साहम्मिया ॥ स्थिरीकरणे उदाहरणं जहा उज्जेणीए अज्जासाढो कालं करेंते संजए अप्पाहेइ–मम दरिसावं दिज्जह, जहा उत्तरज्झयणेसु एतं अक्खाणयं सव्वं तहेव, तम्हा जहा सो अज्जासाढो थिरो कओ एवं जे भविया ते थिरीकरेयव्वा। तथा 'वात्सल्यप्रभावना' इति वात्सल्यं च प्रभावना च वात्सल्यप्रभावने, तत्र वात्सल्यं–समानधार्मिकप्रीत्युपकारकरणं प्रभावना–धर्मकथादिभिस्तीर्थख्यापनेति, तत्र वात्सल्ये उदाहरणं अज्जवइरा, जहा तेहिं दुब्भिक्खे संघो नित्थारिओ एयं सव्वं जहा आवस्सए तहा नेयं, पभावणाए उदाहरणं ते चेव अज्जवइरा जहा तेहिं अग्गिसिहाओ सुहुमकाइआइं आणेऊण सासणस्स उब्भावणा कया एयमक्खाणयं जहा आवस्सए तहा कहेयव्वं, एवं साहुणावि सव्वपयत्तेण सासणं उब्भावेयव्वं। अष्टाविंशत्यष्टप्रकारो दर्श-

१ करोति, ततः स देवः संयतीरूपं परित्यज्य दिव्यं देवरूपं दर्शयति, भणति च—भोः श्रेणिक! सुलब्धं त्वया जन्मजीवितयोः फलं येन ते प्रवचनस्योपरि ईदृशी भक्तिरस्तीति उपबृंह्य गतः, एवमुपबृंह्याः साधर्मिकाः ॥ स्थिरीकरणे उदाहरणं यथोज्जयिन्यामार्याषाढः कालं कुर्वतः संयतान् संदिशति—मम दर्शनं दद्यात, यथोत्तराध्ययनेषु एतदाख्यानकं सर्वं तथैव, तस्मात् स यथा आर्याषाढः स्थिरीकृत एवं ये भव्यास्ते स्थिरीकर्त्तव्याः. २ आर्यवज्रा यथा तैर्दुर्भिक्षे सङ्घो निस्तारित एतत् सर्वं यथाऽऽवश्यके तथा ज्ञेयं, प्रभावनायां त एवोदाहरणमार्यवज्रा यथा तैरग्निशिखात् (पुष्पाणि) सूक्ष्मकायिकाण्यानीय शासनस्योद्भावना कृता एतदाख्यानकं यथाऽऽवश्यके तथा कथयितव्यं, एवं साधुनाऽपि सर्वप्रयत्नेन शासनमुद्भावयितव्यम्.

दश. १८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

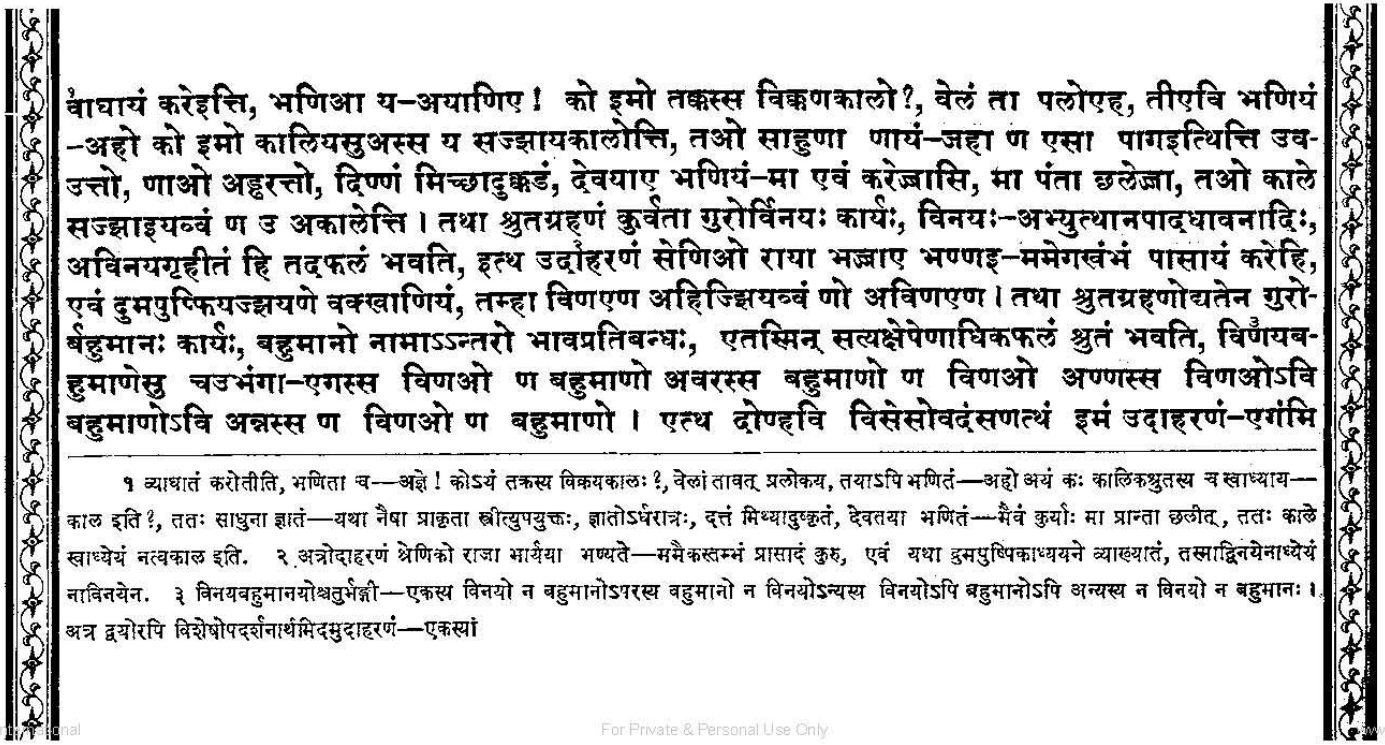
दीप अनुक्रम [१६..]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

नाचारः, प्रकाराश्चोक्ता एव निःशङ्कितादयः, गुणप्रधानश्चायं निर्देशो गुणगुणिनोः कथंचिद्भेदख्यापनार्थः, एकान्ताभेदे तन्निवृत्तौ गुणिनोऽपि निवृत्तेः शून्यतापत्तिरिति गाथार्थः। स्वपरोपकारिणी प्रवचनप्रभावना तीर्थकरनामकर्मनिबन्धनं चेति भेदेन प्रवचनप्रभावकानाह–अतिशयी–अवध्यादिज्ञानयुक्तः ऋद्धिग्रहणादामर्षौषध्यादिऋद्धिप्राप्तः ऋद्धि(मत)प्रव्रजितो वा आचार्यवादिधर्मकथिक्षपकनैमित्तिकाः प्रकटार्थाः विद्याग्रहणाद् विद्यासिद्धः आर्यखपुटवत् सिद्धमन्त्रः 'रायगणसंमया' राजगणसंमताश्चेति राजसंमता–मन्त्र्यादयः गणसंमता–महत्तरादयः चशब्दादानश्राद्धकादिपरिग्रहः, एते तीर्थं–प्रवचनं प्रभावयन्ति–स्वतः प्रकाशस्वभावमेव सहकारितया प्रकाशयन्तीति गाथार्थः। उक्तो दर्शनाचारः, साम्प्रतं ज्ञानाचारमाह—'काल' इति, यो यस्याङ्गप्रविष्टादेः श्रुतस्य काल उक्तः तस्य तस्मिन्नेव काले स्वाध्यायः कर्तव्यो नान्यदा, तीर्थकरवचनात्, दृष्टं च कूष्माण्डेरपि कालग्रहणे फलं विपर्यये च विपर्यय इति, अत्रोदाहरणम्–[1]एक्को साहू पादोसियं कालं घेत्तूण अइक्कंताएवि पढमपोरिसीए अणुवओगेण पढइ कालियं सुयं, सम्मद्दिट्ठी देवया चिंतेइ–मा अण्णा पंतदेवया छलिज्जइत्तिकाउं तक्कं कुंडे घेत्तूणं तक्कं तक्कंति तस्स पुरओ अभिक्खणं अभिक्खणं आगयागयाइं करेइ, तेण य चिरस्स सज्झायस्स

१ एकः साधुः प्रादोषिकं कालं गृहीत्वा अतिक्रान्तायामपि प्रथमपौरुष्यामनुपयोगेन पठति कालिकश्रुतं, सम्यग्दृष्टिर्देवता चिन्तयति—माऽन्या प्रान्ता देवता छलीदितिकृत्वा तक्रं कुण्डे गृहीत्वा तक्रं तक्रमिति तस्य पुरतोऽभीक्ष्णमभीक्ष्णं गतागतानि करोति, तेन च चिराय स्वाध्यायस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



वाघायं करेइत्ति, भणिआ य–अयाणिए! को इमो तक्कस्स विक्कणकालो?, वेलं ता पलोएह, तीएवि भणियं –अहो को इमो कालियसुअस्स य सज्झायकालोत्ति, तओ साहुणा णायं–जहा ण एसा पागइत्थित्ति उव- उत्तो, णाओ अद्धरत्तो, दिण्णं मिच्छादुक्कडं, देवयाए भणियं–मा एवं करेज्जासि, मा पंता छलेज्जा, तओ काले सज्झाइयव्वं ण उ अकालेत्ति। तथा श्रुतग्रहणं कुर्वता गुरोर्विनयः कार्यः, विनयः–अभ्युत्थानपादधावनादिः, अविनयगृहीतं हि तदफलं भवति, इत्थ उदाहरणं सेणिओ राया भज्जाए भण्णइ–ममेगखंभं पासायं करेहि, एवं दुमपुप्फियज्झयणे वक्खाणियं, तम्हा विणएण अहिज्झियव्वं णो अविणएण। तथा श्रुतग्रहणोद्यतेन गुरो- र्बहुमानः कार्यः, बहुमानो नामाऽऽन्तरो भावप्रतिबन्धः, एतस्मिन् सत्यक्षेपेणाधिकफलं श्रुतं भवति, विणयब- हुमाणेसु चउभंगा–एगस्स विणओ ण बहुमाणो अवरस्स बहुमाणो ण विणओ अण्णस्स विणओऽवि बहुमाणोऽवि अन्नस्स ण विणओ ण बहुमाणो। एत्थ दोण्हवि विसेसोवदंसणत्थं इमं उदाहरणं–एगंमि

---

१ व्याघातं करोतीति, भणिता च—अहे! कोऽयं तक्कस्य विक्रयकालः?, वेलां तावत् प्रलोकय, तयाऽपि भणितं—अहो अयं कः कालिकश्रुतस्य च स्वाध्याय—काल इति?, ततः साधुना ज्ञातं—यथा नैषा प्राकृता स्त्रीत्युपयुक्तः, ज्ञातोऽर्धरात्रः, दत्तं मिथ्यादुष्कृतं, देवतया भणितं—मैवं कुर्याः मा प्रान्ता छलीत्, ततः काले स्वाध्येयं नत्वकाल इति. २ अत्रोदाहरणं श्रेणिको राजा भार्यया भण्यते—ममैकस्तम्भं प्रासादं कुरु, एवं यथा द्रुमपुष्पिकाध्ययने व्याख्यातं, तस्माद्विनयेनाधीत्येयं नाविनयेन. ३ विनयबहुमानयोश्चतुर्भङ्गी—एकस्य विनयो न बहुमानोऽपरस्य बहुमानो न विनयोऽन्यस्य विनयोऽपि बहुमानोऽपि अन्यस्य न विनयो न बहुमानः। अत्र द्वयोरपि विशेषोपदर्शनार्थमिदमुदाहरणं—एकस्यां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

गिरिकंदरे सिवो, तं च बंभणो पुलिंदो य अचंति, बंभणो उवलेवणसम्मज्जणावरिसे य पयओ सूईभूओ अचित्ता थुणइ विणयजुत्तो, ण पुण बहुमाणेण, पुलिंदो पुण तंमि सिवे भावपडिबद्धो गल्लोदएण ण्हावेइ, ण्हविऊण उवविट्ठो, सिवो य तेण समं आलावसंलावकहाहिं अच्छइ, अण्णया य तेसिं बंभणेणं उल्लावसद्दो सुओ, तेण पडियरिऊण उवलद्धो–तुमं एरिसो चेव कडपूयणसिवो जो एरिसेण उच्छिट्ठएण समं मंतेसि, तओ सिवो भणइ–एसो मे बहुमाणेइ, तुमं पुणो ण तहा, अण्णया य अच्छीणि उक्खणिऊण अच्छइ सिवो, बंभणो अ आगंतुं रडिउमुवसंतो, पुलिंदो य आगओ सिवस्स अच्छिं ण पेच्छइ, तओ अप्पणयं अच्छिं कंडफलेण ओक्खणित्ता सिवस्स लाएइ, तओ सिवेण बंभणो पत्तियाविओ, एवं णाणमंतेसु विणओ बहुमाणो य दोऽवि कायव्वाणि। तथा श्रुतग्रहणमभीप्सतोपधानं कार्यं, उपदधातीत्युपधानं–तपः, तद्धि यद्यत्राध्ययने आगाढादियोगलक्षणमुक्तं तत्तत्र कार्यं, तत्पूर्वकश्रुतग्रहणस्यैव सफलत्वात्, अत्रोदाहरणम्–एगे आयरिया, ते वायणाए

१ गिरिकन्दरायां शिवः, तं च ब्राह्मणः पुलिन्दश्चार्चयतः, ब्राह्मण उपलेपनसंमार्जनवर्षणेषु प्रयतः शुचीभूतोऽर्चयित्वा स्तौति विनययुक्तो न पुनर्बहुमानेन, पुलिन्दः पुनस्तस्मिन् शिवे भावप्रतिबद्धो गल्लोदकेन स्नपयति, स्नपयित्वोपविष्टः, शिवश्च तेन सममालापसंलापकथाभिस्तिष्ठति, अन्यदा च तयोर्ब्राह्मणेनोल्लापशब्दः श्रुतः, तेन प्रतिचर्योपालब्धः—त्वमीदश एव कटपूतनाशिवो य ईदृशेनोच्छिष्टेन समं मन्त्रयसे, ततः शिवो भणति—एष मां बहुमानयति, त्वं पुनर्न तथा, अन्यदा चाक्षि उत्खाय तिष्ठति शिवः, ब्राह्मणश्चागत्य रुदित्वोपशान्तः, पुलिन्दश्चागतः शिवस्याक्षि नेक्षते, तत आत्मीयमक्षि काण्डफलेनोत्खाय शिवाय ददाति, ततः शिवेन ब्राह्मणः प्रत्यायितः, एवं ज्ञानवत्सु विनयो बहुमानश्च द्वावपि कर्त्तव्यौ. २ एके आचार्याः ते वाचनायां

॥ १०४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

संता परितंता सज्झाएऽवि असज्झाइयं घोसेउमारद्धा, णाणंतरायं बंधिऊण कालं काऊण देवलोकं गया, तओ देवलोगाओ आउक्खएण चुया आहीरकुले पचायाया भोगे भुंजंति, अन्नया य से धूया जाया, सा य अईव रूवस्सिणी, ताणि य पच्चंतयाणि गोचारणणिमित्तं अन्नत्थ वच्चंति, तीए दारियाए पिउणो सगडं सव्वसगडाणं पुरओ गच्छइ, सा य दारिया तस्स सगडस्स धुरतुंडे ठिया वच्चइ, तरुणइत्तेहिं चिंतियं– समाइं काउं सगडाइं दारियं पेच्छामो, तेहिं सगडाओ उप्पहेण खेडिया, विसमे आवडिया समाणा भग्गा, तओ लोएण तीए दारियाए णामं कयं असगडत्ति, ताए दारियाए असगडाए पिया असगडपियत्ति, तओ तस्स तं चेव वेरग्गं जायं, तं दारियं एगस्स दाऊण पव्वइओ जाव चाउरंगिज्जं ताव पढिओ, असंखए उद्दिट्ठे तं णाणावरणिज्जं से कम्मं उदिन्नं, पढंतस्सऽवि किंचि ण ठाइ, आयरिया भणंति, छट्ठेणं ते अणुन्नवइत्ति,

१ श्रान्तपरिश्रान्ताः स्वाध्यायिकेऽप्यस्वाध्यायिकं घोषयितुमारब्धाः, ज्ञानान्तरायं बद्ध्वा कालं कृत्वा देवलोकं गताः, ततो देवलोकादायुःक्षयेण च्युता आभीरकुले प्रत्यायाता भोगान् भुञ्जन्ति, अन्यदा च तस्य दुहिता जाता, सा चातीव रूपिणी, तौ च प्रत्यन्तग्रामान् गोचारणनिमित्तमन्यत्र व्रजतः, तस्या दारिकायाः पितुः शकटं सर्वशकटानां पुरतो गच्छति, सा च दारिका तस्य शकटस्य धुरि स्थिता गच्छति, तरुणैश्चिन्तितं, समानि शकटानि कृत्वा दारिकां प्रेक्षामहे, तैः शकटान्युत्पथे खेटितानि, विषमे आपतितानि सन्ति भग्नानि, ततो लोकेन तस्या दारिकाया नाम कृतमशकटेति, तस्या दारिकाया अशकटायाः पिता अशकटपितेति, ततस्तस्य तदैव वैराग्यं जातं, तां दारिकामेकस्मै दत्त्वा प्रव्रजितः यावच्चतुरङ्गीयं तावत् पठितः, असंस्कृते उद्दिष्टे तत् ज्ञानावरणीयं तस्य कर्मोदीर्णं, पठतोऽपि न किञ्चित्तिष्ठति, आचार्या भणन्ति—तव षष्ठेनानुज्ञायते इति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

तओ सो भणइ–एयस्स केरिसो जोओ?, आयरिया भणंति–जाव ण ठाइ ताव आयंबिलं कायव्वं, तओ सो भणइ–तो एवं चेव पढामि, तेण तहा पढंतेण बारस रूवाणि बारससंवच्छरेहिं अहियाणि, ताव से आयंबिलं कयं, तओ णाणावरणिज्जं कम्मं खीणं, एवं जहाऽसगडपियाए आगाढजोगो अणुपालिओ तहा सम्मं अणुपालियव्वं, उवहाणेत्ति गयं। तथा 'अनिण्हवणि'त्ति गृहीतश्रुतेनानिह्नवः कार्यः, यद्यस्य सकाशेऽधीतं तत्र स एव कथनीयो नान्यः, चित्तकालुष्यापत्तेरिति, अत्र दृष्टान्तः–ऐगस्स पहावियस्स खुरभंडं विज्जासामत्थेण आगासे अच्छइ, तं च एगो परिव्वायगो बहूहिं उवसंपज्जणाहिं उवसंपज्जिऊण, तेण सा विज्जा लद्धा, ताहे अन्नत्थ गंतुं तिदंडेण आगासगएण महाजणेण पूइज्जइत्ति, रन्ना य पुच्छिओ–भयवं! किमेस विज्जाइसयो उय तवाइसओ त्ति?, सो भणइ–विज्जाइसओ, कस्स सगासाओ गहिओ?, सो भणइ–हिमवंते फलाहारस्स रिसिणो सगासे अहिज्जिओ, एवं तु वुत्ते समाणे संकिलेसदुट्ठयाए तं तिदंडं खडसि

१ ततः स भणति—एतस्य कीदृशो योगः?, आचार्या भणन्ति—यावन्नायाति तावदाचाम्लं कर्त्तव्यं, ततः स भणति—तदैवमेव पठामि, तेन तथा पठता द्वादश काव्यानि द्वादशभिः संवत्सरैरधीतानि, तावत्तेनाचाम्लानि कृतानि, ततो ज्ञानावरणं कर्म क्षीणं, एवं यथाऽशकटपित्राऽऽगाढयोगोऽनुपालितस्तथा सम्यगनुपालयितव्यः उपधानमिति गतं। २ एकस्य नापितस्य क्षुरप्रादिभाजनं विद्यासामर्थ्येनाकाशे तिष्ठति, तं चैकः परिव्राट् बहुभिरुपसंपद्विरुपसंपद्य (स्थितः), ततस्तां विद्यां लब्धवान्, ततोऽन्यत्र गत्वा त्रिदण्डेनाकाशगतेन महाजनेन पूज्यते, राज्ञा च पृष्टः—भगवन्! किमेष विद्यातिशय उत तपोऽतिशय इति?, स भणति—विद्यातिशयः, कस्य सकाशाद् गृहीतः?, स भणति—हिमवति फलाहाराद्ऋषेः सकाशे अधीतः, एवं तूक्तमात्रे संक्लेशदुष्टतया तत्त्रिदण्डं खटदिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

पंडियं, एवं जो अप्पागमं आयरियं निण्हवेऊण अन्नं कहेइ तस्स चित्तसंकिलेसदोसेणं सा विज्जा परलोए ण हवइत्ति, अनिण्हवणित्ति गयं। तथा व्यञ्जनार्थतदुभयान्याश्रित्य भेदो न कार्य इति वाक्यशेषः, एतदुक्तं भवति–श्रुतप्रवृत्तेन तत्फलमभीप्सता व्यञ्जनभेदोऽर्थभेद उभयभेदश्च न कार्य इति, तत्र व्यञ्जनभेदो यथा —'धम्मो मंगलमुक्किट्ठ'मिति वक्तव्ये 'पुण्णं कल्लाणमुक्कोस'मिति, अर्थभेदस्तु यथा 'आवन्ती केयावन्ती लोगंसि विप्परामुसन्ती' त्यत्राचारसूत्रे यावन्तः केचन लोके–अस्मिन् पाखण्डिलोके विपरामृशन्तीत्येवंविधार्थाभिधाने अवन्तिजनपदे केया–रज्जुर्वान्ता–पतिता लोकः परामृशति कूप इत्याह, उभयभेदस्तु द्वयोरपि यथात्म्योपमर्देन यथा–'धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टः अहिंसा पर्वतमस्तक' इत्यादि, दोषश्चात्र व्यञ्जनभेदेऽर्थभेदस्तद्भेदे क्रियाया भेदस्तद्भेदे मोक्षाभावस्तदभावे च निरर्थिका दीक्षेति, उदाहरणं चात्रांधीयतां कुमार इति सर्वत्र योजनीयं, श्रुण्णत्वादनुयोगद्वारेषु चोक्तत्वान्नेह दर्शितमिति। अष्टविधः–अष्टप्रकारः कालादिभेदद्वारेण ज्ञानाचारो –ज्ञानासेवनाप्रकार इति गाथार्थः॥ उक्तो ज्ञानाचारः, साम्प्रतं चारित्राचारमाह–प्रणिधानं–चेतःस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगा–व्यापारास्तैर्युक्तः–समन्वितः प्रणिधानयोगयुक्तः, अयं चौघतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरपि भवत्यत आह–पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिश्च गुप्तिभिर्यः प्रणिधानयोगयुक्तः, एतद्योगयुक्त एतद्योगवानेव, अथवा

१ पतितं, एवं योऽल्पागमामाचार्यं निह्नुयान्यं कथयति तस्य चित्तसंक्लिष्टतादोषेण सा विद्या परलोके न भवति। अनिह्नव इति गतं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

पञ्चसु समितिसु तिसृषु गुप्तिष्वस्मिन् विषये–एता आश्रित्य प्रणिधानयोगयुक्तो य एष चारित्राचारः, आचाराचारवतोः कथंचिदव्यतिरेकादष्टविधो भवति ज्ञातव्यः, समितिगुप्तियोगभेदात्, समितिगुप्तिरूपं च शुभं प्रवीचाराप्रवीचाररूपं यथा प्रतिक्रमणे इति गाथार्थः ॥ उक्तश्चारित्राचारः, साम्प्रतं तपआचारमाह–द्वादशविधेऽपि तपसि–प्रथमाध्ययनोक्तस्वरूपे साभ्यन्तरबाह्येऽनशनादिप्रायश्चित्तादिलक्षणे कुशलदृष्टे–तीर्थकरोपलब्धे अग्लान्या न राजवेष्टिकल्पेन यथाशक्त्या वा अनाजीविको–निःस्पृहः फलान्तरमधिकृत्य यो ज्ञातव्योऽसौ तपआचारः, आचारतद्वतोरभेदादिति गाथार्थः ॥ उक्तस्तपआचारः, अधुना वीर्याचारमाह–अनिगूहितबलवीर्यः–अनिह्नुतबाह्याभ्यन्तरसामर्थ्यः सन् पराक्रमते–चेष्टते यो यथोक्तं षट्त्रिंशल्लक्षणमाचारमाश्रित्येति वाक्यशेषः, षट्त्रिंशद्विधत्वं चाचारस्य ज्ञानदर्शनचारित्राचाराणामष्टविधत्वात्तपआचारस्य च द्वादशविधत्वाच्चेति, उपयुक्त इत्यनन्यचित्तः, पराक्रमते ग्रहणकाले, तत ऊर्ध्वं युनक्ति च योजयति च–प्रवर्तयति च यथोक्तं षट्त्रिंशल्लक्षणमाचारमिति सामर्थ्याद्गम्यते, यथास्थामं–यथासामर्थ्यं यो ज्ञातव्योऽसौ वीर्याचारः आचाराचारवतोः कथञ्चिदव्यतिरेकादिति गाथार्थः ॥ अभिहितो वीर्याचारः, तदभिधानाच्चाचार इति, साम्प्रतं कथामाह—

अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा । एत्तो एक्केकावि य णेगविहा होइ नायव्वा ॥ १८८ ॥
विज्जासिप्पमुवाओ अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं । सामं दंडो भेओ उवप्पयाणं च अत्थकहा ॥ १८९ ॥
सत्थाहसुओ दक्खत्तणेण सेट्ठीसुओ य रूवेणं । बुद्धीऍ अमच्चसुओ जीवइ पुन्नेहिं रायसुओ ॥ १९० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'कथा' शब्दस्य व्याख्या (भेदादि सहितं)

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

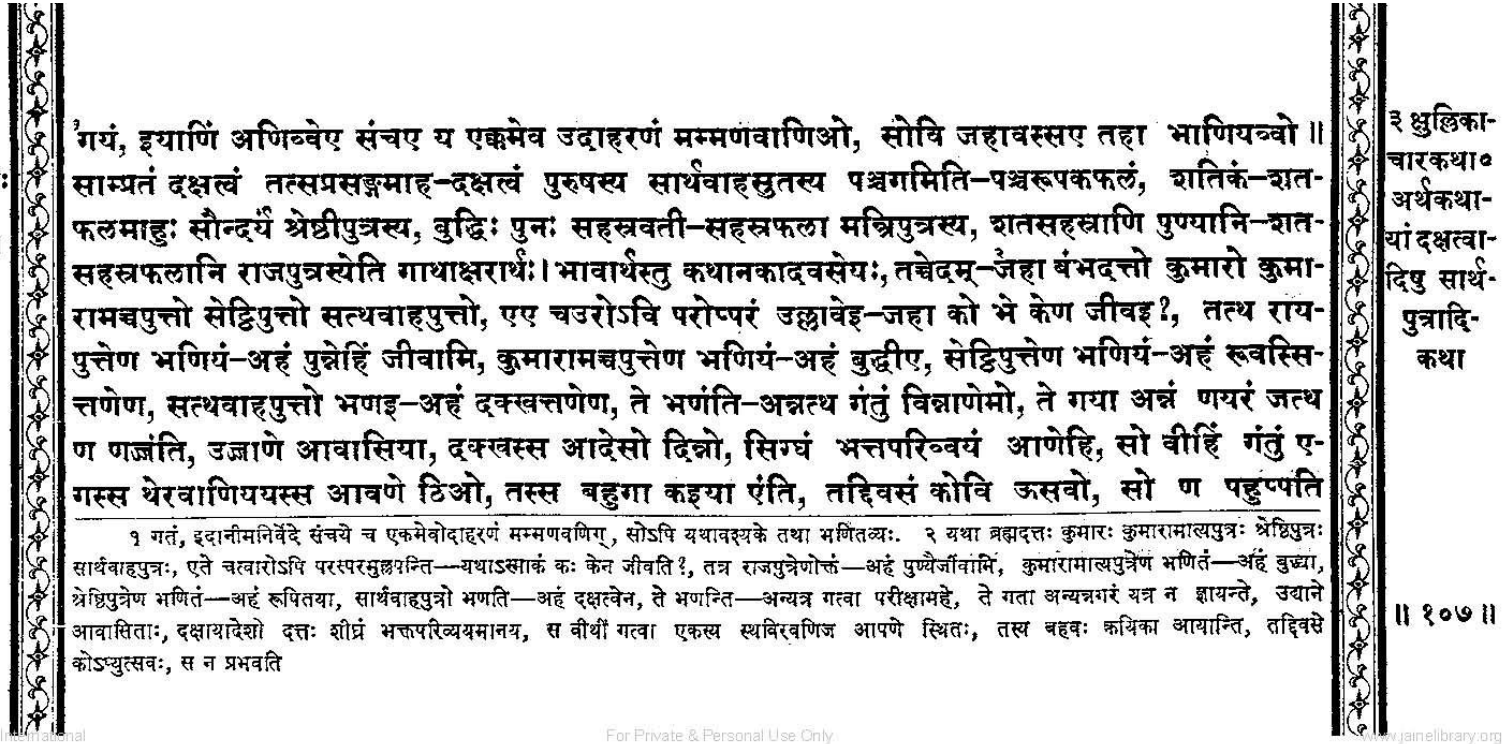
दक्खत्तणयं पुरिसस्स पंचगं सइगमाहु सुंदेरं । बुद्धी पुण साहस्सा सयसाहस्साइं पुन्नाइं ॥ १९१ ॥

व्याख्या—'अर्थकथे'ति विद्यादिरर्थस्तत्प्रधाना कथाऽर्थकथा, एवं कामकथा धर्मकथा चैव मिश्रा च कथा, अत आसां कथानां चैकैकापि च कथा अनेकविधा भवति ज्ञातव्येत्युपन्यस्तगाथार्थः। अधुनाऽर्थकथामाह–विद्या-शिल्पं उपायोऽनिर्वेदः सञ्चयश्च दक्षत्वं साम दण्डो भेद उपप्रदानं चार्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्यक्षरार्थः, भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः, तच्चेदम्–विज्जं पडुच्चऽत्थकहा जो विज्जाए अत्थं उवज्जिणति, जा एगेण विज्जा साहिया सा तस्स पंचयं पइप्पभायं देइ, जहा वा सच्चइस्स विज्जाहरचक्कवट्टिस्स विज्जापभावेण भोगा उव-णया, सच्चइस्स उप्पत्ती जहा य सड्ढकुलेऽवत्थितो जहा य महेसरो नामं कयं एवं निरवसेसं जहावस्सए जोगसंगहेसु तहा भाणियव्वं विज्जत्ति गयं। इयाणिं सिप्पेत्ति, सिप्पेणत्थो उवज्जिणइ त्ति, एत्थ उदाहरणं को-क्कासो जहावस्सए, सिप्पेत्ति गयं, इयाणिं उवाएत्ति, एत्थ दिट्ठंतो चाणक्को, जहा चाणक्केण नाणाविहेहिं उवायेहिं अत्थो उवज्जिओ, कहं?–दो मज्झ धाउरत्ताओ०, एयंपि अक्खाणयं जहावस्सए तहा भाणियव्वं। उवाए त्ति

१ विद्यां प्रतीत्यार्थकथा यो विद्ययाऽर्थमुपार्जयति, यावदेकेन विद्या साधिता सा तस्मै पञ्चकं प्रतिप्रभातं ददाति, यथा वा सत्यकिनो विद्याधरचक्रवर्त्तिनो विद्या-प्रभावेण भोगा उपनताः, सत्यकिन उत्पत्तिर्यथा च श्राद्धकुलेऽवस्थितो यथा च महेश्वरो नाम कृतं, एतन्निरवशेषं यथाऽऽवश्यके योगसंग्रहेषु तथा भणितव्यं । विद्ये-ति गतं, इदानीं शिल्पमिति, शिल्पेनार्थ उपार्ज्यते इति, अत्रोदाहरणं कोकाशो यथाऽऽवश्यके । शिल्पमिति गतं, इदानीमुपाय इति, अत्र दृष्टान्तश्चाणक्यः, यथा चाणक्येन बहुविधैरुपायैरर्थ उपार्जितः, कथं?, द्वे मम धातुरक्ते, एतदप्याख्यानकं यथावश्यके तथा भणितव्यं । उपाय इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थकथा आदि चत्वारः कथानां दृष्टान्ताः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १०७ ॥

[1]गयं, इयाणिं अणिव्वेए संचए य एक्कमेव उदाहरणं मम्मणवाणिओ, सोवि जहावस्सए तहा भाणियव्वो ॥ साम्प्रतं दक्षत्वं तत्सप्रसङ्गमाह–दक्षत्वं पुरुषस्य सार्थवाहसुतस्य पञ्चगमिति–पञ्चरूपकफलं, शतिकं–शतफलमाहुः सौन्दर्यं श्रेष्ठीपुत्रस्य, बुद्धिः पुनः सहस्रवती–सहस्रफला मन्त्रिपुत्रस्य, शतसहस्राणि पुण्यानि–शतसहस्रफलानि राजपुत्रस्येति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–[2]जहा बंभदत्तो कुमारो कुमारामच्चपुत्तो सेट्ठिपुत्तो सत्थवाहपुत्तो, एए चउरोऽवि परोप्परं उल्लावेइ–जहा को भे केण जीवइ?, तत्थ रायपुत्तेण भणियं–अहं पुन्नेहिं जीवामि, कुमारामच्चपुत्तेण भणियं–अहं बुद्धीए, सेट्ठिपुत्तेण भणियं–अहं रूवस्सित्तणेण, सत्थवाहपुत्तो भणइ–अहं दक्खत्तणेण, ते भणंति–अन्नत्थ गंतुं विन्नाणेमो, ते गया अन्नं णयरं जत्थ ण णज्जंति, उज्जाणे आवासिया, दक्खस्स आदेसो दिन्नो, सिग्घं भत्तपरिव्वयं आणेहि, सो वीहिं गंतुं एगस्स थेरवाणिययस्स आवणे ठिओ, तस्स बहुगा कइया एंति, तद्दिवसं कोवि ऊसवो, सो ण पहुप्पति

१ गतं, इदानीमनिर्वेदे संचये च एकमेवोदाहरणं मम्मणवणिग्, सोऽपि यथावश्यके तथा भणितव्यः. २ यथा ब्रह्मदत्तः कुमारः कुमारामात्यपुत्रः श्रेष्ठिपुत्रः सार्थवाहपुत्रः, एते चत्वारोऽपि परस्परमुल्लपन्ति—यथाऽस्माकं कः केन जीवति?, तत्र राजपुत्रेणोक्तं—अहं पुण्यैर्जीवामि, कुमारामात्यपुत्रेण भणितं—अहं बुद्ध्या, श्रेष्ठिपुत्रेण भणितं—अहं रूपितया, सार्थवाहपुत्रो भणति—अहं दक्षत्वेन, ते भणन्ति—अन्यत्र गत्वा परीक्षामहे, ते गता अन्यत्रनगरं यत्र न ज्ञायन्ते, उद्याने आवासिताः, दक्षायादेशो दत्तः शीघ्रं भक्तपरिव्ययमानय, स वीथीं गत्वा एकस्य स्थविरवणिज आपणे स्थितः, तस्य बहवः क्रयिका आयान्ति, तद्दिवसे कोऽप्युत्सवः, स न प्रभवति

३ क्षुल्लिकाचारकथा० अर्थकथायां दक्षत्वादिषु सार्थपुत्रादिकथा

॥ १०७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

पुंडए बंधेउं, तओ सत्थवाहपुत्तो दक्खत्तणेण जस्स जं उवउज्जइ लवणतेल्लघयगुडसुंठिमिरियएवमाइ तस्स तं देइ, अइविसिट्ठो लाहो लद्धो, तुट्ठो भणइ–तुम्हेत्थ आगंतुया उदाहु वत्थव्वया?, सो भणइ–आगंतुया, तो अम्ह गिहे असणपरिग्गहं करेज्जह, सो भणइ–अन्ने मम सहाया उज्जाणे अच्छंति तेहिं विणा नाहं भुंजामि, तेण भणियं–सव्वेऽवि एंतु, आगया, तेण तेसिं भत्तसमालहणतंबोलाइ उवउत्तं तं पञ्चण्हं रूवयाणं। बिइयदिवसे रूवस्सी वणियपुत्तो वुत्तो–अज्ज तुमे दायव्वो भत्तपरिव्वओ, एवं भवउत्ति, सो उट्ठेऊण गणियापाडगं गओ अप्पयं मंडेउं, तत्थ य देवदत्ता नाम गणिया पुरिसवेसिणी बहूहिं रायपुत्तसेट्ठिपुत्तादीहिं मग्गिया णेच्छइ, तस्स य तं रूवसमुदयं दट्ठूण खुब्भिया पडिदासियाए गंतूण तीए माऊए कहियं जहा दारिया सुंदरजुवाणे दिट्ठिं देइ, तओ सा भणइ–भण एयं मम गिहमणुवरोहेण एज्जह इहेव भत्तवेलं करेज्जह

१ पुटिका बद्धं, ततः सार्थवाहपुत्रो दक्षत्वेन यद्यस्योपयुज्यते लवणतैलघृतगुडशुण्ठीमरीच्यादि तस्मै तद्ददाति, अतिविशिष्टो लाभो लब्धः, तुष्टो भणति—यूयमत्र आगन्तुका उताहो वास्तव्याः?, स भणति—आगन्तुकाः, तदाऽस्माकं गृहेऽशनपरिग्रहं कुर्यात, स भणति—अन्ये मम साहाय्यका उद्याने तिष्ठन्ति तैर्विना नाहं भुञ्जे, तेन भणितं—सर्वेऽप्यायान्तु, आगताः, तेन तेषां भक्तसमालभनताम्बूलाद्युपयुक्तं यत्तद्रूपकाणां पञ्चानां । द्वितीयदिवसे रूपी वणिक्पुत्र उक्तः—अद्य त्वया भक्तपरिव्ययो दातव्यः, एवं भवत्विति, स उत्थाय गणिकापाटकं गत आत्मानं मण्डयित्वा, तत्र च देवदत्तानाम्नी गणिका पुरुषद्वेषिणी बहुभिः राजपुत्रश्रेष्ठिपुत्रादिभिर्मार्गिता नेच्छति, तस्य च तत् रूपसमुदयं दृष्ट्वा क्षुब्धा प्रतिदास्या गत्वा तस्या मातुः कथितं यथा दारिका सुन्दरयूनि दृष्टिं ददाति, ततः सा भणति—भणैतान् मम गृहमनुपरोधेनायात इहैव भक्तवेलां कुर्यात.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तहेवागया सइओ दव्ववओ कओ। तइयदिवसे बुद्धिमन्तो अमच्चपुत्तो संदिट्ठो अज्ज तुमे भत्तपरिव्वओ दायव्वो, एवं हवउ त्ति, सो गओ करणसालं, तत्थ य तईओ दिवसो ववहारस्स छिज्जंतस्स परिच्छेजं न गच्छइ, दो सवत्तीओ, तासिं भत्ता उवरओ, एक्काए पुत्तो अत्थि इयरी अपुत्ता य, सा तं दारयं णेहेण उवचरइ, भणइ य–मम पुत्तो, पुत्तमाया भणइ य–मम पुत्तो, तासिं ण परिछिज्जइ, तेण भणियं–अहं छिंदामि ववहारं, दारओ दुहा कज्जउ दव्वंपि दुहा एव, पुत्तमाया भणइ–ण मे दव्वेण कज्जं दारगोऽवि तीए भवउ जीवन्तं पासिहामि पुत्तं, इयरी तुसिणिया अच्छइ, ताहे पुत्तमायाए दिण्णो, तहेव सहस्सं उवओगो। चउत्थे दिवसे रायपुत्तो भणिओ–अज्ज रायपुत्त! तुम्हेहिं पुण्णाहिएहिं जोगवहणं वहियव्वं, एवं भवउ त्ति, तओ रायपुत्तो तेसिं अंतियाओ णिग्गंतुं उज्जाणे ठियो, तंमि य णयरे अपुत्तो राया मओ, आसो अहिवासिओ, जीए रुक्खछायाए रायपुत्तो णिवण्णो सा ण ओयत्तति, तओ आसेण तस्सोवरि ठाइऊण हिंसितं,

१ तथैवागताः शातिको द्रव्यव्ययः कृतः. तृतीयदिवसे बुद्धिमान् अमात्यपुत्रः संदिष्टः—अद्य त्वया भक्तपरिव्ययो दातव्यः, एवं भवत्विति, स गतः करणशालां, तत्र च तृतीयो दिवसो व्यवहारं छिन्दतः, परिच्छेदं न गच्छति, द्वे सपत्न्यौ, तयोर्भर्त्तोपरतः, एकस्याः पुत्रोऽस्ति इतराऽपुत्रा च, सा तं दारकं स्नेहेनोपचरति भणति च—मम पुत्रः, पुत्रमाता भणति च—मम पुत्रः, तयोर्न परिच्छिद्यते, तेन भणितं—अहं छिनद्मि व्यवहारं, दारकं द्विधा करोतु द्रव्यमपि द्विधैव, पुत्रमाता भणति—न मे द्रव्येण कार्यं दारकोऽपि तस्या भवतु जीवन्तं द्रक्ष्यामि पुत्रं, इतरा तूष्णीका तिष्ठति, तदा पुत्रमात्रे दत्तः, तथैव सहस्रस्योपयोगः। चतुर्थे दिवसे राजपुत्रो भणितः—अद्य राजपुत्र! भवता पुण्याधिकेन योगवहनं वोढव्यं, एवं भवत्विति, ततो राजपुत्रस्तेषां पार्श्वात् निर्गत्योद्याने स्थितः, तस्मिंश्च नगरेऽपुत्रो राजा मृतः, अश्वोऽधिवासितः, यस्यां वृक्षच्छायायां राजपुत्रो निषण्णो न सा परावर्त्तते, ततोऽश्वेन तस्योपरि स्थित्वा हेषितं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

राया य अभिसित्तो, अणेगाणि सयसहस्साणि जायाणि, एवं अत्थुप्पत्ती भवइ । दक्खत्तणं ति दारं गयं, इयाणिं सामभेयदण्डुवप्पयाणेहिं चउहिं जहा अत्थो विढप्पति, एत्थिमं उदाहरणं–सियालेण भमंतेण हत्थी मओ दिट्ठो, सो चिंतेइ–लद्धो मए उवाएण ताव णिच्छएण खाइयव्वो, जाव सिंहो आगओ, तेण चिन्तियं–सचिट्ठेण ठाइयव्वं एयस्स, सिंहेण भणियं–किं अरे! भाइणेज्ज अच्छिज्जइ?, सियालेण भणियं–आमंति माम!, सिंहो भणइ–किमेयं मयं ति?, सियालो भणइ–हत्थी, केण मारिओ?–वग्घेण, सिंहो चिंतेइ–कहमहं ऊणजातिएण मारियं भक्खामि?, गओ सिंहो, णवरं वग्घो आगओ, तस्स कहियं–सीहेण मारिओ, सो पाणियं पाउं णिग्गओ, वग्घो णट्ठो, एस भेओ, जाव काओ आगओ, तेण चिन्तियं–जइ एयस्स ण देमि तओ काउ काउत्तिवासियसद्देणं अण्णे कागा एहिंति, तेसिं कागरडणसद्देणं सियालादि अण्णे

१ राजा चाभिषिक्तः, अनेकानि शतसहस्राणि जातानि, एवमर्थोत्पत्तिर्भवति । दक्षत्वमिति द्वारं गतं, इदानीं सामभेददण्डोपप्रदानैश्चतुर्भिर्यथाऽर्थं उपार्ज्यते, अत्रेदमुदाहरणं—शृगालेन भ्राम्यता हस्ती मृतो दृष्टः, स चिन्तयति—लब्धो मयोपायेन तावन्निश्चयेन खादितव्यः, यावत्सिंह आगतः, तेन चिन्तितं—एतस्य सचेष्टेन स्थातव्यं, सिंहेन भणितं—किमरे भागिनेय! स्थीयते?, शृगालेन भणितं—ओमिति मातुल!, सिंहो भणति—किमेतत् मृतमिति, शृगालो भणति—हस्ती, केन मारितः?, व्याघ्रेण, सिंहश्चिन्तयति—कथमहमूनजातीयेन मारितं भक्षयामि?, गतः सिंहः, नवरं व्याघ्र आगतः, तस्मै कथितं—सिंहेन मारितः, स पानीयं पातुं निर्गतः, व्याघ्रो नष्टः, एष भेदः, यावत् काक आगतः, तेन चिन्तितं—यद्येतस्मै न ददामि ततः काक काकेति वासितशब्देनान्ये काका एष्यन्ति, तेषां काकरटनशब्देन शृगालादयोऽन्ये

दश. १९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहवे एहिंति, कित्तिया वारेहामि, ता एयस्स उवप्पयाणं देमि, तेण तओ तस्स खंडं छित्ता दिण्णं, सो तं घेत्तूण गओ, जाव सियालो आगओ, तेण णायमेयस्स हठेण वारणं करेमित्ति भिउडिं काऊण वेगो दिण्णो, णट्ठो सियालो, उक्तं च—"उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् । नीचमल्पप्रदानेन, सदृशं च पराक्रमैः ॥ १ ॥" इत्युक्तः कथागाथाया भावार्थः, उक्ताऽर्थकथा, साम्प्रतं कामकथामाह—

रूवं वओ य वेसो दक्खत्तं सिक्खियं च विसएसुं । दिट्ठं सुयमणुभूयं च संथवो चेव कामकहा ॥ १९२ ॥

रूपं सुन्दरं वयश्चोदग्रं वेषः उज्ज्वलः दाक्षिण्यं–मार्दवं, शिक्षितं च विषयेषु–शिक्षा च कलासु, दृष्टमद्भुतदर्शनमाश्रित्य श्रुतं चानुभूतं च संस्तवश्च–परिचयश्चेति कामकथा । रूपे च वसुदेवादय उदाहरणं, वयसि सर्व एव प्रायः कमनीयो भवति लावण्यात्, उक्तं च—"यौवनमुद्ग्रकाले विदधाति विरूपकेऽपि लावण्यम् । दर्शयति पाकसमये निम्बफलस्यापि माधुर्यम् ॥ १ ॥" इति, वेष उज्ज्वलः कामाङ्गं, 'यं कञ्चन उज्ज्वलवेषं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते' इति वचनात्, एवं दाक्षिण्यमपि "पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्" इति वचनात्, शिक्षा च कलासु कामाङ्गं वैदग्ध्यात्, उक्तं च—"कलानां ग्रहणादेव, सौभाग्यमुपजायते । देशकालौ त्वपेक्ष्यासां, प्रयोगः संभवेन्न वा ॥ १ ॥" अन्ये त्वत्राचलमूलदेवौ देवदत्तां प्रतीत्येक्षुयाचनायां प्रभूतासंस्कृतस्तोकसंस्कृतप्र-

१ बहव एष्यन्ति, कियतो वारयिष्यामि ?, तस्मादेतस्मै उपप्रदानं ददामि, तेन ततस्तस्मै खण्डं छित्त्वा दत्तं, स तत् गृहीत्वा गतः, यावच्छृगाल आगतः, तेन ज्ञातं—एतस्य हठेन वारणां करोमि, भृकुटिं कृत्वा वेगो दत्तः, नष्टः शृगालः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

दानद्वारेणोदाहरणमभिदधति, दृष्टमधिकृत्य कामकथा यथा नारदेन रुक्मिणीरूपं दृष्ट्वा वासुदेवे कृता, श्रुतं त्वधिकृत्य यथा पद्मनाभेन राज्ञा नारदाद्द्रौपदीरूपमाकर्ण्य पूर्वसंस्तुतदेवेभ्यः कथिता, अनुभूतं चाधिकृत्य कामकथा यथा–तरङ्गवत्या निजानुभवकथने, संस्तवश्च–कामकथापरिचयः 'कारणानी'तिकामसूत्रपाठात्, अन्ये त्वभिदधति—'सइदंसणाउ पेम्मं पेमाउ रई रईय विस्संभो । विस्संभाओ पणओ पञ्चविहं वड्ढए पेम्मं ॥ १ ॥" इति गाथार्थः । उक्ता कामकथा, धर्मकथामाह—

धम्मकहा बोद्धव्वा चउव्विहा धीरपुरिसपन्नत्ता । अक्खेवणि विक्खेवणि संवेगे चेव निव्वेए ॥ १९३ ॥ आयारे ववहारे पन्नत्ती चेव दिट्ठीवाए य । एसा चउव्विहा खलु कहा उ अक्खेवणी होइ ॥ १९४ ॥ विज्जा चरणं च तवो पुरिसक्कारो य समिइगुत्तीओ । उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ अक्खेवणीइ रसो ॥ १९५ ॥ कहिऊण ससमयं तो कहेइ परसमयमह विवच्चासा । मिच्छासम्भावाए एमेव हवंति दो भेया ॥ १९६ ॥ जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोगवेयसंजुत्ता । परसमयाणं च कहा एसा विक्खेवणी नाम ॥ १९७ ॥ जा ससमएण पुव्विं अक्खाया तं छुभेज्ज परसमए । परसासण-वक्खेवा परस्स समयं परिकहेइ ॥ १९८ ॥ आयपरसरीरगया इहलोए चेव तहय परलोए । एसा चउव्विहा खलु कहा उ संवेयणी होइ ॥ १९९ ॥ वीरियविउव्वणिड्ढी नाणचरणदंसणाण तह इड्ढी । उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ संवेयणीइ रसो ॥ २०० ॥ पावाणं कम्माणं असुभविवागो कहिज्जए जत्थ । इह य परत्थ य लोए कहा उ णिव्वेयणी नाम ॥२०१॥ थोवंपि पमायकयं कम्मं साहिज्जई जहिं नियमा । पउरासुहपरिणामं कहाइ निव्वेयणीइ रसो ॥ २०२ ॥ सिद्धी य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवलोगो सुकुलुप्पत्ती य होइ संवेगो । नरगो तिरिक्खजोणी कुमाणुसत्तं च निव्वेओ ॥ २०३ ॥ वेणइयस्स [य] पढमया कहा उ अक्खेवणी कहेयव्वा । तो ससमयगहियत्थो कहिज्ज विक्खेवणी पच्छा ॥ २०४ ॥ अक्खेवणीअक्खित्ता जे जीवा ते लभन्ति संमत्तं । विक्खेवणीऍ भज्जं गाढतरागं च मिच्छत्तं ॥ २०५ ॥

धर्मविषया कथा धर्मकथा असौ बोद्धव्या चतुर्विधा धीरपुरुषप्रज्ञसा–तीर्थकरगणधरप्ररूपितेत्यर्थः, चातुर्विध्यमेवाह–आक्षेपणी विक्षेपणी संवेगश्चैव निर्वेद इति, 'सूचनात्सूत्र'मितिन्यायात् संवेजनी निर्वेदनी चैवेत्युपन्यासगाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थं त्वाह–आचारो–लोचास्नानादिः व्यवहारः–कथञ्चिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः प्रज्ञप्तिश्चैव–संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापना दृष्टिवादश्च–श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादिभावकथनं, अन्ये त्वभिदधति–आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचाराद्यभिधानादिति, एषा–अनन्तरोदिता चतुर्विधा खलुशब्दो विशेषणार्थः श्रोत्रपेक्षयाऽऽचारादिभेदानाश्रित्यानेकप्रकारेति कथा त्वाक्षेपणी भवति, तुरेवकारार्थः, कथैव प्रज्ञापकेनोच्यमाना नान्येन, आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणिन इत्याक्षेपणी भवतीति गाथार्थः । इदानीमस्या रसमाह–विद्या–ज्ञानं अत्यन्तापकारिभावतमोभेदकं चरणं–चारित्रं समग्रविरतिरूपं तपः–अनशनादि पुरुषकारश्च–कर्मशत्रून् प्रति स्ववीर्योत्कर्षलक्षणः समितिगुप्तयः–पूर्वोक्ता एव, एतदुपदिश्यते खलु–श्रोतृभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते, एवं यत्र क्वचिदसावुपदेशः कथाया आक्षेपण्या रसो–निष्यन्दः सार इति गाथार्थः । गताऽऽक्षेपणी, विक्षेपणीमाह–कथयित्वा स्वसमयं–स्वसिद्धान्तं ततः

॥ ११० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

कथयति परसमयं–परसिद्धान्तमित्येको भेदः, अथवा विपर्यासाद्–व्यत्ययेन कथयति–परसमयं कथयित्वा स्वसमयमिति द्वितीयः, मिथ्यासम्यग्वादयोरेवमेव भवतो द्वौ भेदाविति, मिथ्यावादं कथयित्वा सम्यग्वादं कथयति सम्यग्वादं च कथयित्वा मिथ्यावादमिति, एवं विक्षिप्यतेऽनया सन्मार्गात् कुमार्गे कुमार्गाद्वा सन्मार्गे श्रोतेति विक्षेपणीति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः, तच्चेदम्–विक्खेवणी सा चउव्विहा पन्नत्ता, तंजहा–ससमयं कहेत्ता परसमयं कहेइ १ परसमयं कहेत्ता ससमयं कहेइ २ मिच्छावादं कहेत्ता सम्मावादं कहेइ ३ सम्मावादं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ ४ तत्थ पुव्विं ससमयं कहेत्ता परसमयं कहेइ–ससमयगुणे दीवेइ परसमयदोसे उवदंसेइ, एसा पढमा विक्खेवणी गया। इयाणिं बिइया भन्नइ–पुव्विं परसमयं कहेत्ता तस्सेव दोसे उवदंसेइ, पुणो ससमयं कहेइ, गुणे य से उवदंसेइ, एसा बिइया विक्खेवणी गया। इयाणिं तइया–परसमयं कहेत्ता तेसु चेव परसमएसु जे भावा जिणप्पणीएहिं भावेहिं सह विरुद्धा असंता चेव वियप्पिया ते पुव्विं कहित्ता दोसा तेसिं भाविऊण पुणो जे जिणप्पणीयभावसरिसा घुणक्खरमिव

१ विक्षेपणी सा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—स्वसमयं कथयित्वा परसमयं कथयति, परसमयं कथयित्वा स्वसमयं कथयति, मिथ्यावादं कथयित्वा सम्यग्वादं कथयति, सम्यग्वादं कथयित्वा मिथ्यावादं कथयति, तत्र पूर्वं स्वसमयं कथयित्वा परसमयं कथयति—स्वसमयगुणान् दीपयति परसमयदोषान् उपदर्शयति, एषा प्रथमा विक्षेपणी गता। इदानीं द्वितीया भण्यते—पूर्वं परसमयं कथयित्वा तस्यैव दोषान् उपदर्शयति पुनः स्वसमयं कथयति गुणांश्च तस्योपदर्शयति, एषा द्वितीया विक्षेपणी गता। इदानीं तृतीया—परसमयं कथयित्वा तेष्वेव परसमयेषु ये भावा जिनप्रणीतैर्भावैर्विरुद्धा असन्त एव विकल्पितास्तान् पूर्वं कथयित्वा दोषांस्तेषामुक्त्वा पुनर्ये जिनप्रणीतभावसदृशा घुणाक्षरमिव.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

कैहवि सोभणा भणिया ते कहयइ, अहवा मिच्छावादो णत्थित्तं भन्नइ सम्मावादो अत्थित्तं भण्णति, तत्थ पुव्विं णाहियवाईणं दिट्ठीओ कहित्ता पच्छा अत्थित्तपक्खवाईणं दिट्ठीओ कहेइ, एसा तइया विक्खेवणी गया। इयाणिं चउत्थी विक्खेवणी, सा वि एवं चेव, णवरं पुव्विं सोभणे कहेइ पच्छा इयरेत्ति, एवं विक्खिवति सोयारं ति गाथाभावार्थः। साम्प्रतमधिकृतकथामेव प्रकारान्तरेणाह–या खसमयवर्जा खलुशब्दस्य विशेषणार्थत्वादत्यन्तं प्रसिद्धनीत्या स्वसिद्धान्तशून्या, अन्यथा विधिप्रतिषेधद्वारेण विश्वव्यापकत्वात् स्वसमयस्य तद्वर्जा कथैव नास्ति, भवति कथा 'लोकवेदसंयुक्ता', लोकग्रहणाद्रामायणादिपरिग्रहः वेदास्तु ऋग्वेदादय एव, एतदुक्ता कथेत्यर्थः, परसमयानां च साङ्ख्यशाक्यादिसिद्धान्तानां च कथा या सा सामान्यतो दोषदर्शनद्वारेण वा एषा विक्षेपणी नाम, विक्षिप्यतेऽनया सन्मार्गात् कुमार्गे कुमार्गाद्वा सन्मार्गे श्रोतेति विक्षेपणी, तथाहि–सामान्यत एव रामायणादिकथायामिदमपि तत्त्वमिति भवति सन्मार्गाभिमुखस्य ऋजुमतेः कुमार्गप्रवृत्तिः, दोषदर्शनद्वारेणाप्येकेन्द्रियप्रायस्याहो मत्सरिण एत इति मिथ्यालोचनेनेति गाथार्थः। अस्या अक्थने प्राप्ते विधिमाह–या स्वसमयेन–स्वसिद्धान्तेन करणभूतेन पूर्वमाख्याता–आदौ कथिता तां क्षिपेत् परस-

१ कथमपि शोभना भणितास्तान् कथयति, अथवा मिथ्यावादो नास्तिक्यं भण्यते सम्यग्वाद आस्तिक्यं भण्यते, तत्र पूर्वं नास्तिकवादिनां दृष्टीः कथयित्वा पश्चादास्तिकपक्षवादिनां दृष्टीः कथयति, एषा तृतीया विक्षेपणी गता, इदानीं चतुर्थी विक्षेपणी—साऽप्येवमेव, नवरं पूर्वं शोभनान् कथयति पश्चादितरान् इत्येवं विक्षिपति श्रोतारमिति.

॥ १११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

मये कचिद्दोषदर्शनद्वारेण यथाऽस्माकमहिंसादिलक्षणो धर्मः साङ्ख्यादीनामप्येवं, 'हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति' इत्यादिवचनग्रामाण्यात्, किंत्वसावपरिणामिन्यात्मनि न युज्यते, एकान्तनित्यानित्यथो-हिंसाया अभावादिति, अथवा परशासनव्याक्षेपात्–'सुपां सुपो भवन्ति' इति सप्तम्यर्थे पञ्चमी, परशासनेन कथ्यमानेन व्याक्षेपे–सन्मार्गाभिमुखतायां सत्यां परस्य समयं कथयति, दोषदर्शनद्वारेण केवलमपीति गा-थार्थः। उक्ता विक्षेपणी, अधुना संवेजनीमाह–आत्मपरशरीरविषया इहलोके चैव तथा परलोके–इहलोक-विषया परलोकविषया च एषा चतुर्विधा खलु अनन्तरोक्तेन प्रकारेण कथा तु संवेजनी भवति, संवेज्यते–संवेगं ग्राह्यतेऽनया श्रोतेति संवेजनी, एषोऽधिकृतगाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु बृद्धविवरणादवसेयः, तच्चेदम्–संवेयणी कहा चउव्विहा, तंजहा–आयसरीरसंवेयणी परसरीरसंवेयणी इहलोयसंवेयणी परलोयसंवेयणी, तत्थ आयसरीरसंवेयणी जहा जमेयं अम्हचयं सरीरयं एवं सुक्कसोणियमंसवसामेदमज्जट्ठिण्हारुचम्मकेसरो-मणहदंतअंतादिसंघायणिप्फण्णत्तणेण मुत्तपुरीसभायणत्तणेण य असुइत्ति कहेमाणो सोयारस्स संवेगं उप्पा-एइ, एसा आयसरीरसंवेयणी, एवं परसरीरसंवेयणीवि परसरीरं एरिसं चेव असुई, अहवा परस्स सरीरं

१ संवेजनी कथा चतुर्विधा, तद्यथा—आत्मशरीरसंवेजनी परशरीरसंवेजनी इहलोकसंवेजनी परलोकसंवेजनी, तत्रात्मशरीरसंवेजनी यथा यदेतदस्मदीयं शरीरकमेवं शुक्रशोणितमांसवसामेदोमज्जास्थिस्नायुचर्मकेशरोमनखदन्तान्त्रादिसंघातनिष्पन्नत्वेन मूत्रपुरीषभाजनत्वेन चाशुचीति कथयन् श्रोतुः संवेगमुत्पादयति, एषा-ऽऽत्मशरीरसंवेजनी, एवं परशरीरसंवेजन्यपि परशरीरमीदृशमेवाशुचि, अथवा परस्य शरीरं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

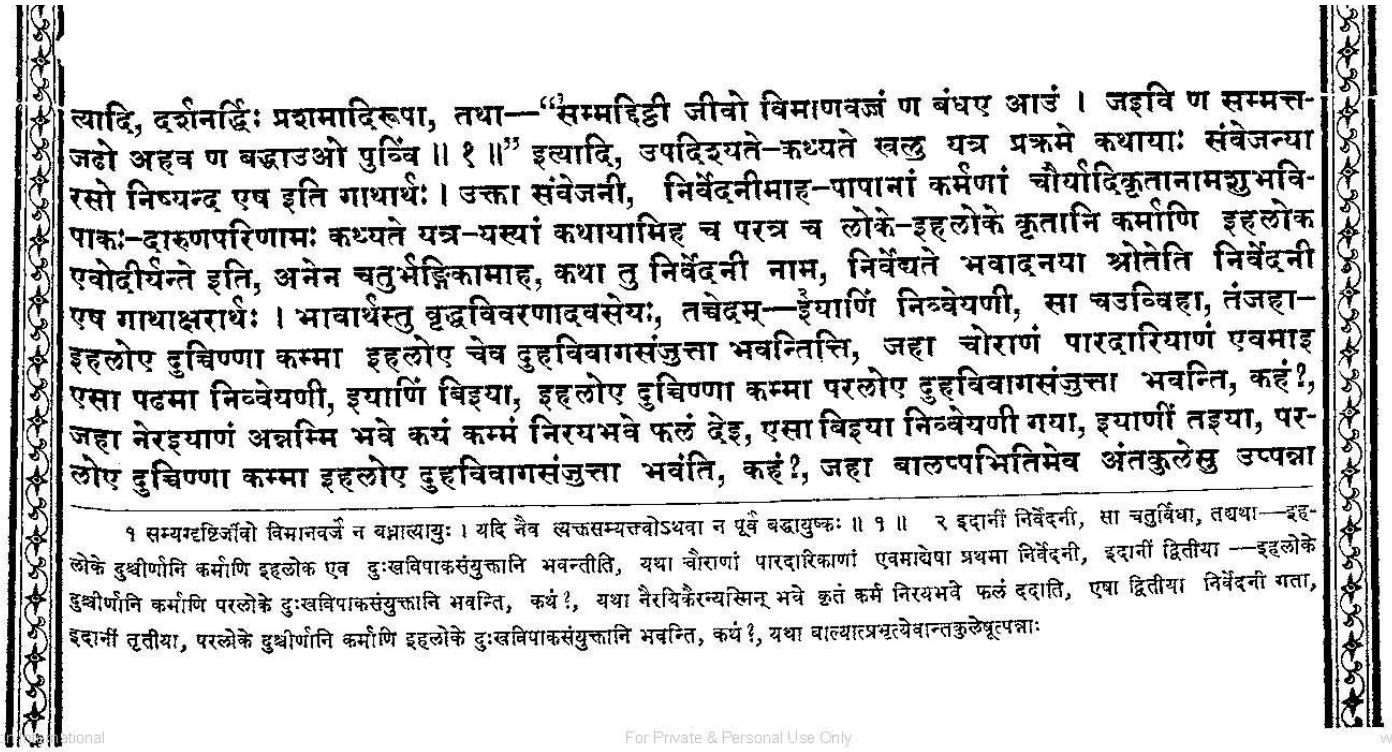
[1]वर्णेयमाणो सोयारस्स संवेगमुप्पाएइ, परसरीरसंवेयणी गया, इयाणिं इहलोयसंवेयणी–जहा सव्वमेयं माणुसत्तणं असारमधुवं कदलीथंभसमाणं एरिसं कहं कहेमाणो धम्मकही सोयारस्स संवेगमुप्पाएइ, एसा इहलोयसंवेयणी गया, इयाणिं परलोयसंवेयणी जहा देवावि इस्साविसायमयकोहलोहाइएहिं दुक्खेहिं अभिभूया किमंग पुण तिरियनारया?, एयारिसं कहं कहेमाणो धम्मकही सोयारस्स संवेगमुप्पाएइ, एसा परलोयसंवेयणी गयत्ति गाथाभावार्थः। साम्प्रतं शुभकर्मोदयाशुभकर्मक्षयफलकथनतः संवेजनीरसमाह—'वीर्यवैक्रियर्द्धिः' तपःसामर्थ्योद्भवा आकाशगमनजङ्घाचारणादिवीर्यवैक्रियनिर्माणलक्षणा 'ज्ञानचरणदर्शनानां तथर्द्धिः' तत्र ज्ञानर्द्धिः '[2]पभू णं भंते! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं पडाओ पडसहस्सं विउव्वित्तए?, हंता पहू विउव्वित्तए' तहा—"[3]जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा चरणर्द्धिः नास्त्यसाध्यं नाम चरणस्य, तद्वन्तो हि देवैरपि पूज्यन्त इ-

१ वर्णयन् श्रोतुः संवेगमुत्पादयति, परशरीरसंवेजनी गता, इदानीमिहलोकसंवेजनी—यथा सर्वमेतत् मानुषमसारमध्रुवं कदलीस्तम्भसमानमीदृशीं कथां कथयन् धर्मकथी श्रोतुः संवेगमुत्पादयति, एषा इहलोकसंवेजनी गता, इदानीं परलोकसंवेजनी, यथा देवा अपि ईर्ष्याविषादमदक्रोधलोभादिभिर्दुःखैरभिभूता किमङ्ग पुनः तिर्यङ्नारकाः?, ईदृशीं कथां कथयन् धर्मकथी श्रोतुः संवेगमुत्पादयति, एषा परलोकसंवेजनी गतेति. २ प्रभुर्भदन्त! चतुर्दशपूर्वी घटात् घटसहस्रं पटात् पटसहस्रं विकुर्वितुं?, हन्त प्रभुर्विकुर्वितुं. ३ यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः। तद् ज्ञानी तिसृभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]



त्यादि, दर्शनर्द्धिः प्रशमादिरूपा, तथा—"[1]सम्मद्दिट्ठी जीवो विमाणवज्जं ण बंधए आउं । जइवि ण सम्मत्त-
जहो अहव ण बद्धाउओ पुव्विं ॥ १ ॥" इत्यादि, उपदिश्यते–कथ्यते खलु यत्र प्रक्रमे कथायाः संवेजन्या
रसो निष्यन्द एष इति गाथार्थः । उक्ता संवेजनी, निर्वेदनीमाह–पापानां कर्मणां चौर्यादिकृतानामशुभवि-
पाकः–दारुणपरिणामः कथ्यते यत्र–यस्यां कथायामिह च परत्र च लोके–इहलोके कृतानि कर्माणि इहलोक
एवोदीर्यन्ते इति, अनेन चतुर्भङ्गिकामाह, कथा तु निर्वेदनी नाम, निर्वेद्यते भवादनया श्रोतेति निर्वेदनी
एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः, तच्चेदम्—[2]इयाणिं निव्वेयणी, सा चउव्विहा, तंजहा–
इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवन्तित्ति, जहा चोराणं पारदारियाणं एवमाइ
एसा पढमा निव्वेयणी, इयाणिं बिइया, इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए दुहविवागसंजुत्ता भवन्ति, कहं?,
जहा नेरइयाणं अन्नम्मि भवे कयं कम्मं निरयभवे फलं देइ, एसा बिइया निव्वेयणी गया, इयाणीं तइया, पर-
लोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोए दुहविवागसंजुत्ता भवंति, कहं?, जहा बालप्पभितिमेव अंतकुलेसु उप्पन्ना

१ सम्यग्दृष्टिर्जीवो विमानवर्जं न बध्नात्यायुः । यदि नैव त्यक्तसम्यक्त्वोऽथवा न पूर्वं बद्धायुष्कः ॥ १ ॥ २ इदानीं निर्वेदनी, सा चतुर्विधा, तद्यथा—इह-
लोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इहलोक एव दुःखविपाकसंयुक्तानि भवन्तीति, यथा चौराणां पारदारिकाणां एवमादेषा प्रथमा निर्वेदनी, इदानीं द्वितीया —इहलोके
दुश्चीर्णानि कर्माणि परलोके दुःखविपाकसंयुक्तानि भवन्ति, कथं?, यथा नैरयिकैरन्यस्मिन् भवे कृतं कर्म निरयभवे फलं ददाति, एषा द्वितीया निर्वेदनी गता,
इदानीं तृतीया, परलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इहलोके दुःखविपाकसंयुक्तानि भवन्ति, कथं?, यथा बाल्यात्प्रभृत्येवान्तकुलेषूत्पन्नाः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

खयकोढादीहिं रोगेहिं दारिद्देण य अभिभूया दीसन्ति, एसा तइया णिव्वेयणी, इयाणिं चउत्थी णिव्वेयणी, परलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवंति, कहं?, जहा पुव्विं दुच्चिण्णेहिं कम्मेहिं जीवा संडासतुंडेहिं पक्खीहिं उववज्जंति, तओ ते णरयपाउग्गाणि कम्माणि असंपुण्णाणि ताणि ताए जातीए पूरिंति, पूरिऊण नरयभवे वेदेन्ति, एसा चउत्था निव्वेयणी गया, एवं इहलोगो परलोगो वा पण्णवयं पडुच्च भवइ, तत्थ पन्नवयस्स मणुस्सभवो इहलोगो अवसेसाओ तिण्णिवि गईओ परलोगोत्ति गाथाभावार्थः ॥ इदानीमस्या एव रसमाह–स्तोकमपि प्रमादकृतम्–अल्पमपि प्रमादजनितं कर्म–वेदनीयादि 'साहिज्जई'त्ति कथ्यते यत्र नियमात्–नियमेन, किंविशिष्टमित्याह—'प्रभूताशुभपरिणामं' बहुतीव्रफलमित्यर्थः, यथा यशोधरादीनामिति कथाया निर्वेदिन्या रसः–एष निष्यन्द इति गाथार्थः संक्षेपतः । संवेगनिर्वेदनिबन्धनमाह–सिद्धिश्च देवलोकः सुकुलोत्पत्तिश्च भवति संवेगः, एतत्प्ररूपणं, संवेगहेतुत्वादिति भावः, एवं नरकस्तिर्यग्योनिः कुमानुषत्वं च निर्वेद इति गाथार्थः । आसां कथानां या यस्य कथनीयेत्येतदाह–विनयेन चरति वैनयिकः–

१ क्षयकुष्ठादिभी रोगैर्दारिद्र्येण चाभिभूता दृश्यन्ते, एषा तृतीया निर्वेदनी, इदानीं चतुर्थी निर्वेदनी—परलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि परलोक एव दुःखविपाकसंयुक्तानि भवन्ति, कथं?, यथा पूर्वं दुश्चीर्णैः कर्मभिर्जीवाः संदंशतुण्डेषु पक्षिषु उत्पद्यन्ते, ततस्ते नरकप्रायोग्याणि कर्माणि असंपूर्णानि तानि तस्यां जातौ पूरयन्ति, पूरयित्वा नरकभवे वेदयन्ति, एषा चतुर्थी निर्वेदनी गता, एवं इहलोकः परलोको वा प्रज्ञापकं प्रतीत्य भवति, तत्र प्रज्ञापकस्य मनुष्यभव इहलोकः अवशेषास्तिस्रोऽपि गतयः परलोक इति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्यस्तस्मै प्रथमतया–आदिकथनेन कथा तु आक्षेपणी उक्तलक्षणा कथयितव्या, ततः स्वसमयगृहीतार्थे सति तस्मिन् कथयेद् विक्षेपणीं–उक्तलक्षणामेव पश्चादिति गाथार्थः । किमित्येतदेवमित्याह–आक्षेपण्या कथया आक्षिप्ताः–आवर्जिता आक्षेपण्याक्षिप्ता ये जीवास्ते लभन्ते सम्यक्त्वम्, तथा आवर्जनं शुभभावस्य मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमोपायत्वात्, विक्षेपण्यां भाज्यं–सम्यक्त्वं कदाचिल्लभन्ते कदाचिन्नेति तच्छ्रवणात्तथाविधपरिणामभावात्, गाढतरं वा मिथ्यात्वं, जडमतेः परसमयदोषानवबोधान्निन्दाकरिण एते न द्रष्टव्या इत्यभिनिवेशेनेति गाथार्थः ॥ उक्ता धर्मकथा, साम्प्रतं मिश्रामाह—

धम्मो अत्थो कामो उवइस्सइ जत्थ सुत्तकव्वेसुं । लोगे वेए समये सा उ कहा मीसिया णाम ॥२०६॥ इत्थिकहा भत्तकहा रायकहा चोरजणवयकहा य । नडनट्टजल्लमुट्ठियकहा उ एसा भवे विकहा ॥ २०७ ॥ एया चेव कहाओ पन्नवगपरूवगं समासज्ज । अकहा कहा य विकहा हविज्ज पुरिसंतरं पप्प ॥ २०८॥ मिच्छत्तं वेयन्तो जं अन्नाणी कहं परिकहेइ । लिंगत्थो व गिही वा सा अकहा देसिया समए ॥ २०९ ॥ तवसंजमगुणधारी जं चरणत्था कहिंति सब्भावं । सव्वजगज्जीवहियं सा उ कहा देसिया समए ॥ २१० ॥ जो संजओ पमत्तो रागद्दोसवसगओ परिकहेइ । सा उ विकहा पवयणे पण्णत्ता धीरपुरिसेहिं ॥ २११ ॥ सिंगाररसुत्तइया मोहकुवियफुंफुगा सहासिंति । जं सुणमाणस्स कहं समणेण ण सा कहेयव्वा ॥ २१२ ॥ समणेण कहेयव्वा तवनियमकहा विरागसंजुत्ता । जं सोऊण मणुस्सो वच्चइ संवेगनिव्वेयं ॥ २१३ ॥ अत्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

महंतीवि कहा अपरिकिलेसबहुला कहेयव्वा । हंदि महया चडगरत्तणेण अत्थं कहा हणइ ॥ २१४ ॥ खेत्तं कालं पुरिसं सामत्थं चऽप्पणो वियाणेत्ता । समणेण उ अणवज्जा पगयंमि कहा कहेयव्वा ॥ २१५ ॥ तइयज्झयणनिज्जुत्ती समत्ता ॥

व्याख्या–धर्मः–प्रवृत्त्यादिरूपः अर्थो–विद्यादिः कामः–इच्छादिः उपदिश्यते–कथ्यते यत्र 'सूत्रकाव्येषु' सूत्रेषु काव्येषु च–तल्लक्षणवत्सु, केत्यत आह–लोके–रामायणादिषु वेदे–यज्ञक्रियादिषु समये–तरङ्गवत्यादिषु सा पुनः कथा 'मिश्रा' मिश्रानाम, संकीर्णपुरुषार्थाभिधानात् इति गाथार्थः। उक्ता मिश्रकथा, तदभिधानाच्चतुर्विधा कथेति । साम्प्रतं कथाविपक्षभूतां त्याज्यां विकथामाह, अज्ञातस्वरूपायास्त्यागासंभवादिति–स्त्रीकथा–एवंभूता द्रविडा इत्यादिलक्षणा भक्तकथा सुन्दरः शाल्योदन इत्यादिरूपा राजकथा अमुकः शोभन इत्यादिलक्षणा चौरजनपदकथा च गृहीतोऽद्य चौरः स इत्थं कदर्थितः तथा रम्यो मध्यदेश इत्यादिरूपा नटनर्तकजल्लमुष्टिककथा च एषा भवेद्विकथा प्रेक्षणीयकानां नटो रमणीयः यद्वा नर्तकः यद्वा जल्लः, जल्लो नाम वरत्राखेलकः मुष्टिको मल्लः, इत्यादिलक्षणा विकथा, कथालक्षणविरहादिति गाथार्थः । उक्ता विकथा, इदानीं प्रज्ञापकापेक्षयाऽऽसां प्राधान्यमाह–एता एवोक्तलक्षणाः कथाः प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः प्रज्ञापकश्चासौ प्ररूपकश्चेति विग्रहस्तमवबोधकप्ररूपकं न तु घरट्टभ्रमणकल्पं यतो न किञ्चिदवगम्यत इत्यर्थः समाश्रित्य–प्राप्य किमित्याह—'अकथा' वक्ष्यमाणलक्षणा कथा चोक्तस्वरूपा विकथा चोक्तस्वरूपैव भवति, पुरुषान्तरं–श्रोतृलक्षणं प्राप्य–आसाद्य, साध्वसाध्वाशयवैचित्र्यात् सम्यक्श्रुतादिवत्, अन्ये तु प्रज्ञापकं–मूलकर्त्तारं प्ररू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११..॥

दीप अनुक्रम [१६..]

पक्कं–तत्कृतस्याख्यातारमिति व्याचक्षते, न चैतदतिशोभनं, 'पण्णवयपरूवगे समासज्ज'त्ति पाठप्रसङ्गादिति गाथार्थः । इदानीमकथालक्षणमाह–मिथ्यात्वमिति–मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म वेदयन् विपाकेन यां काश्चिदज्ञानी कथां कथयति, अज्ञानित्वं चास्य मिथ्यादृष्टित्वादेव, यद्येवं नार्थोऽज्ञानिग्रहणेन मिथ्यात्ववेदकस्याज्ञानित्वाव्यभिचारादिति चेद्, न, प्रदेशानुभववेदकेन सम्यग्दृष्टिना व्यभिचारादिति, किंविशिष्टोऽसावित्याह—'लिङ्गस्थो वा' द्रव्यप्रव्रजितोऽङ्गारमर्दकादिः 'गृही वा' यः कश्चिदितर एव 'सा' एवं प्ररूपकप्रयुक्तयुक्त्या श्रोतर्यपि प्रज्ञापकतुल्यपरिणामनिबन्धना अकथा देशिता समये, ततः प्रतिविशिष्टकथाफलाभावादिति गाथार्थः ॥ अत्रैव प्रक्रमे कथामाह–तपःसंयमगुणान् धारयन्ति तच्छीलाश्चेति तपःसंयमगुणधारिणः यां काञ्चन चरणरताः–चरणप्रतिबद्धा न त्वन्यत्र निदानादिना कथयन्ति सद्भावं–परमार्थं, किंविशिष्टमित्याह–सर्वजगज्जीवहितं, नतु व्यवहारतः कतिपयसत्त्वहितमित्यर्थः, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, सैव कथा निश्चयतो देशिता समये, निर्जराख्यस्वफलसाधनात्कर्तृणां श्रोतृणामपि चेतःकुशलपरिणामनिबन्धना कथैव, नो चेद्वाज्येति गाथार्थः॥ इहैव विकथामाह–यः संयतः प्रमत्तः–कषायादिना प्रमादेन रागद्वेषवशं गतः सन् न तु मध्यस्थः परिकथयति किञ्चित् सा तु विकथा प्रवचने–सा पुनर्विकथा सिद्धान्ते प्रज्ञप्ता धीरपुरुषैः–तीर्थकरादिभिः, तथाविधपरिणामनिबन्धनत्वात् कर्तृश्रोत्रोरिति, श्रोतृपरिणामभेदे तु तं प्रति कथान्तरमेव, एवं सर्वत्र भावना कार्येति गाथार्थः । साम्प्रतं श्रमणेन यथाविधा न कार्या तथाविधामाह–शृङ्गाररसेन–मन्मथदी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पकेन उत्तेजिता–अधिकं दीपिता, केत्याह–मोह एव–चारित्रमोहनीयकर्मोदयसमुत्थात्मपरिणामरूपः कुपित-फुफुका–घटितकुकुला 'हसहसिंति'त्ति जाज्वल्यमाना जायत इति वाक्यशेषः, यां शृण्वतः कथां मोहोदयो जायत इत्यर्थः, श्रमणेन–साधुना न सा कथयितव्या, अकुशलभावनिबन्धनत्वादिति गाथार्थः । यत्प्रकारा कथनीया तत्प्रकारामाह–श्रमणेन कथयितव्या, किंविशिष्टेत्याह—'तपोनियमकथा' अनशनादिपञ्चाश्रवविर-मणादिरूपा, साऽपि विरागसंयुक्ता न निदानादिना रागादिसंगता, अत एवाह–यां कथां श्रुत्वा मनुष्यः–श्रोता व्रजति–गच्छति 'संवेयणिव्वेदं'ति संवेगं निर्वेदं चेति गाथार्थः । कथाकथनविधिमाह–महार्थापि कथा अपरिक्लेशबहुला कथयितव्या, नातिविस्तरकथनेन परिक्लेशः कार्य इत्यर्थः, किमित्येवमित्यत आह—'हं-दी'त्युपदर्शने महता चडकरत्वेन–अतिप्रपञ्चकथनेनेत्यर्थः किमित्याह–अर्थं कथा हन्ति–भावार्थं नाशयतीति गाथार्थः । विधिशेषमाह–क्षेत्रं–भौतादिभावितं कालं–क्षीयमाणादिलक्षणं पुरुषं–पारिणामिकादिरूपं सामर्थ्यं चात्मनो ज्ञात्वा प्रकृते वस्तुनीति योगः श्रमणेन त्वनवद्या–पापानुबन्धरहिता कथा कथयितव्या, नान्येति गाथार्थः । उक्ता कथा, तदभिधानाद्गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादि-चर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्, तच्चेदम्—

संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं । तेसिमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१०॥

दीप अनुक्रम [१७-२६]

॥१॥ उद्देसिथं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य। राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥ २ ॥ संनिही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए। संवाहणा दंतपहोयणा य संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ ३ ॥ अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए। तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥ सिज्जायरपिंडं च, आसंदीपलियंकए। गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥ गिहिणो वेआवडियं, जा य आजीववत्तिया। तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥ मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे। कंदे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥ ७ ॥ सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए। सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥ ८ ॥ धुवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे। अंजणे दंतवणे य, गायाब्भंगविभूसणे ॥ ९ ॥ सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं। संजमंमि अ जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥ १० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनाचरित' वस्तूनां स्वरुप्-कथनं

प्रत सूत्रांक ॥१-१०॥

दीप अनुक्रम [१७-२६]

अस्य व्याख्या–इह संहितादिक्रमः श्रुण्णः, भावार्थस्त्वयम्—'संयमे' द्रुमपुष्पिकाव्यावर्णितस्वरूपे शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानस्तेषां, त एव विशेष्यन्ते–विविधम्– अनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण–भावसारं मुक्ताः–परित्यक्ताः बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्तास्तेषां, त एव विशेष्यन्ते–त्रायन्ते आत्मानं परमुभयं चेति त्रातारः, आत्मानं प्रत्येकबुद्धाः परं तीर्थकराः, स्वतस्तीर्णत्वाद्, उभयं स्थविरा इति, तेषामिदं–वक्ष्यमाणलक्षणं अनाचरितम्–अकल्प्यं, केषामित्याह—'निर्ग्रन्थानां' साधूनामित्यभिधानमेतत्, महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः, अथवा महान्तं एषितुं शीलं येषां ते महैषिणस्तेषां, इह च पूर्वपूर्वभाव एव उत्तरोत्तरभावो नियमितो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः, यत एव संयमे सुस्थितात्मानोऽत एव विप्रमुक्ताः, संयमसुस्थितात्मनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्तेः, एवं शेषेष्वपि भावनीयं, अन्ये तु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमित्थं वर्णयन्ति–यत एव महर्षयोऽत एव निर्ग्रन्थाः, एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यमिति सूत्रार्थः ॥ साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—'उद्देसियं'ति उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः तत्र भवमौद्देशिकं १, क्रयणं–क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृतं–निर्वर्तितं क्रीतकृतं २, 'नियाग'मित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं न स्वनामन्त्रितस्य ३, 'अभिहडाणि य'त्ति स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतं, बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थं४, तथा 'रात्रिभक्तं' रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणं ५, 'स्नानं च' देशसर्वभेदभिन्नं, देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

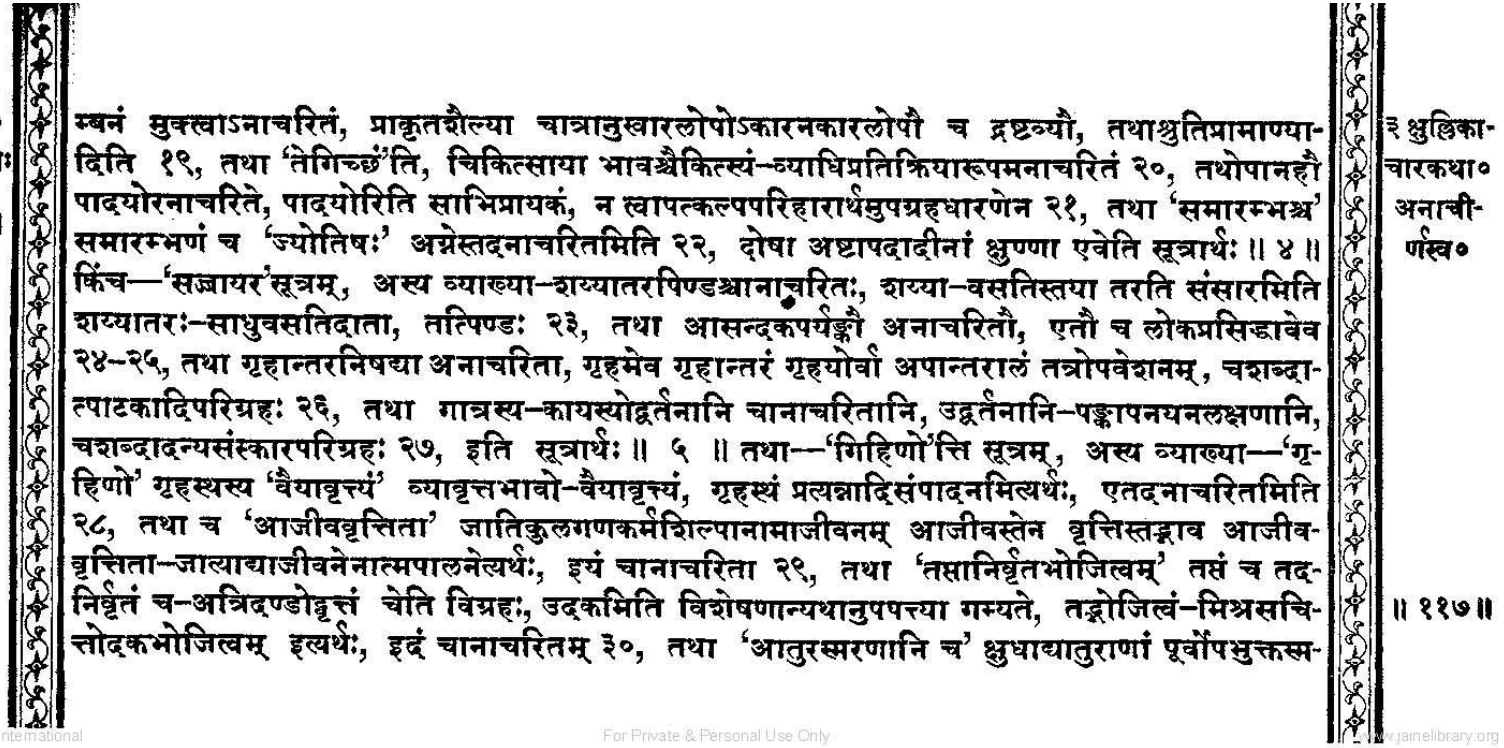
क्षिप्तपक्ष्मप्रक्षालनमपि, सर्वस्नानं तु प्रतीतं ६, तथा 'गन्धमाल्यव्यजनं च' गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटादिपरिग्रहः माल्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टितादेर्माल्यस्य वीजनं तालवृन्तादिना घर्म एव, ७-८-९ इदमनाचरितं, दोषाश्चौद्देशिकादिष्वारम्भप्रवर्तनादयः स्वधियाऽवगन्तव्या इति सूत्रार्थः ॥ इदं चानाचरितमित्याह—'संनिहि'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या–संनिधीयतेऽनयाऽऽत्मा दुर्गताविति संनिधिः–घृतगुडादीनां संचयक्रिया १०, 'गृहिमात्रं' गृहस्थभाजनं च ११, तथा 'राजपिण्डो' नृपाहारः, कः किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः, राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन १२, तथा 'संबाधनम्' अस्थिमांसत्वग्रोमसुखतया चतुर्विधं मर्दनं १३, 'दन्तप्रधावनं' चाङ्गुल्यादिना क्षालनं १४, तथा 'संप्रश्नः' सावद्यो गृहस्थविषयः, राढार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः १५, 'देहप्रलोकनं च' आदर्शादावनाचरितम् १६, दोषाश्च संनिधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणातिपातादयः स्वधियैव वाच्या इति सूत्रार्थः ॥ किंच–'अट्ठावए य' सूत्रम्, अस्य व्याख्या–अष्टापदं चेति, 'अष्टापदं' द्यूतम्, अर्थपदं वा–गृहस्थमधिकृत्य नीत्यादिविषयमनाचरितं १७, तथा 'नालिका चे'ति द्यूतविशेषलक्षणा, यत्र मा भूत्कलयाऽन्यथा पाशकपातनमिति नलिकया पात्यन्त इति, इयं चानाचरिता १८, अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यप्यभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेन उपादानम्, अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधति, अस्मिन् पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणम्, अष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोभयोरिति । तथा 'छत्रस्य च' लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं वा प्रत्यनर्थायेति, आगाढग्लानाद्याल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१०॥

दीप अनुक्रम [१७-२६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ ११७॥

स्नानं मुक्त्वाऽनाचरितं, प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथाश्रुतिप्रामाण्यादिति १९, तथा 'तेगिच्छं'ति, चिकित्साया भावश्चैकित्स्यं–व्याधिप्रतिक्रियारूपमनाचरितं २०, तथोपानहौ पादयोरनाचरिते, पादयोरिति साभिप्रायकं, न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन २१, तथा 'समारम्भश्च' समारम्भणं च 'ज्योतिषः' अग्नेस्तदनाचरितमिति २२, दोषा अष्टापदादीनां क्षुण्णा एवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ किंच—'सज्जायर'सूत्रम्, अस्य व्याख्या–शय्यातरपिण्डश्चानाचरितः, शय्या–वसतिस्तया तरति संसारमिति शय्यातरः–साधुवसतिदाता, तत्पिण्डः २३, तथा आसन्दकपर्यङ्कौ अनाचरितौ, एतौ च लोकप्रसिद्धावेव २४–२५, तथा गृहान्तरनिषद्या अनाचरिता, गृहमेव गृहान्तरं गृहयोर्वा अपान्तरालं तत्रोपवेशनम्, चशब्दात्पाटकादिपरिग्रहः २६, तथा गात्रस्य–कायस्योद्वर्तनानि चानाचरितानि, उद्वर्तनानि–पङ्कापनयनलक्षणानि, चशब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः २७, इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ तथा—'गिहिणो'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या—'गृहिणो' गृहस्थस्य 'वैयावृत्त्यं' व्यावृत्तभावो–वैयावृत्त्यं, गृहस्थं प्रत्यन्नादिसंपादनमित्यर्थः, एतदनाचरितमिति २८, तथा च 'आजीववृत्तिता' जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनम् आजीवस्तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता–जात्याद्याजीवनेनात्मपालनेत्यर्थः, इयं चानाचरिता २९, तथा 'तप्तानिर्वृतभोजित्वम्' तप्तं च तदनिर्वृतं च–अत्रिदण्डोद्वृत्तं चेति विग्रहः, उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं–मिश्रसचित्तोदकभोजित्वम् इत्यर्थः, इदं चानाचरितम् ३०, तथा 'आतुरस्मरणानि च' क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्म-

३ क्षुल्लिकाचारकथा० अनाचीर्णस्व०

॥ ११७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रणानि च अनाचरितानि, आतुरशरणानि वा–दोषातुराश्रयदानानि ३१, इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ किंच—'मूलए'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या—'मूलको' लोकप्रतीतः, 'शृङ्गबेरं च' आर्द्रकम् च तथा 'इक्षुखण्डं च' लोकप्रतीतम्, अनिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसंबध्यते, अनिर्वृतम्–अपरिणतमनाचरितमिति, इक्षुखण्डं चापरिणतं द्विपर्वान्तं यद्भवति ३२–३३–३४, तथा 'कन्दो' वज्रकन्दादिः ३५, 'मूलं च' सट्टामूलादि, सचित्तमनाचरितम् ३६, तथा 'फलं' त्रपुष्यादि ३७, 'बीजं च' तिलादि ३८, 'आमकं' सचित्तमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ किंच —'सोवच्चले'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या–सौवर्चलं ३९, सैन्धवं ४०, 'लवणं च' सांभरिलवणं ४१, रुमालवणं च ४२, आमकमिति सचित्तमनाचरितम्, सामुद्रं–समुद्रलवणमेव ४३, 'पांशुक्षारश्च' ऊषरलवणं ४४, 'कृष्ण-लवणं च' सैन्धवलवणपर्वतैकदेशजम् ४५, आमकमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ किं च—'धूवणे'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या–धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्, प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपान-मित्यन्ये व्याचक्षते ४६, वमनं मदनफलादिना ४७, वस्तिकर्म पुटकेनाधिष्ठाने स्नेहदानं ४८, विरेचनं द-न्त्यादिना ४९, तथा अञ्जनं रसाञ्जनादिना ५०, दन्तकाष्ठं च प्रतीतं ५१, तथा गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना ५२, विभूषणं गात्राणामेव ५३, इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ क्रियासूत्रमाह—'सव्वमेयं'ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या—सर्व-मेतद्–औद्देशिकादि यदनन्तरमुक्तमिदमनाचरितं, केषामित्याह–निर्ग्रन्थानां महर्षीणां साधूनामित्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते–संयमे, चशब्दात्तपसि, युक्तानाम्–अभियुक्तानां 'लघुभूतविहारिणां' लघुभूतो–वायुः, त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१५॥

दीप अनुक्रम [२७-३१]

तश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणस्तेषां, निगमनक्रियापदमेतदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ किमित्यनाचरितं ?, यतस्त एवंभूता भवन्तीत्याह—

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया । पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥ आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा । वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥ परीसहरिऊदंता, धूअमोहा जिइंदिया । सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ १३ ॥ दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु य । केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥ १४ ॥ खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य । सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुड ॥ १५ ॥ त्ति बेमि । गाथा ग्रं० ३१ ॥ इइ खुड्डियायारकहज्झयणं तइयं ॥ ३ ॥

'पञ्चाश्रवा' हिंसादयः 'परिज्ञाता' द्विविधया परिज्ञया–ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि–समन्ताज्ज्ञाता यैस्ते पञ्चाश्रवपरिज्ञाताः, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्न निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव, परिज्ञातपञ्चाश्रवा इति वा, यत एव चैवंभूता अत एव 'त्रिगुप्ता' मनोवाक्कायगुप्तिभिः गुप्ता । 'षट्सु संयताः'

॥ ११८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ साधुत्व-स्वरुपस्य कथनं क्रियते

षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यताः, 'पञ्चनिग्रहणा' इति निगृह्णन्तीति निग्रहणाः कर्तरि ल्युट् पञ्चानां निग्रहणाः पञ्चनिग्रहणाः, पञ्चानामितीन्द्रियाणां, 'धीरा' बुद्धिमन्तः स्थिरा वा, 'निर्ग्रन्थाः' साधवः, 'ऋजुदर्शिन' इति ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात्संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः–संयमप्रतिबद्धाः इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ ते च ऋजुदर्शिनः कालमधिकृत्य यथाशक्त्येतत्कुर्वन्ति—'आयावयंति'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या—'आतापयन्ति–ऊर्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति 'ग्रीष्मेषु' उष्णकालेषु, तथा 'हेमन्तेषु' शीतकालेषु 'अप्रावृता' इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति, तथा 'वर्षासु' वर्षाकालेषु 'संलीना' इत्येकाश्रयस्था भवन्ति 'संयताः' साधवः 'सुसमाहिता' ज्ञानादिषु यत्नपराः, ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ 'परीसह'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या–मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः–क्षुत्पिपासादयः त एव रिपवस्तत्तुल्यधर्मत्वात्परीषहरिपवस्ते दान्ता–उपशमं नीता यैस्ते परीषहरिपुदान्ताः, समासः पूर्ववत्, न प्राकृते पूर्वापरपदनियमव्यवस्था 'नाणविमलजोण्हाग'मिति यथा, तथा 'धुतमोहा' विक्षिप्तमोहा इत्यर्थः, मोहः–अज्ञानं, तथा 'जितेन्द्रियाः' शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः, त एवंभूताः 'सर्वदुःखप्रक्षयार्थं' शारीरमानसाशेषदुःखप्रक्षयनिमित्तं 'प्रक्रामन्ति' प्रवर्तन्ते, किंभूताः ?–'महर्षयः' साधव इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ इदानीमेतेषां फलमाह—'दुक्कराइं'ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या–एवं दुष्कराणि कृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि तथा दुःसहानि सहित्वाऽऽतापनादीनि केचन तत्र 'देवलोकेषु' सौधर्मादिषु, गच्छन्तीति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥११--१५॥

दीप अनुक्रम [२७-३१]

वाक्यशेषः। तथा केचन सिद्ध्यन्ति, तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वज्ञापनार्थः। 'नीरजस्का' इत्यष्टविधकर्मविप्रमुक्ताः, न खेकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ येऽपि चैवंविधानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति तेऽपि ततश्च्युता आर्यदेशेषु सुकुले जन्मावाप्य शीघ्रं सिद्ध्यन्त्येतदाह—'खवित्त'त्ति सूत्रम्, अस्य व्याख्या–ते देवलोकच्युताः क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि सावशेषाणि, केनेत्याह—'संयमेन' उक्तलक्षणेन तपसा च, एवं प्रवाहेण 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः सन्तस्त्रातार आत्मादीनां 'परिनिर्वान्ति' सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु पठन्ति—'परिनिव्वुड'त्ति, तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमेव पाठो ज्यायान्, इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः । उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च पूर्ववद्द्रष्टव्याः । इति व्याख्यातं क्षुल्लकाचारकथाध्ययनम् ॥ ३ ॥

इति श्रीदशवैकालिके हरिभद्रसूरिकृतटीकायां तृतीयमध्ययनम् ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -3- परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

॥ अथ चतुर्थाध्ययनम् ॥

सुअं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु छज्जीवणियानामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ॥ (सू० १)

व्याख्यातं क्षुल्लिकाचारकथाध्ययनमिदानीं षड्जीवनिकायाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने 'साधुना धृतिराचारे कार्या न त्वनाचारे, अयमेव चात्मसंयमोपाय' इत्युक्तम्, इह पुनः स आचारः षड्जीवनिकायगोचरः प्राय इत्येतदुच्यते, उक्तं च—"छसुं जीवनिकाएसु, जे बुहे संजए सया। से चेव होइ विण्णेए, परमत्थेण संजए ॥ १ ॥"[1] इत्यनेनाभिसंबन्धेनायातमिदमध्ययनम्, आह च भाष्यकारः—

जीवाहारो भण्णइ आयारो तेणिमं तु आयायं। छज्जीवणियज्झयणं तस्सऽहिगारा इमे होंति ॥ भाष्यम् ॥ २१५ ॥

व्याख्या–जीवाधारो भण्यत आचारः, तत्परिज्ञानपालनद्वारेणेति भावः, येनैतदेवं तेनेदम् 'आयातम्'

१ षट्सु जीवनिकायेषु यो बुधः संयतः सदा। स एव भवति विज्ञेयः परमार्थेन संयतः ॥ १ ॥

Jain Education Inte... For Private & Personal Use Only ...ainelibrary.org

अध्ययनं -४- "षड्जीवनिकाय" आरभ्यते

अवसरप्राप्तं, किं तदित्याह–षड्जीवनिकाध्ययनम्, अत्रान्तरे अनुयोगद्वारोपन्यासावसरः, तथा चाह— 'तस्य' षड्जीवनिकाध्ययनस्यार्थाधिकाराः 'एते भवन्ति' वक्ष्यमाणलक्षणा इति गाथार्थः ॥ तानाह—

जीवाजीवाहिगमो चरित्तधम्मो तहेव जयणा य । उवएसो धम्मफलं छज्जीवणियाइ अहिगारा ॥ २१६ ॥

व्याख्या—'जीवाजीवाभिगमो' जीवाजीवस्वरूपमभिगम्यतेऽस्मिन्नित्यभिगम इतिकृत्वा, स्वरूपे च सत्यभिगम्यत इति भावः, तथा 'चारित्रधर्मः' प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः, तथैव 'यतना च' पृथिव्यादिष्वारम्भपरिहारयत्नरूपा, तथा 'उपदेशः' यथाऽऽत्मा न बध्यत इत्यादिविषयः, तथा 'धर्मफलम्' अनुत्तरज्ञानादि, एते षड्जीवनिकाया अधिकारा इति गाथार्थः । अत्रान्तरे गत उपक्रमः, निक्षेपमधिकृत्याह—

छज्जीवणियाए खलु निक्खेवो होइ नामनिप्फन्नो । एएसिं तिण्हंपि उ पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥ २१७ ॥

व्याख्या—'षड्जीवनिकायायाः' प्रक्रान्तायाः खल्विति पूरणार्थो निपातः, निक्षेपो भवति नामनिष्पन्नः, षड्जीवनिकायिकेत्ययमेव, यतश्चैवमत एतेषां 'त्रयाणामपि' षड्जीवनिकायपदानां 'प्रत्येक'मिति एकमेकं प्रति प्ररूपणां सूत्रानुसारेण 'वक्ष्ये' अभिधास्य इति गाथार्थः ॥ तत्रैकस्याभावे षण्णामभाव इत्येकप्ररूपणामाह—

णामं ठवणा दविए माउगपयसंगहेक्कए चेव । पज्जवभावे य तहा सत्तेए एकगा होंति ॥ २१८ ॥

नामं ठवणा दविए खेत्ते काले तहेव भावे अ । एसो उ छक्कगस्सा निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ २१९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	षड् जीवनिकायं स्वरुपम् प्रकाश्यते

व्याख्या–इयं द्रुमपुष्पिकायां व्याख्यातेति नेह व्याख्यायते, संग्रहैककेन चात्राधिकारः ॥ साम्प्रतं द्वयादीन् विहाय षट्प्ररूपणामाह—तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषट्कं–षड् द्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्राणि पुरुषकार्षापणालङ्कृतपुरुषलक्षणानि, क्षेत्रषट्कं–षडाकाशप्रदेशाः, यद्वा भरतादीनि, कालषट्कं–षट् समयाः षड् ऋतवः, तथैव 'भावे चे'ति भावषट्कं–षड् भावा औदयिकादयः, अत्र च सचित्तद्रव्यषट्केनाधिकार इति गाथार्थः ॥ आह–अत्र द्वयाद्यनभिधानं किमर्थम्?, उच्यते, एकषडभिधानतः आद्यन्तग्रहणेन तद्गतेरिति । व्याख्यातं षट्पदम्, अधुना जीवपदमाह—

जीवस्स उ निक्खेवो परूवणा लक्खणं च अत्थित्तं । अन्नामुत्तत्तं निचकारगो देहवावित्तं ॥ २२० ॥

गुणिउड्ढगइत्ते या निम्मयसाफल्लता य परिमाणे । जीवस्स तिविहकालम्मि परिक्खा होइ कायव्वा ॥ २२१ ॥ दो दारगाहाओ ॥

एतद्वारगाथाद्वयम्, अस्य व्याख्या–जीवस्य तु 'निक्षेपो'नामादिः, 'प्ररूपणा' द्विविधाश्च भवन्ति जीवा इत्यादिरूपा लक्षणं च–आदानादि 'अस्तित्वं' सत्त्वं शुद्धपदवाच्यत्वादिना 'अन्यत्वं' देहात् 'अमूर्तत्वं' स्वतः 'नित्यत्वं' विकारानुपलम्भेन 'कर्तृत्वं' स्वकर्मफलभोगात् 'देहव्यापित्वं' तत्रैव तल्लिङ्गोपलब्ध्या 'गुणित्वं' योगादिना 'ऊर्ध्वगतित्वम्' अगुरुलघुभावेन 'निर्मो(र्म)यता' विकाररहितत्वेन, सफलता–च कर्मणः 'परिमाणं' लोकाकाशमात्र इत्यादि (ग्रन्थाग्रं ३०००) एवं जीवस्य 'त्रिविधकाल' इति त्रिकालविषया, परीक्षा भवति कर्तव्या इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥ व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः, तथा च निक्षेपमाह—

दश. २१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

॥ १२१ ॥

नामंठवणाजीवो दव्वजीवो य भावजीवो य । ओह भवग्गहणंमि य तब्भवजीवे य भावम्मि ॥ २२२ ॥

व्याख्या—'नामस्थापनाजीव' इति जीवशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नामजीवः स्थापनाजीव इति, तथा द्रव्यजीवश्च 'भावजीवश्च' वक्ष्यमाणलक्षणः, तत्र 'ओघ' इति ओघजीवः, 'भवग्रहणे चे'ति भवजीवः, 'तद्भवजीवश्च' तद्भव एवोत्पन्नः, 'भावे' भावजीव इति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थं त्वाह—

नामंठवण गयाओ दव्वे गुणपज्जवेहि रहिउत्ति । तिविहो य होइ भावे ओहे भव तब्भवे चेव ॥ ६ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–नामस्थापने गते, क्षुण्णत्वादिति भावः, 'द्रव्य' इति द्रव्यजीवो 'गुणपर्यायाभ्यां' चैतन्यमनुष्यत्वादिलक्षणाभ्यां रहितः, बुद्धिपरिकल्पितो, न त्वसावित्थंविधः संभवतीति, त्रिविधश्च भवति भाव इति, भावजीवत्रैविध्यमाह–ओघजीवो भवजीवस्तद्भवजीवश्चेति, प्राग्गाथोक्तमप्येतदित्थंविधभाष्यकारशैलीप्रामाण्यतोऽदुष्टमेवेति । अन्ये तु पठन्ति—'भावे उ तिहा भणिओ, तं पुण संखेवओ वोच्छं' 'भाव' इति भावजीवः, 'त्रिधे'ति त्रिप्रकारो 'भणितो' निर्युक्तिकारेण ओघजीवादिः, तमपि च भावार्थमधिकृत्य संक्षेपतो वक्ष्य इति गाथार्थः ॥ तत्रौघजीवमाह—

संते आउयकम्मे धरई तस्सेव जीवई उदए । तस्सेव निज्जराए मओ त्ति सिद्धो नयमएणं ॥ ७ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'सति' विद्यमान आयुष्ककर्मणि सामान्यरूपे ध्रियते सामान्येनैव तिष्ठति भवोदधौ, कथमित्थमवस्थानमात्राज्जीवत्वमस्येत्याशङ्क्याह–तैरेवान्वर्थयोजनामाह—'तस्यैव' ओघायुष्ककर्मणो 'जीवत्युदये' उदये सति

॥ १२१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जीव' शब्दस्य नामादि निक्षेपाः कथयते

जीवत्यासंसारं प्राणान् धारयति, अतो जीवनाज्जीव इति, तस्यैवौघायुष्ककर्मणो 'निर्जरया' क्षयेण, मृत इति, सर्वथा जीवनाभावात्, स च सिद्धो मृतो, नान्यः, विग्रहगतावपि तथाजीवनसद्भावात्, 'नयमतेने'ति सर्वनयमतेनैव मृत इति गाथार्थः । उक्त ओघजीवितविशिष्ट ओघजीवः, साम्प्रतं भवजीवं तद्भवजीवं चाह—

जेण य धरइ भवगओ जीवो जेण य भवाउ संकमई । जाणाहि तं भवाउं चउव्विहं तब्भवे दुविहं ॥ ८ ॥ भाष्यम् ॥ निक्खेवो त्ति गयं ॥

व्याख्या–'येन च' नारकाद्यायुष्केण 'म्रियते' तिष्ठति 'भवगतो' नारकादिभवस्थितो जीवः, तथा 'येन च' मनुष्याद्यायुष्केण 'भवात्' नारकादिलक्षणात् 'संक्रामति' याति, मनुष्यादिभवान्तरमिति सामर्थ्याद्गम्यते, 'जानीहि' विद्धि, तदित्थंभूतं 'भवायुः' भवजीवितं, चतुर्विधं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभेदेन, तथा 'तद्भवे' तद्भवविषयम्, आयुरिति वर्तते, तच्च द्विविधं–तिर्यक्तद्भवायुर्मनुष्यतद्भवायुश्च, यस्मात्तावेव मृतौ सन्तौ भूयस्तस्मिन्नेव भव उत्पद्येते, नान्ये, तद्भवजीवितं च तस्मान्मृतस्य तस्मिन्नेवोत्पन्नस्य यत्तदुच्यत इति । अत्रापि च भावजीवाधिकारात्तद्भवजीवितविशिष्टश्च जीव एव ग्राह्यः, जीवितं तु तद्विशेषणत्वादुक्तमिति गाथार्थः ॥ उक्तो निक्षेपः, इदानीं प्ररूपणामाह—

दुविहा य हुंति जीवा सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि । सुहुमा य सव्वलोए दो चेव य बायरविहाणे ॥ ९ ॥ भाष्यम् ॥

१ अत्र 'जीवत्यनेनेति जीव ओघेन सामान्येन जीव ओघजीवितविशिष्टो जीवः, मध्यमपदोत्तरपदलोपाद् इत्थं भवति' इत्यधिकं केषुचिदादर्शेषु.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–'द्विविधाश्च' द्विप्रकाराश्च, चशब्दान्नवविधाश्च पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिभेदेन भवन्ति जीवाः, द्वैविध्यमाह–सूक्ष्मास्तथा बादराश्च, तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मा बादरनामकर्मोदयाच्च बादरा इति, 'लोक' इति लोकग्रहणमलोके जीवभवनव्यवच्छेदार्थं, तत्र सूक्ष्माश्च सर्वलोक इति, चशब्दस्यावधारणार्थत्वात्सूक्ष्मा एव सर्वलोकेषु, न बादराः, क्वचित्तेषामसंभवात्, 'द्वे एव च' पर्याप्तकापर्याप्तकलक्षणे 'बादरविधाने' बादरविधी, चशब्दात्सूक्ष्मविधाने च, तेषामपि पर्याप्तकापर्याप्तकरूपत्वादिति गाथार्थः ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—

सुहुमा य सव्वलोए परियावन्ना भवंति नायव्वा। दो चेव बायराणं पज्जत्तियरे अ नायव्वा ॥ १० ॥ भाष्यम् ॥ परूवणादारं गयं ति ॥

व्याख्या–सूक्ष्मा एव पृथिव्यादयः 'सर्वलोके' चतुर्दशरज्ज्वात्मके 'पर्यायापन्ना भवन्ति ज्ञातव्याः' 'पर्यायापन्ना' इति तमेव सूक्ष्मपर्यायमापन्नाः भावसूक्ष्मा न तु भूतभाविनो द्रव्यसूक्ष्मा इति भावः। तथा द्वौ भेदौ बादराणां पृथिव्यादीनां, चशब्दात् सूक्ष्माणां च, 'पर्याप्तकेतरौ ज्ञातव्यौ' पर्याप्तकापर्याप्तकाविति गाथार्थः ॥ उक्ता प्ररूपणा, अधुना लक्षणमुच्यते, तथा चाह भाष्यकारः—

लक्खणमियाणि दारं चिंधं हेऊ अ कारणं लिंगं। लक्खणमिइ जीवस्स उ आयाणाई इमं तं च ॥ ११ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–लक्षणमिदानीं द्वारमवसरप्राप्तम्, अस्य च प्रतिपत्त्यङ्गतया प्रधानत्वात्सामान्यतस्तावत्तत्स्वरूपमेवाह–चिह्नं हेतुश्च कारणं लिङ्गं लक्षणमिति। तत्र चिह्नम्–उपलक्षणं, यथा पताका देवकुलस्य, हेतुः–निमित्तलक्षणं यथा कुम्भकारनैपुण्यं घटसौन्दर्यस्य, कारणम्–उपादानलक्षणं, यथा मृन्मसृणत्वं घटबलीय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्य, लिङ्गं–कार्यलक्षणं यथा धूमोऽग्नेः, पर्यायशब्दा वा एत इति। लक्षणमित्येतल्लक्षणं लक्ष्यतेऽनेन परोक्षं वस्त्विति कृत्वा, जीवस्य पुनरादानादि लक्षणमनेकप्रकारमिदं, तच्च वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥

आयाणे परिभोगे जोगुवओगे कसायलेसा य। आणापाणू इंदिय बंधोदयनिज्जरा चेव ॥ २२३ ॥

चित्तं चेयण सन्ना विन्नाणं धारणा य बुद्धी अ। ईहामईवियक्का जीवस्स उ लक्खणा एए ॥ २२४ ॥ दारं ॥

व्याख्या–एतत्प्रतिद्वारगाथाद्वयम्, अस्य व्याख्या–आदानं परिभोगस्तथा योगोपयोगौ कषायलेश्याश्च तथाऽऽनापानौ इन्द्रियाणि बन्धोदयनिर्जराश्चैव, तथा चित्तं चेतना संज्ञा विज्ञानं धारणा च बुद्धिश्च तथा ईहामतिर्वितर्को जीवस्य तु लक्षणान्येतानि, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वाज्जीवस्यैव नाजीवस्य इति प्रतिद्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥ व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः, तच्चेदम्—

लक्खिज्जइत्ति नज्जइ पच्चक्खियरो व जेण जो अत्थो। तं तस्स लक्खणं खलु धूमुण्हाइ व्व अग्गिस्स ॥ १२ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–लक्ष्यत इति ज्ञायते कोऽसावित्याह—'प्रत्यक्षः' अक्षगोचरापन्नः 'इतरो वा' परोक्षः 'येन' उष्णत्वादिना 'योऽर्थः' अग्न्यादिस्तत्तस्य लक्षणं खल्विति, तदेव स्पष्टयति–धूमौष्ण्यादिवदग्नेरिति, स ह्यौष्ण्येन प्रत्यक्षो लक्ष्यते, परोक्षो धूमेनेति गाथार्थः ॥ तत्रादानादीनां दृष्टान्तानाह—

अयगार कूर परसू अग्गि सुवण्णे अ खीरनरवासी। आहारो दिट्ठंता आयाणाईण जहसंखं ॥ १३ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अयस्कारः कूरस्तथा परशुरग्निः सुवर्णं क्षीरनरवास्यः तथा आहारो दृष्टान्ता 'आदानादीनां'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रक्रान्तानां यथासंख्यं, प्रतिज्ञाद्युल्लङ्घनेन चैतदभिधानं परोक्षार्थप्रतिपत्तिं प्रति प्रायः प्रधानाङ्गताख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं प्रयोगानाह—

देहिंदियाइरित्तो आया खलु गज्झगाहगपओगा । संडासा अयपिंडो अययाराइव्व विन्नेओ ॥ १४ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, खलुशब्दो विशेषणार्थः, कथंचित्, न सर्वथाऽतिरिक्त एव, तदसंवेदनादिप्रसङ्गादिति, अनेन प्रतिज्ञार्थमाह, प्रतिज्ञा पुनः–अर्थेन्द्रियाणि आदेयादानानि विद्यमानादातृकाणि, कुत इत्याह–ग्राह्यग्राहकप्रयोगात्, ग्राह्या–रूपादयः ग्राहकाणि–इन्द्रियाणि तेषां प्रयोगः–स्वफलसाधनव्यापारस्तस्मात्, न ह्यमीषां कर्मकरणभावः कर्तारमन्तरेण स्वकार्यसाधनप्रयोगः संभवति, अनेनापि हेत्वर्थमाह, हेतुश्चादेयादानरूपत्वादिति । दृष्टान्तमाह–संदंशाद् आदानात् अयस्पिण्डाद् आदेयात् 'अयस्कारादिवत्' लोहकारवद्विज्ञेयः अतिरिक्तो विद्यमान आदातेत्यनेनापि दृष्टान्तार्थमाह, दृष्टान्तस्तु संदंशकायस्पिण्डवत्, यस्तु तदनतिरिक्तः न ततो ग्राह्यग्राहकप्रयोगः, यथा देहादिभ्य एवेति व्यतिरेकार्थः, व्यतिरेकस्तु यानि विद्यमानादातृकाणि न भवन्ति तान्यादानादेयरूपाण्यपि न भवन्ति, यथा मृतकद्रव्येन्द्रियादीनीति गाथार्थः ॥ उक्तमादानद्वारम्, अधुना परिभोगद्वारमाह—

देहो सभोत्तिओ खलु भोज्जत्ता ओयणाइथालं व । अन्नप्पउत्तिगा खलु जोगा परसुव्व करणत्ता ॥ १५ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–देहः सभोक्तृकः खल्विति प्रतिज्ञा, भोग्यत्वादिति हेतुः, ओदनादिस्थालवत्–स्थालस्थितौदनव-

॥ १२३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिति दृष्टान्तः, भोग्यत्वं च देहस्य जीवेन तथा निवसतोपभुज्यमानत्वादिति । उक्तं परिभोगद्वारम्, अधुना योगद्वारमाह–अन्यप्रयोक्तृकाः खलु योगाः, योगाः–साधनानि मनःप्रभृतीनि करणानीति प्रतिज्ञार्थः, करणत्वादिति हेतुः, परशुवदिति दृष्टान्तः । भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्यं हेतुः–यथा अनित्यो वर्णात्मकः शब्दः, शब्दत्वात्, मेघशब्दवदिति गाथार्थः ॥ उक्तं योगद्वारं, साम्प्रतमुपयोगद्वारमाह—

उवओगा णाभावो अग्गिव्व सलक्खणापरिच्चागा । सकसाया णाभावो पज्जयगमणा सुवण्णं व ॥ १६ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'उपयोगात्' साकारानाकारभेदभिन्नान्नाभावो, जीव इति गम्यते, कुत इत्याह—'स्वलक्षणापरित्यागाद्' उपयोगलक्षणासाधारणात्मीयलक्षणापरित्यागात्, अग्निवद्, यथाऽग्निरौष्ण्यादिस्वलक्षणापरित्यागान्नाभावः तथा जीवोऽपीति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–सन्नात्मा, स्वलक्षणापरित्यागाद्, अग्निवदिति । उक्तमुपयोगद्वारम्, अधुना कषायद्वारमाह–सकषायत्वाद्–अचेतनविलक्षणक्रोधादिपरिणामोपेतत्वादित्यर्थः, नाभावो जीवः, कुत इत्याह–पर्यायगमनात्–क्रोधमानादिपर्यायप्राप्तेः, सुवर्णवत्, कटकादिपर्यायगमनोपेतसुवर्णवदिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–सन्नात्मा, पर्यायगमनात्, सुवर्णवदिति गाथार्थः ॥ उक्तं कषायद्वारम्, इदानीं लेश्याद्वारमाह—

लेसाओ णाभावो परिणमणसभावओ य खीरं व । उस्सासा णाभावो समसब्भावा खउ व्व नरो ॥ १७ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'लेश्यातो' लेश्यासद्भावेन नाभावो जीवः, किंतु भाव इति, कुत इत्याह–परिणमनस्वभावत्वात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

–कृष्णादिद्रव्यसाचिव्येन जम्बूखादकादिदृष्टान्तसिद्धतथाविधपरिणामधर्मत्वात्, क्षीरवदिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–सन्नात्मा, परिणामित्वात्, क्षीरवदिति । गतं लेश्याद्वारम्, प्राणापानद्वारमाह–उच्छ्वासादिति, अचेतनधर्मविलक्षणप्राणापानसद्भावान्नाभावो जीवः, किंतु भाव एवेति, श्रमसद्भावेन परिस्पन्दोपेतपुरुषवदिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु पुनरत्र व्यतिरेकी द्रष्टव्यः, सात्मकं जीवच्छरीरं, प्राणादिमत्त्वाद्, यत्तु सात्मकं न भवति तत्प्राणादिमदपि न भवति, यथाऽऽकाशमिति गाथार्थः ॥ उक्तं प्राणापानद्वारम्, अधुना इन्द्रियद्वारमुच्यते—

अक्खाणेयाणि परत्थगाणि वासाइवेह करणत्ता । गहवेयगनिज्जरओ कम्मस्सऽऽओ जहाहारो ॥ १८ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'अक्षाणि' इन्द्रियाणि 'एतानी'ति लोकप्रसिद्धानि देहाश्रयाणि 'परार्थानि' आत्मप्रयोजनानि, वास्यादिवदिह करणत्वात् इहलोके वास्यादिवदिति प्रयोगार्थः । आह–आदानान्येवेन्द्रियाणि तत् किमर्थं भेदोपन्यासः?, उच्यते, निर्वृत्त्युपकरणद्वारेण द्वैविध्यख्यापनार्थं, ततश्च तत्रोपकरणस्य ग्रहणमिह तु निर्वृत्तेरिति, प्रयोगस्तु–परार्थाश्चक्षुरादयः, संघातत्वात्, शयनासनादिवत्, न चायं विशेषविरुद्धः, कर्मसंबद्धस्यात्मनः संघातरूपत्वाभ्युपगमात् । गतमिन्द्रियद्वारम्, अधुना बन्धादिद्वाराण्याह–ग्रहणवेदकनिर्जरकः कर्मणोऽन्यो, यथाऽऽहार इति,तत्र ग्रहणं–कर्मणो बन्धः वेदनम्–उदयः निर्जरा–क्षयः, यथाऽऽहारे इति–आहारविषयाणि ग्रहणादीनि न कर्त्रादिव्यतिरेकेण तथा कर्मणोऽपीति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–विद्यमानभोक्तृकमिदं कर्म, ग्रह-

॥ १२४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

णवेदननिर्जरणसद्भावाद्, आहारवदिति गाथार्थः ॥ उक्तानि बन्धादिद्वाराणि, व्याख्याता च प्रथमा प्रतिद्वारगाथा, साम्प्रतं द्वितीयामधिकृत्य चित्तादिस्वरूपव्याचिख्यासयाऽऽह—

चित्तं तिकालविसयं चेयण पच्चक्ख सन्नमणुसरणं । विण्णाणऽणेगभेयं कालमसंखेयरं धरणा ॥ १९ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–चित्तं त्रिकालविषयम्–ओघतोऽतीतानागतवर्तमानग्राहि, चेतनं चेतना–सा प्रत्यक्षवर्तमानार्थग्राहिणी, संज्ञानं संज्ञा–सा अनुस्मरणमिदं तदिति ज्ञानं, विविधं ज्ञानं विज्ञानम् अनेकभेदम्–अनेकप्रकारम्, अनेकधर्मिणि वस्तुनि तथा तथाऽध्यवसाय इत्यर्थः, 'कालमसंख्येयेतरम्' असंख्येयं संख्येयं वा, धारणा–अविच्युतिस्मृतिवासनारूपा, तत्र वासनारूपा असंख्येयवर्षायुषामसंख्येयं संख्येयवर्षायुषां च संख्येयमिति गाथार्थः ॥

अत्थस्स ऊह बुद्धी ईहा चेट्ठत्थअवगमो उ मई । संभावणत्थतक्का गुणपच्चक्खा घडोव्वऽत्थि ॥ २० ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अर्थस्योहा बुद्धिः संज्ञिनः परनिरपेक्षोऽर्थपरिच्छेद इति भावः, ईहा–चेष्टा किमयं स्थाणुः किंवा पुरुष? इति सदर्थपर्यालोचनरूपा, 'अर्थावगमस्तु' अर्थपरिच्छेदस्तु शिरःकण्डूयनादिधर्मोपपत्तेः पुरुष एवायमित्येवंरूपा मतिः, 'संभावणत्थतक्क'त्ति प्राकृतशैल्या अर्थसंभावना–एवमेव चायमर्थ उपपद्यत इत्यादिरूपा तर्का। इत्थं द्वाराणि व्याख्याय सर्व एते चित्तादयो गुणा वर्तन्त इति जीवाख्यगुणिप्रतिपादकेन प्रयोगार्थेनोपसंहरन्नाह–गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोर्घटवदस्ति जीव इति गम्यते, एष गाथार्थः । एतदेव स्पष्टयति—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

जम्हा चित्ताईया जीवस्स गुणा हवंति पच्चक्खा । गुणपच्चक्खत्तणओ घडुव्व जीवो अओ अत्थि ॥ २१ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–यस्मात् 'चित्तादयः' अनन्तरोक्ताः जीवस्य गुणाः, नाजीवस्य, शरीरादिगुणविधर्मत्वात्, एते च भवन्ति प्रत्यक्षाः, स्वसंवेद्यत्वात्, यतश्चैवं गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोर्घटवज्जीवः अतोऽस्तीति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु –सन्नात्मा, गुणप्रत्यक्षत्वात्, घटवत्, नायं घटवदात्मनोऽचेतनत्वापादनेन विरुद्धः, 'विरुद्धोऽसति बाधने' इतिवचनात्, एतच्चैतन्यं प्रत्यक्षेणैव बाधनमिति गाथार्थः ॥ व्याख्यातं मूलद्वारगाथाद्वये प्रतिद्वारगाथाद्वयेन लक्षणद्वारम्, इदानीमस्तित्वद्वारावसरः, तथा चाह भाष्यकारः—

अत्थित्ति दारमहुणा जीवस्सइ अत्थि विज्जए नियमा । लोआयमयघायत्थमुच्चए तत्थिमो हेऊ ॥ २२ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अस्तीति द्वारमधुना–साम्प्रतमवसरप्राप्तं, तत्रैतदुच्यते–जीवः सन्, पृथिव्यादिविकारदेहमात्ररूपः सन्निति सिद्धसाध्यता न तु ततोऽन्योऽस्तीत्याशङ्कापनोदायाह–अस्त्यन्यश्चैतन्यरूपः, तदपि मातृचैतन्योपादानं भविष्यति परलोकयायी तु न विद्यते इति मोहापोहायाह–विद्यते 'नियमात्' नियमेन, तथा चाह— 'लोकायतमतघातार्थं' नास्तिकाभिप्रायनिराकरणार्थमुच्यत एतत्, तस्य चानन्तरोदित एवाभिप्राय इति सफलानि विशेषणानि, 'तत्र' लोकायतमतविघाते कर्तव्ये 'अयं' वक्ष्यमाणलक्षणो 'हेतुः' अन्यथानुपपत्तिरूपो युक्तिमार्ग इति गाथार्थः ॥

जो चिंतेइ सरीरे नत्थि अहं स एव होइ जीवो त्ति । न हु जीवंमि असंते संसयउप्पायओ अन्नो ॥ २३ ॥ भाष्यम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–यश्चिन्तयति 'शरीरे' अत्र लोकप्रतीते नास्त्यहं 'स एव' चिन्तयिता भवति जीव इति। कथमेतदेवमित्याह–न यस्माज्जीवेऽसति मृतदेहादौ संशयोत्पादकः 'अन्यः' प्राणादिः, चैतन्यरूपत्वात्संशयस्येति गाथार्थः ॥ एतदेव भावयति—

जीवस्स एस धम्मो जा ईहा अत्थि नत्थि वा जीवो। खाणुमणुस्साणुगया जह ईहा देवदत्तस्स ॥ २४ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–जीवस्यैष स्वभावः–एष धर्मः या 'ईहा' सदर्थपर्यालोचनात्मिका, किंविशिष्टेत्याह–अस्ति नास्ति वा जीव इति, लोकप्रसिद्धं निदर्शनमाह—'स्थाणुमनुष्यानुगता' किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्येवंरूपा येहा देवदत्तस्य जीवतो धर्म इति गाथार्थः ॥ प्रकारान्तरेणैतदेवाह—

सिद्धं जीवस्स अत्थित्तं, सद्दादेवाणुमीयए। नासओ भुवि भावस्स, सद्दो हवइ केवलो ॥ २५ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'सिद्धं' प्रतिष्ठितं 'जीवस्य' उपयोगलक्षणस्यास्तित्वं, कुत इत्याह—'शब्दादेव' जीव इत्यस्मादनुमीयते, कथमेतदेवमित्याह—'नासत' इति न असतः–अविद्यमानस्य 'भुवि' पृथिव्यां 'भावस्य' पदार्थस्य शब्दो भवति वाचक इति, खरविषाणादिशब्दैर्व्यभिचारमाशङ्क्याह—'केवलः' शुद्धः अन्यपदासंसृष्टः, खरादिपदसंसृष्टाश्च विषाणादिशब्दा इति गाथार्थः ॥ एतद्विवरणायैवाह भाष्यकारः—

अत्थित्ति निव्विगप्पो जीवो नियमाउ सद्दओ सिद्धी। कम्हा? सुद्धपयत्ता घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥ २६ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अस्तीति निर्विकल्पो जीवः, 'निर्विकल्प' इति निःसंदिग्धः, 'नियमात्' नियमेनैव, प्रतिपत्रपेक्षया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

'शब्दतः सिद्धिः' वाचकाद्वाच्यप्रतीतेः, एतदेव प्रश्नद्वारेणाह—'कस्मात्' कुत एतदेवमिति?, आह—'शुद्धपदत्वात्' केवलपदत्वाज्जीवशब्दस्य, घटखरशृङ्गानुमानाद्, अनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः, घटखरशृङ्गदृष्टान्तादिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–मुख्येनार्थेनार्थवान् जीवशब्दः, शुद्धपदत्वाद्, घटशब्दवत्, यस्तु मुख्येनार्थेनार्थवान् न भवति स शुद्धपदमपि न भवति, यथा खरशृङ्गशब्द इति गाथार्थः ॥ पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

चोयग–सुद्धपयत्ता सिद्धी जइ एवं सुण्णसिद्धि अम्हं पि । तं न भवइ संतेणं जं सुन्नं सुन्नगेहं व ॥ २७ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–उक्तवच्छुद्धपदत्वात्सिद्धिर्यदि जीवस्य एवं तर्हि शून्यसिद्धिरस्माकमपि, शून्यनष्टशब्दस्यापि शुद्धपदत्वादित्यभिप्रायः, अत्रोत्तरमाह–तन्न भवति यदुक्तं परेण, कुत इत्याह—'सता' विद्यमानेन पदार्थेन 'यद्' यस्माच्छून्यं शून्यमुच्यते, किंवदित्याह–शून्यगृहमिव, तथाहि–देवदत्तेन रहितं शून्यगृहमुच्यते, निवृत्तो घटो नष्ट इति, नत्वनयोर्जीवशब्दस्य जीववदव(वि)शिष्टं वाच्यमस्तीति गाथार्थः ॥ प्रकारान्तरेणास्तित्वपक्षमेव समर्थयन्नाह—

मिच्छा भवेउ सव्वत्था, जे केई पारलोइया । कत्ता चेवोपभोत्ता य, जइ जीवो न विज्जइ ॥ २८ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'मिथ्या भवेयुः' अनृताः स्युः, सर्वेऽर्था ये केचन पारलौकिका–दानादयः, यदि किमित्याह–कर्ता चैव कर्मणः उपभोक्ता च तत्फलस्य, यदि जीवो न विद्यते परलोकयायीति गाथार्थः ॥ एतदेवाव्युत्पन्नशिष्यानुग्रहार्थं स्पष्टतरमाह—

॥ १२६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

पाणिदयातवनियमा बंभं दिक्खा य इंदियनिरोहो । सव्वं निरत्थयमेयं जइ जीवो न विज्जई ॥ २९ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'प्राणिदयातपोनियमाः' करुणोपवासहिंसाविरत्यादिरूपाः, तथा 'ब्रह्म' ब्रह्मचर्यं 'दीक्षा च' याग-लक्षणा 'इन्द्रियनिरोधः' प्रव्रज्याप्रतिपत्तिरूपः, सर्वं 'निरर्थकं' निष्फलमेतत्, यदि जीवो न विद्यते परलोकयायीति गाथार्थः ॥ किंच—'शिष्टाचरितो मार्गः, शिष्टैरनुगन्तव्य' इति, तन्मार्गख्यापनायाह—

लोइया वेइया चेव, तहा सामाइया विऊ । निच्चो जीवो पिहो देहा, इइ सव्वे ववत्थिया ॥ ३० ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–लोके भवा लोके वा विदिता इति लौकिका–इतिहासादिकर्तारः, एवं वैदिकाश्चैव–त्रैविद्यवृद्धाः, तथा सामयिकाः–त्रिपिटकादिसमयवृत्तयो 'विद्वांसः' पण्डिताः, नित्यो जीवो, नानित्यः, एवं पृथग् 'देहात्' शरीरादित्येवं सर्वे व्यवस्थिताः, नान्यथेति गाथार्थः ॥ एतदेव व्याचष्टे—

लोगे अच्छेज्जभेज्जो वेए सपुरीसदड्ढगासियालो । समएजंहमासि गओ तिविहो दिव्वाइसंसारो ॥ ३१ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–लोकेऽच्छेद्योऽभेद्य आत्मा पठ्यते, यथोक्तं गीतासु—"अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । नित्यः संततगः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ १ ॥" इत्यादि । तथा वेदे सपुरीषो दग्धः शृगालः पठ्यत इति, यथोक्तम्—"शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते, अथापुरीषो दह्यते आक्षोधुका अस्य प्रजाः प्रादुर्भवन्ति" इत्यादि । तथा समये "अहमासीद्गजः" इति पठ्यते, तथा च बुद्धवचनम्—"अहमासं भिक्षवो

१ आयहिमासंगज इति । अहंति प्र. २ क्षुधा रहिता इति वि० प०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ जीवस्वरुपम् प्रकाश्यते

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

हस्ती, षड्दन्तः शङ्खसंनिभः। शुकः पञ्जरवासी च, शकुन्तो जीवजीवकः ॥ १ ॥" इत्यादि। तथा त्रिविधो दिव्यादिसंसारः कैश्चिदिष्यते, देवमानुषतिर्यग्भेदेन, आदिशब्दाच्चतुर्विधः कैश्चिन्नारकाधिक्येनेति गाथार्थः॥ अत्रैव प्रकारान्तरेण तदस्तित्वमाह—

अत्थि सरीरविहाया पइनिययागारयाइभावाओ। कुंभस्स जह कुलालो सो मुत्तो कम्मजोगाओ ॥ ३२ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अस्ति शरीरस्य–औदारिकादेर्विधाता, विधातेति कर्ता, कुत इत्याह—'प्रतिनियताकारादिसद्भावात्' आदिमत्प्रतिनियताकारत्वादित्यर्थः, दृष्टान्तमाह–कुम्भस्य यथा कुलालो विधाता। कुलालवदेवमसावपि मूर्तः प्राप्नोतीति विरुद्धमाशङ्क्य परिहरन्नाह—'स' आत्मा यः शरीरविधाता असौ मूर्तः 'कर्मयोगा'दिति मूर्तकर्मसंबन्धादिति गाथार्थः॥ अत्रैव शिष्यव्युत्पत्तयेऽन्यथा तद्ग्रहणविधिमाह—

फरिसेण जहा वाऊ, गिज्झई कायसंसिओ। नाणाईहिं तहा जीवो, गिज्झई कायसंसिओ ॥ ३३ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'स्पर्शेन' शीतादिना यथा वायुर्गृह्यते 'कायसंश्रितो' देहसंगतः अदृष्टोऽपि, तथा 'ज्ञानादिभिः' ज्ञानदर्शनेच्छादिभिर्जीवो गृह्यते 'कायसंश्रितो' देहसंगत इति गाथार्थः॥ असकृदनुमानादस्तित्वमुक्तं जीवस्य, अनुमानं च प्रत्यक्षपूर्वकं, न चैनं केचन पश्यन्तीति, ततश्चाशोभनमेतदित्याशङ्क्याह—

अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा। सिद्धा पासंति सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो ॥ ३४ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'अनिन्द्रियगुणम्' अविद्यमानरूपादीन्द्रियग्राह्यगुणं 'जीवम्' अमूर्तत्वादिधर्मकं 'दुर्ज्ञेयं' दुर्लक्षं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

'मांसचक्षुषा' छद्मस्थेन, पश्यन्ति सिद्धाः सर्वज्ञाः, अञ्जनसिद्धादिव्यवच्छेदार्थं सर्वज्ञग्रहणं, ततश्च ऋषभादय इत्यर्थः, ज्ञानसिद्धाश्च साधवो–भवस्थकेवलिन इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतमागमादस्तित्वमाह—

अत्तत्तयणं तु सत्थं दिट्ठा य तओ अइंदियाणंपि । सिद्धी गहणाईणं तहेव जीवस्स विन्नेया ॥ ३५ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–आप्तवचनं तु शास्त्रम्, आप्तो–रागादिरहितः, तुशब्दोऽवधारणे, आप्तवचनमेव, अनेनापौरुषेयव्यवच्छेदमाह, तस्यासंभवादिति । 'दृष्टा च तत' इति उपलब्धा च ततः–आप्तवचनशास्त्रात् 'अतीन्द्रियाणामपि' इन्द्रियगोचरातिक्रान्तानामपि, 'सिद्धिः ग्रहणादीना'मिति उपलब्धिश्चन्द्रोपरागादीनामित्यर्थः, तथैव जीवस्य विज्ञेयेति, अतीन्द्रियस्याप्याप्तवचनप्रामाण्यादिति गाथार्थः ॥ मूलद्वारगाथायां व्याख्यातमस्तित्वद्वारम्, अधुनाऽन्यत्वादिद्वारत्रयव्याचिख्यासुराह—

अण्णत्तममुत्तत्तं निच्चत्तं चेव भण्णए समयं । कारणअविभागाईहेऊहिं इमाहिं गाहाहिं ॥ ३६ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अन्यत्वं देहाद् अमूर्तत्वं स्वरूपेण नित्यत्वं चैव–परिणामिनित्यत्वं भण्यते 'समकम्' एकैकेन हेतुना त्रितयमपि युगपदिति–एककालमित्यर्थः, 'कारणाविभागादिभिः' वक्ष्यमाणलक्षणैर्हेतुभिः 'इमाभिः' तिसृभिर्निर्युक्तिगाथाभिरेवेति गाथार्थः ॥

कारणविभागकारणविणासबंधस्स पच्चयाभावा । विरुद्धस्स य अत्थस्सापाउब्भावाविणासा य ॥ २२५ ॥

व्याख्या–'कारणविभागकारणविनाशबन्धस्य प्रत्ययाभावा'दिति अत्राभावशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, का-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

रणविभागाभावात् न खलु जीवस्य पटादेरिव तन्त्वादिकारणविभागोऽस्ति, कारणाभावादेव। एवं कारणविनाशाभावेऽपि योज्यं, तथा बन्धस्य–ज्ञानावरणादिपुद्गलयोगलक्षणस्य प्रत्ययाभावात्–हेतुत्वानुपपत्तेः, बन्धस्येति बध्यमानव्यतिरिक्तबन्धज्ञापनार्थमसमासः, व्यतिरेकी चायमन्वयव्यतिरेकावर्थसाधकाविति दर्शनार्थमिति, तथा विरुद्धस्य चार्थस्य पटादिनाशे भस्मादेरिव 'अप्रादुर्भावादविनाशाच्च' अप्रादुर्भावेऽनुत्पत्तौ सत्यामविनाशाच्च हेतोः जीवस्य नित्यत्वं, नित्यत्वादमूर्तत्वम्, अमूर्तत्वाच्च देहादन्यत्वमिति प्रतिपत्त्यानुगुण्यतो व्यत्ययेन साध्यनिर्देशः। वक्ष्यति च निर्युक्तिकारः—'जीवस्स सिद्धमेवं, निच्चत्तममुत्तमन्नत्तं' इति गाथासमासार्थः। व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः, तत्राव्युत्पन्नविनेयासंमोहनिमित्तं यथोपन्यासं तावद्वाराणि व्याख्याय पश्चान्निर्युक्तिकाराभिप्रायेण मीलयिष्यतीत्यत आह—

अन्नत्ति दारमहुणा अन्नो देहा गिहाउ पुरिसो व्व। तज्जीवतस्सरीरियमयघायत्थं इमं भणियं ॥ ३७ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अन्यो देहादिति द्वारमधुना, तदेतद्व्याख्यायते–अन्यो देहात्, जीव इति गम्यते, गृहादिगतपुरुषवदिति दृष्टान्तः, तद्भावेऽपि तत्रानियमतो भावादिति हेतुरभ्यूह्यः, न चासिद्धोऽयं, मृतदेहेऽदर्शनात्, प्रयोगफलमाह–तज्जीवतच्छरीरवादिमतविघातार्थम् 'इदं' प्रयोगरूपं भणितमिति गाथार्थः॥ प्रयोगान्तरमाह—

देहिंदियाइरित्तो आया खलु तदुवलद्धअत्थाणं। तव्विगमेऽवि सरणओ गेहगवक्खेहिं पुरिसो व्व ॥ ३८ ॥ भाष्यम् ॥

१ निर्युक्तिमूलद्वारापेक्षया संगृहीतार्थवाचका गाथा निर्युक्तिः, तस्याश्च यद्विवरणं तद्भाष्यं, कर्त्ता त्वनयोरेक एवोभयोरपीति वि० प.

॥ १२८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–खलुशब्दः विशेषणार्थत्वात्कथञ्चिद्देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मेति प्रतिज्ञार्थः, 'तदुपलब्धार्थाना'मिति संभवतः परामर्शत्वात् इन्द्रियोपलब्धार्थानां 'तद्विगमेऽपि' इन्द्रियविगमेऽपि स्मरणादिति हेत्वर्थः, स्मरन्ति चान्धबधिरादयः पूर्वानुभूतं रूपादीति, गेहगवाक्षैः पुरुषवदिति दृष्टान्तः। प्रयोगस्तु–कथञ्चिद्देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्तृदेवदत्तवदिति गाथार्थः ॥ इन्द्रियोपलब्धिमत्त्वाशङ्कापोहायाह—

न उ इंदियाइं उवलद्धिमंति विगएसु विसयसंभरणा । जह गेहगवक्खेहिं जो अणुसरिया स उवलद्धा ॥ ३९ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–न पुनरिन्द्रियाण्येवोपलब्धिमन्ति–द्रष्टृणि, कुत इत्याह–विगतेष्विन्द्रियेषु विषयसंस्मरणात्–तद्गृहीतरूपाद्यनुस्मृतेरन्धबधिरादीनामिति, निदर्शनमाह–यथा गेहगवाक्षैः करणभूतैः दृष्टानर्थाननुस्मरन् योऽनुस्मर्ता स उपलब्धा, न तु गवाक्षाः, एवमत्रापीति गाथार्थः ॥ उक्तमेकेन प्रकारेणान्यत्वद्वारम्, अधुना अमूर्तद्वारावसर इत्याह भाष्यकारः—

संपयममुत्तदारं अइंदियत्ता अछेयभेयत्ता । रूवाइविरहओ वा अणाइपरिणामभावाओ ॥ ४० ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–साम्प्रतममूर्तद्वारं, तद्व्याख्यायते, अमूर्तो जीवः, 'अतीन्द्रियत्वात्' द्रव्येन्द्रियाग्राह्यत्वात्, अच्छेद्याभेद्यत्वात्–खड्गशूलादिना, रूपादिविरहतश्च–अरूपत्वादित्यर्थः। तथा 'अनादिपरिणामभावा'दिति स्वभावतोऽनाद्यमूर्तपरिणामत्वादिति गाथार्थः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

छउमत्थाणुवलंभा तहेव सव्वन्नुवयणओ चेव । लोयाइपसिद्धीओ जीवोऽमुत्तो त्ति नायव्वो ॥ ४१ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'छद्मस्थानुपलम्भाद्' अवधिज्ञानिप्रभृतिभिरपि साक्षादगृह्यमाणत्वात्, तथैव 'सर्वज्ञवचनाच्चैव' सत्यवक्तृकवीतरागवचनादित्यर्थः, 'लोकादिप्रसिद्धेः' लोकादावमूर्तत्वेन प्रसिद्धत्वात्, आदिशब्दाद्वेदसमयपरिग्रहः, अमूर्तो जीव इति ज्ञातव्यः, सर्वत्रैवेयं प्रतिज्ञेति गाथार्थः ॥ उक्तममूर्तद्वारम्, अधुना नित्यत्वद्वारप्रस्तावः, तथा चाह भाष्यकारः—

णिच्चोत्ति दारमहुणा णिच्चो अविणासि सासओ जीवो । भावत्ते सइ जम्माभावाउ नहं व विन्नेओ ॥ ४२ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'नित्य' इति नित्यद्वारमधुनाऽवसरप्राप्तं, तद्व्याचिख्यासयाऽऽह–नित्यो जीव इति, एतावत्युच्यमाने परैरपि संतानस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्सिद्धसाध्यतेति तन्निराकरणायाह–अविनाशी–क्षणापेक्षयाऽपि न निरन्वयनाशधर्मा, एवमपि परिमितकालावस्थायी कैश्चिदिष्यते—'कप्पट्ठाई पुढवी भिक्खू वे'ति वचनात्तदपोहायाह—'शाश्वत' इति सर्वकालावस्थायी, कुत इत्याह—'भावत्वे सति' वस्तुत्वे सतीत्यर्थः, 'जन्माभावात्' अनुत्पत्तेः 'नभोवद्' आकाशवद्विज्ञेयः, भावत्वे सतीति विशेषणं खरविषाणादिव्यवच्छेदार्थमिति गाथार्थः ॥ हेत्वन्तराण्याह—

१ कल्पस्थायिनी पृथ्वी भिक्षवो वा. २ न च वाच्यं 'मनुर्नभोऽङ्गिरो वती' (सि० १-१-२४)त्यनेन नभस्वदित्येव स्यादिति, लोकप्रसिद्धच्छान्दसशब्दसाधनमूलत्वात्तत्प्रयासस्य, अत एव 'नभोऽङ्गिरोमनुषां वेत्युपसंख्यान'मिति वैदिक्यामाख्यातवान् दीक्षितः, कैयटो भाष्यप्रदीपेऽपि 'उपसंख्यानान्येतानि छन्दोविषयाणीत्याहु'रिति जगाद, नभोऽस्याश्रयत्वेनेति नभस्वच्छब्दं व्युत्पादयामासुश्च व्याख्याकारा अतः वायुशब्दपर्यायव्याख्याने ।

॥ १२९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसाराओ आलोयणाउ तह पच्चभिन्नभावाओ । खणभंगविघायत्थं भणिअं तेलोक्कदंसीहिं ॥ ४३ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'संसारा'दिति संसरणं संसारस्तस्मात्, स एव नारकः स एव तिर्यगादिरिति नित्यः, 'आलोचना'दिति आलोचनं–करोम्यहं कृतवानहं करिष्येऽहमित्यादिरूपं त्रिकालविषयमिति नित्यः, तथा 'प्रत्यभिज्ञाभावात्' स एष इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय आविद्धदङ्गनादिसिद्धः तदभेदग्राहीति नित्य इति, उक्ताभिधानफलमाह—'क्षणभङ्गविघातार्थं' निरन्वयक्षणिकवस्तुवादविघातार्थं भणितं 'त्रैलोक्यदर्शिभिः' तीर्थकरैः एतदनन्तरोदितं, न पुनरेष एव परमार्थ इति गाथार्थः ॥ एतदेव दर्शयति—

लोगे वेए समए निच्चो जीवो विभासओ अम्हं । इहरा संसाराई सव्वंपि न जुज्जए तस्स ॥ ४४ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–लोके—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणी'त्यादिवचनप्रामाण्यात्, वेदे 'स एष अक्षयोऽज' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् समये 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष' इति वचनप्रामाण्यात्, किमित्याह–नित्यो जीवः–अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावः, एकान्तनित्य एव, न चैतद्व्याख्येयम्, एकस्वभावतया संसरणादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादिति वक्ष्यति, अत आह—'विभाषयाऽस्माकं' विकल्पेन–भजनया स्यान्नित्य इत्यादिरूपया द्रव्यार्थादेशान्नित्यः पर्यायार्थादेशादनित्य इत्यर्थः, 'इतरथा' यद्येवं नाभ्युपगम्यते ततः 'संसारादि' संसारालोचनादि सर्वमेव न युज्यते 'तस्य' आत्मनः, स्वभावान्तरानापत्त्या एकस्वभावतया वार्तमानिकभावातिरेकेण भावान्तरानापत्तेः, एवममूर्तत्वान्यत्वयोरपि विभाषा वेदितव्या, अन्यथा व्यवहाराभावप्रसङ्गात्, एकान्तामूर्तस्यै-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कान्तदेहभिन्नस्य चातिपाताद्यसंभवादित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, अक्षरगमनिकामात्रत्वात्प्रारम्भस्येति गाथार्थः ॥ एवमन्यत्वादिद्वारत्रयं व्याख्यायाधिकृतनिर्युक्तिगाथां व्याचिख्यासुराह—

कारणअविभागाओ कारणअविणासओ य जीवस्स । निच्चत्तं विन्नेयं आगासपडाणुमाणाओ ॥ ४५ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'कारणाविभागात्' पटादेस्तन्त्वादेरिव कारणविभागाभावादित्यर्थः, 'कारणाविनाशतश्च' कारणाविनाशश्च कारणानामेवाभावात्, किमित्याह—'जीवस्य' आत्मनो नित्यत्वं विज्ञेयम्, कुत इत्याह—'आकाशपटानुमानात्' अत्रानुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः, आकाशपटदृष्टान्तात् । ततश्चैवं प्रयोगः–नित्य आत्मा, स्वकारणविभागाभावाद्, आकाशवत्, तथा कारणविनाशाभावाद्, आकाशवदेव, यस्त्वनित्यस्तस्य कारणविभागभावः कारणविनाशभावो वा यथा पटस्येति व्यतिरेकः, पटाद्धि तन्तवो विभज्यन्ते विनश्यन्ति चेति नित्यत्वसिद्धिः । नित्यत्वादमूर्तः, अमूर्तत्वादेहादन्य इति गाथार्थः ॥ निर्युक्तिगाथायां कारणविभागाभावात्कारणविनाशाभावाच्चेति द्वारद्वयं व्याख्याय साम्प्रतं बन्धस्य प्रत्ययाभावादिति व्याचिख्यासुराह—

हेउप्पभवो बंधो जम्माणंतरहयस्स नो जुत्तो । तज्जोगविरहओ खलु चोराइघडाणुमाणाओ ॥ ४६ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'हेतुप्रभवो' हेतुजन्मा 'बन्धो' ज्ञानावरणादिपुद्गलयोगलक्षणः, 'जन्मानन्तरहतस्य' उत्पत्त्यनन्तरविनष्टस्य 'न युक्तो' न घटमानः 'तद्योगविरहत' इति तैः–बन्धहेतुभिर्मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणैर्यो योगः–संबन्धस्तद्विरहतः–तदभावादेव, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, 'चौरादिघटानुमाना'दित्यनु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानशब्दो दृष्टान्तवचनः, चौरादिघटादिदृष्टान्तात्, न हि उत्पत्त्यनन्तरविनाशी चौरश्चौर्यक्रियाभावेन बध्यते, स्थायी हि घटो जलादिना संयुज्यते इति व्यतिरेकार्थः, प्रयोगश्चात्र–न क्षणिक आत्मा, बन्धप्रत्ययत्वाच्चौरवत्, नित्यत्वामूर्तत्वदेहान्यत्वयोजना पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ निर्युक्तिगाथायां बन्धस्य प्रत्ययाभावादिति व्याख्यातम्, अधुना 'विरुद्धस्य चार्थस्याप्रादुर्भावाविनाशाच्चे'ति व्याख्यायते—

अविणासी खलु जीवो विगारणुवलंभओ जहागासं । उवलब्भंति विगारा कुंभाइविणासिदव्वाणं ॥ ४७ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अविनाशी खलु जीवो, नित्य इत्यर्थः, कुत इत्याह 'विकारानुपलम्भात्' घटादिविनाशे कपालादिवद्विशेषादर्शनाद्, यथाऽऽकाशम्–आकाशवदित्यर्थः, एतदेव स्पष्टयति–'उपलभ्यन्ते विकारा' दृश्यन्ते कपालादयः कुम्भादिविनाशिद्रव्याणां, न चैवमत्रेत्यभिप्रायः, नित्यत्वामूर्तत्वदेहान्यत्वयोजना पूर्ववत्, इति गाथार्थः । प्रकृतसंबद्धामेव निर्युक्तिगाथामाह—

निरामयामयभावा बालकयाणुसरणादुवत्थाणा । सुत्ताईहिं अगहणा जाईसरणा थणभिलासा ॥ २२६ ॥

व्याख्या–'निरामयामयभावात्' निरामयस्य–नीरोगस्याऽऽमयभावाद्–रोगोत्पत्तेः, उपलक्षणं चैतत् सामयनिरामयभावस्य, तथा चैवं वक्तार उपलभ्यन्ते–पूर्वं निरामयोऽहमासं सम्प्रति सामयो जातः सामयो वा निरामय इति, न चैतन्निरन्वयलक्षणविनाशिन्यात्मन्युपपद्यते, उत्पत्त्यनन्तराभावादिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–अवस्थित आत्मा, अनेकावस्थानुभवनात्, बालकुमाराद्यवस्थानुभवितृदेवदत्तवत्, नित्यत्वादमूर्तः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

अमूर्तत्वादेहादन्य इति योजना सर्वत्र कार्या। तथा 'बालकृतानुस्मरणात्' कृतशब्दोऽत्रानुभूतवचनः, ततश्च बालानुभूतानुस्मरणात्, तथा च बालेनानुभूतं वृद्धोऽप्यनुस्मरन् दृश्यते, न च अन्येनानुभूतमन्यः स्मरति अतिप्रसङ्गात्, न चेदमनुस्मरणं भ्रान्तं, बाधाऽसिद्धेः, न च हेतुफलभावनिबन्धनमेतत्, निरन्वयक्षणविनाशपक्षे तस्यैवासिद्धेः, हेतोरनन्तरक्षणेऽभावापत्तेः, असतश्च सद्भावविरोधादिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–अवस्थित आत्मा, पूर्वानुभूतार्थानुस्मरणात्, तदन्यैवंविधपुरुषवत्। उपस्थानादिति कर्मफलोपस्थानमत्र गृह्यते, यद्येनोपात्तं कर्म स एव तत्फलमुपभुङ्क्ते, अन्यश्च क्रियाकालोऽन्यश्च फलकालः, एकाधिकरणं चैतद्वयम्, अन्यथा स्वकृतवेदनासिद्धेः, अन्यकृतान्योपभोगस्य निरुपपत्तिकत्वात्, कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्, संतानपक्षेऽपि कर्तृभोक्तृसंतानिनोर्नानात्वाविशेषात्, शक्तिभेदात्, तस्यैव तथाभावाभ्युपगमे नित्यत्वापत्तेरिति प्रयोगार्थः, प्रयोगश्च–अवस्थित आत्मा, स्वकृतकर्मफलवेदनात्, कृषीवलादिवत्। श्रोत्रादिभिरग्रहणात्–श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरपरिच्छित्तेः, न च श्रोत्रादिभिरपरिच्छिद्यमानस्य असत्त्वम्, अवग्रहादीनां स्वसंवेदनसिद्धत्वात्, बौद्धैरप्यतीन्द्रियज्ञानाभ्युपगमात्, ज्ञानस्य च गुणत्वात्, गुणस्य च गुणिनमन्तरेणाभावात्, प्राक्तनज्ञानस्यैव गुणित्वानुपपत्तेः, तस्यापि गुणत्वादिति प्रयोगार्थः, प्रयोगश्च–नित्य आत्मा, गुणित्वे सत्यतीन्द्रियत्वात्, आकाशवत्। तथा जातिस्मरणादिति, जातेरतिक्रान्तायाः स्मरणात्, न चेदमनुस्मरणमननुभूतस्यान्यानुभूतस्य च भवति, अतिप्रसङ्गात्, दृश्यते च क्वचिदिदं, न चासौ प्रतारकः, तत्कथितार्थसंवा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दनात्, अनुभवाविशेषे सर्वेषामेव कस्मान्न भवतीति चेद्, उच्यते, कर्मप्रतिबन्धाद् दृढानुभवाभावाद्, इह लोकेऽपि सर्वेषां सर्वत्रानुस्मरणादर्शनात्, न खलु इह लोके सर्वत्रानुस्मरणदर्शनं, तद्वदिहापि, क्वचिज्ज्ञातौ सर्वेषामस्त्विति चेन्न, नष्टचेतसां सर्वत्रानुस्मरणशून्येन व्यभिचारादिति प्रयोगार्थः, प्रयोगश्च बालकृतानुस्मरणवद्द्रष्टव्य इति। तथा स्तनाभिलाषादिति, तदहर्जातबालकस्यापि स्तनाभिलाषदर्शनात्, न चान्यकालाननुभूतस्तनपानस्यायमुपपद्यते, प्रयोगश्च–तदहर्जातबालकस्याऽऽद्यस्तनाभिलाषोऽभिलाषान्तरपूर्वकः, अभिलाषत्वाद्, तदन्यस्तनाभिलाषवत्, तद्वदप्रथमत्वसाधनाद् विरुद्धो हेतुरिति चेन्न, प्रथमत्वानुभवेन बाधनात्, 'असति च बाधने विरुद्ध' इति न्यायाद्, अन्यथा हेतूच्छेदप्रसङ्गादित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, अक्षरगमनिकामात्रस्य प्रस्तुतत्वादिति। नित्यादिक्रियायोजना पूर्ववदिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ एतामेव निर्युक्तिगाथां लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः—

रोगस्सामयसन्ना बालकयं जं जुवाऽणुसंभरइ। जं कयमन्नंमि भवे तस्सेवन्नत्थुवत्थाणा ॥ ४८ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–रोगस्यामय इति संज्ञा, बालकृतं किमपि वस्तु 'यद्' यस्माद्युवाऽनुस्मरति, तथा यत्कृतमन्यस्मिन् भवे–कुशलाकुशलं कर्म तस्यैव–कर्मणोऽन्यत्र–भवान्तरे उपस्थानात्, सर्वत्र भावार्थयोजना कृतैवेति गाथार्थः ॥

णिच्चो अणिंदियत्ता खणिओ नवि होइ जाइसंभरणा। थणअभिलासा य तहा अमओ नउ मिम्मउव्व घडो ॥ ४९ ॥ भाष्यम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

व्याख्या–नित्य इति, सर्वत्र क्रियाभिसंबध्यते, अतीन्द्रियत्वात्–श्रोत्रादिभिरग्रहणादित्यर्थः, 'विज्ञेयो' ज्ञातव्यः। तथा च जातिस्मरणात्, पाठान्तरं वा 'क्षणिको न भवति जातिस्मरणा'दिति, एतदप्यदुष्टमेव, विधिप्रतिषेधाभ्यां साध्यार्थाभिधानात्, स्तनाभिलाषाच्च, तथा अमयोऽयमात्मा, नतु मृन्मय इव घटः, ततश्चाकारण इत्यर्थः। एतदपि नित्यत्वादिप्रसाधकमिति निर्युक्तिगाथायामनुपन्यस्तमप्युक्तं सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेति गाथार्थः ॥ तृतीयां निर्युक्तिगाथामाह—

सव्वन्नुवदिट्ठत्ता सकम्मफलभोयणा अमुत्तत्ता। जीवस्स सिद्धमेवं निच्चत्तममुत्तमन्नत्तं ॥ २२७ ॥

व्याख्या–'सर्वज्ञोपदिष्टत्वा'दिति नित्यो जीव इति सर्वज्ञोक्तत्वात्, अवितथं च सर्वज्ञवचनं, तस्य रागादिरहितत्वादिति। तथा 'स्वकर्मफलभोजना'दिति स्वोपात्तकर्मफलभोगादित्यर्थः, उपस्थानादेतन्न भिद्यत इति चेन्न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, तत्र हि येन कृतं तस्मिन्नेव कर्तरि कर्मोपतिष्ठत इत्युक्तं तच्चैकस्मिन्नपि जन्मनि संभवति, इदं त्वन्यजन्मान्तरापेक्षयाऽपि गृह्यत इति न दोषः। तथा 'अमूर्तत्वा'दिति मूर्तिरहितत्वाद्, एतदपि श्रोत्रादिभिरग्रहणादित्यस्मान्न भिद्यत इति चेन्न, तत्र हि श्रोत्रादिभिर्न गृह्यते इत्येतदुक्तम्, इह तु तत्स्वरूपमेव नियम्यते इति, मूर्ताणूनामपि श्रोत्रादिभिरग्रहणादिति। द्वारत्रयमप्युपसंहरन्नाह–जीवस्य सिद्धमेवं नित्यत्वममूर्तत्वमन्यत्वमिति गाथार्थः ॥ मूलद्वारगाथाद्वये व्याख्यातमन्यत्वादिद्वारत्रयम्, इदानीं कर्तृद्वारावसरः, तथा चाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कत्तत्ति दारमहुणा सकम्मफलभोइणो जओ जीवा । वाणियकिसीवला इव कविलमयनिसेहणं एयं ॥ ५० ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–कर्तेति द्वारमधुना–तदेतद्व्याख्यायते, स्वकर्मफलभोगिनो यतो जीवास्ततः कर्तार इति, वणिक्कृषीवलादय इव, न ह्यमी अकृतमुपभुञ्जते इति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु–कर्ताऽऽत्मा, स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्, कर्षकादिवत् । एतदम्पर्यमाह—'कपिलमतनिषेधनमेतत्' सांख्यमतनिराकरणमेतत्, तत्राकर्तृवादप्रसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ मूलद्वारगाथाद्वये व्याख्यातं कर्तृद्वारम्, इदानीं देहव्यापित्वद्वारावसर इत्याह भाष्यकारः—

वावित्ति दारमहुणा देहव्वावी मओऽग्गिउण्हं व । जीवो नउ सव्वगओ देहे लिंगोवलंभाओ ॥ ५१ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–व्यापीति द्वारमधुना–तदेतद्व्याख्यायते, 'देहव्यापी' शरीरमात्रं व्याप्तुं शीलमस्येति तथा 'मत' इष्टः प्रवचनज्ञैः जीवो, नतु सर्वग इति योगः, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न चाण्वादिमात्रः, कुत इत्याह—'देहे लिङ्गोपलम्भात्' शरीर एव सुखादितल्लिङ्गोपलब्धेः, अग्न्यौष्ण्यवत्, उष्णत्वं ह्यग्निलिङ्गं नान्यत्राग्नेः न च नाग्नाविति [गाथा]प्रयोगार्थः। प्रयोगस्तु–शरीरनियतदेश आत्मा, परिमितदेशे लिङ्गोपलब्धेः, अग्न्यौष्ण्यवत् इति गाथार्थः ॥ व्याख्याता प्रथमा मूलद्वारगाथा, साम्प्रतं द्वितीया व्याख्यायते–तत्र प्रथमं गुणीत्याद्यद्वारं, तद्व्याचिख्यासयाऽऽह भाष्यकारः—

अहुणा गुणित्ति दारं होइ गुणेहिं गुणित्ति विन्नेओ । ते भोगजोगउवओगमाइ रूवाइ व घडस्स ॥ ५२ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अधुना गुणीति द्वारं–तदेतद्व्याख्यायते, भवति गुणैर्हि गुणी, न तद्व्यतिरेकेण 'इति' एवं वि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

ज्ञेयः, अमेन गुणगुणिनोर्भेदाभेदमाह, ते भोगयोगोपयोगादयो गुणा इति, आदिशब्दादमूर्तत्वादिपरिग्रहः, निदर्शनमाह–रूपादय इव घटस्य गुणा इति गाथार्थः ॥ व्याख्यातं मूलद्वारगाथायां गुणिद्वारम्, अधुनोर्ध्वगतिद्वारावसर इत्याह भाष्यकारः—

उड्ढंगइत्ति अहुणा अगुरुलहुत्ता सभावउड्ढगई । दिट्ठंतलाउएणं एरंडफलाइएहिं च ॥ ५३ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–ऊर्द्ध्वगतिरित्यधुना द्वारं–तदेतद्व्याख्यायते, अगुरुलघुत्वात्कारणात्स्वभावतः कर्मविप्रमुक्तः सन्नूर्ध्वगतिः, जीव इति गम्यते, यद्येवं तर्हि कथमधो गच्छति?, अत्राह–दृष्टान्तः 'अलाबुना' तुम्बकेन, यथा तत्स्वभावत ऊर्ध्वगमनरूपमपि मृल्लेपाज्जलेऽधो गच्छति तदपगमादूर्ध्वमा जलान्तादु, एवमात्माऽपि कर्मलेपादधो गच्छति तदपगमादूर्ध्वमा लोकान्तादिति । एरण्डफलादिभिश्च दृष्टान्त इति, अनेन दृष्टान्तबाहुल्यं दर्शयति, यथा चैरण्डफलमपि बन्धनपरिभ्रष्टमूर्द्धं गच्छति, आदिशब्दादग्न्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायामूर्ध्वगतिद्वारं, साम्प्रतं निर्मयद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

अमओ य होइ जीवो कारणविरहा जहेव आगासं । समयं च होअनिच्चं मिम्मयघडतंतुमाईयं ॥ ५४ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–अमयश्च भवति जीवः, न किम्मयोऽपीत्यर्थः, कुत इत्याह—'कारणविरहात्' अकारणत्वात्, यथैवाकाशम्–आकाशवदित्यर्थः, समयं च वस्तु भवत्यनित्यम्, एतदेव दर्शयति–मृन्मयघटतन्त्वादि, यथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृन्मयो घटस्तन्तुमयः पट इत्यादि, न पुनरात्मा, नित्य इति दर्शितम्। आह–अस्मिन् द्वारे सति 'अमयो नैतु मृन्मय इव घट' इति प्राक्किमर्थमुक्तमिति, उच्यते, अत एव द्वारादनुग्रहार्थमुक्तमिति लक्ष्यते, भवति चासकृच्छ्रवणादकृच्छ्रेण परिज्ञानमित्यनुग्रहः, अतिगम्भीरत्वाद्भाष्यकाराभिप्रायस्य न (वा) वयमभिप्रायं विद्म इति। अन्ये त्वभिदधति–अन्यकर्तृकैवासौ गाथेति गाथार्थः॥ व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायां निर्भयद्वारम्, अधुना साफल्यद्वारावसरः, तथा चाह भाष्यकारः—

साफल्लदारमहुणा निच्चानिच्चपरिणामिजीवम्मि। होइ तयं कम्माणं इहरेगसभावओऽजुत्तं॥ ५५॥ भाष्यम्॥

व्याख्या–साफल्यद्वारमधुना–तदेतद्व्याख्यायते, नित्यानित्य एव परिणामिनि जीव इति योगः, भवति तत् साफल्यं कालान्तरफलप्रदानलक्षणम्, केषामित्याह–कर्मणां–कुशलाकुशलानां, कालभेदेन कर्तृभोक्तृपरिणामभेदे सत्यात्मनस्तदुभयोपपत्तेः कर्मणां कालान्तरफलप्रदानमिति, 'इतरथा' पुनर्यद्येवं नाभ्युपगम्यते तत एकस्वभावत्वतः कारणाद्युक्तं 'तत्' कर्मणां साफल्यमिति, एतदुक्तं भवति–यदि नित्य आत्मा कर्तृस्वभाव एव कुतोऽस्य भोगः?, भोक्तृस्वभावत्वे चाकर्तृत्वं, क्षणिकस्य तु कालद्वयाभावादेवैतदुभयमनुपपन्नम्, उभये च सति कालान्तरफलप्रदानेन कर्म सफलमिति गाथार्थः॥ द्वितीयमूलद्वारगाथायां व्याख्यातं साफल्यद्वारम्, अधुना परिमाणद्वारमाह—

१ भाष्यगाथा ४९ अन्त्यभागः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

जीवस्स उ परिमाणं वित्थरओ जाव लोगमेत्तं तु । ओगाहणा य सुहुमा तस्स पएसा असंखेज्जा ॥ ५६ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–जीवस्य तु परिमाणं वितनुतस्य 'विस्तरतो' विस्तरेण यावल्लोकमात्रमेव, एतच्च केवलिसमुद्घातचतुर्थसमये भवति, तत्रावगाहना च 'सूक्ष्मा' विततैकैकप्रदेशरूपा भवति, 'तस्य' जीवस्य प्रदेशाश्चासंख्येयाः सर्व एव लोकाकाशप्रदेशतुल्या इति गाथार्थः ॥ अनेकेषां जीवानां गणनापरिमाणमाह—

पत्थेण व कुलएण व जह कोइ मिणेज्ज सव्वधन्नाइं । एवं मविज्जमाणा हवंति लोगा अणंता उ ॥ ५७ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'प्रस्थेन वा' चतुःकुडवमानेन 'कुडवेन वा' चतुःसेतिकामानेन यथा कश्चित्प्रमाता मिनुयात् 'सर्वधान्यानि' व्रीह्यादीनि एवं मीयमाना असद्भावस्थापनया भवन्ति लोका अनन्तास्तु, जीवभृता इति भावः। आह–यद्येवं कथमेकस्मिन्नेव ते लोके माता इति?, उच्यते, सूक्ष्मावगाहनया, यत्रैकस्तत्रानन्ता व्यवस्थिताः, इह तु प्रत्येकावगाहनया चिन्त्यन्ते इति न दोषः, दृष्टं च बादरद्रव्याणामपि प्रदीपप्रभापरमाण्वादीनां तथापरिणामतो भूयसामेकत्रैवावस्थानमिति गाथार्थः ॥ व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायां परिमाणद्वारं, तद्व्याख्यानाच्च द्वितीया मूलद्वारगाथा जीवपदं चेति। साम्प्रतं निकायपदं व्याचिख्यासुराह—

णामं ठवणसरीरे गई णिकायत्थिकाय दविए य । माउगपज्जवसंगहभारे तह भावकाए य ॥ २२८ ॥

व्याख्या–नामस्थापने क्षुण्णे, शरीरकायः–शरीरमेव, तत्प्रायोग्याणुसंघातात्मकत्वात्, गतिकायो–यो भवान्तरगतौ, स च तैजसकार्मणलक्षणः, निकायकायः–षड्जीवनिकायः, अस्तिकायो–धर्मास्तिकायादिः, द्रव्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

कायश्च–त्र्यादिघटादिद्रव्यसमुदायः, मातृकाकायः त्र्यादीनि मातृकाक्षराणि, पर्यायकायो द्वेधा–जीवाजीवभेदेन, जीवपर्यायकायो–ज्ञानादिसमुदायः, अजीवपर्यायकायो–रूपादिसमुदायः, संग्रहकायः–संग्रहैकशब्दवाच्यस्त्रिकटुकादिवत्, भारकायः–कापोती, वृद्धास्तु व्याचक्षते—'एगो काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगो मारिओ। जीवंतो मएण मारिओ, तल्लव माणव! केण हेउणा? ॥ १ ॥'[1] उदाहरणम्–एगो काहरो तलाए दो घडा पाणियस्स भरेऊण कावोडीए वहइ, सो एगो आउक्कायकायो दोसु घडेसु दुहा कओ, तओ सो काहरो गच्छंतो पक्खलिओ, एगो घडो भग्गो, तम्मि जो आउक्काओ सो मओ, इयरम्मि जीवइ, तस्स अभावे सोऽवि भग्गो, ताहे सो तेण पुव्वमएण मारिओ त्ति भण्णइ। अहवा–एगो घडो आउक्कायभरिओ, ताहे तमाउकायं दुहा काऊण अद्धो ताविओ, सो मओ, अताविओ जीवइ, ताहे सोऽवि तत्थेव पक्खित्तो, तेण मएण जीवंतो मारिओ त्ति। एस भारकाओ गओ। भावकायश्चौदयिकादिसमुदायः, इह च निकायः काय इत्यनर्थान्तरमितिकृत्वा कायनिक्षेप इत्यदुष्ट एवेति गाथार्थः ॥

---

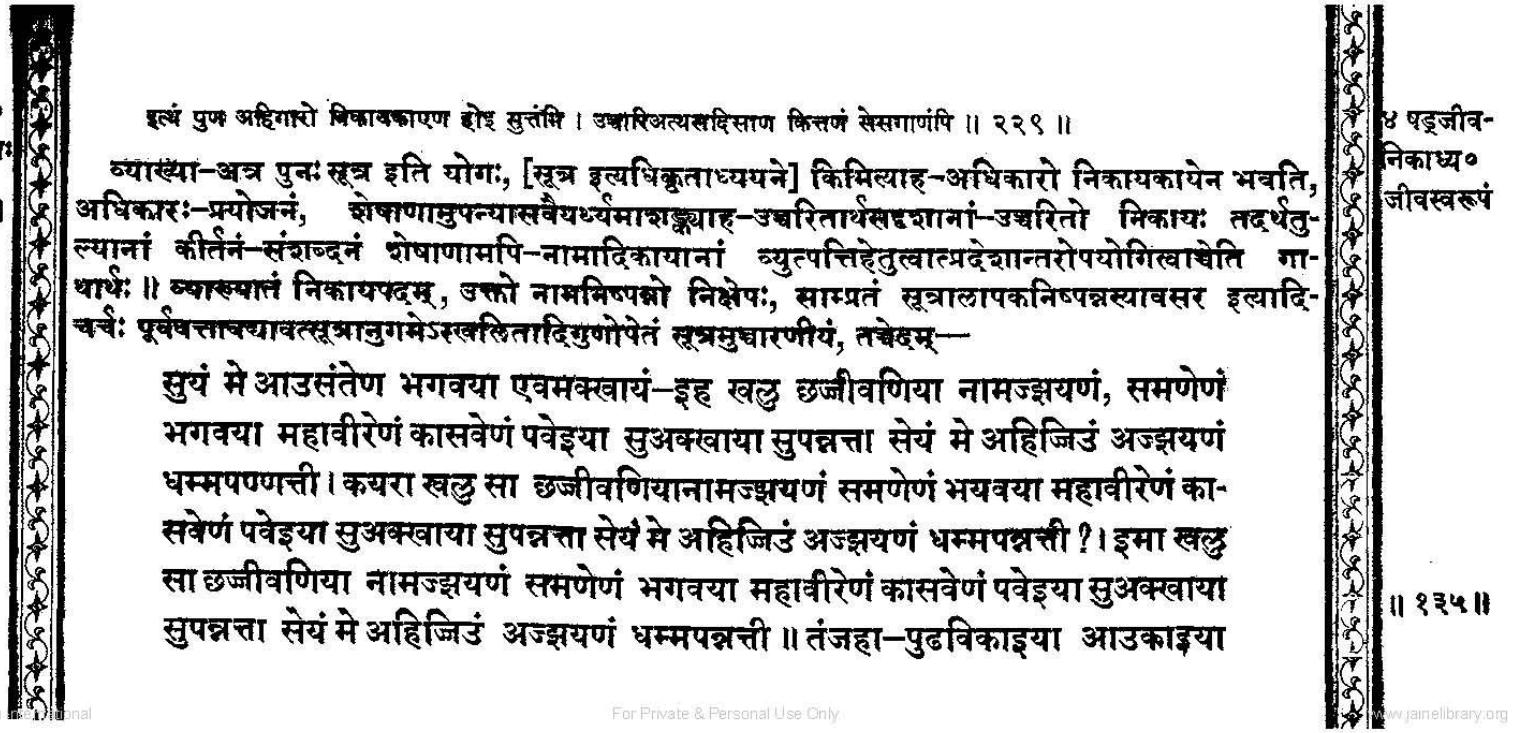
१ एकः कायो द्विधा जात एकस्तिष्ठति एको मृतः। जीवन् मृतेन मारितः तल्लप मानव! केन हेतुना? ॥ १ ॥ उदाहरणं एकः कापोतीकस्तटाकात् द्वौ पानीयस्य घटौ भृत्वा कापोत्या वहति, स एकोऽप्कायो द्वयोर्घटयोर्द्विधा कृतः, ततः स कापोतीको गच्छन् प्रस्खलितः, एको घटो भग्नः, तस्मिन् योऽप्कायः स मृतः, इतरस्मिन् जीवति, तस्याभावे सोऽपि भग्नः, तदा स तेन पूर्वमृतेन मारित इति भण्यते। अथवैको घटोऽप्कायभृतः, ततस्तमप्कायं द्विधाकृत्वाऽर्धस्थापितः, स मृतः, अतापितो जीवति, ततः सोऽपि तत्रैव प्रक्षिप्तः, तेन मृतेन जीवन् मारित इति। एष भारकायो गतः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १३५ ॥

इत्थं पुण अहिगारो निकायकाएण होइ सुत्तंमि । उच्चारिअत्थसरिसाण कित्तणं सेसगाणंपि ॥ २२९ ॥

व्याख्या–अत्र पुनः सूत्र इति योगः, [सूत्र इत्यधिकृताध्ययने] किमित्याह–अधिकारो निकायकायेन भवति, अधिकारः–प्रयोजनं, शेषाणामुपन्यासवैयर्थ्यमाशङ्क्याह–उच्चरितार्थसदृशानां–उच्चरितो निकायः तदर्थतुल्यानां कीर्तनं–संशब्दनं शेषाणामपि–नामादिकायानां व्युत्पत्तिहेतुत्वात्प्रदेशान्तरोपयोगित्वाच्चेति गाथार्थः ॥ व्याख्यातं निकायपदम्, उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं–इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं, समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती। कयरा खलु सा छज्जीवणियानामज्झयणं समणेणं भयवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ?। इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ॥ तंजहा–पुढविकाइया आउकाइया

४ षड्जीव-निकाध्य० जीवस्वरूपं

॥ १३५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकारेण सूत्रितं पृथ्वि आदि षड् जीवनिकाय स्वरुपम्

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया । पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तंजहा– अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरुहा संमुच्छिमा तणलया, वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तंजहा–अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया । जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया जे य कीडपयंगा जा य कुंथुपिपीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुआ सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिआ । एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउ त्ति पवुच्चइ ॥ (सूत्रं १)

श्रूयते तदिति श्रुतम्–प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टमात्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते, श्रुतमवधृतमवगृहीतमिति पर्यायाः, 'मये'त्यात्मपरामर्शः, आयुरस्यास्तीत्यायुष्मान् तस्यामन्त्रणं हे आयुष्मन्!, कः कमेवमाह?–सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमिति, 'तेने'ति भुवनभर्तुः परामर्शः, भगः–समग्रैश्वर्यादिलक्षण इति, उक्तं च—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥ १ ॥" सोऽस्यास्तीति भगवांस्तेन भगवता–वर्धमानस्वामिनेत्यर्थः, 'एव'मिति प्रकारवचनःशब्दः, 'आख्यात'मिति केवलज्ञानेनोपलभ्यावेदितं, किमत आह–इह खलु षड्जीवनिकायनामाध्ययनम्, अस्तीति वाक्यशेषः, 'इहे'ति लोके प्रवचने वा, खलुशब्दादन्यतीर्थकुत्प्रवचनेषु च, 'षड्जीवनिकाये'ति पूर्ववत्, 'नामे'त्यभिधानम्, 'अध्ययन'मिति पूर्ववदेव । इह च 'श्रुतं मये'त्यनेनात्मपरामर्शेनैकान्तक्षणभङ्गापोहमाह, तत्रेत्थंभूतार्थानुपपत्तेरिति, उक्तं च,—"एगंतखणियपक्खे गहणं चिअ सव्वहा ण अत्थाणं । अणुसरणसासणाइं कुओ उ तेलोगसिद्धाइं? ॥ १ ॥" तथा 'आयुष्म'न्निति च

१ एकान्तक्षणिकपक्षे ग्रहणमेव सर्वथा नार्थानाम् । अनुस्मरणशासनानि कुतस्तु त्रैलोक्य (ते लोक०) सिद्धानि ॥ १ ॥ २ °लोक० प्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधानगुणनिष्पन्नेनामन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्यं देयं नागुणवत इत्याह, तदनुकम्पाप्रवृत्तेरिति, उक्तं च—"[1]आमे घडे निहत्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ। इअ सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥" आयुश्च प्रधानो गुणः, सति तस्मिन्नव्यवच्छित्तिभावात्, तथा 'तेन भगवता एवमाख्यात'मित्यनेन स्वमनीषिकानिरासाच्छास्त्रपारतन्त्र्यप्रदर्शनेन न ह्यसर्वज्ञेन अनात्मवता अन्यतस्तथाभूतात्सम्यगनिश्चित्य परलोकदेशना कार्येत्येतदाह, विपर्ययसंभवाद्, उक्तं च—"किं[2] इत्तो पावयरं? संमं अणहिगयधम्मसब्भावो। अण्णं कुदेसणाए कट्ठयरागंमि पाडेइ ॥ १ ॥" अथवाऽन्यथा व्याख्यायते सूत्रैकदेशः—'आउसंतेणं'ति भगवत एव विशेषणम्, आयुष्मता भगवता–चिरजीविनेत्यर्थः, मङ्गलवचनं चैतद्, अथवा जीवता साक्षादेव, अनेन च गणधरपरम्परागमस्य जीवनविमुक्तानादिशुद्धवक्तृश्चापोहमाह, देहाद्यभावेन तथाविधप्रयत्नाभावात्, उक्तं च—"[3]वयणं न कायजोगाभावे ण य सो अणादिसुद्धस्स। गहणंमि य णो हेऊ सत्थं अत्तागमो कह णु ॥ १ ॥" अथवा 'आवसंतेणं'ति गुरुमूलमावसता, अनेन च शिष्येण गुरुचरणसेविना सदा भाव्यमित्येतदाह, ज्ञानादिवृद्धिसद्भावाद्, उक्तं च—"[4]णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना

१ आमे घटे निहितं यथा जलं तं घटं विनाशयति। इति (एवं) सिद्धान्तरहस्यमल्पाधारं विनाशयति ॥ १ ॥ २ किमेतस्मात्पापकरं सम्यगनधिगतधर्मसद्भावः। अन्यं कुदेशनया कष्टकरागसि पातयति ॥ १ ॥ ३ वचनं न काययोगाभावे न च सोऽनादिशुद्धस्य। ग्रहणे च नो हेतुः शास्त्रमाप्तागमः (आप्तागमः) कथं नु? ॥ १ ॥ ४ कायस्येति. ५ ज्ञानस्य भागी भवति स्थिरतरः दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" अथवा 'आमुसंतेणं' आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन, अनेन च विनयप्रतिपत्तेर्गरीयस्त्वमाह, विनयस्य मोक्षमूलत्वात्, उक्तं च—"मूलं संसारस्सा होंति कसाया अणंतपत्तस्स। विणओ ठाणपउत्तो दुक्खविमुक्खस्स मोक्खस्स ॥ १ ॥" कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः —तत्र इह खलु षड्जीवनिकायिकानामाध्ययनमस्तीत्युक्तम्, अत्राह—एषा षड्जीवनिकायिका केन प्रवेदिता प्ररूपिता वेति?, अत्रोच्यते, तेनैव भगवता, यत आह—'समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ते'ति, सा च तेन 'श्रमणेन' महातपस्विना 'भगवता' समग्रैश्वर्यादियुक्तेन 'महावीरेण' 'शूर वीर विक्रान्ता'विति कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः, उक्तं च—"विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥" महांश्चासौ वीरश्च महावीरः तेन महावीरेण, 'काश्यपेने'ति काश्यपसगोत्रेण, 'प्रवेदिता' नान्यतः कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता किं तर्हि?, स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदिता–विज्ञातेत्यर्थः, तथा 'स्वाख्याते'ति सदेवमनुष्यासुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता स्वाख्याता, तथा 'सुप्रज्ञप्ते'ति सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथैवाख्याता तथैव सुष्ठु–सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः, तां चैवंभूतां षड्जीवनिकायिकां 'श्रेयो मेऽध्येतुं' श्रेयः–पथ्यं हितं, ममेत्यात्मनिर्देशः, छान्दसत्वात्सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये, ततश्च श्रेय

१ मूलं संसारस्य भवन्ति कषाया अनन्तपत्रस्य। विनयः स्थानप्रयुक्तो दुःखविमुक्तस्य मोक्षस्य ॥ १ ॥ २ आत्मार्थः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

आत्मनोऽध्येतुम्, 'अध्येतु'मिति पठितुं श्रोतुं भावयितुं, कुत इत्याह—'अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः' 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायो दर्शन'मिति वचनात् हेतौ प्रथमा, अध्ययनत्वाद्–अध्यात्मानयनाच्चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः, एतदेव कुत इत्याह—'धर्मप्रज्ञप्तेः' प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणाच्चेतसो विशुद्ध्यापादनं चेतसो विशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति । अन्ये तु व्याचक्षते–अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति ॥ शिष्यः पृच्छति—'कतरा खल्वि'त्यादि, सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनैतदर्शयति–विहायाभिमानं संविग्नेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति, आचार्य आह—'इमा खल्वि'त्यादि सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनाप्येतदर्शयति–गुणवते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य एवेति । 'तंजहा–पुढविकाइया' इत्यादि, अत्र 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, पृथिवी–काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता सैव कायः–शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः, स्वार्थिकष्ठक्, आपो–द्रवाः प्रतीता एव ता एव कायः–शरीरं येषां तेऽप्कायाः अप्काया एव अप्कायिकाः । तेज–उष्णलक्षणं प्रतीतं तदेव कायः–शरीरं येषां ते तेजःकायाः तेजःकाया एव तेजःकायिकाः । वायुः–चलनधर्मा प्रतीत एव स एव कायः–शरीरं येषां ते वायुकायाः वायुकाया एव वायुकायिकाः । वनस्पतिः–लतादिरूपः प्रतीतः, स एव कायः–शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः, वनस्पतिकाया एव

१ विभक्तीनां.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

वनस्पतिकायिकाः । एवं त्रसनशीलास्त्रसाः–प्रतीता एव, त्रसाः कायाः–शरीराणि येषां ते त्रसकायाः, त्रसकाया एव त्रसकायिकाः । इह च सर्वभूताधारत्वात् पृथिव्याः प्रथमं पृथिवीकायिकानामभिधानं, तदनन्तरं तत्प्रतिष्ठितत्वादप्कायिकानामपि, तदनन्तरं तत्प्रतिपक्षत्वात्तेजस्कायिकानां, तदनन्तरं तेजस उपष्टम्भकत्वाद्वायुकायिकानां, तदनन्तरं वायोः शाखाप्रचलनादिगम्यत्वाद्वनस्पतिकायिकानां, तदनन्तरं वनस्पतेस्त्रसोपग्राहकत्वात्त्रसकायिकानामिति । विप्रतिपत्तिनिरासार्थं पुनराह—'पुढवी चित्तमंतमक्खाया' 'पृथिवी' उक्तलक्षणा 'चित्तवती'ति चित्तं–जीवलक्षणं तदस्या अस्तीति चित्तवती–सजीवेत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'पुढवी चित्तमत्तमक्खाया' अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति, ततश्च चित्तमात्रा–स्तोकचित्तेत्यर्थः, तथा च प्रबलमोहोदयात्सर्वजघन्यं चैतन्यमेकेन्द्रियाणां, तदभ्यधिकं द्वीन्द्रियादीनामिति, 'आख्याता' सर्वज्ञेन कथिता, इयं च 'अनेकजीवा' अनेके जीवा यस्यां साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां 'पृथिवी देवते'त्येवमादिवचनप्रामाण्यादिति । अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूतात्मापेक्षयेष्यत एव, यथाहुरेके—"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥" अत आह —'पृथक्सत्त्वा' पृथग्भूताः सत्त्वा–आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा, अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिक्याऽनेकजीवसमाश्रितेति भावः । आह–यद्येवं जीवपिण्डरूपा पृथिवी ततस्तस्यामुच्चारादिकरणे नियमतस्तदतिपातादहिंसकत्वानुपपत्तिरित्यसंभवी साधुधर्म इत्यत्राह—'अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः' शस्त्रप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

रिणतां पृथिवीं विहाय–परित्यज्यान्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः। अथ किमिदं पृथिव्याः शस्त्रमिति शस्त्रप्रस्तावात्सामान्यत एवेदं द्रव्यभावभेदभिन्नं शस्त्रमभिधित्सुराह—

दव्वं सत्थग्गिविसंनेहंबिल खारलोणमाईयं । भावो उ दुप्पउत्तो वाया काओ अविरई अ ॥ २३० ॥

व्याख्या–'द्रव्य'मिति द्वारपरामर्शः, तत्र द्रव्यशस्त्रं खड्गादि, अग्निविषस्नेहाम्लानि प्रसिद्धानि, 'क्षारलवणादीनि' अत्र तु क्षारः–करीरादिप्रभवः, लवणं–प्रतीतम्, आदिशब्दात्करीषादिपरिग्रहः। उक्तं द्रव्यशस्त्रम्, अधुना भावशस्त्रमाह–भावस्तु दुष्प्रयुक्तौ वाक्कायौ अविरतिश्च भावशस्त्रमिति, तत्र भावो दुष्प्रयुक्त इत्यनेन द्रोहाभिमानेर्ष्यादिलक्षणो मनोदुष्प्रयोगो गृह्यते, वाग्दुष्प्रयोगस्तु हिंस्रपरुषादिवचनलक्षणः, कायदुष्प्रयोगस्तु धावनवल्गनादिः, अविरतिस्त्वविशिष्टा प्राणातिपातादिपापस्थानकप्रवृत्तिः, एतानि स्वपरव्यापादकत्वात्कर्मबन्धनिमित्तत्वाद्भावशस्त्रमिति गाथार्थः॥ इह न भावशस्त्रेणाधिकारः, अपितु द्रव्यशस्त्रेण, तच्च त्रिप्रकारं भवतीत्याह—

किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि । एयं तु दव्वसत्थं भावे असंजमो सत्थं ॥ २३१ ॥

व्याख्या–किंचित्स्वकायशस्त्रं, यथा कृष्णा मृद् नीलादिमृदः शस्त्रम्, एवं गन्धरसस्पर्शभेदेऽपि शस्त्रयोजना कार्या, तथा 'किञ्चित्परकाये'ति परकायशस्त्रं, यथा पृथ्वी अप्तेजःप्रभृतीनाम् अप्तेजःप्रभृतयो वा पृथिव्याः, 'तदुभयं किञ्चि'दिति किञ्चित्तदुभयशस्त्रं भवति, यथा कृष्णा मृद् उदकस्य स्पर्शरसगन्धादिभिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

पाण्डुमृदश्च, यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति तदाऽसौ कृष्णमृद् उदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्रं भवति, एवं(तत्)तु द्रव्यशस्त्रं, तुशब्दोऽनेकप्रकारविशेषणार्थः, एतदनेकप्रकारं द्रव्यशस्त्रम्, 'भाव' इति द्वारपरामर्शः, असंयमः शस्त्रं चरणस्येति गाथार्थः ॥ एवं च परिणतायां पृथ्व्यामुचारादिकरणेऽपि नास्ति तदतिपात इत्यहिंसकत्वोपपत्तेः संभवी साधुधर्म इति । एष तावदागमः, अनुमानमप्यत्र विद्यते–सात्मका विद्रुमलवणोपलादयः पृथिवीविकाराः, समानजातीयाङ्कुरोत्पत्त्युपलम्भात्, देवदत्तमांसाङ्कुरवत्, एवमागमोपपत्तिभ्यां व्यवस्थितं पृथिवीकायिकानां जीवत्वम्, उक्तं च—"आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥ आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्वेत्वसंभवात् ॥ २ ॥" इत्यलं प्रसङ्गेन । एवमापश्चित्तवत्य आख्याताः, तेजश्चित्तवदाख्यातं, वायुश्चित्तवानाख्यातः, वनस्पतिश्चित्तवानाख्यातः, इत्यादयपि द्रष्टव्यम् । विशेषस्त्वभिधीयते–सात्मकं जलं, भूमिस्नातस्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवत् । सात्मकोऽग्निः, आहारेण वृद्धिदर्शनात्, बालकवत् । सात्मकः पवनः, अपरप्रेरिततिर्यग्गमनियमितदिग्गमनाद्, गोवत् । सचेतनास्तरवः, सर्वत्वगपहरणे मरणाद्, गर्दभवत् । वनस्पतिजीवविशेषप्रतिपादनायाह—'तंजहा अग्गबीया' इत्यादि, तद्यथेत्युपन्यासार्थः, अग्रबीजा इति–अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः–कोरण्टकादयः, एवं मूलं बीजं येषां ते मूलबीजा–उत्पलकन्दादयः, पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजा –इक्ष्वादयः, स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः–शल्लक्यादयः, तथा बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहाः–शाल्यादयः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संमूर्च्छन्तीति संमूर्च्छिमाः–प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधास्तृणादयः, न चैते न संभवन्ति, दग्धभूमावपि संभवात्, तथा तृणलतावनस्पतिकायिका इति, अत्र तृणलताग्रहणं स्वगतानेकभेदसंदर्शनार्थं, वनस्पतिकायिकग्रहणं सूक्ष्मबादराद्यशेषवनस्पतिभेदसंग्रहार्थम्, एतेन पृथिव्यादीनामपि स्वगताः भेदाः पृथिवीशर्करादयः तथाऽवश्यायमिहिकादयः तथा अङ्गारज्वालादयः, तथा झञ्झामण्डलिकादयो [भेदाः] सूचिता इति। 'सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता' इति, एते ह्यनन्तरोदिता वनस्पतिविशेषाः सबीजाः–स्वस्वनिबन्धनाश्चित्तवन्तः–आत्मवन्त आख्याताः–कथिताः। एते च अनेकजीवा इत्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत्। सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता इत्युक्तम्, अत्र च भवत्याशङ्का–किं बीजजीव एव मूलादिजीवो भवत्युतान्यस्तस्मिन्नुक्रान्ते उत्पद्यते इति?, अस्य व्यपोहायाह—

बीए जोणिब्भूए जीवो वुक्कमइ सो य अन्नो वा। जोऽवि य मूले जीवो सोऽवि य पत्ते पढमयाए ॥ २३२ ॥

व्याख्या–बीजे योनिभूते इति, बीजं हि द्विविधं भवति–योनिभूतमयोनिभूतं च, अविध्वस्तयोनि विध्वस्तयोनि च, प्ररोहसमर्थं तदसमर्थं चेत्यर्थः। तत्र योनिभूतं सचेतनमचेतनं च, अयोनिभूतं तु नियमादचेतनमिति। तत्र बीजे योनिभूते इत्यनेनायोनिभूतस्य व्यवच्छेदमाह, तत्रोत्पत्त्यसंभवाद्, अबीजत्वादित्यर्थः। योनिभूते तु–योन्यवस्थे बीजे, योनिपरिणाममत्यजतीत्युक्तं भवति, किमित्याह–जीवो व्युत्क्रामति–उत्पद्यते, स एव–पूर्वको बीजजीवः, बीजनामगोत्रे कर्मणी वेदयित्वा मूलादिनामगोत्रे चोपनिबध्य, अन्यो वा पृथिवी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

कायिकादिजीव एवमेव, 'योऽपि च मूले जीव' इति य एव मूलतया परिणमते जीवः सोऽपि च पत्रे प्रथमतयेति–स एव प्रथमपत्रतयाऽपि परिणमत इत्येकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति। आह–यद्येवं '[1]सव्वोऽवि किसलओ खलु उग्गममाणो अणंतओ भणिओ' इत्यादि कथं न विरुध्यते इति?, उच्यते, इह बीजजीवोऽन्यो वा बीजमूलत्वेनोत्पद्य तदुच्छ्वनावस्थां करोति, ततस्तदनन्तरभाविनीं किसलयावस्थां नियमेनानन्तजीवाः कुर्वन्ति, पुनश्च तेषु स्थितिक्षयात्परिणतेष्वसावेव मूलजीवोऽनन्तजीवतनुं परिणम्य(मय्य) स्वशरीरतया तावद्वर्धते यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः। अन्ये तु व्याचक्षते–प्रथमपत्रकमिह याऽसौ बीजस्य समुच्छ्वनावस्था, नियमप्रदर्शनपरमेतत्, शेषं किसलयादि सकलं नावश्यं मूलजीवपरिणामाविर्भावितमिति मन्तव्यं, ततश्च 'सव्वोऽवि किसलओ खलु उग्गममाणो अणंतओ होइ' इत्याद्यप्यविरुद्धं, मूलपत्रनिर्वर्तनारम्भकाले किसलयत्वाभावादिति गाथार्थः ॥ एतदेवाह भाष्यकारः—

विद्धत्थाविद्धत्था जोणी जीवाण होइ नायव्वा। तत्थ अविद्धत्थाए वुक्कमई सो य अन्नो वा ॥ ५८ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–विध्वस्ताऽविध्वस्ता–अप्ररोहप्ररोहसमर्था योनिर्जीवानां भवति ज्ञातव्या, तत्राविध्वस्तायां योनौ व्युत्क्रामति स चान्यो वा, जीव इति गम्यत इति गाथार्थः ॥

जो पुण मूले जीवो सो निव्वत्तेइ जा पढमपत्तं। कंदाइ जाव बीयं सेसं अन्ने पकुव्वंति ॥ ५९ ॥ भाष्यम् ॥

१ सर्वोऽपि किशलयः खलु उद्गच्छन् अनन्तको भणितः.

॥ १४० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–यः पुनर्मूले जीवो बीजगतोऽन्यो वा स निर्वर्तयति यावत् प्रथमपत्रं तावदेक एवेति, अत्रापि भावार्थः पूर्ववदेव। कन्दादि यावद्बीजं शेषमन्ये प्रकुर्वन्ति, वनस्पतिजीवा एव, व्याख्याद्वयपक्षेऽप्येतद्विरोधि, एकतः समुच्छ्रनावस्थाया एव प्रथमपत्रतया विवक्षितत्वात्तदनु कन्दादिभावतः अन्यत्र कन्दादेर्वनस्पतिभेदत्वात्तस्य च प्रथमपत्रोत्तरकालमेव भावादिति गाथार्थः ॥ अतिदेशमाह—

सेसं सुत्तप्फासं काए काए अहक्कमं बूया। अज्झयणत्था पंच य पगरणपयवंजणविसुद्धा ॥ ६० ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–शेषं सूत्रस्पर्शे उक्तलक्षणं 'काये काये' पृथिव्यादौ 'यथाक्रमं' यथापरिपाटि ब्रूयात् अनुयोगधर एव, न केवलं सूत्रस्पर्शमेव, किं तु अध्ययनार्थान् पञ्च च–प्रागुपन्यस्तान् जीवाजीवाभिगमादीन् प्रकरणपदव्यञ्जनविशुद्धान् ब्रूयात्, सूत्र एव जीवाभिगमः काये काये इत्यनेनैव लब्ध इति पञ्चग्रहणम्, अन्यथा षडिहार्थाधिकारा इति। प्रक्रियन्तेऽर्था अस्मिन्निति प्रकरणम्–अनेकार्थाधिकारवत्कायप्रकरणादि, पदं सुबन्तादि, कादीनि व्यञ्जनानि, एभिर्विशुद्धान् ब्रूयादिति गाथार्थः ॥ इदानीं त्रसाधिकार एतदाह—'से जे पुण इमे' इति, सेशब्दोऽथशब्दार्थः, असावप्युपन्यासार्थः, 'अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्विति वचनात्, अथ ये पुनरमी–बालादीनामपि प्रसिद्धा अनेके–द्वीन्द्रियादिभेदेन बहवः एकैकस्यां जातौ त्रसाः प्राणिनः–त्रस्यन्तीति त्रसाः प्राणा–उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिनः, तद्यथा–अण्डजा इत्यादि, एष खलु षष्ठो जीवनिकायः त्रसकाय इति प्रोच्यत इति योगः, तत्राण्डाज्जाता अण्डजाः–पक्षिगृहकोकि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

लादयः, पोता एव जायन्त इति पोतजाः, "अन्येष्वपि दृश्यते" (पा० ३–२–१०१) डप्रत्ययो जनेरिति वचनात् । ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतयः, जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजा–गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः, अत्रापि पूर्ववद्डप्रत्ययः, रसाज्जाता रसजाः–तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजा–मत्कुणयूकाशतपदिकादयः, संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः–शलभपिपीलिकामक्षिकाशाल्मूकादयः, उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदाः, अथवा उद्भेदनमुद्भित् उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जाः –पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवादयः, उपपाताज्जाता उपपातजाः अथवा उपपाते भवा औपपातिका–देवा नारकाश्च । एतेषामेव लक्षणमाह–येषां केषाञ्चित्सामान्येनैव प्राणिनां–जीवानामभिक्रान्तं भवतीति वाक्यशेषः, अभिक्रमणमभिक्रान्तं, भावे निष्ठाप्रत्ययः, प्रज्ञापकं प्रत्यभिमुखं क्रमणमित्यर्थः, एवं प्रतिक्रमणं प्रतिक्रान्तं–प्रज्ञापकात्प्रतीपं क्रमणमिति भावः, संकुचनं संकुचितं–गात्रसंकोचकरणं, प्रसारणं प्रसारितं–गात्रविततकरणं, रवणं रुतं–शब्दकरणं, भ्रमणं भ्रान्तम्–इतश्चेतश्च गमनं, त्रसनं त्रस्तं–दुःखादुद्वेजनं, पलायनं पलायितं–कुतश्चिन्नाशनं, तथाऽऽगतेः–कुतश्चित्कचित्, गतेश्च–कुतश्चित्कचिदेव, 'विण्णाया' विज्ञातारः । आह–अभिक्रान्तप्रतिक्रान्ताभ्यां नागतिगत्योः कश्चिद्भेद इति किमर्थं भेदेनाभिधानम्?, उच्यते, विज्ञानविशेषख्यापनार्थम्, एतदुक्तं भवति– य एव विजानन्ति यथा वयमभिक्रामामः प्रतिक्रमामो वा त एव त्रसाः, न तु वृतिं प्रत्यभिक्रमणवन्तोऽपि वल्ग्यादय इति । आह–एवमपि द्वीन्द्रियादीनामत्रसत्वप्रसङ्गः, अभिक्रमणप्रतिक्रमणभावेऽप्येवं-

॥ १४१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञानाभावात्, नैतदेवं, हेतुसंज्ञाया अवगतेः, बुद्धिपूर्वकमिव छायात उष्णसुष्णाद्वा छायां प्रति तेषामभिक्रमणादिभावात्, न चैवं वल्लयादीनामभिक्रमणादि, ओघसंज्ञया प्रवृत्तेरिति कृतं प्रसङ्गेन । अधिकृतत्रसभेदानाह—'जे य' इत्यादि, ये च कीटपतङ्गा इत्यत्र कीटाः–कृमयः, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति द्वीन्द्रियाः शङ्खादयोऽपि गृह्यन्ते, पतङ्गाः–शलभा, अत्रापि पूर्ववचतुरिन्द्रिया भ्रमरादयोऽपि गृह्यन्त इति, तथा याश्च कुन्थुपिपीलिका इत्यनेन त्रीन्द्रियाः सर्व एव गृह्यन्ते, अत एवाह–सर्वे द्वीन्द्रियाः–कृम्यादयः सर्वे त्रीन्द्रियाः–कुन्थ्वादयः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः–पतङ्गादयः । आह–ये च कीटपतङ्गा इत्यादावुद्देशव्यत्ययः किमर्थम्?, उच्यते, 'विचित्रा सूत्रगतिरतश्चः क्रम' इति ज्ञापनार्थम्, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सामान्यतो, विशेषतः पुनः सर्वे तिर्यग्योनयो–गवादयः, सर्वे नारका–रत्नप्रभानारकादिभेदभिन्नाः, सर्वे मनुजाः–कर्मभूमिजादयः, सर्वे देवा–भवनवास्यादयः, सर्वशब्दश्चात्र परिशेषभेदानां त्रसत्वख्यापनार्थः, सर्व एवैते त्रसाः न त्वेकेन्द्रिया इव त्रसाः स्थावराश्चेति, उक्तं च—"पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः" "तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः" (तत्त्वा० अ० २ सू० १३–१४) इति । 'सर्वे प्राणिनः परमधर्माण' इति सर्व एते प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयश्च परमधर्माण इति–अत्र परमं–सुखं तद्धर्माणः सुखधर्माणः–सुखाभिलाषिण इत्यर्थः, यतश्चैवमित्यतो दुःखोत्पादपरिजिहीर्षया एतेषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेतेति योगः । षष्ठं जीवनिकायं निगमयन्नाह–एष खलु–अनन्तरोदितः कीटादिः 'षष्ठो जीवनिकायः' पृथिव्यादिपञ्चकापेक्षया षष्ठत्वमस्य, त्रसकाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

इति 'प्रोच्यते' प्रकर्षेणोच्यते सर्वैरेवतीर्थकरगणधरैरिति प्रयोगार्थः ॥ प्रयोगश्च–विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, घटवत्। आह–इदं त्रसकायनिगमनमनभिधाय अस्थाने 'सर्वे प्राणिनः परमधर्माण' इत्यनन्तरसूत्रसंबन्धिसूत्राभिधानं किमर्थम्?, उच्यते, निगमनसूत्रव्यवधानवदर्थान्तरेण व्यवधानख्यापनार्थम्, तथाहि–त्रसकायनिगमनसूत्रावसानो जीवाभिगमः, अत्रान्तरे अजीवाभिगमाधिकारः, तदर्थमभिधाय चारित्रधर्मो वक्तव्यः, तथा च वृद्धव्याख्या–एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति पवुच्चइ, एस ते जीवाभिगमो भणिओ, इयाणिं अजीवाभिगमो भण्णइ–अजीवा दुविहा, तंजहा–पुग्गला य नोपोग्गला य, पोग्गला छव्विहा, तंजहा–सुहुमसुहुमा सुहुमा सुहुमबायरा बायरसुहुमा बायरा बायरबायरा। सुहुमसुहुमा परमाणुपोग्गला, सुहुमा दुपएसियाओ आढत्तो जाव सुहुमपरिणओ अणंतपएसिओ खंधो, सुहुमबायरा गंधपोग्गला, बायरसुहुमा वाउक्कायसरीरा, बादरा आउक्कायसरीरा उस्सादीणं, बायरबायरा तेउवणस्सइपुढवितससरीराणि। अहवा चउव्विहा पोग्गला, तंजहा–खंधा खंधदेसा खंधपएसा परमाणुपोग्गला,

१ एष खलु षष्ठो जीवनिकायः त्रसकाय इति प्रोच्यते, एष तुर्य्यं जीवाभिगमो भणितः, इदानीमजीवाभिगमो भण्यते—अजीवा द्विविधाः, तद्यथा—पुद्गलाश्च नोपुद्गलाश्च, पुद्गलाः षड्विधाः, तद्यथा—सूक्ष्मसूक्ष्माः सूक्ष्माः सूक्ष्मबादरा बादरसूक्ष्मा बादरा बादरबादराः। सूक्ष्मसूक्ष्माः परमाणुपुद्गलाः, सूक्ष्मा द्विप्रदेशिकादारब्धो यावत्सूक्ष्मपरिणतोऽनन्तप्रदेशिकः स्कन्धः, सूक्ष्मबादरा गन्धपुद्गलाः, बादरसूक्ष्मा वायुकायशरीराणि, बादरा अप्कायशरीराणि अवश्यायादीनां, बादरबादरास्तेजोवनस्पतिपृथ्वीत्रसशरीराणि। अथवा चतुर्विधाः पुद्गलाः, तद्यथा—स्कन्धाः स्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाः परमाणुपुद्गलाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [३२]

एस पोग्गलत्थिकाओ गहणलक्खणो, णोपोग्गलत्थिकाओ तिविहो, तंजहा–धम्मत्थिकाओ अधम्मत्थिकाओ आगासत्थिकाओ, तत्थ धम्मत्थिकाओ गइलक्खणो, अधम्मत्थिकाओ ठिइलक्खणो, आगासत्थिकाओ अवगाहलक्खणो, तथा चैतत्संवाद्यार्षम्—"दुविहा हुंति अजीवा पोग्गलनोपोग्गला य छ त्तिविहा परमाणुमादि पोग्गल णोपोग्गल धम्ममादीया ॥ १ ॥ सुहुमसुहुमा य सुहुमा तह चेव य सुहुमबायरा णेया । बायरसुहुमा बायर तह बायरबायरा चेव ॥ २ ॥ परमाणु दुप्पएसादिगा उ तह गंधपोग्गला होन्ति । वाऊ आउसरीरा तेऊमादीण चरिमा उ ॥ ३ ॥ धम्माधम्माऽऽगासा लोए णोपोग्गला तिहा होंति । जीवाईण गइट्ठिइअवगाहणिमित्तगा णेया ॥ ४ ॥"

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा दंडं समारंभंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं

१ एष पुद्गलास्तिकायो ग्रहणलक्षणः, नोपुद्गलास्तिकायस्त्रिविधः, तद्यथा—धर्मास्तिकायः अधर्मास्तिकायः आकाशास्तिकायः, तत्र धर्मास्तिकायो गतिलक्षणः अधर्मास्तिकायः स्थितिलक्षणः आकाशास्तिकायोऽवगाहलक्षणः ।—द्विविधा भवन्त्यजीवाः पुद्गला नोपुद्गलाश्च षट्त्रिविधाः । परमाण्वादयः पुद्गला नोपुद्गला धर्मास्तिकायादयः ॥ १ ॥ सूक्ष्मसूक्ष्माश्च सूक्ष्मास्तथैव सूक्ष्मबादरा ज्ञेयाः । बादरसूक्ष्मा बादरास्तथा बादरबादराश्चैव ॥ २ ॥ परमाणुर्द्विप्रदेशिकास्तु तथा गन्धपुद्गला भवन्ति । वायुरप्छरीराणि तेजआदीनां चरमास्तु ॥ ३ ॥ धर्माधर्माकाशास्तिकाया लोके नोपुद्गलास्त्रिधा भवन्ति । जीवादीनां गतिस्थित्यवगाहनिमित्ता ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षड् जीव-निकायानाम् हिंसायाः विरमणस्य प्रतिज्ञा

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [३३]

मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । (सूत्र० २)

उक्तो जीवाभिगमः, साम्प्रतं चारित्रधर्मः, तत्रोक्तसंबन्धमेवेदं सूत्रम्—'इचेसिं' इत्यादि, सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना 'एतेषां षण्णां जीवनिकायाना'मिति, सुपां सुपो भवन्तीति ससम्यर्थे षष्ठी, एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु–अनन्तरोदितस्वरूपेषु नैव 'स्वयम्' आत्मना 'दण्डं' संघट्टनपरितापनादिलक्षणं 'समारभेत' प्रवर्तयेत्, तथा नैव 'अन्यैः' प्रेष्यादिभिः 'दण्डम्' उक्तलक्षणं 'समारंभयेत्' कारयेदित्यर्थः, दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् प्राणिनो 'न समनुजानीयात्' नानुमोदयेदिति विधायकं भगवद्वचनम्। यतश्चैवमतो 'यावज्जीव'मित्यादि यावद् व्युत्सृजामि, एवमिदं सम्यक् प्रतिपद्येतेत्यैदम्पर्यं, पदार्थस्तु–जीवनं जीवा यावज्जीवा यावज्जीवम्–आप्राणोपरमादित्यर्थः, किमित्याह—'त्रिविधं त्रिविधेने'ति तिस्रो विधा–विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधः, दण्ड इति गम्यते, तं त्रिविधेन–करणेन, एतदुपन्यस्यति—मनसा वाचा कायेन, एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव, अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः, तं वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैवोपन्यस्यन्नाह —'न करोमि स्वयं, न कारयाम्यन्यैः, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामी'ति, 'तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामी'ति

१ लिङोक्तत्वाद्, तथा च नाद्यपुरुषवचनेनाप्युक्तौ क्षतिः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [३३]

तस्येत्यधिकृतो दण्डः संबध्यते, संबन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी, योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य संबन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति, भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम्, भदन्त भवान्त भयान्त इति साधारणा श्रुतिः, एतच्च गुरुसाक्षिकयेव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थं, प्रतिक्रामामीति भूताद्दण्डान्निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति, तस्माच्च निवृत्तिर्यस्तदनुमतेर्विरमणमिति, तथा 'निन्दामि गर्हामी'ति, अत्रात्मसाक्षिकी निन्दा परसाक्षिकी गर्हा–जुगुप्सोच्यते, 'आत्मानम्' अतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं 'व्युत्सृजामी'ति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः उच्छब्दो भृशार्थः सृजामीति–त्यजामि, ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामीति । आह–यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति, नैतदेवं, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति ॥

पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणातिपात-विरमणस्य प्रत्याख्यानं एवं अस्य सूत्रस्य विस्तृत व्याख्या

प्रत सूत्रांक [३]

दीप अनुक्रम [३४]

णामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ १ ॥ (सूत्र० ३)

अयं चात्मप्रतिपत्त्यर्थो दण्डनिक्षेपः सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स तु विशेषतः पञ्चमहाव्रतरूपतयाऽप्यङ्गीकर्तव्य इति महाव्रतान्याह—'पढमे भंते' इत्यादि, सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमणं प्रथमं तस्मिन्, भदन्तेति गुरोरामन्त्रणं, 'महाव्रत' इति महच्च तद्व्रतं च महाव्रतं, महत्त्वं चास्य श्रावकसंबन्ध्यणुव्रतापेक्षयेति। अत्रान्तरे सप्तचत्वारिंशदधिकप्रत्याख्यानभङ्गकशताधिकारः, तत्रेयं गाथा-'सीयालं भंगसयं पच्चक्खाणंमि जस्स उवलद्धं। सो पच्चखाणकुसलो सेसा सव्वे अकुसला उ ॥ १ ॥' एनां चासंमोहार्थमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः। तस्मिन् महाव्रते 'प्राणातिपाताद्विरमण'मिति प्राणा–इन्द्रियादयः तेषामतिपातः प्राणातिपातः–जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव, तस्मात्–प्राणातिपाताद्विरमणं, विरमणं नाम सम्यगज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनं, भगवतोक्तमिति वाक्यशेषः, यतश्चैवमत उपादेयमेतदिति विनिश्चित्य 'सर्वं भदन्त! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामी'ति सर्वमिति–निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव, भदन्तेति गुर्वामन्त्रणं, प्राणातिपातमिति पूर्ववत्, प्रत्याख्यामीति प्रतिशब्दः प्रतिषेधे आङभिमुख्ये ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा–प्रत्याचक्षे–संवृतात्मा साम्प्रतमनाग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधानं करोमीत्यर्थः, अनेन व्रतार्थपरिज्ञानादिगुणयुक्त उपस्थानार्ह इत्येतदाह, उक्तं च—"[1]पढिए य कहिय अहिगय परिहरउवठावणाइ जोगोत्ति। छक्कं तीहिँ विसुद्धं परिहर णवएण भेदेण ॥ १ ॥ पडपासाउरमादी दिट्ठंता होंति वयसमारुहणे। जह मलिणाइसु दोसा सुद्धाइसु णेवमिहइंपि ॥ २॥" इत्यादि, एतेसिं लेसुद्देसेण सीसहियट्ठयाए अत्थो भण्णइ–पढियाए सत्थपरिण्णाए दसकालिए छज्जीवणिकाए वा, कहियाए अत्थओ, अभिगयाए संमं परिक्खिऊण–परिहरइ छज्जीवणियाए मणवयणकाएहिं कयकारावियाणुमइभेदेण, तओ ठाविज्जइ, ण अन्नहा। इमे य इत्थ पडादी दिट्ठंता–मइलो पडो ण रंगिज्जइ सोहिओ रंगिज्जइ, असोहिए मूलपाए पासाओ ण किज्जइ सोहिए किज्जइ, वमणाईहिं असोहिए आउरे ओसहं न दिज्जइ सोहिए दिज्जइ, असंठविए रयणे पडिबंधो न किज्जइ संठविए किज्जइ, एवं पढियकहिया-

१ पठिते च कथिते अधिगते परिहरति उपस्थापनाया योग्य इति। षट्कं त्रिभिर्विशुद्धं परिहर नवकेन भेदेन ॥ १ ॥ पटप्रासादातुरादयो दृष्टान्ता भवन्ति व्रतसमारोहणे। यथा मलिनादिषु दोषाः शुद्धेषु नैवमिहापि ॥ २ ॥ एतयोर्लेशोद्देशेन शिष्यहितार्थायार्थो भण्यते—पठितायां शस्त्रपरिज्ञायां दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायां वा, कथितायामर्थतः, अभिगतायां सम्यक् परीक्ष्य—परिहरति षड्जीवनिकायान् मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतिभेदेन तत उपस्थाप्यते, नान्यथा। इमे चात्र पटादयो दृष्टान्ताः—मलिनः पटो न रज्यते शोधितो रज्यते, अशोधिते मूलपादे प्रासादो न क्रियते शोधिते क्रियते, वमनादिभिरशोधिते आतुरे औषधं न दीयते शोधिते दीयते, असंस्थापिते रत्ने प्रतिबन्धो न क्रियते संस्थापिते क्रियते, एवं पठितकथितादिभिरशोधिते शिष्ये न व्रतारोपणं क्रियते शोधिते क्रियते, अशोधिते च (उपस्थापनायाः) करणे गुरोर्दोषाः, शोधितेऽपालने शिष्यस्य दोष इति कृतं प्रसङ्गेन. २ अलङ्कारेषु न्यासः.

दश० २५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३]

दीप अनुक्रम [३४]

ईहिं असोहिए सीसे ण वयारोवणं किज्जइ सोहिए किज्जइ, असोहिए य करणे गुरुणो दोसा, सोहियापालणे सिस्सस्स दोसो त्ति कयं पसंगेण । यदुक्तम्—'सर्वं भदन्त! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामी'ति तदेतद्विशेषेण अभिधित्सुराह—'से सुहुमं वे'त्यादि, सेशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धः अथशब्दार्थः, स चोपन्यासे, तद्यथा—'सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा' अत्र सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनासंभवात्, तदेतद्विशेषतोऽभिधित्सुराह—'बादरोऽपि' स्थूरः, स चैकैको द्विधा–त्रसः स्थावरश्च, सूक्ष्मत्रसः कुन्थ्वादिः स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरस्त्रसो गवादिः स्थावरः पृथिव्यादिः, एतान्, 'णेव सयं पाणे अइवाएज्ज'त्ति प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात्, 'तिङां तिङो भवन्ती'ति न्यायात् नैव स्वयं प्राणिनः अतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जीवमित्यादि पूर्ववत् । इह च 'सूक्ष्मं वा बादरं वे'त्यादिनोपलक्षित 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति चतुर्विधः प्राणातिपातो द्रष्टव्यः, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चेति, तत्र द्रव्यतः षट्सु जीवनिकायेषु सूक्ष्मादिभेदभिन्नेषु, क्षेत्रतो लोके तिर्यग्लोकादिभेदभिन्ने, कालतोऽतीतादौ रात्र्यादौ वा, भावतो रागेण वा द्वेषेण वा, मांसादिरागशत्रुद्वेषाभ्यां तदुपपत्तेरिति । चतुर्भङ्गिका चात्र–दव्वंओ णामेगे पाणाइवाए ण भावओ इत्यादिरूपा यथा द्रुमपुष्पिकायां तथा द्रष्टव्येति । व्रतप्रतिपत्तिं निगमयन्नाह–प्रथमे भदन्त! महाव्रते 'उपस्थितोऽस्मि'उप–सा-

१ द्रव्यतो नामैकः प्राणातिपातो न भावतः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३]

दीप अनुक्रम [३४]

मीप्येन तत्परिणामापत्त्या स्थितः, इत आरभ्य मम सर्वस्मात्प्राणातिपाताद्विरमणमिति । 'भदन्त' इत्यनेन चादिमध्यावसानेषु गुरुमनापृच्छ्य न किंचित्कर्तव्यं कृतं च तस्मै निवेदनीयमेवं तदाराधितं भवतीत्येवमाह ॥ उक्तं प्रथमं महाव्रतम् ॥

अहावरे दुच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । दुच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २ ॥ (सू० ४)

इदानीं द्वितीयमाह—'अहावरे' इत्यादि, 'अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त! महाव्रते मृषावादाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! मृषावादं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा—'क्रोधाद्वा लोभाद्वे'त्यनेनाथन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रहः, 'भयाद्वा हास्याद्वा' इत्यनेन तु प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानादिपरिग्रहः, 'णेव सयं मुसं वएज्ज'त्ति नैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृषावाद-विरमणस्य प्रत्याख्यानं एवं अस्य सूत्रस्य व्याख्या

प्रत सूत्रांक [४]

दीप अनुक्रम [३५]

स्वयं मृषा वदामि नैवान्यैर्मृषा वादयामि मृषा वदतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि इत्येतत् 'यावज्जीव'मित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । विशेषस्त्वयम्–मृषावादश्चतुर्विधः, तद्यथा–सद्भावप्रतिषेधः असद्भावोद्भावनं अर्थान्तरं गर्हा च, तत्र सद्भावप्रतिषेधो यथा–नास्त्यात्मा नास्ति पुण्यं पापं चेत्यादि, असद्भावोद्भावनं यथा–अस्त्यात्मा सर्वगतः श्यामाकतन्दुलमात्रो वेत्यादि, अर्थान्तरं गामश्वमभिदधत इत्यादि, गर्हा काणं काणमभिदधत इत्यादिः, पुनरयं क्रोधादिभावोपलक्षितश्चतुर्विधः, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, द्रव्यतः सर्वद्रव्येष्वन्यथाप्ररूपणात् क्षेत्रतो लोकालोकयोः कालतो रात्र्यादौ भावतः क्रोधादिभिः इति । द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरियम्–दव्वंओ णामेगे मुसावाए णो भावओ भावओ णामेगे णो दव्वओ एगे दव्वओऽवि भावओऽवि एगे णो दव्वओ णो भावओ । तत्थ कोइ कहिंचि हिंसुज्जओ भणइ–इओ तए पसुमिणा(गा)इणो दिट्ठत्ति ?, सो दयाए दिट्ठावि भणइ–ण दिट्ठत्ति, एस दव्वओ मुसावाओ नो भावओ, अवरो मुसं भणीहामित्तिपरिणओ सहसा सच्चं भणइ एस भावओ नो दव्वओ, अवरो मुसं भणीहामित्तिपरिणओ मुसं चेव भणइ, एस दव्वओऽवि भावओऽवि, चरमभंगो पुण सुण्णो २ ॥

१ द्रव्यतो नामैको मृषावाद नो भावतः भावतो नामैको नो द्रव्यतः एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि एको नो द्रव्यतो नो भावतः, तत्र कोऽपि कुत्रचित् हिंसोद्यतो भणति—इतस्त्वया पशुमृगादयो दृष्टा इति ?, स दयया दृष्टा अपि भणति न दृष्टा इति, एष द्रव्यतो मृषावादो न भावतः, अपरो मृषा भणिष्यामीति परिणतः सहसा सत्यं भणति एष भावतो नो द्रव्यतः, अपरो मृषा भणिष्यामीति परिणतो मृषैव भणति एष द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, चरमभङ्गः पुनः शून्यः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५]

दीप अनुक्रम [३६]

अहावरे तच्चे भंते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ३ ॥ (सू० ५)

उक्तं द्वितीयं महाव्रतम्, अधुना तृतीयमाह—'अहावरे' इत्यादि, अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा—'ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा' इति, अनेन क्षेत्रपरिग्रहः, तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः तस्मिन्, नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम्, अरण्यं–काननादि। तथा 'अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा इति, अनेन तु द्रव्यपरिग्रहः, तत्राल्पं–मूल्यत एरण्डकाष्ठादि बहु–वज्रादि अणु–प्रमाणतो वज्रादि स्थूलम्–एरण्डकाष्ठादि,

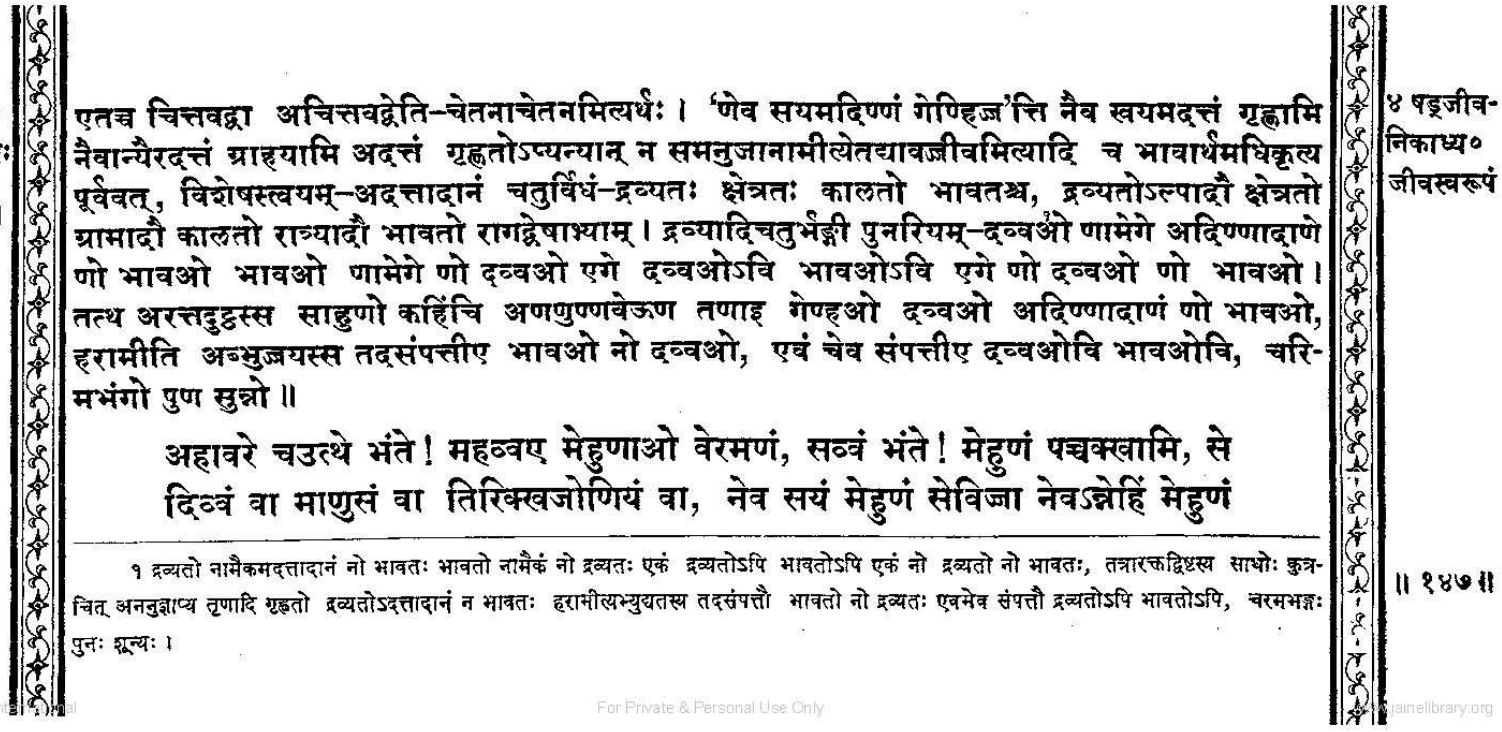
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अदत्तादान-विरमणस्य प्रत्याख्यानं एवं अस्य सूत्रस्य व्याख्या

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५]

दीप अनुक्रम [३६]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १४७॥

एतच्च चित्तवद्वा अचित्तवद्वेति–चेतनाचेतनमित्यर्थः । 'णेव सयमदिण्णं गेण्हिज्ज'त्ति नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्, विशेषस्त्वयम्–अदत्तादानं चतुर्विधं–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, द्रव्यतोऽल्पादौ क्षेत्रतो ग्रामादौ कालतो रात्र्यादौ भावतो रागद्वेषाभ्याम् । द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरियम्–दव्वओ णामेगे अदिण्णादाणे णो भावओ भावओ णामेगे णो दव्वओ एगे दव्वओऽवि भावओऽवि एगे णो दव्वओ णो भावओ । तत्थ अरत्तदुट्ठस्स साहुणो कहिंचि अणणुण्णवेऊण तणाइ गेण्हओ दव्वओ अदिण्णादाणं णो भावओ, हरामीति अब्भुज्जयस्स तदसंपत्तीए भावओ नो दव्वओ, एवं चेव संपत्तीए दव्वओवि भावओवि, चरिमभंगो पुण सुन्नो ॥

अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवऽन्नेहिं मेहुणं

१ द्रव्यतो नामैकमदत्तादानं नो भावतः भावतो नामैकं नो द्रव्यतः एकं द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि एकं नो द्रव्यतो नो भावतः, तत्रारक्तद्विष्टस्य साधोः कुत्रचित् अननुज्ञाप्य तृणादि गृह्णतो द्रव्यतोऽदत्तादानं न भावतः हरामीत्यभ्युद्यतस्य तदसंपत्तौ भावतो नो द्रव्यतः एवमेव संपत्तौ द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, चरमभङ्गः पुनः शून्यः ।

४ षड्जीव-निकाध्य० जीवस्वरूपं

॥ १४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैथुन-विरमणस्य प्रत्याख्यानं एवं अस्य सूत्रस्य व्याख्या

प्रत सूत्रांक [६]

दीप अनुक्रम [३७]

सेवाविज्जा मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४ ॥ (सू० ६)

उक्तं तृतीयं महाव्रतम्, इदानीं चतुर्थमाह—'अहावरे' इत्यादि, अथापरस्मिंश्चतुर्थे भदन्त! महाव्रते मैथुनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! मैथुनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा–दैवं वा मानुषं वा तैर्यग्योनं वा, अनेन द्रव्यपरिग्रहः, देवीनामिदं दैवम्, अप्सरोऽमरसंबन्धीतिभावः, एतच्च रूपेषु वा रूपसहगतेषु वा द्रव्येषु भवति, तत्र रूपाणि–निर्जीवानि प्रतिमारूपाण्युच्यन्ते, रूपसहगतानि तु सजीवानि, भूषणविकलानि वा रूपाणि भूषणसहितानि तु रूपसहगतानि, एवं मानुषं तैर्यग्योनं च वेदितव्यमिति, 'णेव सयं मेहुणं सेविज्जा' नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानामि इत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्। विशेषस्त्वयम्–मैथुनं चतुर्विधं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, द्रव्यतो दिव्यादौ क्षेत्रतस्त्रिषु लोकेषु कालतो रात्र्यादौ भावतो रागद्वेषाभ्याम्। दोसेणंमिमीए वयं भंजेमित्ति दोसु-

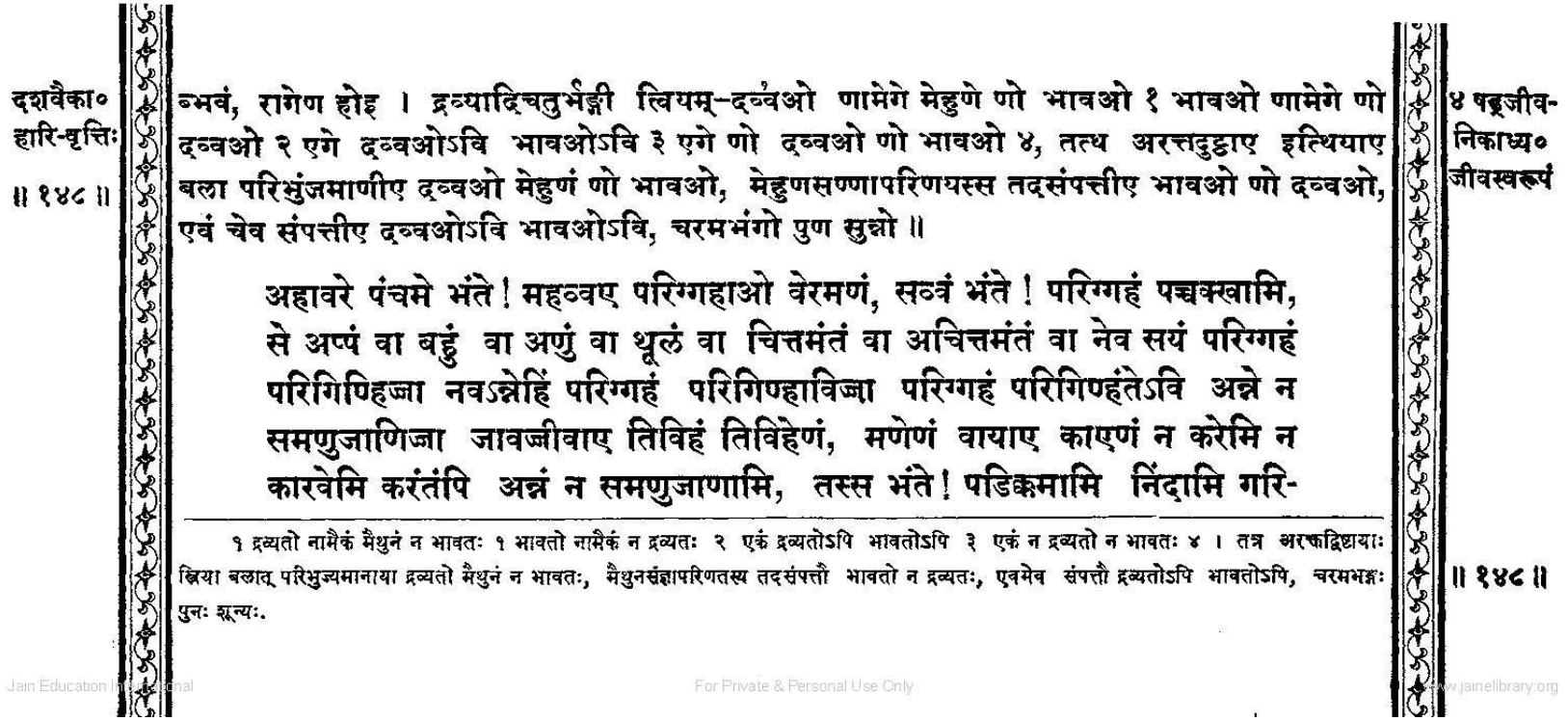
१ द्वेषेणास्या व्रतं भञ्जामि इति द्वेषोद्भवं, रागेण भवति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [६]

दीप अनुक्रम [३७]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १४८ ॥

ञ्भवं, रागेण होइ । द्रव्यादिचतुर्भङ्गी त्वियम्–दव्वओ णामेगे मेहुणे णो भावओ १ भावओ णामेगे णो दव्वओ २ एगे दव्वओऽवि भावओऽवि ३ एगे णो दव्वओ णो भावओ ४, तत्थ अरत्तदुट्ठाए इत्थियाए बला परिभुंजमाणीए दव्वओ मेहुणं णो भावओ, मेहुणसण्णापरिणयस्स तदसंपत्तीए भावओ णो दव्वओ, एवं चेव संपत्तीए दव्वओऽवि भावओऽवि, चरमभंगो पुण सुन्नो ॥

अहावरे पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा नवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरि-

१ द्रव्यतो नामैकं मैथुनं न भावतः १ भावतो नामैकं न द्रव्यतः २ एकं द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३ एकं न द्रव्यतो न भावतः ४ । तत्र अरक्तद्विष्टायाः स्त्रिया बलात् परिभुज्यमानाया द्रव्यतो मैथुनं न भावतः, मैथुनसंज्ञापरिणतस्य तदसंपत्तौ भावतो न द्रव्यतः, एवमेव संपत्तौ द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, चरमभङ्गः पुनः शून्यः.

४ षड्जीव-निकाध्य० जीवस्वरूपं

॥ १४८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

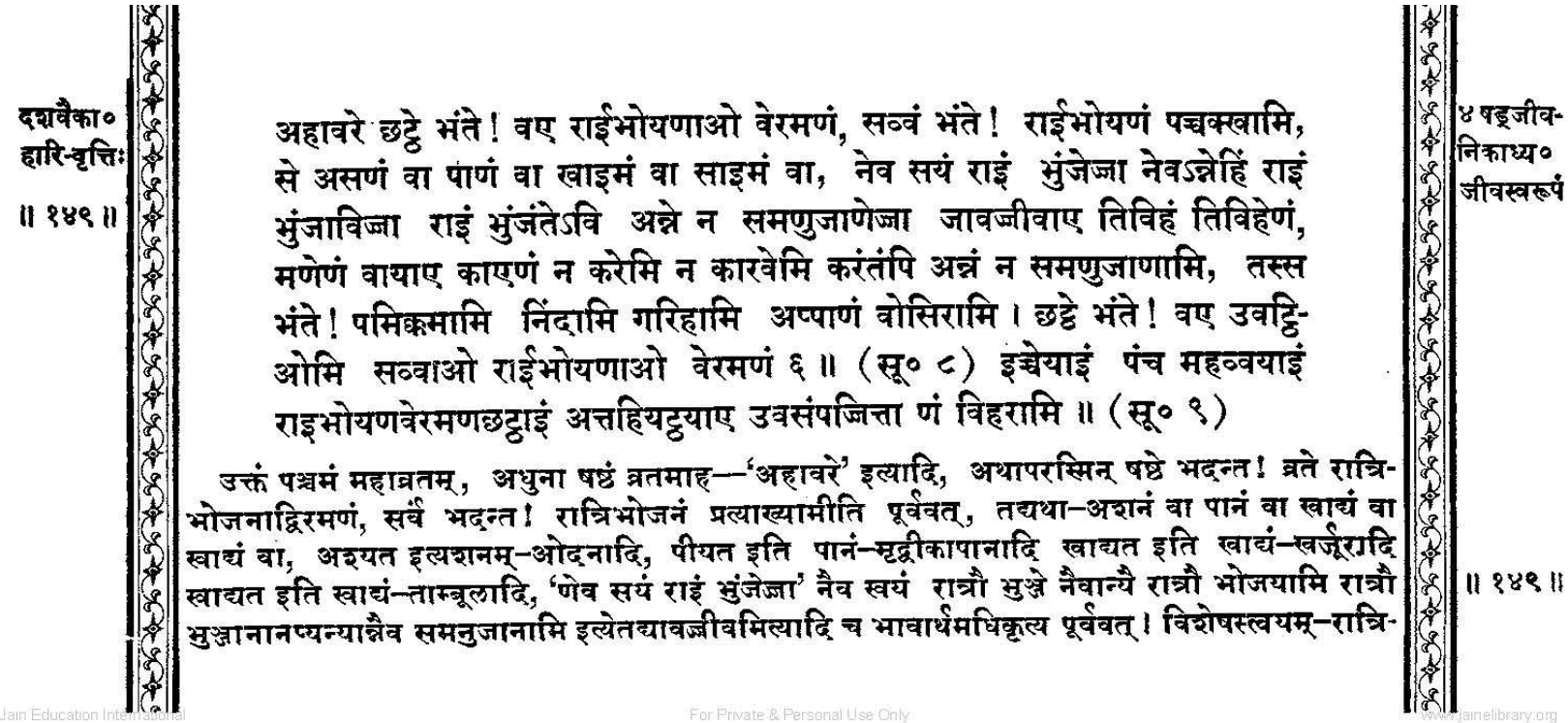
परिग्रह-विरमणस्य प्रत्याख्यानं एवं अस्य सूत्रस्य व्याख्या

हामि अप्पाणं वोसिरामि । पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ५ ॥ (सू० ७)

उक्तं चतुर्थं महाव्रतं, साम्प्रतं पञ्चममाह—'अहावरे' इत्यादि, अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! परिग्रहं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्। तद्यथा–अल्पं वेत्यादिवयवव्याख्यापि पूर्ववदेव, नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्, विशेषस्त्वयम्–परिग्रहश्चतुर्विधः, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, द्रव्यतः सर्वद्रव्येषु क्षेत्रतो लोके कालतो रात्र्यादौ भावतो रागद्वेषाभ्याम्, अन्यद्वेषे परिग्रहोपपत्तेः। द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरियम्–दव्वओ नामेगे परिग्गहे णो भावओ १ भावओ णामेगे णो दव्वओ २ एगे दव्वओऽवि भावओऽवि ३ एगे णो दव्वओ णो भावओ ८। तत्थ अरत्तदुट्ठस्स धम्मोवगरणं दव्वओ परिग्गहो णो भावओ, मुच्छियस्स तदसंपत्तीए भावओ ण दव्वओ, एवं चेव संपत्तीए दव्वओऽवि भावओऽवि, चरमभंगो उण सुन्नो ॥

१ द्रव्यतो नामैकः परिग्रहो नो भावतः १ भावतो नामैको नो द्रव्यतः २ एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३ एको नो द्रव्यतो नो भावतः ४ । तत्रारक्तद्विष्टस्य धर्मोपकरणं द्रव्यतः परिग्रहो नो भावतः, मूर्च्छितस्य तदसंपत्तौ भावतो नो द्रव्यतः, एवमेव संपत्तौ द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, चरमभङ्गः पुनः शून्यः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १४९ ॥

अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भंते! राईभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजंतेऽवि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पमिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ६ ॥ (सू० ८) इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ॥ (सू० ९)

उक्तं पञ्चमं महाव्रतम्, अधुना षष्ठं व्रतमाह—'अहावरे' इत्यादि, अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्, तद्यथा–अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा, अश्यत इत्यशनम्–ओदनादि, पीयत इति पानं–मृद्वीकापानादि खाद्यत इति खाद्यं–खर्जूरादि स्वाद्यत इति स्वाद्यं–ताम्बूलादि, 'णेव सयं राइं भुंजेज्जा' नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे नैवान्यै रात्रौ भोजयामि रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्नैव समनुजानामि इत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत्। विशेषस्त्वयम्–रात्रि-

४ षड्जीव-निकाध्य० जीवस्वरूपं

॥ १४९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	रात्रिभोजन-विरमणस्य प्रत्याख्यानं एवं अस्य सूत्रस्य व्याख्या

प्रत सूत्रांक [८-९]

दीप अनुक्रम [३९-४०]

भोजनं चतुर्विधं, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, द्रव्यतस्त्वशनादौ क्षेत्रतोऽर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु कालतो रात्र्यादौ भावतो रागद्वेषाभ्यामिति। स्वरूपतोऽप्यस्य चातुर्विध्यं, तद्यथा–रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुङ्क्ते १ रात्रौ गृह्णाति दिवा भुङ्क्ते २ दिवा गृह्णाति रात्रौ भुङ्क्ते ३ दिवा गृह्णाति दिवा भुङ्क्ते ४ संनिधिपरिभोगे, द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरियम्–दव्वओ णामेगे राइं भुंजइ णो भावओ १ भावओ णामेगे णो दव्वओ २ एगे दव्वओऽवि भावओऽवि ३ एगे णो दव्वओ णो भावओ ४, तत्थ अणुग्गए सूरिए उग्गओत्ति अत्थमिए वा अणत्थमिओत्ति अरत्तदुट्ठस्स कारणओत्ति रयणीए वा भुंजमाणस्स दव्वओ राईभोअणं णो भावओ, रयणीए भुंजामि मुच्छियस्स तदसंपत्तीए भावओ णो दव्वओ, एवं चेव संपत्तीए दव्वओऽवि भावओऽवि, चउत्थभंगो उण सुन्नो। एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोः ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं, मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति ॥

समस्तव्रताभ्युपगमख्यापनायाह—'इच्चेयाइं' इत्यादि, 'इत्येतानि' अनन्तरोदितानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि, किमित्याह—'आत्महिताय' आत्महितो–मोक्षस्तदर्थम्, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रता-

१ द्रव्यतो नामैको रात्रौ भुङ्क्ते नो भावतः १ भावतो नामैको नो द्रव्यतः २ एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३ एको नो द्रव्यतो नो भावतः ४। तत्रानुद्गते सूर्ये उद्गत इति अस्तमिते वाऽनस्तमित इति अरक्तद्विष्टस्य कारणतो वा रात्रौ भुञ्जानस्य द्रव्यतो रात्रिभोजनं नो भावतः, रात्रौ भुञ्जे इति मूर्च्छितस्य तदसंपत्तौ भावतो नो द्रव्यतः, एवमेव संपत्तौ द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, चतुर्थो भङ्गः पुनः शून्यः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावमाह, तद्[1]भिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात्, 'उपसंपद्य' सामीप्येनाङ्गीकृत्य व्रतानि 'विहरामि' सुसाधुविहारेण, तदभावे चाङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात्, दोषाश्च हिंसादिकर्तृणामल्पायुर्जिह्वाच्छेद-दारिद्र्यषण्डकदुःखितत्वादयो वाच्या इति। साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तगाथा व्याख्यायते—'सप्तचत्वारिंशदधिक-भङ्गशतं' वक्ष्यमाणलक्षणं 'प्रत्याख्याने' प्रत्याख्यानविषयं, यस्योपलब्धं भवति 'स' इत्थंभूतः प्रत्याख्याने कुशलो–निपुणः, शेषाः सर्वे 'अकुशलाः' तदनभिज्ञा इति गाथासमासार्थः। अवयवार्थस्तु भङ्गकयोजना-प्रधानः, स चैवं द्रष्टव्यः—'तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्केक्का य होंति जोएसु। तिदुएकं तिदुएकं तिदुएकं चेव करणाइं ॥१॥' त्रयस्त्रिकाः (३३३) त्रयो द्विकाः (२२२) त्रयश्चैकका (१११) भवन्ति योगेषु। कायवाङ्म-नोव्यापारलक्षणेषु, त्रीणि द्वयमेकं त्रीणि द्वयमेकं त्रीणि द्वयमेकं चैव करणानि–मनोवाक्कायलक्षणानि [2]इति पदघटना। भावार्थस्तु स्थापनया निर्दिश्यते, (दर्श्य) सा चेयम्– ३३३२२२१११ ३२१३२१३२१ १३३२९५३९५। काऽत्र भावना?, न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि मणेणं वायाए काएणं एक्को भेओ। इयाणिं बिइओ–ण करेइ ण कारवेइ करंतंपि अन्नं न समणुजाणइ मणेणं वायाए इक्को भंगो तहा मणेणं काएणं बिइओ भंगो तहा वा-याए काएण य तइओ भंगो, बिइओ मूलभेओ गओ। इयाणिं तइओ–ण करेइ ण कारवेइ करंतंपि अन्नं न

१ नरेन्द्रत्वाद्यभिलाषहेतुना. २ दोषप्राप्त्यवगमात्. ३ प्रथमव्रते त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्य व्याख्याने.

॥ १५० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समणुजाणइ मणेणं एक्को वायाए बिइयो काएणं तइओ, गओ तइओ मूलभेओ। इयाणिं चउत्थो–ण करेइ ण कारवेइ मणेणं वायाए काएणं इक्को न करेइ करंतं णाणुजाणइ बिइओ ण कारवेइ करंतं णाणुजाणइ तइओ, गओ चउत्थो मूलभेओ। इयाणिं पंचमो–ण करेइ ण कारवेइ मणेणं वायाए एक्को ण करेइ करंतं णाणुजाणइ बिइओ ण कारवेइ करंतं णाणुजाणइ तइओ, एए तिन्नि भंगा मणेणं वायाए लद्धा, अन्नेऽवि तिन्नि मणेणं काएण य लब्भंति, तहावरेऽवि वायाए काएण य लब्भंति तिन्नि, एवमेव सव्वे एए नव, पंचमोऽप्युक्तो मूलभेदः। इदानीं षष्ठः–ण करेइ ण कारवेइ मणेणं इक्को, तहा ण करेइ करंतं णाणुजाणइ मणेणं बिइओ, ण कारवेइ करंतं णाणुजाणइ मनसैव तृतीयः, एवं वायाए काएणवि तिन्नि तिन्नि भंगा लब्भंति, एएऽवि सव्वे णव, उक्तः षष्ठो मूलभेदः। सप्तमोऽभिधीयते–ण करेइ मणेणं वायाए काएणं एक्को, एवं ण कारवेइ मणादीहिं बिइओ, करंतं णाणुजाणइ तइओ, सप्तमोऽप्युक्तो मूलभेदः। इदानीमष्टमः–ण करेइ मणेणं वायाए एक्को, मणेणं काएण य बिइओ, तहा वायाए काएण य तइओ, एवं ण कारवेइ एत्थंपि तिन्नि भंगा, एवमेव करंतं णाणुजाणइ एत्थंपि तिन्नि भंगा, एए सव्वे णव, उक्तोऽष्टमः। इदानीं नवमः–ण करेइ मणेणं एक्को, ण कारवेइ बिइओ, करंतं णाणुजाणइ तइओ, एवं वायाए बिइयं कायेणवि होइ तइयं, एवमेते सव्वेऽवि मिलिया णव, नवमोऽप्युक्तः। आगतगुणनमिदानीं क्रियते—[1]लद्धफलमाणमेयं भंगा उ हवंति अउणपन्नासं।

1 लब्धं फलमानमेतत् भङ्गास्तु भवन्ति एकोनपञ्चाशत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [८-९]

दीप अनुक्रम [३९-४०]

तीयाणागयसंपतिगुणियं कालेण होइ इमं॥ १॥ सीयालं भंगसयं, कह? कालतिएण होति गुणणा उ। तीतस्स पडिक्कमणं पच्चुप्पन्नस्स संवरणं ॥ २॥ पच्चक्खाणं च तहा होइ य एसस्स एस गुणणा उ। कालतिएणं भणियं जिणगणधरवायएहिं च ॥ ३ ॥' इति गाथार्थः ॥ उक्तश्चारित्रधर्मः, साम्प्रतं यतनाया अवसरः, तथा चाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा सिलागहत्थेण वा न आलिहिज्जा न विलिहिज्जा न घट्टिज्जा न भिंदिज्जा अन्नं न आलिहाविज्जा न विलिहाविज्जा न घट्टाविज्जा न भिंदाविज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कार-

१ अतीतानागतसंप्रतिकालेन गुणितं भवतीदम् ॥ १ ॥ सप्तचत्वारिंशं भङ्गशतं, कथं? कालत्रयेण भवति गुणनात्तु। अतीतस्य प्रतिक्रमणं प्रत्युत्पन्नस्य संवरणम् ॥ २ ॥ प्रत्याख्यानं च तथा भवति च एष्यत एषा (एतस्मात्) गुणना तु। कालत्रिकेण भणिता जिनगणधरवाचकैः ॥ ३ ॥

॥ १५१ ॥

Jain Education Inte... For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ "यतना" धर्म प्रकाश्यते

वेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि १ ॥ (सू० १०)

'से' इति निर्देशे स योऽसौ महाव्रतयुक्तो, भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा–आरम्भपरित्यागाद्धर्मकायपालनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः, एवं भिक्षुक्यपि, पुरुषोत्तमो धर्म इति भिक्षुर्विशेष्यते, तद्विशेषणानि च भिक्षुक्या अपि द्रष्टव्यानीति, आह—'संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा' तत्र सामस्त्येन यतः संयतः–सप्तदशप्रकारसंयमोपेतः, विविधम्–अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः, प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मेति–प्रतिहतं–स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन प्रत्याख्यातं–हेत्वभावतः पुनर्बृंहणाभावेन पापं कर्म–ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविधः, 'दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा' रात्रौ सुप्तो दिवा जाग्रत्, कारणिक एकः, शेषकालं परिषद्गतः, इदं च वक्ष्यमाणं न कुर्यात्। 'से पुढविं वा' इत्यादि, तद्यथा–पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लोष्टं वा, तत्र पृथिवी–लोष्टादिरहिता भित्तिः–नदीतटी शिला–विशालः पाषाणः लोष्टः–प्रसिद्धः, तथा सह रजसा–आरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्कस्तं सरजस्कं वा 'कायम्' कायमिति देहं तथा सरजस्कं वा वस्त्रं–चोलपट्टकादि 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति पात्रादिपरिग्रहः, एतत् किमित्याह–हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा कलिञ्चेन वा–क्षुद्रकाष्ठरूपेण अङ्गुल्या वा शलाकया वा–अयःशलाकादिरू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवैका० हारि-वृत्तिः

॥ १५२॥

पया शलाकाहस्तेन वा–शलाकासंघातरूपेण 'णालिहिज्ज'त्ति नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात्, तत्र ईषत्सकृद्वाऽऽलेखनं, नितरामनेकशो वा विलेखनं, घट्टनं चालनं, भेदो विदारणम्, एतत् स्वयं न कुर्यात्, तथा अन्यमन्येन वा नालेखयेत् न विलेखयेत् न घट्टयेत् न भेदयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव आलिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा न अक्खोडिज्जा न पक्खोडिज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं न आमुसाविज्जा न संफुसाविज्जा न आवीलाविज्जा न पवीलाविज्जा न अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पविलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न सम-

४ षड्जीव-निकाध्य० जीवस्वरूपं

॥ १५२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११]

दीप अनुक्रम [४२]

णुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ (सू० ११)

तथा 'से भिक्खू वा इत्यादि यावज्जागरमाणे व'त्ति पूर्ववदेव । 'से उदगं वे'त्यादि, तद्यथा–उदकं वा अवश्यायं वा हिमं वा महिकां वा करकं वा हरतनुं वा शुद्धोदकं वा, तत्रोदकं–शिरापानीयम् अवश्यायः–त्रेहः हिमं–स्त्यानोदकम् महिका–धूमिका करकः–कठिनोदकरूपः हरतनुः–भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति, शुद्धोदकम्–अन्तरिक्षोदकं, तथा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रं, उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषारायनन्तरोदितोदकभेदसंमिश्रता, तथा सस्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वा वस्त्रम्, अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः, सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्धः, सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसंमिश्रता, एतत् किमित्याह–'णामुसेज्ज'त्ति नामृषेन्न संस्पृशेत् नापीडयेन्न प्रपीडयेत् नास्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नातापयेत् न प्रतापयेत्, तत्र सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्षणम् अतोऽन्यत्संस्पर्शनम्, एवं सकृदीषद्वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत्प्रपीडनम्, एवं सकृदीषद्वा स्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्, एवं सकृदीषद्वा तापनमातापनं विपरीतं प्रतापनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्तथाऽन्यमन्येन वा नामर्षयेन्न संस्पर्शयेत् नापीडयेत् न प्रपीडयेत् नास्फो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११]

दीप अनुक्रम [४२]

टयेत् न प्रस्फोटयेत् नातापयेत् न प्रतापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव आमृषन्तं वा संस्पृशन्तं वा आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा आस्फोटयन्तं वा प्रस्फोटयन्तं वा आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न उज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न उज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ (सू० १२)

'से भिक्खू वा इत्यादि जाव जागरमाणे व'त्ति पूर्ववदेव, 'से अगणिं वे'त्यादि, तद्यथा–अग्निं वा अङ्गारं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा मुर्मुरं वाऽर्चिर्वा ज्वालां वा अलातं वा शुद्धाग्निं वा उल्कां वा, इह अयस्पिण्डानुगतोऽग्निः, ज्वालारहितोऽङ्गारः, विरलाग्निकणं भस्म मुर्मुरः, मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला अर्चिः, प्रतिबद्धा ज्वाला, अलातमुल्मुकं, निरिन्धनः–शुद्धोऽग्निः उल्का–गगनाग्निः, एतत् किमित्याह—'न उंजेज्जा' नोत्सिंचेत् 'न घट्टेज्जा' न घट्टयेत् न उज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत्, तत्रोञ्छनमुत्सेचनं, घट्टनं–सजातीयादिना चालनम्, उज्ज्वालनं–व्यजनादिभिर्वृद्ध्यापादनं, निर्वापणं–विध्यापनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नोत्सेचयेन्न घट्टयेन्नोज्ज्वालयेन्न निर्वापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव उत्सिञ्चयन्तं वा घट्टयन्तं वा उज्ज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से सिएण वा विहुणेण वा तालिअंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण[1] वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वावि पुग्गलं न फुमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमावेज्जा न वीआवेज्जा अन्नं फुमंतं वा वी-

१ न टीकाकृता व्याख्यातं परं दीपिकायां व्याख्यानात् स्थितिः, अन्यथाऽग्निकाये 'भिंदेज्जा चज्जाउज्जे' त्यादिवक्तव्योऽभविष्यदत्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ (सू० १३)

'से भिक्खू वा इत्यादि जाव जागरमाणे व'त्ति पूर्ववदेव, 'से सिएण वे'त्यादि, तद्यथा–सितेन वा विधवनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा पेहुणेन वा पेहुणहस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा, इह सितं–चामरं विधवनं–व्यजनं तालवृन्तं–तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रं द्विपुटं पत्रं–पद्मिनीपत्रादि शाखा–वृक्षडालं शाखाभङ्गं–तदेकदेशः पेहुणं–मयूरादिपिच्छं पेहुणहस्तः–तत्समूहः चेलं–वस्त्रं चेलकर्णः–तदेकदेशः हस्तमुखे–प्रतीते, एभिः किमित्याह–आत्मनो वा कायं–स्वदेहमित्यर्थः, बाह्यं वा पुद्गलम्–उष्णौदनादि, एतत् किमित्याह–'न फुमेज्जा' इत्यादि, न फूत्कुर्यात् न व्यजेत्, तत्र फूत्करणं मुखेन धमनं व्यजनं चमरादिना वायुकरणम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा न फूत्कारयेन्न व्याजयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव फूत्कुर्वन्तं व्यजन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववदेव ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से बीएसु वा बीयपइट्ठेसु वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४]

दीप अनुक्रम [४५]

रूढेसु वा रूढपइट्ठेसु वा जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठेसु वा सचित्तेसु वा सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसीइज्जा न तुअट्टेज्जा अन्नं न गच्छावेज्जा न चिट्ठावेज्जा न निसीयावेज्जा न तुअट्टाविज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयंतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ (सू० १४)

'से भिक्खू वा इत्यादि जाव जागरमाणे व'त्ति पूर्ववदेव, 'से बीएसु वे'त्यादि, तद्यथा–बीजेषु वा बीजप्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा, इह बीजं–शाल्यादि तत्प्रतिष्ठितम्–आहारशयनादि गृह्यते, एवं सर्वत्र वेदितव्यं, रूढानि–स्फुटितबीजानि जातानि–स्तम्बीभूतानि हरितानि–दूर्वादीनि छिन्नानि–परश्वादिभिर्वृक्षात् पृथक् स्थापितान्यार्द्राणि अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते सचित्तानि–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४]

दीप अनुक्रम [४५]

अण्डकादीनि कोलो-घुणस्तत्प्रतिनिश्रितानि-तदुपरिवर्तीनि द्वार्वादीनि गृह्यन्ते, एतेषु किमित्याह—'न गच्छेज्जा' न गच्छेत् न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्तेत, तत्र गमनम्-अन्यतोऽन्यत्र स्थानम्-एकत्रैव निषीदनम्-उपवेशनं त्वग्वर्तनं-स्वपनम्, एतत्त्रयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमेतेषु न गमयेत् न स्थापयेत् न निषीदयेत् न स्वापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा स्वपन्तं वा न समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिपीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा कंबलंसि वा पायपुंछणंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिअ पडिलेहिअ पमज्जिअ पमज्जिअ एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ॥ (सू० १५)

१ नैतानि व्याख्यातानि टीकायां दीपिकायां तु व्याख्यातानि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'से भिक्खू वा इत्यादि यावज्जागरमाणे वंत्ति पूर्ववत्, 'से कीडं वा' इत्यादि, तद्यथा–कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा, किमित्याह–हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरुणि वा उदरे वा वस्त्रे वा रजोहरणे वा गुच्छे वा उन्दुके वा दण्डके वा पीठे वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते कीटादिरूपं त्रसं कथञ्चिदापतितं सन्तं संयत एव सन् प्रयत्नेन वा प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य–पौनःपुन्येन सम्यक् प्रमृज्य प्रमृज्य–पौनःपुन्येनैव सम्यक्, किमित्याह—'एकान्ते' तस्यानुपघातके स्थाने 'अपनयेत्' परित्यजेत्, 'नैनं त्रसं संघातमापादयेत्' नैनं त्रसं संघातं–परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपमापादयेत्–प्रापयेत्, अनेन परितापनादिप्रतिषेध उक्तो वेदितव्यः, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणाद्' अन्यकारणानुमतिप्रतिषेधश्च, शेषमत्र प्रकटार्थमेव, नवरमुन्दकं–स्थण्डिलं, शय्या–संस्तारिका वसतिर्वा । इत्युक्ता यतना, गतश्चतुर्थोऽर्थाधिकारः ॥

अजयं चरमाणो अ (उ), पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअंफलं ॥ १ ॥ अजयं चिट्ठमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअंफलं ॥ २ ॥ अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइ हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअंफलं ॥ ३ ॥ अजयं सयमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अयतना"याः फ़लस्य वर्णनं तथा यतनया प्रवर्तने उपदेशः

कम्मं, तं से होइ कडुअंफलं ॥ ४ ॥ अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअंफलं ॥ ५ ॥ अजयं भासमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअंफलं ॥ ६ ॥ कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए । कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ? ॥ ७ ॥ जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए । जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥ सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्मं भूयाइं पासओ । पिहिआसवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ९ ॥

साम्प्रतमुपदेशाख्यः पञ्चम उच्यते—'अजय'मित्यादि, 'अयतं चरन्' अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति, क्रियाविशेषणमेतत्, चरन्–गच्छन्, तुरेवकारार्थः, अयतमेव चरन्, ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य, न त्वन्यथा, किमित्याह—'प्राणिभूतानि हिनस्ति' प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयः भूतानि–एकेन्द्रियास्तानि हिनस्ति–प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः, तानि च हिंसन् 'बध्नाति पापं कर्म' अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि, 'तत् से भवति कटुकफलं' तत्–पापं कर्म से–तस्यायतचारिणो भवति, कटुकफलमित्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः अशुभफलं भवति, मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवमयतं तिष्ठन् ऊर्ध्वस्थाने-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नासमाहितो हस्तपादादि विक्षिपन्, शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥ एवमयतमासीनो–निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन, शेषं पूर्ववत् ॥ ३ ॥ एवमयतं स्वपन्–असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना(वा), शेषं पूर्ववत् ॥४॥ एवमयतं भुञ्जानो–निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना(वा), शेषं पूर्ववत् ॥५॥ एवमयतं भाषमाणो–गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना(वा), शेषं पूर्ववत् ॥६॥ अत्राह–यद्येवं पापकर्मबन्धस्ततः 'कहं चरे' इत्यादि, 'कथं' केन प्रकारेण चरेत्, कथं तिष्ठेत्, कथमासीत, कथं स्वपेत्, कथं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नातीति? ॥ ७ ॥ आचार्य आह—'जयं चरे' इत्यादि, यतं चरेत्–सूत्रोपदेशेनेर्यासमितः, यतं तिष्ठेत्–समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण, यतमासीत–उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन, यतं स्वपेत्–समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण, यतं भुञ्जानः–सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना, एवं यतं भाषमाणः–साधुभाषया मृदुकालप्राप्तं च 'पापं कर्म' क्लिष्टमकुशलानुबन्धि ज्ञानावरणीयादि 'न बध्नाति' नादत्ते, निराश्रवत्वात् विहितानुष्ठानपरत्वादिति ॥ ८ ॥ किंच–'सव्वभूय' इत्यादि, सर्वभूतेष्वात्मभूतः सर्वभूतात्मभूतो, य आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थः, तस्यैवं सम्यग्–वीतरागोक्तेन विधिना भूतानि–पृथिव्यादीनि पश्यतः सतः 'पिहिताश्रवस्य' स्थगितप्राणातिपाताद्याश्रवस्य 'दान्तस्य' इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन 'पापं कर्म न बध्यते' तस्य पापकर्म-

१ प्रतिक्रमणं कृत्वा स्वाध्यायः ततः शयनं वि. प.

दश० २७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१३॥

दीप अनुक्रम [५६-५९]

बन्धो न भवतीत्यर्थः ॥९॥ एवं सति सर्वभूतदयावतः पापकर्मबन्धो न भवतीति, ततश्च सर्वात्मना दयायामेव यतितव्यम्, अलं ज्ञानाभ्यासेनापि (नेति) मा भूदव्युत्पन्नविनेयमतिविभ्रम इति तदपोहायाह—

पढमं नाणं तउ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए । अन्नाणी किं काही, किंवा नाही छेअपावगं? ॥ १० ॥ सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं । उभयंपि जाणए सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥ ११ ॥ जो जीवेवि न याणेइ, अजीवेवि न याणेइ । जीवाजीवे अयाणंतो, कह सो नाहीइ संजमं? ॥ १२ ॥ जो जीवेवि वियाणेइ, अजीवेवि वियाणेइ । जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

'पढमं णाण'मित्यादि, प्रथमम्–आदौ ज्ञानं–जीवस्वरूपसंरक्षणोपायफलविषयं 'ततः' तथाविधज्ञानसमनन्तरं 'दया' संयमस्तदेकान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्तेः, 'एवम्' अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण 'तिष्ठति' आस्ते 'सर्वसंयतः' सर्वः प्रव्रजितः, यः पुनः 'अज्ञानी' साध्योपायफलपरिज्ञानविकलः स किं करिष्यति?, सर्वत्रान्धतुल्यत्वात्प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्ताभावात्, किं वा कुर्वन् ज्ञास्यति 'छेकं' निपुणं हितं कालोचितं 'पापकं वा' अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्रनिमित्ताभावात्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानस्य महत्ता प्रतिपाद्यते

प्रत सूत्रांक ॥१०--१३॥

दीप अनुक्रम [५६-५९]

अन्धप्रदीपपलायनघुणाक्षरकरणवत्, अत एवान्यत्राप्युक्तम्—"गीअत्थो अ विहारो बीओ गीअत्थमीसिओ भणिओ" इत्यादि, अतो ज्ञानाभ्यासः कार्यः ॥ १० ॥ तथा चाह—'सोच्चा' इत्यादि, 'श्रुत्वा' आकर्ण्य ससाधनस्वरूपविपाकं 'जानाति' बुद्ध्यते 'कल्याणं' कल्यो–मोक्षस्तमणति–प्रापयतीति कल्याणं–दयाख्यं संयमस्वरूपं, तथा श्रुत्वा जानाति पापकम्–असंयमस्वरूपम्, 'उभयमपि' संयमासंयमस्वरूपं श्रावकोपयोगि जानाति श्रुत्वा, नाश्रुत्वा, यतश्चैवमत इत्थं विज्ञाय यत् छेकं–निपुणं हितं कालोचितं तत्समाचरेत्कुर्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥ उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—'जो जीवेऽवि'इत्यादि, यो 'जीवानपि' पृथिवीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति 'अजीवानपि' संयमोपघातिनो मद्यहिरण्यादीन्न जानाति, जीवाजीवानजानन्कथमसौ ज्ञास्यति 'संयमं?' तद्विषयं, तद्विषयाज्ञानादिति भावः ॥ १२ ॥ ततश्च यो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति । प्रतिपादितः पञ्चम उपदेशार्थाधिकारः ॥ १३ ॥

जया जीवमजीवे अ, दोऽवि एए वियाणइ । तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥ जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ । तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥ जया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ । तया नि-

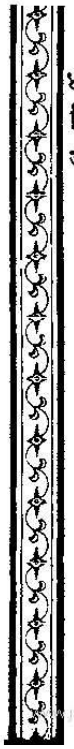
१ गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रितो भणितः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मफ़ल्स्य अधिकारः वर्णयते



विंदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे ॥ १६ ॥ जया निव्विंदए भोगे, जे दिव्वे जे अ माणुसे । तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं ॥ १७ ॥ जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं । तया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारिअं ॥ १८ ॥ जया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारिअं । तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥ जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं । तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसंकडं ॥ २० ॥ जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसंकडं । तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥ २१ ॥ जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ । तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥ जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली । तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३ ॥ जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ । तया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥ जया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ । तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५ ॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--२५॥

दीप अनुक्रम [६०-७१]

साम्प्रतं षष्ठेऽधिकारे धर्मफलमाह—'जया' इत्यादि, 'यदा' यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति–विविधं जानाति 'तदा' तस्मिन् काले 'गतिं' नरकगत्यादिरूपां 'बहुविधां' स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां सर्वजीवानां जानाति, यथाऽवस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥ १४ ॥ उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह—'जया' इत्यादि, यदा गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति तदा पुण्यं च पापं च–बहुविधगतिनिबन्धनं [च] तथा 'बन्धं' जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं 'मोक्षं च' तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति ॥ १५ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति तदा निर्विन्ते–मोहाभावात् सम्यग्विचारयत्यसारदुःखरूपतया 'भोगान्' शब्दादीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति ॥१६॥ 'जया' इत्यादि, यदा निर्विन्ते भोगान् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् तदा त्यजति 'संयोगं' संबन्धं द्रव्यतो भावतः 'साभ्यन्तरबाह्यं' क्रोधादिहिरण्यादिसंबन्धमित्यर्थः ॥ १७ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तरबाह्यं तदा मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च 'प्रव्रजति' प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं, द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः ॥ १८ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा मुण्डो भूत्वा प्रव्रजत्यनगारं तदा 'संवरमुक्किट्ठं'ति प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसंवरं धर्मं–सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपं, चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तरं–सम्यगासेवत इत्यर्थः ॥ १९ ॥ 'जया' इत्यादि, यदोत्कृष्टसंवरं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरं तदा धुनोति–अनेकार्थत्वात्पातयति 'कर्मरजः' कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रजः, किंविशिष्टमित्याह—'अवोधिकलुषकृतम्' अवोधिकलुषेण

Jain Education Inter... For Private & Personal Use Only ...ainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--२५॥

दीप अनुक्रम [६०-७१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः ॥ २० ॥ 'जया' इत्यादि, यदा धुनोति कर्मरजः अबोधिकलुषकृतं तदा 'सर्वत्रगं ज्ञानम्' अशेषज्ञेयविषयं 'दर्शनं च' अशेषदृश्यविषयम् 'अधिगच्छति' आवरणाभावादाधिक्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाधिगच्छति तदा 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकम् 'अलोकं च' अनन्तं जिनो जानाति केवली, लोकालोकौ च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली तदोचितसमयेन योगान्निरुद्ध्य मनोयोगादीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते, भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय ॥ २३ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा योगान्निरुद्ध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते तदा कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि 'सिद्धिं गच्छति' लोकान्तक्षेत्ररूपां 'नीरजाः' सकलकर्मरजोविनिर्मुक्तः ॥ २४ ॥ 'जया' इत्यादि, यदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः तदा 'लोकमस्तकस्थः' त्रैलोक्योपरिवर्त्ती सिद्धो भवति 'शाश्वतः' कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्मेति भावः। उक्तो धर्मफलाख्यः षष्ठोऽधिकारः ॥ २५ ॥

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स । उच्छोलणापहोअस्स, दुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २६ ॥ तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स । परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २७ ॥ पच्छावि ते पयाया, खिप्पं

१ नैषा गाथा विवृता पूज्यैः हरिभद्राचार्यैश्चूर्णिकृद्भिश्च.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षेप-गाथा

गच्छंति अमरभवणाइं। जेसिं पिओ तवो संजमो अ खंती अ बंभचेरं च ॥ १ ॥ (प्र.)

इच्चेअं छज्जीवणिअं सम्मद्दिट्ठी सया जए। दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥ २८ ॥ त्तिबेमि ॥ चउत्थं छज्जीवणिआणामज्झयणं समत्तं ॥ ४ ॥

साम्प्रतमिदं धर्मफलं यस्य दुर्लभं तमभिधित्सुराह—'सुहे'ति, सुखास्वादकस्य–अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः 'श्रमणस्य' द्रव्यप्रव्रजितस्य 'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य 'निकामशायिनः' सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य 'उत्सोलनाप्रधाविनः' उत्सोलनया–उदकायतनया प्रकर्षेण धावति–पादादिशुद्धिं करोति यः स तथा तस्य, किमित्याह—'दुर्लभा' दुष्प्रापा 'सुगतिः' सिद्धिपर्यवसाना 'तादृशस्य' भगवदाज्ञालोपकारिण इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ इदानीमिदं धर्मफलं यस्य सुलभं तमाह—'तवोगुणे'त्यादि, 'तपोगुणप्रधानस्य' षष्ठाष्टमादितपोधनवतः 'ऋजुमतेः' मार्गप्रवृत्तबुद्धेः 'क्षान्तिसंयमरतस्य' क्षान्तिप्रधानसंयमासेविन इत्यर्थः, 'परीषहान्' क्षुत्पिपासादीन् 'जयतः' अभिभवतः सुलभा 'सुगतिः' उक्तलक्षणा 'तादृशस्य' भगवदाज्ञाकारिण इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ महार्थो षड्जीवनिकायिकेति विधिनोपसंहरन्नाह—'इच्चेय'मित्यादि, 'इत्येतां षड्जीवनिकायिकाम्' अधिकृताध्ययनप्रतिपादितार्थरूपां, न विराधयेदितियोगः, 'सम्यग्दृष्टिः' जीवतत्त्वश्रद्धावान् 'सदा यतः' सर्वकालं प्रयत्नपरः सन्, किमित्याह—'दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं' दुष्प्रापं प्राप्य श्रमणभावं–षड्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६--२८॥

दीप अनुक्रम [७२-७५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

जीवनिकायसंरक्षणैकरूपं 'कर्मणा' मनोवाक्कायक्रियया प्रमादेन 'न विराधयेत्' न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति तथाऽप्यसावविराधनैवेत्यर्थः । एतेन 'जले जीवाः स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः? ॥ १ ॥' इत्येतत्प्रत्युक्तं, तथा सूक्ष्माणां विराधनाभावाच्च । ब्रवीमीति पूर्ववत् । अधिकृताध्ययनपर्यायशब्दप्रतिपादनायाह निर्युक्तिकारः—

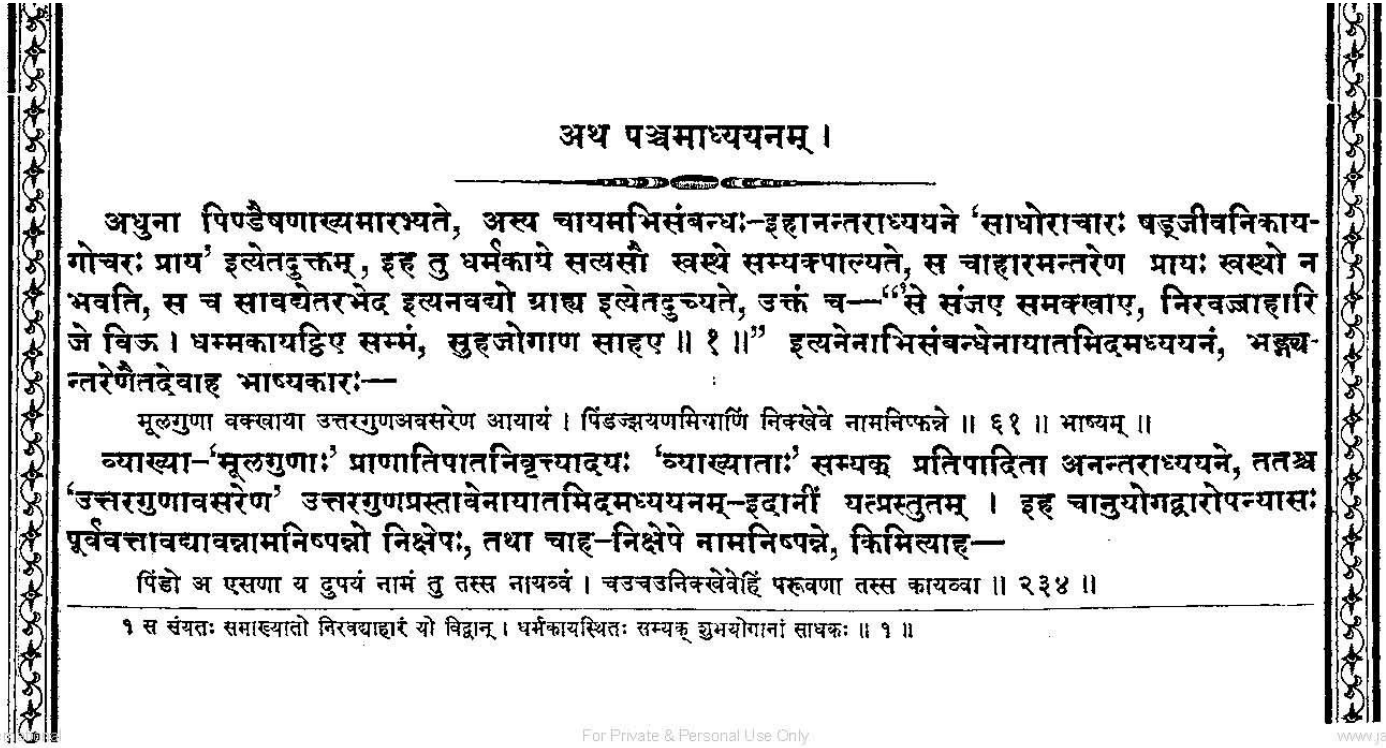
जीवाजीवाभिगमो आयारो चेव धम्मपन्नत्ती । तत्तो चरित्तधम्मो चरणे धम्मे अ एगट्ठा ॥ २३३ ॥

व्याख्या–'जीवाजीवाभिगमः' सम्यग्जीवाजीवाभिगमहेतुत्वात् एवम् 'आचारश्चैव' आचारोपदेशत्वात् 'धर्मप्रज्ञप्तिः' यथावस्थितधर्मप्रज्ञापनात् ततः 'चारित्रधर्मः' तन्निमित्तत्वात् 'चरणं' चरणविषयत्वात् 'धर्मश्च' श्रुतधर्मस्तत्सारभूतत्वात्, एकार्थिका एते शब्दा इति गाथार्थः ॥ अन्ये त्विदं गाथासूत्रमनन्तरोदितसूत्रस्याधो व्याख्यानयन्ति, तत्राप्यविरुद्धमेव । उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयास्ते च पूर्ववदेव । व्याख्यातं षड्जीवनिकाध्ययनम् ॥ २८ ॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिकृतौ दशवैकालिकटीकायां चतुर्थाध्ययनम् ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -४- परिसमाप्तं



अथ पञ्चमाध्ययनम् ।

अधुना पिण्डैषणाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने 'साधोराचारः षड्जीवनिकाय-गोचरः प्राय' इत्येतदुक्तम्, इह तु धर्मकाये सत्यसौ स्वस्थे सम्यक्पाल्यते, स चाहारमन्तरेण प्रायः स्वस्थो न भवति, स च सावद्येतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्य इत्येतदुच्यते, उक्तं च—"[1]से संजए समक्खाए, निरवज्जाहारि जे विऊ । धम्मकायट्ठिए सम्मं, सुहजोगाण साहए ॥ १ ॥" इत्यनेनाभिसंबन्धेनायातमिदमध्ययनं, भङ्ग्यन्तरेणैतदेवाह भाष्यकारः—

मूलगुणा वक्खाया उत्तरगुणअवसरेण आयायं । पिंडज्झयणमिणाणिं निक्खेवे नामनिप्फन्ने ॥ ६१ ॥ भाष्यम् ॥

व्याख्या–'मूलगुणाः' प्राणातिपातनिवृत्त्यादयः 'व्याख्याताः' सम्यक् प्रतिपादिता अनन्तराध्ययने, ततश्च 'उत्तरगुणावसरेण' उत्तरगुणप्रस्तावेनायातमिदमध्ययनम्–इदानीं यत्प्रस्तुतम् । इह चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तथा चाह–निक्षेपे नामनिष्पन्ने, किमित्याह—

पिंडो अ एसणा य दुपयं नामं तु तस्स नायव्वं । चउचउनिक्खेवेहिं परूवणा तस्स कायव्वा ॥ २३४ ॥

१ स संयतः समाख्यातो निरवद्याहारं यो विद्वान् । धर्मकायस्थितः सम्यक् शुभयोगानां साधकः ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -५- "पिन्डैषणा" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥२८..॥

दीप अनुक्रम [७५..]

नामंठवणापिंडो दव्वे भावे अ होइ नायव्वो । गुडओयणाइ दव्वे भावे कोहाइया चउरो ॥ २३५ ॥
पिडि संघाए जम्हा ते उइया संघया य संसारे । संघायर्यति जीवं कम्मेणट्ठप्पगारेण ॥ २३६ ॥
दव्वेसणा उ तिविहा सचित्ताचित्तमीसदव्वाणं । दुपयचउप्पयअपया नरगयकरिसावणदुमाणं ॥ २३७ ॥
भावेसणा उ दुविहा पसत्थ अपसत्थगा य नायव्वा । नाणाईण पसत्था अपसत्था कोहमाईणं ॥ २३८ ॥
भावस्सुवगारित्ता एत्थं दव्वेसणाइ अहिगारो । तीइ पुण अत्थजुत्ती वत्तव्वा पिंडनिज्जुत्ती ॥ २३९ ॥
पिण्डेसणा य सव्वा संखेवेणोयरइ नवसु कोडीसु । न हणइ न पयइ न किणइ कारावणअणुमईहि नव ॥ २४० ॥
सा नवहा दुह कीरइ उग्गमकोडी विसोहिकोडी अ । छसु पढमा ओयरइ कीयतियम्मी विसोही उ ॥ २४१ ॥
कोडीकरणं दुविहं उग्गमकोडी विसोहिकोडी अ । उग्गमकोडी छक्कं विसोहिकोडी अणेगविहा ॥ ६२ ॥ भाष्यम् ॥
कम्मुद्देसिअचरिमतिग पूइयं मीसचरिमपाहुडिआ । अज्झोयर अविसोही विसोहिकोडी भवे सेसा ॥ २४२ ॥
नव चेवट्ठारसगा सत्तावीसा तहेव चउपन्ना । नउई दो चेव सया सत्तरिआ हुंति कोडीणं ॥ २४३ ॥
रागाई मिच्छाई रागाई समणधम्म नाणाई । नव नव सत्तावीसा नव नउईए य गुणगारा ॥ २४४ ॥

व्याख्या–पिण्डश्चैषणा च 'द्विपदं नाम तु' द्विपदमेव विशेषाभिधानं 'तस्य' उक्तसंबन्धस्याध्ययनस्य ज्ञा-

१ प्रतिभातीयं प्रक्षिप्तप्राया, पदघटना त्वेवम्—रागद्वेषौ नवभिर्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतयो नवभिः रागद्वेषौ सप्तविंशत्या श्रमणधर्मदशकं नवभिः ज्ञानदर्शनचारित्राणि नवत्या च (एवं) गुणकाराः.

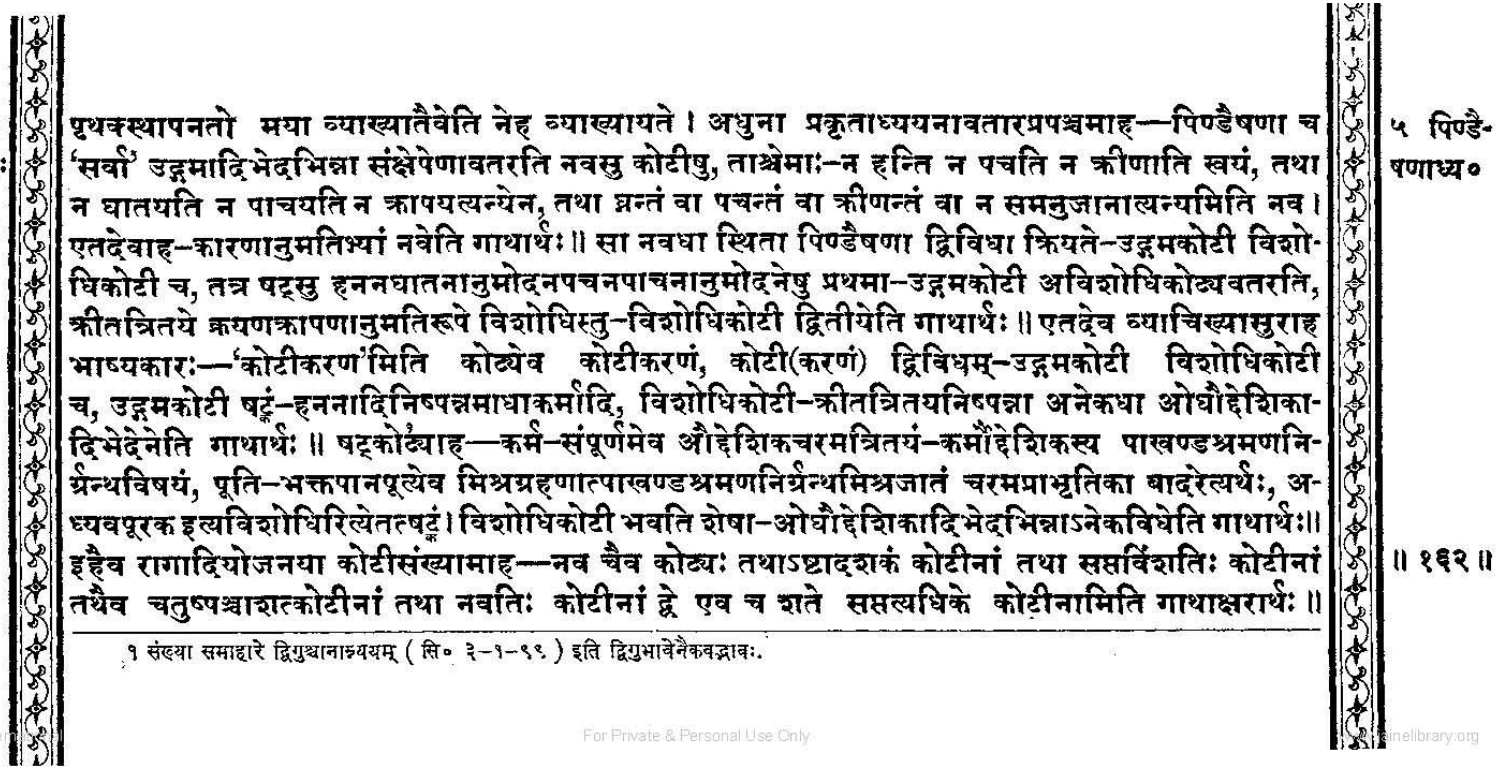
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पिण्ड' तथा 'एषणा' शब्दयो: निक्षेपा:

तव्यं, चतुश्चतुर्निक्षेपाभ्यां नामादिलक्षणाभ्यां प्ररूपणा 'तस्य' पदद्वयस्य कर्तव्येति गाथार्थः ॥ अधिकृतप्ररूपणामाह—नामस्थापनापिण्डो द्रव्ये भावे च भवति ज्ञातव्यः, पिण्डशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यपिण्डं त्वाह–गुडौदनादिः 'द्रव्य' मिति द्रव्यपिण्डः, भावे क्रोधादयश्चत्वारः पिण्डा इति गाथार्थः॥ अत्रैवान्वर्थमाह—'पिडि संघाते' धातुरिति शब्दवित्समयः, यस्मात्ते क्रोधादय उदिताः सन्तो विपाकप्रदेशोदयाभ्यां संहता एव संसारिणं संघातयन्ति–जीवं योजयन्तीत्यर्थः, केनेत्याह–कर्मणाऽष्टप्रकारेण–ज्ञानावरणीयादिना, अतः क्रोधादयः पिण्ड इति गाथार्थः ॥ प्ररूपितः पिण्डः, साम्प्रतमेषणाऽवसरः, तत्र क्षुण्णत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यैषणामाह—द्रव्यैषणा तु त्रिविधा भवति, सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामेषणा द्रव्यैषणा, सचित्तानां द्विपदचतुष्पदापदानां यथासंख्यं नरगजदुमाणामिति, कार्षापणग्रहणादचित्तद्रव्यैषणा अलङ्कृतद्विपदादिगोचरमिश्रद्रव्यैषणा च द्रष्टव्येति गाथार्थः ॥ भावैषणामाह—भावैषणा तु पुनर्द्विविधा, प्रशस्ता अप्रशस्ता च ज्ञातव्या, एतदेवाह—'ज्ञानादीना'मिति ज्ञानादीनामेषणा प्रशस्ता क्रोधादीनामप्रशस्तैषणेति गाथार्थः ॥ प्रकृतयोजनामाह—'भावस्य' ज्ञानादेरुपकारित्वाद् 'अत्र' प्रक्रमे द्रव्यैषणयाऽधिकारः, 'तस्याः' पुनर्द्रव्यैषणायाः 'अर्थयुक्तिः' हेयेतररूपा अर्थयोजना वक्तव्या पिण्डनिर्युक्तिरिति गाथार्थः ॥ सा च

१ पिण्डनिर्युक्तेः पृथक्स्थापितत्वात् तत्र भद्रबाहुस्वामिनाऽर्थयुक्तिर्व्याख्यातेति नात्राध्ययनार्थाधिकारे तद्व्याख्यानम् । अन्यथा वाऽस्ति हरिभद्रसूरिकृता पिण्डनिर्युक्तिवृत्तिरिति तामाश्रित्यापि स्यादिदं वचः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ १६२ ॥

पृथक्स्थापनतो मया व्याख्यातैवेति नेह व्याख्यायते । अधुना प्रकृताध्ययनावतारप्रपञ्चमाह—पिण्डैषणा च 'सर्वा' उद्गमादिभेदभिन्ना संक्षेपेणावतरति नवसु कोटीषु, ताश्चेमाः–न हन्ति न पचति न क्रीणाति स्वयं, तथा न घातयति न पाचयति न क्रापयत्यन्येन, तथा घ्नन्तं वा पचन्तं वा क्रीणन्तं वा न समनुजानात्यन्यमिति नव । एतदेवाह–कारणानुमतिभ्यां नवेति गाथार्थः ॥ सा नवधा स्थिता पिण्डैषणा द्विविधा क्रियते–उद्गमकोटी विशोधिकोटी च, तत्र षट्सु हननघातनानुमोदनपचनपाचनानुमोदनेषु प्रथमा–उद्गमकोटी अविशोधिकोट्यवतरति, क्रीतत्रितये क्रयणक्रापणानुमतिरूपे विशोधिस्तु–विशोधिकोटी द्वितीयेति गाथार्थः ॥ एतदेव व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः—'कोटीकरणं'मिति कोट्येव कोटीकरणं, कोटी(करणं) द्विविधम्–उद्गमकोटी विशोधिकोटी च, उद्गमकोटी षट्[1]–हननादिनिष्पन्नमाधाकर्मादि, विशोधिकोटी–क्रीतत्रितयनिष्पन्ना अनेकधा ओघौद्देशिकादिभेदेनेति गाथार्थः ॥ षट्कोट्याह—कर्म–संपूर्णमेव औद्देशिकचरमत्रितयं–कर्मौद्देशिकस्य पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थविषयं, पूति–भक्तपानपूत्येव मिश्रग्रहणात्पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थमिश्रजातं चरमप्राभृतिका बादरेत्यर्थः, अध्यवपूरक इत्यविशोधिरित्येतत्षट्कं । विशोधिकोटी भवति शेषा–ओघौद्देशिकादिभेदभिन्नाऽनेकविधेति गाथार्थः॥ इहैव रागादियोजनया कोटीसंख्यामाह—नव चैव कोट्यः तथाऽष्टादशकं कोटीनां तथा ससविंशतिः कोटीनां तथैव चतुष्पञ्चाशत्कोटीनां तथा नवतिः कोटीनां द्वे एव च शते ससत्यधिके कोटीनामिति गाथाक्षरार्थः ॥

१ संख्या समाहारे द्विगुश्चानाङ्ययम् (सि० ३–१–९९) इति द्विगुभावेनैकवद्भावः.

५ पिण्डैषणाध्य०

॥ १६२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-२॥

दीप अनुक्रम [७६-७७]

भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः, स चायम्–णवं कोडीओ दोहिं रागदोसेहिं गुणियाओ अट्ठारस हवंति, ताओ चेव नव तिहिं मिच्छत्ताणाणअविरतीहिं गुणिताओ सत्तावीसं हवंति, सत्तावीसा रागदोसेहिं गुणिया चउप्पन्ना हवंति, ताओ चेव णव दसविहेण समणधम्मेण गुणिआओ विसुद्धाओ णउती भवंति, सा णउती तिहिं नाणदंसणचरित्तेहिं गुणिया दो सया सत्तरा भवंतीति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

संपत्ते भिक्खकालंमि, असंभंतो अमुच्छिओ। इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए॥ १॥
से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी। चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा॥ २॥

अस्य व्याख्या—'संप्राप्ते' शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते 'भिक्षाकाले' भिक्षासमये, अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति, 'असंभ्रान्तः' अनाकुलो

१ नव कोट्यो द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यां गुणिता अष्टादश भवन्ति, ता एव नव त्रिभिर्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिभिर्गुणिताः सप्तविंशतिः भवति, सप्तविंशतिः रागद्वेषाभ्यां गुणिता चतुष्पञ्चाशत् भवति, ता एव नव दशविधेन श्रमणधर्मेण गुणिता विशुद्धा नवतिर्भवति, सा एव नवतिः त्रिभिः ज्ञानदर्शनचारित्रैर्गुणिता द्वे शते सप्ततिश्च भवति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचमे अध्ययने प्रथम उद्देशकः आरब्धः

प्रत सूत्रांक ॥१-२॥

दीप अनुक्रम [७६-७७]

यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थः, 'अमूर्च्छितः' पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमितिकृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति, 'अनेन' वक्ष्यमाणलक्षणेन 'क्रमयोगेन' परिपाटीव्यापारेण 'भक्तपानं' यतियोग्यमोदनारनालादि 'गवेषयेद्' अन्वेषयेदिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ यत्र यथा गवेषयेत्तदाह—'से' इत्यादि सूत्रं, व्याख्या—'से' इत्यसंभ्रान्तोऽमूर्च्छितः ग्रामे वा नगरे वा, उपलक्षणत्वादस्य कर्बटादौ वा, 'गोचराग्रगत' इति गोरिव चरणं गोचरः–उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम् अग्रः–प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन तद्गतः–तद्वर्ती मुनिः–भावसाधुः चरेत्–गच्छेत् 'मन्दं' शनैः शनैर्न द्रुतमित्यर्थः, 'अनुद्विग्नः' प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत् 'अव्याक्षिप्तेन चेतसा' वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन 'चेतसा' अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तेनेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीअहरियाइं, पाणे अ दगमट्टिअं ॥ ३ ॥ ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए । संकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥ पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए । हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥ तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए । सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥ इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं । ससर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ प्रथम-व्रते यतना-अधिकारः

प्रत सूत्रांक ॥३-८॥

दीप अनुक्रम [७८-८३]

क्खेहिं पाएहिं, संजओ तं नइक्कमे ॥ ७ ॥ न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए । महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥ ८ ॥

यथा चरेत्तथैवाह—'पुरतो' इति सूत्रं, व्याख्या–'पुरतः' अग्रतो 'युगमात्रया' शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धिसंस्थितया, दृष्ट्येति वाक्यशेषः, 'प्रेक्षमाणः' प्रकर्षेण पश्यन् 'महीं' भुवं 'चरेत्' यायात्, केचिच्चेति योजयन्ति, न शेषदिगुपयोगेनेति गम्यते, न प्रेक्षमाण एव अपि तु 'वर्जयन्' परिहरन् बीजहरितानीति, अनेनानेकभेदस्य वनस्पतेः परिहारमाह, तथा 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन् तथा 'उदकम्' अप्कायं 'मृत्तिकां च' पृथिवीकायं, चशब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः । दृष्टिमानं त्वत्र लघुतरयोपलब्धावपि प्रवृत्तितो रक्षणायोगात् महत्तरया तु देशविप्रकर्षेणानुपलब्धेरिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ उक्तः संयमविराधनापरिहारः, अधुना स्वात्मसंयमविराधनापरिहारमाह—'ओवाय'मिति सूत्रं, व्याख्या–'अवपातं' गर्तादिरूपं 'विषमं' निम्नोन्नतं 'स्थाणुम्' ऊर्ध्वकाष्ठं 'विजलं' विगतजलं कर्दमं 'परिवर्जयेत्' एतत्सर्वं परिहरेत्, तथा 'संक्रमेण' जलगर्तापरिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन न गच्छेत्, आत्मसंयमविराधनासंभवात्, अपवादमाह–विद्यमाने पराक्रमे–अन्यमार्गे इत्यर्थः, असति तु तस्मिन् प्रयोजनमाश्रित्य यतनया गच्छेदिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ अवपातादौ दोषमाह—'पवडंते'त्ति सूत्रं, व्याख्या–प्रपतन्वाऽसौ 'तत्र' अवपातादौ प्रस्खलन्वा 'संयतः' साधुः 'हिंस्याद्' व्यापादयेत् 'प्राणिभू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥३-८॥

दीप अनुक्रम [७८-८३]

तानि' प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयः भूतानि–एकेन्द्रियाः, एतदेवाह–त्रसानथवा स्थावरान्, प्रपातेनात्मानं चेत्येवमुभयविराधनेति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ यतश्चैवं 'तम्हा' सूत्रं, व्याख्या–तस्मात्तेन–अवपातादिमार्गेण न गच्छेत् संयतः सुसमाहितो, भगवदाज्ञावर्तीत्यर्थः, 'सत्यन्येने'ति अन्यस्मिन् समादौ 'मार्गेणे'ति मार्गे, छान्दसत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया, असति त्वन्यस्मिन्मार्गे तेनैवावपातादिना 'यतमेव पराक्रमेत्' यतमिति क्रियाविशेषणं, यतमात्मसंयमविराधनापरिहारेण यायादिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ अत्रैव विशेषतः पृथिवीकाययतनामाह—'इंगाल'मिति सूत्रम्, आङ्गारमिति अङ्गाराणामयमाङ्गारस्तमाङ्गारं राशिम्, एवं क्षारराशिं, तुषराशिं च गोमयराशिं च, राशिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते 'सरजस्काभ्यां पद्भ्यां' सचित्तपृथिवीरजोगुण्डिताभ्यां पादाभ्यां 'संयतः' साधुः 'तम्' अनन्तरोदितं राशिं नाक्रामेत्, मा भूत्पृथिवीरजोविराधनेति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ अत्रैवाप्कायादियतनामाह—'न चरेज्ज'त्ति सूत्रं, न चरेद्वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्, तथा महिकायां वा पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति, महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात्, तिर्यक्संपतन्तीति तिर्यक्संपाताः-पतङ्गादयः तेषु वा सत्सु क्वचिदशनिरूपेण न चरेदिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणु(ण)ए । बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसु-

१ ईतिरूपो हि पतङ्गादेरापात इति पूर्वेणान्वयः, यद्वा हेतौ तृतीयेति साधुस्वरूपाख्यानं.

Jain Education Inter... For Private & Personal Use Only ...inelibrary.org

चतुर्थ-व्रते यतना-अधिकारः

प्रत सूत्रांक ॥९-११॥

दीप अनुक्रम [८४-८६]

त्तिआ ॥ ९ ॥ अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं । हुज्ज वयाणं पीला, सामन्नंमि अ संसओ ॥ १० ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥ ११ ॥

उक्ता प्रथमव्रतयतना, साम्प्रतं चतुर्थव्रतयतनोच्यते—'न चरेज्ज'त्ति सूत्रं, 'न चरेद्वेश्यासामन्ते' न गच्छेद्गणिकागृहसमीपे, किंविशिष्ट इत्याह—'ब्रह्मचर्यवशानयने(नये)' ब्रह्मचर्यं–मैथुनविरतिरूपं वशमानयति–आत्मायत्तं करोति दर्शनाक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशानयनं तस्मिन्, दोषमाह—'ब्रह्मचारिणः' साधोः 'दान्तस्य' इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां भवेत् 'तत्र' वेश्यासामन्ते 'विस्रोतसिका' तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकुचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमस(श)स्यशोषफला चित्तविक्रियेति सूत्रार्थः ॥९॥ एष सकुचरणदोषो वेश्यासामन्तसंगत उक्तः, साम्प्रतमिहान्यत्र चासकुचरणदोषमाह—'अणायणे'त्ति सूत्रम्, अनायतने–अस्थाने वेश्यासामन्तादौ 'चरतो' गच्छतः 'संसर्गेण' संबन्धेन 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, किमित्याह–भवेत् 'व्रतानां' प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा, तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना, 'श्रामण्ये च' श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः, कदाचिदुन्निष्क्रामत्येवेत्यर्थः, तथा च वृद्धव्याख्या–वेसा-

१ वेश्यादिगतभावस्य मैथुनं पीड्यते, अनुपयोगेनैषणाऽकरणे हिंसा, प्रत्युत्पादने (वर्त्तमाने) अन्यपृच्छायामपलापेऽसत्यवचनम्, अननुज्ञातवेश्यायां दर्शनेऽदत्तादानं, ममताकरणे परिग्रहः, एवं सर्वव्रतपीडा, द्रव्यश्रामण्ये पुनः संशय उन्निष्क्रमणेन.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-११॥

दीप अनुक्रम [८४-८६]

दिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेणं [1]एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयणं, अणणुण्णायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण संसयो उण्णिक्खमणेण त्ति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ निगमयन्नाह—'तम्हा' इति सूत्रम्, यस्मादेवं तस्मादेतत् विज्ञाय 'दोषम्' अनन्तरोदितं दुर्गतिवर्धनं वर्जयेद्वेइयासामन्तं मुनि' 'एकान्तं' मोक्षमाश्रित इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ आह–प्रथमव्रतविराधनानन्तरं चतुर्थव्रतविराधनोपन्यासः किमर्थम्?, उच्यते, प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यव्रतविराधनाहेतुत्वेन प्राधान्यम्, तच्च लेशतो दर्शितमेवेति। अत्रैव विशेषमाह—

साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं। संडिम्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥
अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले । इंदिआणि जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥ दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो अ गोअरे। हसंतो नाभिगच्छिज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥ १४ ॥ आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि अ । चरंतो न विनिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥ १५ ॥ रण्णो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण

१ पमज्जणाऽकरणे प्र. २ दर्शने वि. प.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षाचर्या-गमने विधिः

य । संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥ पडिकुट्ठकुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए । अचिअत्तकुलं न पविसे, चिअत्तं पविसे कुलं ॥ १७ ॥ साणीपावारपिहिअं, अप्पणा नावपंगुरे । कवाडं नो पणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइआ ॥ १८ ॥

'साणं'ति सूत्रं, 'श्वानं' लोकप्रतीतम्, 'सूतां गाम्' अभिनवप्रसूतामित्यर्थः 'दृप्तं' च दर्पितं, किमित्याह—गावं हयं गजं, गौः–बलीवर्दो हयः–अश्वो गजो–हस्ती। तथा 'संडिम्भं' बालक्रीडास्थानं 'कलहं' वाक्प्रतिबद्धं 'युद्धं' खड्गादिभिः, एतत् 'दूरतो' दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासंभवात्, श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतनभण्डनप्रलुठनादिना संयमविराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति सूत्रार्थः॥१२॥ अत्रैव विधिमाह—'अणुण्णए'त्ति सूत्रम्, 'अनुन्नतो' द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो नाकाशदर्शी भावतो न जात्याद्यभिमानवान्, 'नावनतो' द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यानवनतोऽनीचकायः भावानवनतः अलब्ध्यादिनाऽदीनः 'अप्रहृष्टः' अहसन् 'अनाकुलः' क्रोधादिरहितः 'इन्द्रियाणि' स्पर्शनादीनि 'यथाभागं' यथाविषयं 'दमयित्वा' इष्टानिष्टेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषरहितो 'मुनिः' साधुः 'चरेद्' गच्छेत्, विपर्यये प्रभूतदोषप्रसङ्गात्, तथाहि–द्रव्योन्नतो लोकहास्यः भावोन्नत ईर्यां न रक्षति द्रव्यावनतः बक इति संभाव्यते भावावनतः क्षुद्रसत्त्व इति, प्रहृष्टो योषिद्दर्शनाद्रक्त इति लक्ष्यते, आकुल एवमेव, अदान्तः प्रव्रज्यानर्ह इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥१२--१८॥

दीप अनुक्रम [८७-९३]

सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ किं च—'दवदवस्स' त्ति सूत्रं, 'द्रुतं द्रुतं' त्वरितमित्यर्थः न गच्छेत् भाषमाणो वा न गोचरे गच्छेत्, तथा हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा, उच्चं–द्रव्यभावभेदाद्विधा–द्रव्योच्चं धवलगृहवासि भावोच्चं जात्यादियुक्तम्, एवमवचमपि द्रव्यतः कुटीरकवासि भावतो जात्यादिहीनमिति । दोषा उभय-विराधनालोकोपघातादय इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ अत्रैव विधिमाह—'आलोअं थिग्गलं' ति सूत्रम्, 'अवलोकं' निर्यूहकादिरूपं 'थिग्गलं' चितं द्वारादि, संधिः–चितं क्षत्रम्, 'उदकभवनानि' पानीयगृहाणि चरन् भिक्षार्थं न 'विनिध्यायेत्' विशेषेण पश्येत्, शङ्कास्थानमेतदवलोकादि अतो विवर्जयेत्, तथा च नष्टादौ तत्राशङ्को-पजायत इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ किंच–'रण्णो'त्ति सूत्रं, राज्ञः–चक्रवर्त्यादेः 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनां रहसा-ठाणमिति योगः, 'आरक्षकाणां च' दण्डनायकादीनां 'रहःस्थानं' गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि 'संक्लेशकरम्' असदिच्छाप्रवृत्त्या मन्त्रभेदे वा कर्षणादिनेति, दूरतः परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ किंच—'पडिकुट्ठ'-त्ति सूत्रं, प्रतिकुष्टकुलं द्विविधम्–इत्वरं यावत्कथिकं च, इत्वरं सूतकयुक्तं, यावत्कथिकम्–अभोज्यम्, एतन्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसङ्गात्, 'मामकं' यत्राऽऽह गृहपतिः–मा मम कश्चिद्गृहमागच्छेत्, एतत् वर्जयेत्, भण्डनादिप्रसङ्गात्, 'अचिअत्तकुलम्' अप्रीतिकुलं यत्र प्रविशद्भिः साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति, कुतश्चिन्निमित्तान्तरात्, एतदपि न प्रविशेत्, तत्संक्लेशनिमित्तत्वप्रसङ्गात्, 'चिअत्तम्' अचिअत्तविपरीतं प्रविशेत्कुलं, तदनुग्रहप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥१७॥ किं च—'साणि'त्ति सूत्रं, 'शाणीप्रावारपिहित'मिति शाणी–

॥ १६६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२--१८॥

दीप अनुक्रम [८७-९३]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अतसीवल्कजा पटी, प्रावारः–प्रतीतः कम्बल्यादुपलक्षणमेतत्, एवमादिभिः पिहितं–स्थगितं, गृहमिति वाक्यशेषः। 'आत्मना' स्वयं 'नापवृणुयात्' नोद्घाटयेदित्यर्थः, अलौकिकत्वेन तदन्तर्गतभुजिक्रियादिकारिणां प्रद्वेषप्रसङ्गात्, तथा 'कपाटं' द्वारस्थगनं 'न प्रेरयेत्' नोद्घाटयेत्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्, किमविशेषेण?, नेत्याह—'अवग्रहमयाचित्वा' आगाढप्रयोजनेऽननुज्ञाप्यावग्रहं–विधिना धर्मलाभमकृत्वेति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

गोअरग्गपविट्ठो अ, वच्चमुत्तं न धारए। ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥१९॥

विधिशेषमाह—'गोयरग्ग'त्ति सूत्रं, गोचराग्रप्रविष्टस्तु वर्चो मूत्रं वा न धारयेत्, अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वाऽनुज्ञाप्य व्युत्सृजेदिति। अस्य विषयो वृद्धसंप्रदायादवसेयः, स चायम्–पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवयोगं काऊण गोअरे पविसिअव्वं, कहिंवि ण कओ कए वा पुणो होज्जा ताहे वच्चमुत्तं ण धारेअव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवति, वच्चनिरोहे जीविओवघाओ, असोहणा अ आयविराहणा, जओ भणिअं —'सव्वत्थ संजम'मित्यादि, अओ संघाडयस्स सयभायणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणयं गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा। वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तीए। इति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥

१ पूर्वमेव साधुना संज्ञाकायिकोपयोगं कृत्वा गोचरे प्रवेष्टव्यं, कदाचिन्न कृतः कृते वा पुनर्भवेत् तदा वर्चोमूत्रं न धारयितव्यं, यतो मूत्रनिरोधे चक्षुष उपघातो भवति, वर्चोनिरोधे जीवितोपघातः, अशोभना चात्मविराधना, यतो भणितम्—सर्वत्र संयममित्यादि, अतः सङ्घाटकाय स्वकभाजनानि समर्प्य प्रतिश्रयात्पानीयं गृहीत्वा संज्ञाभूमौ विधिना व्युत्सृजेत्, विस्तरतो यथा ओघनिर्युक्तौ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णीअदुवारं तमसं, कुट्ठगं परिवज्जए। अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहा (हगा) ॥ २० ॥ जत्थ पुप्फाइं बीआइं, विप्पइन्नाइं कुट्ठए। अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठूणं परिवज्जए ॥ २१ ॥ एलगं दारगं साणं, वच्छगं वावि कुट्ठए। उल्लंघिआ न पविसे, विउहित्ताण व संजए ॥ २२ ॥

तथा 'नीयदुवार'न्ति सूत्रं, 'नीचद्वारं' नीचनिर्गमप्रवेशं 'तमस'मिति तमोवन्तं 'कोष्ठकम्' अपवरकं परिवर्जयेत्, न तत्र भिक्षां गृह्णीयात्, सामान्यापेक्षया सर्व एवंविधो भवत्यत आह—'अचक्षुर्विषयो यत्र' न चक्षुर्व्यापारो यत्रेत्यर्थः, अत्र दोषमाह–प्राणिनो दुष्प्रत्युपेक्षणीया भवन्ति, ईर्याशुद्धिर्न भवतीति सूत्रार्थः ॥२०॥ किंच—'जत्थ'त्ति सूत्रं, यत्र 'पुष्पाणि' जातिपुष्पादीनि 'बीजानि' शालिबीजादीनि 'विप्रकीर्णानि' अनेकधा विक्षिप्तानि, परिहर्तुमशक्यानीत्यर्थः, कोष्ठके कोष्ठकद्वारे वा, तथा 'अधुनोपलिप्तं' साम्प्रतोपलिप्तम् 'आर्द्रम्' अशुष्कं कोष्ठकमन्यद्वा दृष्ट्वा परिवर्जयेद्यत एव, न तु तत्र धर्मलाभं कुर्यात्, संयमात्मविराधनापत्तेरिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ किं च—'एलग'न्ति सूत्रम्, 'एडकं' मेषं 'दारकं' बालं 'श्वानं' मण्डलं 'वत्सकं वापि' क्षुद्रवृषभलक्षणं कोष्ठके उल्लङ्घ्य पद्भ्यां न प्रविशेत्, 'व्यूह्य वा' प्रेर्य वेत्यर्थः, 'संयतः' साधुः आत्मसंयमविराधनादोषाल्लाघवाच्चेति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३--२६॥

दीप अनुक्रम [९८--१०१]

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरा वलोअए । उप्फुल्लं न विनिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥ २३ ॥ अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोअरग्गगओ मुणी । कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मिअं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥ तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं विअक्खणो । सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥ दगमट्टिअआयाणे, बीआणि हरिआणि अ । परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥ २६ ॥

इहैव विशेषमाह—'असंसत्तं' ति सूत्रम्, 'असंसक्तं प्रलोकयेत्' न योषिद्दृष्टेर्दृष्टिं मेलयेदित्यर्थः, रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषप्रसङ्गात्, तथा 'नातिदूरं प्रलोकयेत्' दायकस्यागमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्, परतश्चौरादिशङ्कादोषः, तथा 'उत्फुल्लं' विकसितलोचनं 'न विणिज्झाए' त्ति न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः, तथा निवर्त्तेत गृहादलब्धेऽपि सति अजल्पन्–दीनवचनमनुच्चारयन्निति ॥ २३ ॥ तथा—'अइभूमिं न गच्छिज्जा' इति सूत्रम्, अतिभूमिं न गच्छेद्–अननुज्ञातां गृहस्थैः, यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः, गोचराग्रगतो मुनिः, अनेनान्यदा तद्गमनासंभवमाह, किं तर्हि?, कुलस्य भूमिम्–उत्तमादिरूपामवस्थां ज्ञात्वा 'मितां भूमिं' तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्, यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायत इति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥ विधिशेषमाह—' तत्थेव'त्ति सूत्रं, 'तत्रैव' तस्यामेव मितायां भूमौ प्रत्युपेक्षेत सूत्रोक्तेन विधिना 'भूमिभागम्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षा-ग्रहणे यत् विधिः तत् प्रदर्श्यते

प्रत सूत्रांक ॥२३--२६॥

दीप अनुक्रम [९८--१०१]

उचितं भूमिदेशं 'विचक्षणो' विद्वान्, अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह, तत्र च तिष्ठन् स्नानस्य तथा 'वर्चसो' विष्ठायाः संलोकं परिवर्जयेत्, एतदुक्तं भवति–स्नानभूमिकायिकादिभूमिसंदर्शनं परिहरेत्, प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावादिति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥ किंच—'दग'त्ति सूत्रम्, 'उदकमृत्तिकादानम्' आदीयतेऽनेनेत्यादानो–मार्गः, उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थः, 'बीजानि' शाल्यादीनि 'हरितानि च' दूर्वादीनि, चशब्दादन्यानि च सचेतनानि परिवर्जयंस्तिष्ठेदनन्तरोदिते देशे 'सर्वेन्द्रियसमाहितः' शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोअणं । अकप्पिअं न गेण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥ २७ ॥ आहरंती सिआ तत्थ, परिसाडिज्ज भोअणं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥ संमद्दमाणी पाणाणि, बीआणि हरिआणि अ । असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥

'तत्थ'त्ति सूत्रं, 'तत्र' कुलोचितभूमौ 'से' तस्य साधोस्तिष्ठतः सतः 'आहरेद्' नयेत्पानभोजनं, गृहीति गम्यते, तत्रायं विधिः—'अकल्पिकम्' अनेषणीयं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात् 'कल्पिकम्' एषणीयम्, एतच्चार्थापन्नमपि कल्पिकग्रहणं द्रव्यतः शोभनमशोभनमप्येतदविशेषेण ग्राह्यमिति दर्शनार्थं साक्षादुक्तमिति

Jain Education Inte... For Private & Personal Use Only ...ainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७--२९॥

दीप अनुक्रम [१०२--१०४]

सूत्रार्थः ॥ २७ ॥ 'आहरंति' त्ति सूत्रम्, 'आहरन्ती' आनयन्ती भिक्षामगारीति गम्यते 'स्यात्' कदाचित् 'तत्र' देशे 'परिशाटयेद्' इतश्चेतश्च विक्षिपेद् भोजनं वा पानं वा, ततः किमित्याह–ददतीं 'प्रत्याचक्षीत' प्रतिषेधयेत्तामगारीं, रुयेव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणं, कथं प्रत्याचक्षीतेत्यत आह–न मम कल्पते तादृशं–परिशाटनावत्, समयोक्तदोषप्रसङ्गात्, दोषांश्च भावं ज्ञात्वा कथयेद् मधुबिन्दूदाहरणादिनेति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ किंच–'संमद्द'त्ति सूत्रं, 'संमर्दयन्ती' पद्भ्यां समाक्रामन्ती, कानित्याह—'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन् 'बीजानि' शालिबीजादीनि 'हरितानि' दूर्वादीनि 'असंयमकरीं' साधुनिमित्तमसंयमकरणशीलां ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत्, ददतीं प्रत्याचक्षीत इति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

साहट्टु निक्खिवित्ता णं, सचित्तं घट्टियाणि य। तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया ॥ ३० ॥
ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे पाणभोअणं। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३१ ॥ पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा। दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३२ ॥ एवं उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआउसे। हरि-

१ मधु क्षीरे जले मद्ये इति हैमोक्तेर्वारत्तककथाप्रतिपादितक्षीरेयीदृष्टान्तोऽत्र गम्यः.

दश० २९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥ गेरुअवन्निअसेढिअसोरट्ठिअपिट्ठ-कुक्कुसकए य । उक्किट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ३४ ॥

तथा 'साहट्टु'त्ति सूत्रं, संहृत्यान्यस्मिन् भाजने ददाति, [1]तं फासुगमवि वज्जए, तत्थ फासुए फासुयं साहरइ फासुए अफासुअं साहरइ अफासुए फासुयं साहरइ अफासुए अफासुअं साहरइ, तत्थ जं फासुअं फासुए साहरइ तत्थवि थेवे थेवं साहरइ थेवे बहुअं साहरइ बहुए थेवं साहरइ बहुए बहुअं साहरइ । एवमादि यथा पिण्डनिर्युक्तौ । तथा निक्षिप्य भाजनगतमदेयं षट्सु जीवनिकायेषु ददाति, 'सचित्तम्' अलातपुष्पादि 'घट्टयित्वा' संचाल्य च ददाति तथैव 'श्रमणार्थं' प्रव्रजितनिमित्तमुदकं 'संप्रणुद्य' भाजनस्थं प्रेर्य ददातीति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥ 'ओगाहइत्ता' सूत्रं, तथा च 'अवगाह्य' उदकमेवात्माभिमुखमाकृष्य ददाति तथा चालयित्वा उदकमेव ददाति, उदके नियमादनन्तवनस्पतिरिति प्राधान्यख्यापनार्थं सचित्तं घट्टयित्वेत्युक्तेऽपि भेदेनोपादानम्, अस्ति चायं न्यायो–यदुत सामान्यग्रहणेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपादानं, यथा–ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति, ततश्चोदकं चालयित्वा 'आहरेत्' आनीय दद्यादित्यर्थः, किं तदित्याह—

१ तत् प्रासुकमपि वर्जयेत्, तत्र प्रासुके प्रासुकं संहरति प्रासुकेऽप्रासुकं संहरति अप्रासुके प्रासुकं संहरति अप्रासुके अप्रासुकं संहरति, तत्र यत् प्रासुके प्रासुकं संहरति तत्रापि स्तोके स्तोकं संहरति स्तोके बहु संहरति बहौ स्तोकं संहरति बहौ बहु संहरति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०--३४॥

दीप अनुक्रम [१०५--१०९]

'पानभोजनम्' ओदनारनालादि तदित्थंभूतां ददतीं 'प्रत्याचक्षीत' निराकुर्यात् न मम कल्पते तादृशमिति पूर्ववदेवेति सूत्रद्वयार्थः ॥३१॥ 'पुरेकम्मे'त्ति सूत्रं, पुरःकर्मणा हस्तेन–साधुनिमित्तं प्राक्कृतजलोज्झनव्यापारेण, तथा 'दर्व्या' डोवसदृशया 'भाजनेन वा' कांस्यभाजनादिना ददतीं 'प्रत्याचक्षीत' प्रतिषेधयेत्, न मम कल्पते तादृशमिति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ 'एवं'ति सूत्रम्, 'एवम्' उदकार्द्रेण 'हस्तेन' करेण, उदकार्द्रो नाम गलदुदकबिन्दुयुक्तः, एवं सस्निग्धेन हस्तेन, सस्निग्धो नाम ईषदुदकयुक्तः, एवं 'सरजस्केन हस्तेन' सरजस्को नाम–पृथिवीरजोगुण्डितः, एवं 'मृद्गतेन हस्तेन' मृद्गतो नाम–कर्दमयुक्तः, एवमूषादिष्वपि योजनीयम्, एतावन्त एव एतानि सूत्राणि, नवरमूषः–पांशुक्षारः, हरितालहिङ्गुलकमनःशिलाः–पार्थिवा वर्णकभेदाः, अञ्जनं–रसाञ्जनादि लवणं–सामुद्रादि ॥ ३३ ॥ तथा 'गेरुअ'त्ति सूत्रं, गैरिका–धातुः, वर्णिका–पीतमृत्तिका, श्वेतिका–शुक्लमृत्तिका, सौराष्ट्रिका–तुवरिका, पिष्टम्–आमतण्डुलक्षोदः, कुक्कुसाः प्रतीताः, 'कृतेनेति' एभिः कृतेन, हस्तेनेति गम्यते, तथोत्कृष्ट इति उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गालाबुत्रपुषफलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते, चिञ्चिणिकादिपत्रसमुदायो वा उदूखलकण्डित इति, तथा असंसृष्टो–व्यञ्जनादिना अलिप्तः, संसृष्टश्चैव व्यञ्जनादिलिप्तो बोद्धव्यो हस्त इति, विधिं पुनरत्रोर्द्धं वक्ष्यति स्वयमेवेति सूत्रार्थः ॥ ३४ ॥

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा । दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवे ॥ ३५ ॥ संसट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा । दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३६ ॥

आह च—'असंसट्ठेण' त्ति सूत्रम्, असंसृष्टेन हस्तेन–अन्नादिभिरलिप्तेन दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं नेच्छेत्, किं सामान्येन?, नेत्याह–पश्चात्कर्म भवति 'यत्र' दध्यादौ, शुष्कमण्डकादिवत् तदन्यदोषरहितं गृह्णीयादिति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥ 'संसट्ठेण' त्ति सूत्रं, संसृष्टेन हस्तेन–अन्नादिलिप्तेन, तथा दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं 'प्रतीच्छेद्' गृह्णीयात्, किं सामान्येन? नेत्याह–यत्तत्रैषणीयं भवति, तदन्यदोषरहितमित्यर्थः, इह च वृद्धसंप्रदायः–संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे, संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते णिरवसेसे दव्वे, एवं अट्ठ भंगा, एत्थ पढमभंगो सव्वुत्तमो, अन्नेसुऽवि जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ घिप्पइ, ण इयरेसु, पच्छाकम्मदोसाउ त्ति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ किंच

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए । दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥ दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दोऽवि तत्थ निमंतए । दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा,

१ संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकं (°मत्रं) सावशेषं द्रव्यं, संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकं निरवशेषं द्रव्यम्, एवमष्टौ भङ्गाः, अत्र प्रथमो भङ्गः सर्वोत्तमः, अन्येष्वपि यत्र सावशेषं द्रव्यं तत्र गृह्णीयात्, नेतरेषु, पश्चात्कर्मदोषात्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७--४४॥

दीप अनुक्रम [११२--११९]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३८ ॥ गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोअणं । भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ३९ ॥ सिआ य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी । उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥ ४० ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४१ ॥ थणगं पिजेमाणी, दारगं वा कुमारिअं । तं निक्खिवित्तु रोअंतं, आहरे पाणभोअणं ॥ ४२ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥ जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पंमि संकिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥

'दुण्हं'ति सूत्रं, 'द्वयोर्भुञ्जतोः' पालनां कुर्वतोः, एकस्य वस्तुनः स्वामिनोरित्यर्थः, एकस्तत्र 'निमन्त्रयेत्' तदानं प्रत्यामन्त्रयेत्, तदीयमानं नेच्छेदुत्सर्गतः, अपितु 'छन्दम्' अभिप्रायं 'से' तस्य द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारैः, किमस्येदमिष्टं दीयमानं नवेति, इष्टं चेद्गृह्णीयान्न चेन्नैवेति, एवं भुञ्जानयोः–अभ्यवहारायोद्य-

१ उच्छिष्टस्याकल्प्यत्वाद्भुजिः पालनार्थोऽत्र. २ अत्राणे 'भुनजोऽत्राणे' इत्यात्मनेपदभावात्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकल्पित वस्तूनः विधानं प्रदर्श्यते

प्रत सूत्रांक ॥३७--४४॥

दीप अनुक्रम [११२--११९]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

तयोरपि योजनीयं, यतो भुजिः पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥ ततो 'दुण्हं'ति सूत्रं, द्वयोस्तु पूर्ववत् भुञ्जतोर्भुञ्जानयोर्वा द्वावपि तत्रातिप्रसादेन निमन्त्रयेयातां, तत्रायं विधिः–दीयमानं 'प्रतीच्छेद्' गृह्णीयात् यत्तत्रैषणीयं भवेत्, तदन्यदोषरहितमिति सूत्रार्थः ॥३८॥ विशेषमाह—'गुव्विणीए' त्ति सूत्रं, 'गुर्विण्या' गर्भवत्या 'उपन्यस्तम्' उपकल्पितं, किं तदित्याह—'विविधम्' अनेकप्रकारं 'पानभोजनं' द्राक्षापानखण्डखाद्यकादि, तत्र भुज्यमानं तया विवर्ज्यं, मा भूत्तस्या अल्पत्वेनाभिलाषानिवृत्त्या गर्भपतनादिदोष इति, 'भुक्तशेषं' भुक्तोद्धरितं प्रतीच्छेत्, यत्र तस्या निवृत्तोऽभिलाष इति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ किंच–'सिआ य' त्ति सूत्रं, 'स्याच्च' कदाचिच्च 'श्रमणार्थं' साधुनिमित्तं 'गुर्विणी' पूर्वोक्ता 'कालमासवती' गर्भाधानान्नवममासवतीत्यर्थः, उत्थिता वा यथाकथञ्चिन्निषीदेद् निषण्णा ददामीति साधुनिमित्तं, निषण्णा वा खव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेद् ददामीति साधुनिमित्तमेवेति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥ 'तं भवे' त्ति सूत्रं, तद्भवेद्भक्तपानं तु तथा निषीदनोत्थानाभ्यां दीयमानं संयतानामकल्पिकम्, इह च स्थविरकल्पिकानामनिषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमानं कल्पिकं, जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमित्येतत्पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ४१ ॥ किं च—'थणगं'ति सूत्रं, स्तनं (न्यं) पाययन्ती, किमित्याह–दारकं वा कुमारिकां, वाशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः, अत एव नपुंसकं वा,

१ छन्देन निमन्त्रणाज्ञापनार्थमतीत्यादि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तद्दारकादि निक्षिप्य रुदद्भ्यादौ आहरेत्पानभोजनम्, अत्रायं वृद्धसंप्रदायः–गच्छंवासी जइ थणजीवी पिअंतो णिक्खित्तो तो न गिण्हंति, रोवउ वा मा वा, अह अन्नंपि आहारेइ तो जति ण रोवइ तो गिण्हंति, अह रोवइ तो न गिण्हंति, अह अपिअंतो णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तओ ण गिण्हंति, अह ण रोवइ तो गिण्हंति, गच्छणिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा मा वा पिबंतओ (वा) अपिबंतओ वा ण गिण्हंति, जाहे अन्नंपि आहारेउं आढत्तो भवति ताहे जइ पिबंतओ तो रोवउ वा मा वा ण गेण्हंति, 'अह अपिबंतओ तो जइ रोवइ तो परिहरंति, अरोविए गेण्हंति, सीसो आह–को तत्थ दोसोऽत्थि?, आयरिओ भणइ–तस्स णिक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घिप्पमाणस्स अथिरत्तणेण परितावणादोसा मज्जारादि वा अवहरेज्ज त्ति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥ 'तं भवे' त्ति सूत्रं, तद्भवेद्भक्तपानं त्वनन्तरोदितं संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥ किं बहुनेति, उपदेशसर्वस्वमाह—'जं भवे'

१ गच्छवासी यदि स्तन्यजीवी पिबन् निक्षिप्तस्तदा न गृह्णाति, रोदितु वा मा वा, अथान्यदप्याहारयति तदा यदि न रोदिति तदा गृह्णाति, अथ रोदिति तदा न गृह्णाति, अथापिबन् निक्षिप्तः स्तन्यजीवी रोदिति तदा न गृह्णाति, अथ न रोदिति तदा गृह्णाति, गच्छनिर्गताः पुनर्यावत्स्तन्यजीवी तावद् रोदिति वा मा वा पिबन् अपिबन् वा न गृह्णन्ति, यदा अन्यदप्याहर्त्तुमारब्धो भवति तदा यदि पिबन् तदा रोदिति वा मा वा न गृह्णन्ति, अथापिबन् तदा यदि रोदिति तदा परिहरन्ति अरुदति गृह्णन्ति । शिष्य आह—कस्तत्र दोषोऽस्ति ?, आचार्यो भणति—तस्य निक्षिप्यमाणस्य खराभ्यां हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्यास्थिरत्वेन परितापनादोषा मार्जारादि वाऽपहरेत्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५--४६॥

दीप अनुक्रम [१२०--१२१]

त्ति सूत्रं, यद्भवेद्भक्तपानं तु 'कल्पाकल्पयोः' कल्पनीयाकल्पनीयधर्मविषय इत्यर्थः, किम्?—'शङ्कितं' न विद्मः किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं किंवा नेत्याशङ्कास्पदीभूतं, तदित्थंभूतमसति कल्पनीयनिश्चये ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेणवि केणइ ॥ ४५॥
तं च उब्भिंदिआ दिज्जा, समणट्ठाए व दावए । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥

किं च—'दगवारेण' त्ति सूत्रं, 'दकवारेण' उदककुम्भेन 'पिहितं' भाजनस्थं सन्तं स्थगितं, तथा 'नीसाए'त्ति पेषण्या, 'पीठकेन वा' काष्ठपीठादिना, 'लोढेन वापि' शिलापुत्रकेण, तथा 'लेपेन' मृल्लेपनादिना 'श्लेषेण वा' केनचिज्जतुसिक्थादिनेति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥ 'तं च' त्ति सूत्रं, 'तच्च' स्थगितं लिप्तं वा सत् उद्भिद्य दद्याच्छ्रमणार्थं दायकः, नात्मार्थं, तदित्थंभूतं ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥४६॥

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥ ४७ ॥ तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न

१ मधूच्छिष्टं तु सिक्थकम्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४७--५४॥

दीप अनुक्रम [१२२--१२९]

मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥ असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥ ४९ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५० ॥ असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥ ५१ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५२ ॥ असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥ ५३ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥

किं च—'असणं'ति सूत्रं, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यम्, '[1]अशनम्' ओदनादि 'पानकं' च आरनालादि, 'खाद्यं' लड्डुकादि, '[2]स्वाद्यं' हरीतक्यादि, यज्ञानीयादामन्त्रणादिना, शृणुयाद्वा अन्यतः, यथा दानार्थं प्रकृत-

१ दृश्यमानेष्वादर्शेषु तु 'ओदनारनाललड्डुकहरीतक्यादि' इत्येतावन्मात्रमेव. २ गुडसंस्कृतदन्तपवनादि ग्राह्यं, खाद्यकावधिश्चाशोकवृत्तिमोदकादिभोजनप्रकार इति पञ्चाशकोक्तेः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४७--५४||

दीप अनुक्रम [१२२--१२९]

मिदं, दानार्थं प्रकृतं नाम–साधुवादनिमित्तं यो ददात्यव्यापारपाखण्डिभ्यो देशान्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥ 'तारिसं'ति सूत्रं, तादृशं भक्तपानं दानार्थं प्रवृत्तव्यापारं संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ४८ ॥ 'असणं' ति सूत्रम्, एवं पुण्यार्थं, पुण्यार्थं प्रकृतं नाम–साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति । अत्राह–पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्तेः, तथाहि–न पितृकर्मादिव्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति, नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात्, स्वभृत्यभोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्येत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याप्यनिषेधादिति, एतेनाऽदेयदानाभावः प्रत्युक्तः, देयस्यैव यदृच्छादानानुपपत्तेः, कदाचिदपि वा दाने यदृच्छादानोपपत्तेः, तथा व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात्, तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽप्यारम्भप्रवृत्तेः नासौ तदर्थं इत्यारम्भदोषायोगात्, दृश्यते च कदाचित्सूतकादाविव सर्वेभ्य एव प्रदानविकला शिष्टाभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति, विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इत्यलं प्रसङ्गेन, अक्षरगमनिकामात्रफलत्वात्प्रयासस्येति ॥ ४९ ॥ 'तं भवे' त्ति सूत्रं, प्रतिषेधः पूर्ववत् ॥ ५० ॥ 'असणं'ति सूत्रं, एवं वनीपकार्थं वनीपकाः–कृपणाः ॥ ५१ ॥ 'तं भवे' त्ति सूत्रं, प्रतिषेधः पूर्ववत् ॥ ५२ ॥ 'असणं'ति सूत्रं, एवं श्रमणार्थं, श्रमणा–निर्ग्रन्थाः शाक्यादयः ॥ ५३ ॥ 'तं भवे' त्ति सूत्रं, प्रतिषेधः पूर्ववत् ॥ ५४ ॥

Jain Education Inter... For Private & Personal Use Only ...ainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५५॥

दीप अनुक्रम [१३०]

उद्देसिअं कीअगडं, पूइकम्मं च आहडं । अज्झोअर पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥ ५५ ॥

किंच—'उद्देसिअं'ति सूत्रं, उद्दिश्य कृतमौद्देशिकम्–उद्दिष्टकृतकर्मादिभेदं, क्रीतकृतं–द्रव्यभावक्रयक्रीतभेदं पूतिकर्म–संभाव्यमानाधाकर्मावयवसंमिश्रलक्षणम्, आहृतं–स्वग्रामाहृतादि, तथा अध्यवपूरकं–स्वार्थमूलाद्ग्रहणप्रक्षेपरूपं, प्रामित्यं–साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणं, मिश्रजातं च–आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपं, वर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं? । सुच्चा निस्संकिअं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ॥ ५६ ॥

संशयव्यपोहायोपायमाह—'उग्गमं' ति सूत्रं, 'उद्गमं' तत्प्रसूतिरूपम् 'से' तस्य शङ्कितस्याशनादेः 'पृच्छेत्' तत्स्वामिनं कर्मकरं वा, यथा–कस्यार्थमेतत् केन वा कृतमिति, श्रुत्वा तद्वचो न भवदर्थं किं त्वन्यार्थमित्येवंभूतं निःशङ्कितं 'शुद्धं' सदृजुत्वादिभावगत्या प्रतिगृह्णीयात्संयतो, विपर्ययग्रहणे दोषादिति सूत्रार्थः ॥५६॥

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौचरी संबंधी दोषाणां वर्णनं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

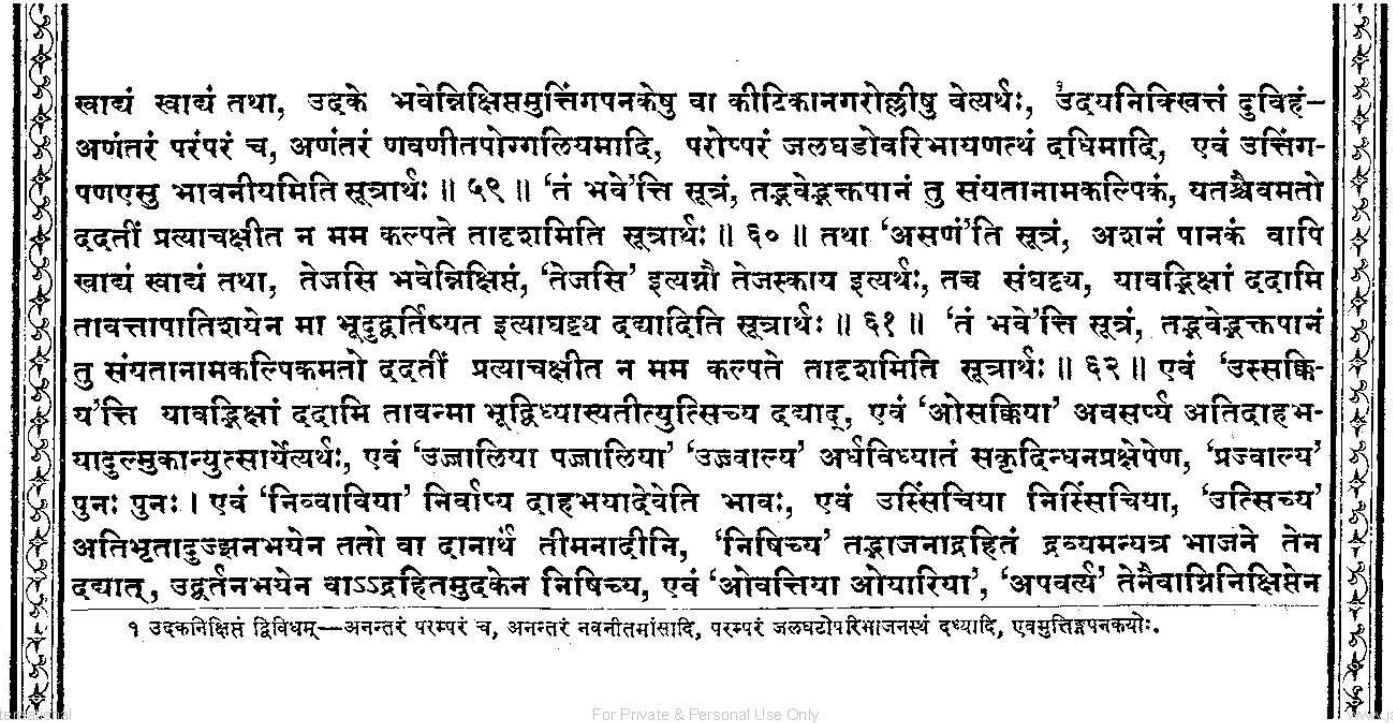
प्रत सूत्रांक ॥५७--६४॥

दीप अनुक्रम [१३२--१३९]

कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥ असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । उदगंमि हुज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ५९ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६० ॥ असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा । तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिआ दए ॥ ६१ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६२ ॥ एवं उस्सक्किया, ओसक्किया, उज्जालिआ, पज्जालिआ, निव्वाविया, उस्सिंचिया, निस्सिंचिया, उववत्तिया, ओयारिया दए ॥ ६३ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६४ ॥

तथा 'असणं' ति सूत्रं, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा 'पुष्पैः' जातिपाटलादिभिः भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वेति सूत्रार्थः ॥ ५७ ॥ 'तारिसं'ति सूत्रं, तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ५८ ॥ तथा 'असणं' ति सूत्रं, अशनं पानकं वापि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



खाद्यं स्वाद्यं तथा, उदके भवेन्निक्षिप्तमुत्तिंगपनकेषु वा कीटिकानगरोल्लीषु वेत्यर्थः, [1]उदयनिक्षिप्तं द्विविधं– अणंतरं परंपरं च, अणंतरं णवणीतपोग्गलियमादि, परोप्परं जलघडोवरिभायणत्थं दधिमादि, एवं उत्तिंगपणएसु भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ ५९ ॥ 'तं भवे'त्ति सूत्रं, तद्भवेद्भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥ तथा 'असणं'ति सूत्रं, अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा, तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, 'तेजसि' इत्यग्नौ तेजस्काय इत्यर्थः, तच्च संघट्टय, यावद्भिक्षां ददामि तावत्तापातिशयेन मा भूद्दुर्तिष्यत इत्याघट्टय दद्यादिति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥ 'तं भवे'त्ति सूत्रं, तद्भवेद्भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ एवं 'उस्सक्किय'त्ति यावद्भिक्षां ददामि तावन्मा भूद्भिध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्याद्, एवं 'ओसक्किया' अवसर्प्य अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः, एवं 'उज्जालिया पज्जालिया' 'उज्ज्वाल्य' अर्धविध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, 'प्रज्वाल्य' पुनः पुनः। एवं 'निव्वाविया' निर्वाप्य दाहभयादेवेति भावः, एवं उस्सिंचिया निस्सिंचिया, 'उत्सिच्य' अतिभृतादुज्झनभयेन ततो वा दानार्थं तीमनादीनि, 'निषिच्य' तद्भाजनाद्रहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात्, उद्वर्तनभयेन वाऽऽर्द्रहितमुदकेन निषिच्य, एवं 'ओवत्तिया ओयारिया', 'अपवर्त्य' तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन

१ उदकनिक्षिप्तं द्विविधम्—अनन्तरं परम्परं च, अनन्तरं नवनीतमांसादि, परम्परं जलघटोपरिभाजनस्थं दध्यादि, एवमुत्तिङ्गपनकयोः.

Jain Education Int... For Private & Personal Use Only ...jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६५--६९॥

दीप अनुक्रम [१४०--१४२]

भाजनेनान्येन वा दद्यात्, तथा 'अवतार्य' दाहभयादानार्थं वा दद्यात्, अत्र तदन्यच्च साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ ६३ ॥ 'तं भवे' त्ति सूत्रं पूर्ववत् ॥ ६४ ॥

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया । ठविअं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥ ६५ ॥ ण तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो । गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिअसमाहिए ॥ ६६ ॥ निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ता णमारुहे । मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठा एव दावए ॥ ६७ ॥ दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए । पुढविजीवे विहिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिया जगे ॥ ६८ ॥ एआरिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो । तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥ ६९ ॥

गोचराधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य 'होज्ज' त्ति सूत्रं, भवेत् काष्ठं शिला वापि इष्टालं वाऽपि 'एकदा' एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं संक्रमार्थं, तच्च भवेत् 'चलाचलम्' अप्रतिष्ठितं, न तु स्थिरमेवेति सूत्रार्थः ॥ ६५ ॥ 'ण तेण' त्ति सूत्रं, न 'तेन' काष्ठादिना भिक्षुर्गच्छेत्, किमिति?, अत्राह–दृष्टस्तत्रासंयमः, तच्चलने प्राण्युपमर्दसंभवात्, तथा 'गम्भीरम्' अप्रकाशं 'शुषिरं चैव' अन्तःसाररहितम्, 'सर्वेन्द्रियसमाहितः' शब्दा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||७०--७४||

दीप अनुक्रम [१४५--१४९]

दिषु रागद्वेषावगच्छन्, परिहरेदिति सूत्रार्थः ॥ ६६ ॥ किं च—'णिस्सेणिं' ति सूत्रं, निश्रेणिं फलकं पीठम् 'उस्सवित्ता' उत्सृत्य ऊर्द्धं कृत्वा इत्यर्थः, आरोहेन्मञ्चं, कीलकं च उत्सृत्य कमारोहेदित्याह–प्रासादं, 'श्रमणार्थं' साधुनिमित्तं 'दायको' दाता आरोहेत्, एतदप्यग्राह्यमिति सूत्रार्थः ॥ ६७ ॥ अत्रैव दोषमाह—'दुरूहमाणि' त्ति सूत्रं, आरोहन्ती प्रपतेत्, प्रपतन्ती च हस्तं पादं वा 'लूषयेत्' स्वकं स्वत एव खण्डयेत्, तथा पृथ्वीजीवान् विहिंस्यात्, कथंचित्तत्रस्थान्, तथा यानि च तन्निश्रितानि 'जगन्ति' प्राणिनस्तांश्च हिंस्यादिति सूत्रार्थः ॥ ६८ ॥ 'एआरिसे' त्ति सूत्रं, 'ईदृशान्' अनन्तरोदितरूपान्महादोषान् ज्ञात्वा 'महर्षयः' साधवः। यस्मादोषकारिणीयं तस्मात् 'मालापहृतां' मालादानीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति संयताः, पाठान्तरं वा 'हंदि मालोहडं' ति, हन्दीत्युपप्रदर्शन इति सूत्रार्थः ॥ ६९ ॥

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं । तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ ७० ॥ तहेव सत्तुचुन्नाइं, कोलचुन्नाइं आवणे । सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ ७१ ॥ विक्कायमाणं पसढं, रएणं परिफासिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७२ ॥ बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं । अच्छियं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥ ७३ ॥ अप्पे सिआ भोअणजाए, बहुउज्झियध-
म्मियं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

प्रतिषेधाधिकार एवाह—'कंदं मूलं' ति सूत्रं, 'कन्दं' सूरणादिलक्षणम् 'मूलं' विदारिकारूपम् 'प्रलम्बं वा' तालफलादि, आमं छिन्नं वा 'सश्चिरम्' सश्चिरमिति पत्रशाकम्, 'तुम्बाकं' त्वग्भिंजान्तर्वर्ति आर्द्रं वा तुलसीमित्यन्ये, 'शृङ्गबेरं' चार्द्रकम्, आमं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ ७० ॥ 'तहेव' त्ति सूत्रं, तथैव 'सक्तुचूर्णान्' सक्तून् 'कोलचूर्णान्' बदरसक्तून् 'आपणे' वीथ्यां, तथा 'शष्कुलीं' तिलपर्पटिकां 'फाणितं' द्रवगुडं 'पूयं' कणिकादिमयम्, अन्यद्वा तथाविधं मोदकादि ॥ ७१ ॥ किमित्याह—'विक्कायमाणं' ति सूत्रं, विक्रीयमाणमापणे इति वर्तते, 'प्रसह्य' अनेकदिवसस्थापनेन प्रकटम्, अत एव 'रजसा' पार्थिवेन 'परिस्पृष्टं' व्याप्तं, तदित्थम्भूतं तत्र ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ ७२ ॥ किंच—'बहुअट्ठियं-' ति सूत्रं, बहूस्थि 'पुद्गलं' मांसम् 'अनिमिषं वा' मत्स्यं वा बहुकण्टकम्, अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः, अन्ये त्वभिदधति–वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते इति, तथा चाह—'अत्थिकं' अस्थिकवृक्षफलम्, 'तेंदुकं' तेंदुरुकीफलम्, बिल्वम् इक्षुखण्डमिति च प्रतीते, 'शाल्मलिं वा' वल्लादिफलिं वा, वाशब्दस्य व्यवहितः संबन्ध इति सूत्रार्थः ॥ ७३ ॥ अत्रैव दोषमाह—'अप्पे'त्ति सूत्रं, अल्पं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७५--८१॥

दीप अनुक्रम [१५०--१५६]

स्याद्भोजनजातमत्र, अपि तु बहूज्झनधर्मकमेतत्, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ७४ ॥

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोअणं । संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए ॥ ७५ ॥ जं जाणेज्ज चिराधोयं, मईए दंसणेण वा । पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकिअं भवे ॥ ७६ ॥ अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए । अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोअए ॥ ७७ ॥ थोवमासायणट्ठाए, हत्थगंमि दलाहि मे । मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥ तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तण्हं विणित्तए । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥ तं च होज्ज अकामेण, विमणेणं पडिच्छिअं । तं अप्पणा न पिबे, नोवि अन्नस्स दावए ॥ ८० ॥ एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ । जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८१ ॥

उक्तोऽशनविधिः, साम्प्रतं पानविधिमाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव यथाशनमुच्चावचं तथा पानम् 'उच्चं' वर्णाद्युपेतं द्राक्षापानादि 'अवच्चं' वर्णादिहीनं पूत्यारनालादि अथवा 'वारकधावनं' गुडघटधावनमित्यर्थः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशन संबंधी विधिः प्रदर्शिता: अथ पान संबंधी विधिः कथयते

प्रत सूत्रांक ||७५--८१||

दीप अनुक्रम [१५०--१५६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

'संखेदजं' पिष्टोदकादि, एतदशनवदुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति वाक्यशेषः, 'तन्दुलोदकम्' अद्विकरकं 'अधुनाधौतम्' अपरिणतं विवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ ७५ ॥ अत्रैव विधिमाह—'जं जाणिज्ज'त्ति सूत्रं, यत्तन्दुलोदकं 'जानीयात्' विद्याच्चिरधौतम्, कथं जानीयादित्यत आह–मत्या दर्शनेन वा, 'मत्या' तद्ग्रहणादिकर्मजया 'दर्शनेन वा' वर्णादिपरिणतसूत्रानुसारेण च, वा चशब्दार्थः, तदप्येवंभूतं कियती वेलाऽस्य धौतस्येति पृष्ट्वा गृहस्थं, 'श्रुत्वा वा' महती वेलेति श्रुत्वा च प्रतिवचनं 'यच्चे'ति यदेव निःशङ्कितं भवति निरवयवप्रशान्ततया तन्दुलोदकं तत्प्रतिगृह्णीयादिति, विशेषः पिण्डनिर्युक्तावुक्त इति सूत्रार्थः ॥ ७६ ॥ उष्णोदकादिविधिमाह—'अजीवं'ति सूत्रं, उष्णोदकमजीवं परिणतं 'ज्ञात्वा' त्रिदण्डपरिवर्तनादिरूपं मत्या दर्शनेन वेलादि वर्तते, तदित्थंभूतं प्रतिगृह्णीयात्संयतः, चतुर्थरसमपूत्यादि देहोपकारकं मत्यादिना ज्ञात्वेत्यर्थः, अथ शङ्कितं भवेत् तत आस्वाद्य 'रोचयेद्' विनिश्चयं कुर्यादिति सूत्रार्थः ॥ ७७ ॥ तचैवं—'थोवं'ति सूत्रं, स्तोकमास्वादनार्थं प्रथमं तावत् हस्ते देहि मे, यदि साधुप्रायोग्यं ततो ग्रहीष्ये, मा मे अत्यम्लं पूति नालं तृडपनोदाय । ततः किमनेनानुपयोगिनेति सूत्रार्थः ॥ ७८ ॥ 'तं च' त्ति सूत्रं, सुगमम् ॥ ७९ ॥ आस्वादितं च सत्साधुप्रायोग्यं चेद्गृह्यत एव नो चेदग्राह्यं । 'तं च'त्ति सूत्रं, 'तच्च' अत्यम्लादि भवेद् 'अकामेन' उपरोधशीलतया 'विमनस्केन' अन्यचित्तेन 'प्रतीप्सितं' गृहीतम् तदात्मना कायापकारकमित्यनाभोगधर्मश्रद्धया न पिबेत् नाप्यन्येभ्यो दापयेत्, रत्नाधिकेनापि स्वयं दानस्य प्रतिषेधज्ञापनार्थं दापनग्रहणम्, इह च 'सव्वत्थ संजमं संज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥८२--८६॥

दीप अनुक्रम [१५७--१६१]

माओ अप्पाणमेवे'त्यादि भावनयेति सूत्रार्थः ॥ ८० ॥ अस्यैव विधिमाह—'एगंतं'ति सूत्रं, एकान्तम् 'अवक्रम्य' गत्वा 'अचित्तं' दग्धदेशादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणेन स्थण्डिलमिति गम्यते 'यतम्' अत्वरितं प्रतिष्ठापयेद्विधिना त्रिर्वाक्यपूर्वं व्युत्सृजेत् । प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेदीर्यापथिकाम् । एतच्च बहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रतिक्रमणमबहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणनियमज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥८१॥

सिआ अ गोयरग्गगओ, इच्छिज्जा परिभुत्तुअं(भुंजिउं) । कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुअं ॥ ८२ ॥ अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नंमि संवुडे । हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥ तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिअं कंटओ सिआ । तणकट्ठसक्करं वावि, अन्नं वावि तहाविहं ॥ ८४ ॥ तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डए । हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ॥ ८५ ॥ एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ । जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८६ ॥

एवमन्नपानग्रहणविधिमभिधाय भोजनविधिमाह—'सिआ अ'त्ति सूत्रं, 'स्यात्' कदाचिद् 'गोचराग्रगतो' ग्रामान्तरं भिक्षां प्रविष्ट इच्छेत्परिभोक्तुं पानादि पिपासाद्यभिभूतः सन्, तत्र साधुवसत्यभावे 'कोष्ठकं'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण व परिष्ठापन संबंधी उपदेशः

प्रत सूत्रांक ॥८२--८६॥

दीप अनुक्रम [१५७--१६१]

शून्यचैत्यमठादि 'भित्तिमूलं वा' कुड्यैकदेशादि, प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणेन 'प्रासुकं' बीजादिरहितं चेति सूत्रार्थः ॥ ८२ ॥ तत्र 'अणुन्नवि'त्ति सूत्रं, 'अनुज्ञाप्य' सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं 'मेधावी' साधुः 'प्रतिच्छन्ने' तत्र कोष्ठकादौ 'संवृत' उपयुक्तः सन् साधुरीर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु 'हस्तकं' मुखवस्त्रिकारूपम्, आदायेति वाक्यशेषः, संप्रमृज्य विधिना तेन कार्यं तत्र भुञ्जीत 'संयतो' रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः ॥ ८३ ॥ 'तत्थ'त्ति सूत्रं, 'तत्र' कोष्ठकादौ 'से' तस्य साधोर्भुञ्जानस्य अस्थि कण्टको वा स्यात्, कथंचिद्गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये, तृणकाष्ठशर्करादि चापि स्यात्, उचितभोजनेऽन्यद्वापि तथाविधं बदरकर्कटकादीति सूत्रार्थः ॥ ८४ ॥ 'तं उक्खिवित्तु' इति सूत्रं, 'तद्' अस्थ्यादि उत्क्षिप्य हस्तेन यत्र क्वचिन्न निक्षिपेत्, तथा 'आस्येन' मुखेन नोज्झेत्, मा भूद्विराधनेति, अपितु हस्तेन गृहीत्वा 'तद्' अस्थ्यादि एकान्तमवक्रामेदिति सूत्रार्थः ॥ ८५ ॥ 'एगंत'त्ति सूत्रं, एकान्तमवक्रम्य अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य यतं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रामेदिति, भावार्थः पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ८६ ॥

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुअं । सपिंडपायमागम्म, उंडुअं पडिलेहिआ ॥ ८७ ॥ विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी । इरियावहियमायाय, आगओ अ पडिक्कमे ॥ ८८ ॥ आभोइत्ताण नीसेसं, अईआरं जहक्कमं । गमणाग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणे चेव, भत्तपाणे व संजए ॥ ८९ ॥ उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा। आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहिअं भवे ॥ ९० ॥ न सम्ममालोइअं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं। पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥ ९१ ॥ अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ। मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥ ९२ ॥ णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं । सज्झायं पट्ठवित्ता णं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥ ९३ ॥ वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमस्सिओ। जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥ ९४ ॥ साहवो तो चिअत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं। जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥ अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एक्कओ। आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥ ९६ ॥

वसतिमधिकृत्य भोजनविधिमाह—'सिआ य'त्ति सूत्रं, 'स्यात्' कदाचित् तदन्यकारणाभावे सति भिक्षुरिच्छेत् 'शय्यां' वसतिमागम्य परिभोक्तुं, तत्रायं विधिः–सह पिण्डपातेन–विशुद्धसमुदानेनागम्य, वसति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८७--९६॥

दीप अनुक्रम [१६२--१७१]

मिति गम्यते, तत्र बहिरेवोन्दुकं–स्थानं प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं विशोधयेदिति सूत्रार्थः ॥ ८७॥ तत ऊर्ध्वं 'विणएण'त्ति सूत्रं, विशोध्य पिण्डं बहिः 'विनयेन' नैषेधिकीनमःक्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते, सकाशे गुरोः मुनिः, गुरुसमीप इत्यर्थः, 'ईर्यापथिकामादाय' "इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए" इत्यादि पठित्वा सूत्रं, आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रामेत्–कायोत्सर्गं कुर्यादिति सूत्रार्थः ॥ ८८ ॥ 'आभोइत्ताण'त्ति सूत्रं, तत्र कायोत्सर्गे 'आभोगयित्वा' ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं 'यथाक्रमं' परिपाट्या, केत्याह—'गमनागमनयोश्चैव' गमने गच्छत आगमन आगच्छतो योऽतिचारः तथा 'भक्तपानयोश्च' भक्ते पाने च योऽतिचारः तं 'संयतः' साधुः कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेदिति सूत्रार्थः ॥ ८९ ॥ विधिनोत्सारिते चैतस्मिन् 'उज्जुप्पन्न'त्ति सूत्रं, 'ऋजुप्रज्ञः' अकुटिलमतिः सर्वत्र 'अनुद्विग्नः' क्षुदादिजयात्प्रशान्तः अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थः, आलोचयेद्गुरुसकाशे, गुरोर्निवेदयेदिति भावः, 'यद्' अशनादि 'यथा' येन प्रकारेण हस्तदा (धाव) नादिना गृहीतं भवेदिति सूत्रार्थः ॥९०॥ तदनु च 'न संभं'ति सूत्रं, न सम्यगालोचितं भवेत् सूक्ष्मम् अज्ञानात्–अनाभोगेनाननुस्मरणाद्वा, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतं, पुरःकर्म पश्चात्कर्म वेत्यर्थः, 'पुनः' आलोचनोत्तरकालं प्रतिक्रामेत् 'तस्य' सूक्ष्मातिचारस्य 'इच्छामि पडिक्कमिउं गोअरचरिआए, इत्यादि सूत्रं पठित्वा 'व्युत्सृष्टः' कायोत्सर्गस्थश्चिन्तयेदिदं–वक्ष्यमाणलक्षणमिति सूत्रार्थः॥९१॥ 'अहो जिणेहिं' सूत्रं, 'अहो' विस्मये 'जिनैः' तीर्थकरैः 'असावद्या' अपापा 'वृत्तिः' वर्त्तना साधूनां दर्शिता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशिता वा 'मोक्षसाधनहेतोः' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसाधनस्य साधुदेहस्य 'धारणाय' संधारणार्थमिति सूत्रार्थः ॥ ९२ ॥ ततश्च—'णमोक्कारेण'त्ति सूत्रं, नमस्कारेण पारयित्वा 'नमो अरिहंताण'मित्यनेन, कृत्वा जिनसंस्तवं "लोगस्सुज्जोअगरे" इत्यादिरूपं, ततो न यदि पूर्वं प्रस्थापितस्ततः स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् 'क्षणं' स्तोककालं मुनिरिति सूत्रार्थः ॥ ९३ ॥ 'वीसमंत'त्ति सूत्रं, विश्राम्यन्निदं चिन्तयेत् परिणतेन चेतसा,–'हितं' कल्याणप्रापकमर्थं–वक्ष्यमाणं, किंविशिष्टः सन्?–भावलाभेन–निर्जरादिनाऽर्थोऽस्येति लाभार्थिकः, यदि 'मे' मम अनुग्रहं कुर्युः साधवः प्रासुकपिण्डग्रहणेन ततः स्यामहं तारितो भवसमुद्रादिति सूत्रार्थः ॥ ९४ ॥ एवं संचिन्त्योचितवेलायामाचार्यमामन्त्रयेद्, यदि गृह्णाति शोभनं, नो चेद्वक्तव्योऽसौ भगवन्! देहि केभ्योऽप्यतो यद्दातव्यं, ततो यदि ददाति सुन्दरम्, अथ भणति त्वमेव प्रयच्छ, अत्रान्तरे—'साहवो'त्ति सूत्रं, साधूंस्ततो गुर्वनुज्ञातः सन् 'चिअत्तेण'ति मनःप्रणिधानेन निमन्त्रयेत् 'यथाक्रमं' यथारत्नाधिकतया, ग्रहणौचित्यापेक्षया बालादिक्रमेणेत्यन्ये, यदि तत्र 'केचन' धर्मबान्धवाः 'इच्छेयुः' अभ्युपगच्छेयुस्ततस्तैः सार्धं भुञ्जीत उचितसंविभागदाननेनेति सूत्रार्थः ॥९४–९५॥ 'अह कोइ'त्ति सूत्रं, अथ कश्चिन्नेच्छेत् साधुस्ततो भुञ्जीत 'एककः' रागादिरहित इति, कथं भुञ्जीतेत्यत्राह—'आलोके भाजने' मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः 'साधुः' प्रव्रजितः 'यतं' प्रयत्नेन तत्रोपयुक्तः 'अपरिशाटं' हस्तमुखाभ्यामनुज्झन् इति सूत्रार्थः ॥ ९६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥९७--१००॥

दीप अनुक्रम [१७२--१७५]

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा। एअलद्धमन्नत्थ पउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥ ९७ ॥ अरसं विरसं वावि, सूइअं वा असूइअं। उल्लं वा जइवा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोअणं ॥ ९८ ॥ उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुअं। मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ॥ ९९ ॥ दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवीवि दुल्लहा। मुहादाई मुहाजीवी, दोऽवि गच्छंति सुग्गइं ॥ १०० ॥ ति बेमि। पिंडेसणाए पढमो उद्देसो समत्तो ॥ १ ॥

भोज्यमधिकृत्य विशेषमाह—'तित्तगं व'त्ति सूत्रं, तिक्तकं वा एलुकवालुङ्कादि, कटुकं वा आर्द्रकतीमनादि, कषायं वल्लादि, अम्लं तक्रारनालादि, मधुरं क्षीरमध्वादि, लवणं वा प्रकृतिक्षारं तथाविधं शाकादि लवणोत्कटं वाऽन्यत्, एतत्तिक्तादि 'लब्धम्' आगमोक्तेन विधिना प्राप्तम् 'अन्यार्थम्' अक्षोपाङ्गन्यायेन परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं तत्साधकमितिकृत्वा मधुघृतमिव च भुञ्जीत संयतः, न वर्णाद्यर्थम्, अथवा मधुघृतमिव 'णो वामाओ हणुआओ दाहिणं हणुअं संचारेज्ज'त्ति सूत्रार्थः ॥ ९७ ॥ किंच—'अरसं'ति सूत्रं, अर-

१ द्रवत्वात् यथा शीघ्रं जीर्यते तथा. २ न वामाद्धनुतो दक्षिणं हनुं संचारयेत्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोज्यं अधिकृत्य विशेष उपदेशः

सम्–असंप्रासरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमित्यर्थः, 'विरसं वापि' विगतरसमतिपुराणौदनादि 'सूचितं' व्यञ्जनादियुक्तम् 'असूचितं वा' तद्रहितं वा, कथयित्वा अकथयित्वा वा दत्तमित्यन्ये, 'आर्द्रं' प्रचुरव्यञ्जनम्, यदिवा शुष्कं स्तोकव्यञ्जनं वा, किं तदित्याह—'मन्थुकुल्माषभोजनं' मन्थु–बदरचूर्णादि कुल्माषाः–सिद्धमाषाः, यवमाषा इत्यन्ये इति सूत्रार्थः ॥ ९८ ॥ एतद्भोजनं किमित्याह—'उप्पण्णं'ति सूत्रं, 'उत्पन्नं' विधिना प्रासं 'नातिहीलयेत्' सर्वथा न निन्देत्, अल्पमेतन्न देहपूरकमिति किमनेन?, बहु वा असारप्रायमिति, वाशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः, किंविशिष्टं तदित्याह—'प्रासुकं' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः, अन्ये तु व्याचक्षते –अल्पं वा, वाशब्दाद्विरसादि वा, बहुप्रासुकं–सर्वथा शुद्धं नातिहीलयेदिति, अपि त्वेवं भावयेत्–यदेवेह लोका ममानुपकारिणः प्रयच्छन्ति तदेव शोभनमिति । एवं 'मुधालब्धं' कोण्टलादिव्यतिरेकेण प्रासं 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये, भुञ्जीत 'दोषवर्जितं' संयोजनादिरहितमिति सूत्रार्थः ॥ ९९ ॥ एतदुरापमिति दर्शयति—'दुल्लह'त्ति, दुर्लभा एव मुधादातारः, तथाविधभागवतवत्, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः, तथाविधचेल्लकवत् । अमीषां फलमाह–मुधादातारो मुधाजीविनश्च द्वावप्येतौ गच्छतः 'सुगतिं' सिद्धिगतिं कदाचिदनन्तरमेव कदाचिद्देवलोकसुमानुषप्रत्यागमनपरम्परया । ब्रवीमीति पूर्ववत् । अत्र भागवतोदाहरणम्–जहा एगो परिव्वायगो सो एगं भागवयं उवट्ठिओ, अहं तव गिहे

१ यथैकः परिव्राजकः, स एकं भागवतमुपस्थितः, अहं तव गृहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]वरिसारत्तं करेमि, मम उदंतं वहाहि, तेण भणिओ–जइ मम उदंतं न वहसि, एवं हवउ त्ति। सो से भागवओ सेज्जभत्तपाणादिणा उदंतं वहति। अन्नया य तस्स घोडओ चोरेहिं हिओ, अतिप्पभायंतिकाऊण जालीए बद्धो, सो अ परिव्वायगो तलाए ण्हायओ गओ, तेण सो घोडओ दिट्ठो, आगंतुं भणइ–मम पाणीयतडे पोत्ती विस्सरिया, गोहो विसज्जिओ, तेण घोडओ दिट्ठो, आगंतुं कहियं, तेण भागवएण णायं, जहा–परिव्वायगेण कहियं। तेण परिव्वायगो भण्णति–जाहि, णाहं तव णिव्विट्ठं उदंतं वहामि, णिव्विट्ठं अप्पफलं भवति। एरिसो सुधादाई ॥ सुधाजीविंमि उदाहरणं–एक्को राया धम्मं परिक्खई, को धम्मो ?, जो अणिव्विट्ठं भुंजइ त्ति, तो तं परिक्खामित्ति काऊण मणुस्सा संदिट्ठा, राया मोदए देइ, तत्थ बहवे कप्पडियादयो आगया, पुच्छिज्जंति–तुम्हे केण भुंजह ?, अन्नो भणइ–अहं मुहेण भुंजामि, अन्नो–अहं पाएहिं, अन्नो–अहं हत्थेहिं, अन्नो–अहं लोगाणुग्गहेण, चेल्लगो भणइ–अहं मुहियाए। रण्णा पुच्छिअं–कहं चिअ ?, एगेण

[1] वर्षारात्रं करोमि ममोदन्तं वह, तेन भणितः—यदि ममोदन्तं न वहसि, एवं भवत्विति, स भागवतस्तस्मै शय्याभक्तपानादिनोदन्तं वहति। अन्यदा च तस्य घोटकश्चौरैर्हृतः, अतिप्रभातमितिकृत्वा जाल्यां बद्धः, स च परिव्राजकस्तटाके स्नातुं गतः, तेन स घोटको दृष्टः, आगत्य भणति—मम पोतिका पानीयतटे विस्मृता, कर्मकरो विसृष्टः, तेन घोटको दृष्टः, आगत्य कथितं। तेन भागवतेन ज्ञातं, यथा—परिव्राजकेन कथितं। तेन परिव्राजको भण्यते—याहि, नाहं तव निर्विष्टं (ससेवं) उदन्तं वहामि, निर्विष्टमल्पफलं भवति। ईदृशो सुधादायी। सुधाजीविन्युदाहरणम्—एको राजा धर्मं परीक्षते, को धर्मः ?, योऽनिर्विष्टं भुङ्क्ते इति, ततस्तत् परीक्षे इतिकृत्वा मनुष्याः संदिष्टाः, राजा मोदकान् ददाति, तत्र बहवः कार्पटिकादय आगताः, पृच्छ्यन्ते—यूयं केन भुञ्ज्ध्वम् ?, अन्यो भणति—अहं मुखेन भुञ्जे, अन्यः—अहं पादाभ्याम्, अन्यः—अहं हस्ताभ्याम्, अन्यः—अहं लोकानुग्रहेण, क्षुल्लको भणति—अहं मुधिकया। राज्ञा पृष्टं—कथमेव ?, एकेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||९७--१००||

दीप अनुक्रम [१७२--१७५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

कहिअं–अहं कहगो अओ मुहेण, अण्णेण भणिअं–अहं लेहवाहगो अओ पाएहिं, अण्णेण भणिअं–अहं लेहगो अओ हत्थेहिं, भिक्खुणा भणिअं–अहं पव्वइओ अओ लोगाणुग्गहेण, चेल्लएण भणिअं–अहं संजायसंसारविरागो अओ मुहियाए, ताहे सो राया एस धम्मोत्तिकाऊण आयरियसमीवं गओ, पडिबुद्धो पव्वइओ य। एसो मुहाजीवित्ति सूत्रार्थः॥ १०० ॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकवृत्तौ पिण्डैषणाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः ॥ १ ॥

पडिग्गहं संलिहित्ता णं, लेवमायाए संजए । दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥ १ ॥

पिण्डैषणायाः प्रथमोद्देशके प्रक्रान्तोपयोगि यन्नोक्तं तदाह—'पडिग्गहं'ति सूत्रं, 'प्रतिग्रहं' भाजनं 'संलिख्य' प्रदेशिन्या निरवयवं कृत्वा, कथमित्याह—'लेपमर्यादया' अलेपं संलिख्य 'संयतः' साधुः दुर्गन्धि वा

१ कथितम्—अहं कथकः अतो मुखेन, अन्येन भणितम्—अहं लेखवाहकः अतः पादाभ्यां, अन्येन भणितम्—अहं लेखकोऽतो हस्ताभ्याम्, अन्येन भणितम्—अहं भिक्षुरतो लोकानुग्रहेण, क्षुल्लकेन भणितम्—अहं संजातसंसारवैराग्योऽतो मुधिकया । तदा स राजा एष धर्म इतिकृत्वाऽऽचार्यसमीपं गतः, प्रतिबुद्धः प्रव्रजितश्च, एष मुधाजीवीति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र पञ्चम-अध्ययने प्रथम-उद्देशकः समाप्तः एवं द्वितिय उद्देशकः आरम्भः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१७६]

सुगन्धि वा भोजनजातं, गन्धग्रहणं रसाद्युपलक्षणं, 'सर्वं' निरवशेषं 'भुञ्जीत' अश्नीयात् 'नोज्झेत्' नोत्सृजेत् किञ्चिदपि, मा भूत्संयमविराधना। अस्यैवार्थस्य गरीयस्त्वख्यापनाय सूत्रार्धयोर्व्यत्ययोपन्यासः, प्रतिग्रहशब्दो माङ्गलिक इत्युद्देशादौ तदुपन्यासार्थं वा, अन्यथैवं स्यात्–दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा, सर्वं भुञ्जीत नोज्झेत्। प्रतिग्रहं संलिह्य लेपमर्यादया संयतः। विचित्रा च सूत्रगतिरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोअरे। अयावयट्ठा भुच्चा णं, जइ तेणं न संथरे ॥२॥

तओ कारणमुप्पण्णे, भत्तपाणं गवेसए। विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ॥ ३ ॥

विधिविशेषमाह—'सेज्ज'त्ति सूत्रं, 'शय्यायां' वसतौ 'नैषेधिक्यां' स्वाध्यायभूमौ, शय्यैव वाऽसमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी तस्यां समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादिः छन्नमठादौ अयावदर्थं भुक्त्वा न यावदर्थम्–अपरिसमाप्तमित्यर्थः, णमिति वाक्यालङ्कारे। यदि तेन भुक्तेन 'न संस्तरेत्' न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ 'तओ'त्ति सूत्रं, ततः 'कारणे' वेदनादावुत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्तपानं 'गवेषयेद्' अन्विष्येत्(न्वेषये)त्, अन्यथा सकृदुक्तमेव यतीनामिति 'विधिना' पूर्वोक्तेन संप्राप्ते भिक्षाकाल इत्यादिना, अनेन च वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण चेति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे। अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं स-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शय्या, नैषेधिक्या आदि संबंधी विशेष विधिः प्रदर्श्यते

प्रत सूत्रांक ||४-१३||

दीप अनुक्रम [१७९--१८८]

मायरे ॥ ४ ॥ अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पडिलेहसि । अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥ सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं । अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहिआसए ॥ ६ ॥ तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया । तं उजुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥ ७ ॥ गोअरग्गपविट्ठो अ, न निसीइज्ज कत्थई । कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ता ण व संजए ॥ ८ ॥ अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए । अवलंबिआ न चिट्ठिज्जा, गोअरग्गगओ मुणी ॥ ९ ॥ समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं । उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥ १० ॥ तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोअरे । एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥ ११ ॥ वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा । अप्पत्तिअं सिआ हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ १२ ॥ पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए । उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥ १३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४-१३॥

दीप अनुक्रम [१७९--१८८]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

'कालेणं'ति सूत्रं, यो यस्मिन् ग्रामादावुचितो भिक्षाकालस्तेन करणभूतेन 'निष्क्रामेद्'भिक्षुर्वसतेर्भिक्षायै, कालेन चोचितेनैव यावता स्वाध्यायादि निष्पद्यते तावता 'प्रतिक्रामेत्' निवर्तेत। भणिअं च–खेत्तं कालो भायणं तिन्निवि पहुप्पंति हिंडउत्ति अट्ठ भंगा। 'अकालं च वर्जयित्वा' येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते स खल्वकालस्तमपास्य काले कालं समाचरेदिति सर्वयोगोपसंग्रहार्थं निगमनं, भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादिवेलायां स्वाध्यायादीनीति, उक्तं च—'[2]जोगो जोगो जिणसासणंमी'त्यादि, इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ अकालचरणे दोषमाह—'अकाले'त्ति सूत्रं, अकालचारी कश्चित् साधुरलब्धभैक्षः केनचित् साधुना प्राप्ता भिक्षा नवेत्यभिहितः सन्नेवं ब्रूयात्–कुतोऽत्र स्थण्डिलसंनिवेशे भिक्षा?, स तेनोच्यते–अकाले चरसि भिक्षो! प्रमादात्स्वाध्यायलोभाद्वा, कालं न प्रत्युपेक्षसे, किमयं भिक्षाकालो नवेति, अकालचरणेनात्मानं च ग्लपयसि दीर्घाटनन्यूनोदरभावेन, संनिवेशं च गर्हसि भगवदाज्ञालोपतो दैन्यं प्रतिपद्येति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ यस्मादयं दोषः संभाव्यते तस्मादकालाटनं न कुर्यादिति। 'सति'त्ति सूत्रं, 'सति' विद्यमाने 'काले' भिक्षासमये चरेद्भिक्षुः, अन्ये तु व्याचक्षते–स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षाकाः स स्मृतिकालस्तस्मिन्, 'चरेद्भिक्षुः' भिक्षार्थं यायात्, कुर्यात् पुरुषकारं, जङ्घाबले सति वीर्याचारं न लङ्घयेत्। तत्र चालाभेऽपि भिक्षाया अलाभ इति न शोचयेद्, वीर्याचाराराधनस्य निष्पन्नत्वात्, तदर्थं च भिक्षाटनं नाहारार्थमेवातो न शोचेत्,

१ भणितं च—क्षेत्रं कालो भाजनं त्रीण्यपि प्रभवन्ति हिण्डमानस्येत्यष्टौ भङ्गाः. २ योगो योगो जिनशासने.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४-१३॥

दीप अनुक्रम [१७९--१८८]

अपितु तप इत्यधिसहेत, अनशनन्यूनोदरतालक्षणं तपो भविष्यतीति सम्यग्विचिन्तयेदिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ उक्ता कालयतना, अधुना क्षेत्रयतनामाह—'तहेव'त्ति, तथैव 'उच्चावचाः' शोभनाशोभनभेदेन नानाप्रकाराः प्राणिनो भक्तार्थं समागता बलिप्राभृतिकादिष्वागता भवन्ति, 'तदजुकं' तेषामभिमुखं न गच्छेत्, तत्संत्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोषात्, किंतु यतमेव पराक्रामेत्, तदुद्वेगमनुत्पादयन्निति सूत्रार्थः ॥७॥ किं च 'गोअरग्ग'त्ति सूत्रं, गोचराग्रप्रविष्टस्तु भिक्षार्थं प्रविष्ट इत्यर्थः 'न निषीदेत्' नोपविशेत् 'क्वचिद्' गृहदेवकुलादौ, संयमोपघातादिप्रसङ्गात्, 'कथां च' धर्मकथादिरूपां 'न प्रबध्नीयात्' प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह, अत एवाह–स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इति, अनेषणाद्वेषादिदोषप्रसंगादिति सूत्रार्थः ॥८॥ उक्ता क्षेत्रयतना, द्रव्ययतनामाह—'अग्गलं'ति सूत्रं, 'अर्गलं' गोपुरकपाटादिसंबन्धिनं 'परिघं' नगरद्वारादिसंबन्धिनं 'द्वारं' शाखामयं 'कपाटं' द्वारयन्त्रं वाऽपि संयतः अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, लाघवविराधनादोषात्, 'गोचराग्रगतो' भिक्षाप्रविष्टः, मुनिः संयत इति पर्यायौ तदुपदेशाधिकाराददुष्टावेवेति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ उक्ता द्रव्ययतना, भावयतनामाह—'समणं'ति सूत्रं, 'श्रमणं' निर्ग्रन्थादिरूपं, 'ब्राह्मणं' धिग्वर्णं वापि 'कृपणं वा' पिण्डोलकं 'वनीपकं' पञ्चा(नां वनीपका)नामप्यन्यतमम् 'उपसंक्रामन्तं' सामीप्येन गच्छन्तं गतं वा भक्तार्थं पानार्थं वा 'संयतः' साधुरिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ 'त'मिति सूत्रं, 'तं' श्रमणादिम् 'अतिक्रम्य' उल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, दीयमाने च समुदाने तेभ्यो न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे। कस्तत्र विधिरित्याह–एकान्तमवक्रम्य तत्र ति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४-१३॥

दीप अनुक्रम [१७९--१८८]

ष्टेत् संयत इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ अन्यथैते दोषा इत्याह—'वणीमगस्स'त्ति सूत्रं, 'वनीपकस्य वा तस्ये'त्येतच्छ्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा उभयोर्वा अप्रीतिः कदाचित् स्यात्–अहो अलोकज्ञतैतेषामिति, लघुत्वं प्रवचनस्य वाऽन्तरायदोषश्चेति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ तस्मान्नैवं कुर्यात्, किंतु—'पडिसेहिअ'त्ति सूत्रं, प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा 'ततः' स्थानात् 'तस्मिन्' वनीपकादौ निवर्त्तिते सति उपसंक्रामेदुक्तार्थं पानार्थं वापि संयत इति सूत्रार्थः॥१३॥

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं । अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिआ दए ॥ १४ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥ उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं । अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संमद्दिआ दए ॥ १६ ॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं । दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥ सालुअं वा विरालिअं, कुमुअं उप्पलनालिअं । मुणालिअं सासवनालिअं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥ १८ ॥ तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा । अन्नस्स वावि हरिअस्स, आमगं परिवज्जए ॥ १९ ॥ तरुणिअं वा छिवाडिं, आमिअं भज्जिअं सइं । दिंतिअं पडिआइक्खे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न मे कप्पइ तारिसं ॥ २० ॥ तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुअं कासवनालिअं । तिलप-
प्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥ तहेव चाउलं पिट्ठं, विअडं वा तत्तऽनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठपूइपिन्नागं, आमगं परिवज्जए ॥ २२ ॥ कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलग-
त्तिअं । आमं असत्थपरिणयं, मणसावि न पत्थए ॥ २३ ॥ तहेव फलमंथूणि, बीअ-
मंथूणि जाणिआ । बिहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥

परपीडाप्रतिषेधाधिकारादिदमाह—'उप्पलं'ति सूत्रं, 'उत्पलं' नीलोत्पलादि 'पद्मम्' अरविन्दं वापि 'कुमुदं वा' गर्दभकं वा 'मगदन्तिकां' मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये, तथाऽन्यद्वा पुष्पं सचित्तं–शाल्मलीपु-
ष्पादि, तच्च 'संलुञ्च्य' अपनीय छित्त्वा दद्यादिति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ 'तारिसं'ति सूत्रं, तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ एवं तच्च संमृद्य दद्यात्, संमर्दनं नाम पूर्वच्छिन्नानामेवापरिणतानां मर्दनं, शेषं सूत्रद्वयेऽपि तुल्यम् । आह–एतत्पूर्व-
मप्युक्तमेव—'संमद्दमाणी पाणाणि बीआणि हरिआणि अ' इत्यत्र, उच्यते, उक्तं सामान्येन विशेषाभिधा-
नाददोषः ॥ १६–१७ ॥ तथा 'सालुअं'ति सूत्रं, 'शालूकं वा' उत्पलकन्दं 'विरालिकां' पलाशकन्दरूपां, पर्ववं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--२४॥

दीप अनुक्रम [१८९--१९९]

ल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये, कुमुदोत्पलनालौ प्रतीतौ, तथा 'मृणालिकां' पद्मिनीकन्दोत्थां 'सर्षपनालिकां' सिद्धार्थकमञ्जरीं तथा इक्षुखण्डम् 'अनिर्वृतं' सचित्तम् । एतच्चानिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसंबध्यत इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ किंच—'तरुणयं'ति सूत्रं, तरुणं वा 'प्रवालं' पल्लवं 'वृक्षस्य' चिञ्चिणिकादेः 'तृणस्य वा' मधुरतृणादेः अन्यस्य वापि हरितस्य आर्यकादेः 'आमम्' अपरिणतं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ तथा—'तरुणिअं'ति सूत्रं, 'तरुणां वा' असंजातां 'छिवाडि'मिति मुद्गादिफलिम् 'आमाम्' असिद्धां सचेतनां, तथा भर्जितां 'सकृद्' एकवारं, ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशं भोजनमिति सूत्रार्थः ॥ २० ॥ 'तहा कोलं'ति सूत्रं, तथा 'कोलं' बदरम् 'अस्निन्नं' वह्न्युदकयोगेनानापादितविकारान्तरं, 'वेणुकं' वंशकरिल्लं 'कासवनालिअं' श्रीपर्णीफलम्, अस्निन्नमिति सर्वत्र योज्यं, तथा 'तिलपर्पटं' पिष्टतिलमयम् 'नीमं' नीमफलमामं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ 'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव तान्दुलं पिष्टं, लोट्टमित्यर्थः, विकटं वा—शुद्धोदकं तथा तप्तनिर्वृतं कथितं सत् शीतीभूतम्, तप्तानिर्वृतं वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डं, तिलपिष्टं—तिललोट्टं, 'पूतिपिण्याकं' सर्षपखलमामं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ 'कविट्ठं'ति सूत्रं, 'कपित्थं' कपित्थफलं, 'मातुलिङ्गं च' बीजपूरकं, 'मूलकं' सपत्रजालकं 'मूलवर्त्तिकां' मूलकन्दचक्कलिम् 'आमाम्' अपक्कामशस्त्रपरिणतां स्वकायशस्त्रादिनाऽविध्वस्ताम्, अनन्तकायत्वाद्बहुरुत्वख्यापनार्थमुभयं, मनसापि न प्रार्थयेदिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥ 'तहेव'त्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५--२८॥

दीप अनुक्रम [२००--२०३]

सूत्रं, तथैव 'फलमन्थून्' बदरचूर्णान् 'बीजमन्थून्' यवादिचूर्णान् ज्ञात्वा प्रवचनतो 'बिभीतकं' बिभीतकफलं 'प्रियालं वा' प्रियालफलं च 'आमम्' अपरिणतं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

समुआणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया । नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥ २५ ॥ अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए । अमुच्छिओ भोअणंमि, मायण्णे एसणारए ॥ २६ ॥ बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं । न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥ २७ ॥ सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाणं व संजए । अदितस्स न कुप्पिज्जा, पच्चक्खेवि अ दीसओ ॥ २८ ॥

विधिमाह—'समुआणं'ति सूत्रं, समुदानं भावभैक्ष्यमाश्रित्य चरेद्भिक्षुः, केत्याह–कुलमुच्चावचं सदा, अगर्हितत्वे सति विभवापेक्षया प्रधानमप्रधानं च, यथापरिपाट्येव चरेत् 'सदा' सर्वकालं, नीचं कुलमतिक्रम्य विभवापेक्षया प्रभूततरलाभार्थम् 'उत्सृतम्' ऋद्धिमत्कुलं 'नाभिधारयेत्' न यायात्, अभिष्वङ्गलोकलाघवादिप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥ किंच—'अदीण'त्ति सूत्रं, 'अदीनो' द्रव्यदैन्यमङ्गीकृत्याम्लानवदनः 'वृत्तिं' वर्त्तनम् 'एषयेद्' गवेषयेत्, 'न विषीदेद्' अलाभे सति विषादं न कुर्यात् 'पण्डितः' साधुः 'अमूर्च्छितः'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२५--२८||

दीप अनुक्रम [२००--२०३]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अगृद्धो भोजने, लाभे सति मात्राज्ञ आहारमात्रां प्रति 'एषणारतः' उद्गमोत्पादनैषणापक्षपातीति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ एवं च भावयेत्—'बहुं'ति सूत्रं, 'बहु' प्रमाणतः प्रभूतं 'परगृहे' असंयतादिगृहेऽस्ति 'विविधम्' अनेकप्रकारं खाद्यं स्वाद्यम्, एतच्चाशनाद्युपलक्षणं, 'न तत्र पण्डितः कुप्येत्' सदपि न ददातीति न रोषं कुर्यात्, किंतु—'इच्छया दद्यात् परो न वे'ति इच्छा परस्य, न तत्रान्यत् किञ्चिदपि चिन्तयेद्, सामायिकबाधनादिति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥ एतदेव विशेषेणाह—'सयण'त्ति सूत्रं, शयनासनवस्त्रं चेलेकवद्भावः भक्तं पानं वा संयतोऽददतो न कुप्येत् तत्स्वामिनः, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने शयनासनादाविति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥

इत्थिअं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं । वंदमाणं न जाइज्जा, नो अ णं फरुसं वए ॥ २९ ॥ जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे । एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णम-णुचिट्ठइ ॥ ३० ॥

'इत्थिअं'ति सूत्रं, स्त्रियं वा पुरुषं वापि, अपिशब्दात्तथाविधं नपुंसकं वा, 'डहरं' तरुणं 'महल्लकं वा' वृद्धं वा, वाशब्दान्मध्यमं वा, वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचेत, विपरिणामदोषात्, अन्नाद्यभावेन याचितादाने न चैनं परुषं ब्रूयात्–वृथा ते वन्दनमित्यादि, पाठान्तरं वा–वन्दमानो न याचेत लब्धिव्याकरणेन । शेषं पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ तथा—'जे ण वंदि'त्ति सूत्रं, यो न वन्दते कश्चिद्गृहस्थादिः न तस्मै

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुप्येत् तथा वन्दितः केनचिन्नृपादिना न समुत्कर्षेत्। 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण 'अन्वेषमाणस्य' भगवद्वा-
ज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डमिति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥

सिआ एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ । मामेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए
॥ ३१ ॥ अत्तट्ठा गुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ । दुत्तोसओ अ सो होइ, निव्वाणं
च न गच्छइ ॥ ३२ ॥ सिआ एगइओ लद्धुं, विविहं पाणभोअणं । भद्दगं भद्दगं
भुच्चा, विवन्नं विरसमाहरे ॥ ३३ ॥ जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३४ ॥ पूअणट्ठा जसोकामी, माणसम्माण-
कामए । बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३५ ॥

स्वपक्षस्तेयप्रतिषेधमाह—'सिअ'त्ति सूत्रं, 'स्यात्' कदाचिद् 'एकः' कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्ध्वोत्कृष्टमा-
हारं 'लोभेन' अभिष्वङ्गेण 'विनिगूहते' अहमेव भोक्ष्य इत्यन्तप्रान्तादिनाऽऽच्छादयति–किमित्यत आह–मा
मम 'इदं' भोजनजातं दर्शितं सदृष्ट्वाऽऽचार्यादिः "स्वयमादद्यादू" आत्मनैव गृह्णीयादिति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥
अस्य दोषमाह—'अत्तट्ठ'त्ति सूत्रं, आत्मार्थ एव जघन्यो–गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुर्लुब्धः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन् क्षुद्रभोजने 'बहु' प्रभूतं पापं करोति, मायया दारिद्रं कर्मेत्यर्थः, अयं परलोकदोषः, इहलोकदोषमाह–'दुस्तोषश्च भवति' येन केनचिदाहारेणास्य क्षुद्रसत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते, अत एव 'निर्वाणं च न गच्छति' इहलोक एव धृतिं न लभते, अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छतीति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ एवं यः प्रत्यक्षमपहरति स उक्तः, अधुना यः परोक्षमपहरति स उच्यते—'सिअ'त्ति सूत्रं, स्यादेको लब्ध्वेति पूर्ववत्, 'विविधम्' अनेकप्रकारं पानभोजनं भिक्षाचर्यागत एव 'भद्रकं भद्रकं' घृतपूर्णादि भुक्त्वा 'विवर्णं' विगतवर्णमाम्लखलादि 'विरसं' विगतरसं–शीतौदनादि 'आहरेद्' आनयेदिति सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥ स किमर्थमेवं कुर्यादित्यत आह—'जाणंतु'त्ति सूत्रं, जानन्तु तावन्मां 'श्रमणाः' शेषसाधवो यथा 'आयतार्थी' मोक्षार्थी अयं 'मुनिः' साधुः 'संतुष्टो' लाभालाभयोः समः सेवते 'प्रान्तम्' असारं 'रूक्षवृत्तिः' संयमवृत्तिः' 'सुतोष्यः' येन केनचित्तोषं नीयत इति सूत्रार्थः ॥ ३४ ॥ एतदपि किमर्थमेवं कुर्यात्तत्राह—'पूअणट्ठ'त्ति सूत्रं, 'पूजार्थम्' एवं कुर्वतः स्वपक्षपरपक्षाभ्यां सामान्येन पूजा भविष्यतीति 'यशस्कामी' अहो अयमिति प्रवादार्थं वा, तथा मानसन्मानकाम एवं कुर्यात्, तत्र वन्दनाभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानः–वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तः सन्मानः, स चैवंभूतः 'बहु' अतिप्रचुरं प्रधानसंक्लेशयोगात् 'प्रसूते' निर्वर्त्तयति पापं तद्बहुत्वादेव सम्यगनालोचयन् 'मायाशल्यं च' भावशल्यं च करोतीति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६--४१॥

दीप अनुक्रम [२११--२१६]

सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं । ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥ ३६ ॥ पियए एगओ तेणो, न मे कोइ विआणइ । तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥ ३७ ॥ वड्ढई सुंडिआ तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो । अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ॥ ३८ ॥ निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई । तारिसो मरणंतेवि, न आराहेइ संवरं ॥ ३९ ॥ आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसे । गिहत्थावि ण गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४० ॥ एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए । तारिसो मरणंतेऽवि, ण आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

प्रतिषेधान्तरमाह—'सुरं व'त्ति सूत्रं—'सुरां वा' पिष्टादिनिष्पन्नां, 'मेरकं वापि' प्रसन्नाख्यां, सुराप्रायोग्यद्रव्यनिष्पन्नमन्यं वा 'मद्यं रसं' सीध्वादिरूपं 'ससाक्षिकं' सदापरित्यागसाक्षिकेवलिप्रतिषिद्धं न पिबेद्भिक्षुः, अनेनात्यन्तिक एव तत्प्रतिषेधः, सदासाक्षिभावात् । किमिति न पिबेदित्याह–यशः संरक्षन्नात्मनः, यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते, अन्ये तु ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्रं अल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षत

१ सदा परित्यागे साक्षिणः केवल्यादयो ये तैः प्रतिसिद्धं, अरिहंतसक्खियमित्याद्युक्तेर्भवन्त्येव ते साक्षिणः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६--४१॥

दीप अनुक्रम [२११--२१६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

इति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ अत्रैव दोषमाह—'पियए'त्ति सूत्रं, पिबति 'एको' धर्मसहायविप्रमुक्तोऽल्पसागारिकस्थितो वा 'स्तेनः' चौरोऽसौ भगवददत्तग्रहणात् अन्यापदेशयाचनाद्वा न मां कश्चिज्जानातीति भावयन्, तस्येत्थंभूतस्य पश्यत दोषानैहिकान् पारलौकिकांश्च 'निकृतिं च' मायारूपां शृणुत ममेति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥ 'वड्ढइ'त्ति सूत्रं, वर्धते 'शौण्डिका' तदत्यन्ताभिष्वङ्गरूपा तस्य माया मृषावादं चेत्येकवद्भावः प्रत्युपलब्धापलापेन वर्धते तस्य भिक्षोः, इदं च भवपरम्पराहेतुः, अनुबन्धदोषात्, तथा अयशश्च स्वपक्षपरपक्षयोः, तथा अनिर्वाणं तदलाभे सततं चासाधुता लोके व्यवहारतः चरणपरिणामबाधनेन परमार्थत इति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ किंच—'निच्चुव्विग्गो'त्ति सूत्रं, स इत्थंभूतो 'नित्योद्विग्नः' सदाऽप्रशान्तो यथा 'स्तेनः' चौरः 'आत्मकर्मभिः' स्वदुश्चरितैः दुर्मतिः–दुष्टबुद्धिः 'तादृशः' क्लिष्टसत्त्वो 'मरणान्तेऽपि' चरमकालेऽपि नाराधयति 'संवरं' चारित्रं, सदैवाकुशलवुद्ध्या तद्बीजाभावादिति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ तथा—'आयरिए'त्ति सूत्रं, आचार्यान्नाराधयति, अशुद्धभावत्वात्–श्रमणांश्चापि तादृशान्नाराधयत्यशुभभावत्वादेव, गृहस्था अप्येनं दुष्टशीलं 'गर्हन्ते' कुत्सन्ति, किमिति ?–येन जानन्ति 'तादृशं' दुष्टशीलमिति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥ 'एवं तु'त्ति सूत्रं, 'एवं तु' उक्तेन प्रकारेण 'अगुणप्रेक्षी' अगुणान्–प्रमादादीन् प्रेक्षते तच्छीलश्च य इत्यर्थः, तथा 'गुणानां च' अप्रमादादीनां स्वगतानामनासेवनेन परगतानां च प्रद्वेषेण 'विवर्जकः' त्यागी 'तादृशः' क्लिष्टचित्तो मरणान्तेऽपि नाराधयति 'संवरं' चारित्रमिति सूत्रार्थः ॥ ४१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२--४५॥

दीप अनुक्रम [२१७--२२०]

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीअं वज्जए रसं । मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥ ४२ ॥ तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइअं । विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ॥ ४३ ॥ एवं तु सगुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए । तारिसो मरणंतेऽवि, आराहेइ संवरं ॥ ४४ ॥ आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसे । गिहत्थावि ण पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४५ ॥

यतश्चैवमत एतद्दोषपरिहारेण 'तवं'ति सूत्रं, तपः करोति 'मेधावी' मर्यादावर्ती 'प्रणीतं' स्निग्धं वर्जयति 'रसं' घृतादिकं, न केवलमेतत्करोति, अपितु मद्यप्रमादविरतो, नास्ति क्लिष्टसत्त्वानामकृत्यमित्येवं प्रतिषेधः, 'तपस्वी' साधुः 'अत्युत्कर्षः' अहं तपस्वीत्युत्कर्षरहित इति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥ 'तस्स'त्ति सूत्रं, 'तस्य' इत्थंभूतस्य पश्यत 'कल्याणं' गुणसंपद्रूपं संयमं, किंविशिष्टमित्याह–अनेकसाधुपूजितं, पूजितमिति–सेवितमाचरितं, 'विपुलं' विस्तीर्णं विपुलमोक्षावहत्वात् 'अर्थसंयुक्तं' तुच्छतादिपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधनत्वात् कीर्तयिष्येऽहं शृणुत 'मे' ममेति सूत्रार्थः ॥४३॥ 'एवं तु' उक्तेन प्रकारेण 'स' साधुः 'गुणप्रेक्षी' गुणान्–अप्रमादादीन् प्रेक्षते तच्छीलश्च य इत्यर्थः, तथा 'अगुणानां च' प्रमादादीनां स्वगतानामनासेवनेन परगतानां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२--४५॥

दीप अनुक्रम [२१७--२२०]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

चाननुमत्या 'विवर्जकः' त्यागी 'तादृशः' शुद्धवृत्तो 'मरणान्तेऽपि' चरमकालेऽप्याराधयति 'संवरं' चारित्रं, सदैव कुशलबुद्ध्या तद्बीजपोषणादिति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ तथा 'आयरिए'त्ति सूत्रं, आचार्यानाराधयति, शुद्धभावत्वात्, श्रमणांश्चापि तादृश आराधयति, शुद्धभावत्वादेव, गृहस्था अपि शुद्धवृत्तमेनं पूजयन्ति, किमिति ?, येन जानन्ति 'तादृशं' शुद्धवृत्तमिति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे । आयारभावतेणे अ, कुव्वई देवकिव्विसं ॥४६॥
लद्धूणवि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे । तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं? ॥ ४७ ॥ तत्तोवि से चइत्ताणं, लब्भिही एलमूअयं । नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥ एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं । अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥ ४९ ॥

स्तेनाधिकार एवेदमाह—'तव'त्ति सूत्रं, तपस्तेनो वाक्स्तेनो रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चित् आचारभावस्तेनश्च, पालयन्नपि क्रियां तथाभावदोषादेवकिल्विषं करोति–किल्बिषिकं कर्म निर्वर्त्तयतीत्यर्थः, तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकल्पः कश्चित् केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति, स पूजार्थमाह–अहम्, अथवा वक्ति–साधव एव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपकाः, तूष्णीं वाऽऽस्ते, एवं वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित् पृष्ट इति, एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः, एवमाचारस्तेनो विशिष्टाचारवत्तुल्यरूप इति, भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित् किञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति सूत्रार्थः॥ ४६॥ अयं चेत्थंभूतः 'लद्धूण'त्ति सूत्रं, लब्ध्वापि देवत्वं तथाविधक्रियापालनवशेन उपपन्नो 'देवकिल्बिषे' देवकिल्बिषिका ये, तत्राप्यसौ न जानात्यविशुद्धावधिना, किं मम कृत्वा 'इदं फलं' किल्बिषिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥ अत्रैव दोषान्तरमाह—'तत्तोवि'त्ति सूत्रं, 'ततोऽपि' देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते 'एलमूकताम्' अजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते, 'बोधिर्यत्र सुदुर्लभः' सकलसंपन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा। इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भावप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थः ॥ ४८ ॥ प्रकृतमुपसंहरति—'एअं च'त्ति सूत्रं, एनं च दोषम्–अनन्तरोदितं सत्यपि श्रामण्ये किल्बिषिकत्वादिप्राप्तिरूपं दृष्ट्वा आगमतो 'ज्ञातपुत्रेण' भगवता वर्द्धमानेन 'भाषितम्' उक्तम् 'अणुमात्रमपि' स्तोकमात्रमपि किमुत प्रभूतं? 'मेधावी' मर्यादावर्त्ती 'मायामृषावादम्' अनन्तरोदितं 'वर्जयेत्' परित्यजेदिति सूत्रार्थः ॥ ४९ ॥

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे। तत्थ भिक्खु सुप्पणिहिइं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिए, तिव्वलज्जगुणवं विहरिज्जासि ॥ ५० ॥ त्तिबेमि समत्तं पिंडेसणानामज्झयणं पंचमं ॥ ५ ॥

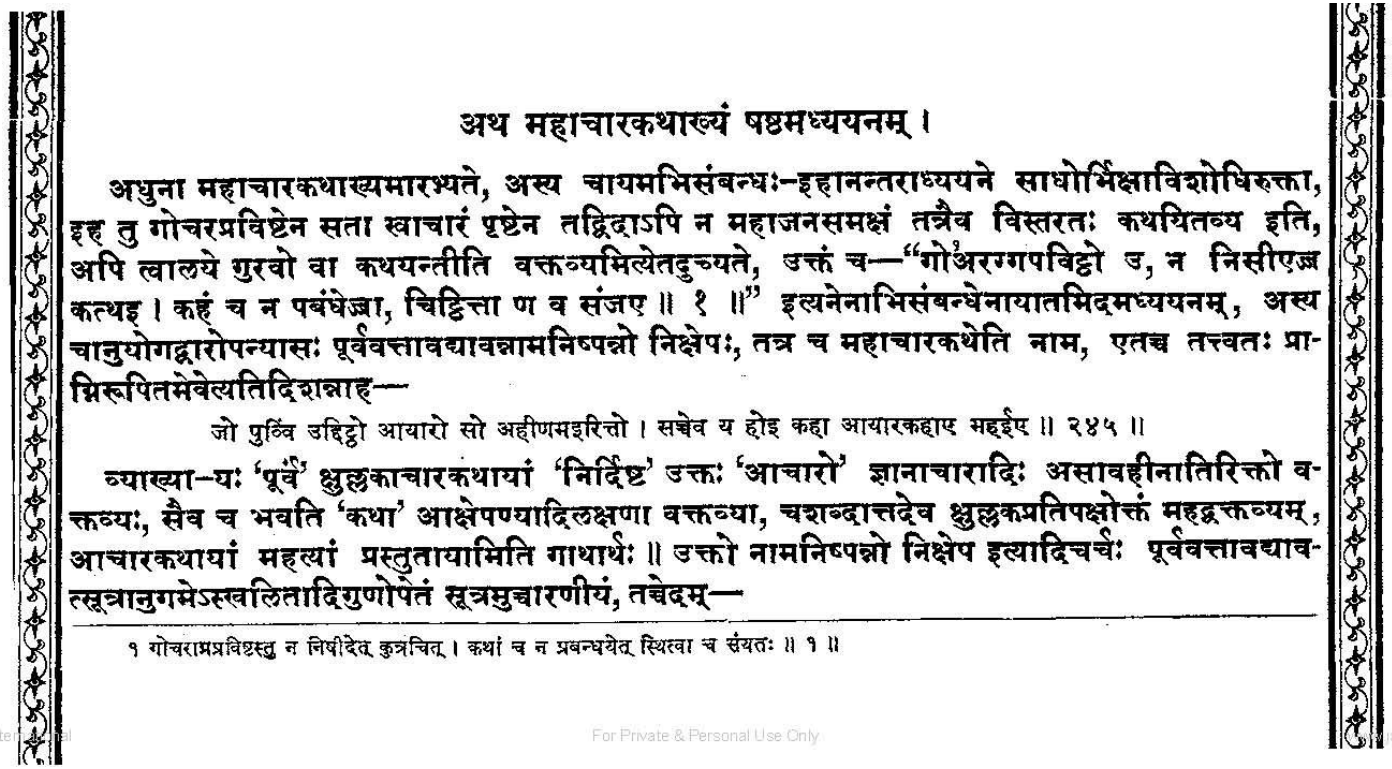
अध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह—'सिक्खिऊण'त्ति सूत्रं, 'शिक्षित्वा' अधीत्य 'भिक्षैषणाशुद्धिम्' पिण्डमार्गणाशुद्धिमुद्गमादिरूपां, केभ्यः सकाशादित्याह—'संयतेभ्यः' साधुभ्यो 'बुद्धेभ्यः' अवगततत्त्वेभ्यः गीतार्थेभ्यो न द्रव्यसाधुभ्यः सकाशात्, ततः किमित्याह—'तत्र' भिक्षैषणायां 'भिक्षुः' साधुः 'सुप्रणिहितेन्द्रियः' श्रोत्रादिभिर्गाढं तदुपयुक्तः 'तीव्रलज्ज' उत्कृष्टसंयमः सन्, अनेन प्रकारेण गुणवान् विहरेत्–सामाचारीपालनं कुर्यादू, इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः । उक्तोऽनुगमः । साम्प्रतं नयाः, ते च पूर्ववदेव । व्याख्यातं पिण्डैषणाध्ययनम् ॥ ५० ॥

अत्र अध्ययन ५ उद्देशक: २ समाप्त:

इति श्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकशब्दार्थवृत्तौ पिण्डैषणाध्ययनं समाप्तम् ॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -५- परिसमाप्तं



अथ महाचारकथाख्यं षष्ठमध्ययनम् ।

अधुना महाचारकथाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने साधोर्भिक्षाविशोधिरुक्ता, इह तु गोचरप्रविष्टेन सता स्वाचारं पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्य इति, अपि त्वालये गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यमित्येतदुच्यते, उक्तं च—"गोअरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थइ । कहं च न पबंधेज्जा, चिट्ठित्ता ण व संजए ॥ १ ॥" इत्यनेनाभिसंबन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तत्र च महाचारकथेति नाम, एतच्च तत्त्वतः प्राग्निरूपितमेवेत्यतिदिशन्नाह—

जो पुव्विं उद्दिट्ठो आयारो सो अहीणमइरित्तो । सचेव य होइ कहा आयारकहाए महईए ॥ २४५ ॥

व्याख्या–यः 'पूर्वं' क्षुल्लकाचारकथायां 'निर्दिष्ट' उक्तः 'आचारो' ज्ञानाचारादिः असावहीनातिरिक्तो वक्तव्यः, सैव च भवति 'कथा' आक्षेपण्यादिलक्षणा वक्तव्या, चशब्दात्तदेव क्षुल्लकप्रतिपक्षोक्तं महद्वक्तव्यम्, आचारकथायां महत्यां प्रस्तुतायामिति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेप इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

१ गोचराग्रप्रविष्टस्तु न निषीदेत् कुत्रचित् । कथां च न प्रबन्धयेत् स्थित्वा च संयतः ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -६- "महाचारकथा" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१-५॥

दीप अनुक्रम [२२६--२३०]

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे अ तवे रयं । गणिमागमसंपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढं ॥ १ ॥ रायाणो रायमच्चा य,-माहणा अदुव खत्तिआ । पुच्छंति निहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ? ॥ २ ॥ तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूअसुहावहो । सिक्खाए सुसमाउत्तो, आयक्खइ विअक्खणो ॥ ३ ॥ हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाणं सुणेह मे । आयारगोअरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठिअं ॥ ४ ॥ नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं । विउलट्ठाणभाइस्स, न भूअं न भविस्सइ ॥ ५ ॥

अस्य व्याख्या 'ज्ञानदर्शनसंपन्नं' ज्ञानं–श्रुतज्ञानादि दर्शनं–क्षायोपशमिकादि ताभ्यां संपन्नं–युक्तं 'संयमे' पञ्चाश्रवविरमणादौ 'तपसि च' अनशनादौ 'रतम्' आसक्तं, गणोऽस्यास्तीति गणी तं गणिनम्–आचार्यम् 'आगमसंपन्नं' विशिष्टश्रुतधरं, बह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्, 'उद्याने' क्वचित्साधुप्रायोग्ये 'समवसृतं' स्थितं धर्मदेशनार्थं वा प्रवृत्तमिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ तत्किमित्याह—'रायाणो'त्ति सूत्रं, 'राजानो' नरपतयः 'राजामात्याश्च' मन्त्रिणः 'ब्राह्मणाः' प्रतीताः 'अदुव'त्ति तथा 'क्षत्रियाः' श्रेष्ठ्यादयः पृच्छन्ति 'निभृतात्मानः' असंभ्रान्ता रचिताञ्जलयः कथं 'भे' भवताम् 'आचारगोचरः' क्रियाकलापः स्थित इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ 'तेसिं'ति सूत्रं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** षष्ठे अध्ययने नास्ति उद्देशकः, अत्र सर्वत्र शिर्षक-स्थाने यत् "२ उद्देशः" लिखितं तत् मुद्रण-दोषः मात्र.

प्रत सूत्रांक ॥१-५॥

दीप अनुक्रम [२२६--२३०]

'तेभ्यो' राजादिभ्यः 'असौ' गणी 'निभृतः' असंभ्रान्त उचितधर्मकार्यस्थित्या, दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां, 'सर्वभूतसुखावहः' सर्वप्राणिहित इत्यर्थः, 'शिक्षया' ग्रहणासेवनरूपया 'सुसमायुक्तः' सुष्ठु–एकीभावेन युक्तः 'आख्याति' कथयति 'विचक्षणः' पण्डित इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ 'हंदि'त्ति सूत्रं, हन्दीत्युपप्रदर्शने, तमेनं 'धर्मार्थकामाना'मिति धर्मः–चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थः–प्रयोजनं मोक्षस्तं कामयन्ति–इच्छन्तीति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामा–मुमुक्षवस्तेषां 'निर्ग्रन्थानां' बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां शृणुत मम समीपाद् 'आचारगोचरं' क्रियाकलापं 'भीमं' कर्मशत्रूपेक्षया रौद्रं 'सकलं' संपूर्णं 'दुरधिष्ठं' क्षुद्रसत्त्वैर्दुराश्रयमिति सूत्रार्थः । धर्मार्थकामानामित्युक्तं, तदेतत्सूत्रस्पर्शनिर्युक्त्या निरूपयति–तत्र धर्मनिक्षेपो यथा प्रथमाध्ययने, नवरं लोकोत्तरमाह––

धम्मो बावीसविहो अगारधम्मोऽणगारधम्मो अ । पढमो अ बारसविहो दसहा पुण बीयओ होइ ॥ २४६ ॥

व्याख्या–धर्मो 'द्वाविंशतिविधः' सामान्येन द्वाविंशतिप्रकारः, 'अगारधर्मो' गृहस्थधर्मः 'अनगारधर्मश्च' साधुधर्मः, 'प्रथमश्च' अगारधर्मो द्वादशविधः, दशधा पुनः 'द्वितीयः' अनगारधर्मो भवतीति गाथासमासार्थः॥ व्यासार्थं त्वाह—

पंच य अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च होंति तिन्नेव । सिक्खावयाइं चउरो गिहिधम्मो बारसविहो अ ॥ २४७ ॥

व्याख्या–पञ्चाणुव्रतानि–स्थूलप्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि, गुणव्रतानि च भवन्ति त्रीण्येव–दिग्व्रतादीनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मस्य भेद-प्रभेद प्रदर्शयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥१-५॥

दीप अनुक्रम [२२६--२३०]

शिक्षापदानि चत्वारि–सामायिकादीनि, गृहिधर्मो द्वादशविधस्तु एष एवाणुव्रतादिः । अणुव्रतादिस्वरूपं चावश्यके चर्चितत्वान्नोक्तमिति गाथार्थः ॥ साधुधर्ममाह—

खंती अ महवऽज्जव मुत्ती तवसंजमे अ बोद्धव्वे । सच्चं सोचं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥ २४८ ॥

व्याख्या–क्षान्तिश्च मार्दवम् आर्जवं मुक्तिः तपःसंयमौ च बोद्धव्यौ सत्यं शौचमाकिञ्चन्यं ब्रह्मचर्यं च यतिधर्म इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनर्यथा प्रथमाध्ययने ॥

धम्मो एसुवइट्ठो अत्थस्स चउव्विहो उ निक्खेवो । ओहेण छव्विहऽत्थो चउसट्ठिविहो विभागेणं ॥ २४९ ॥

व्याख्या–धर्म एष 'उपदिष्टो' व्याख्यातः, अधुना त्वर्थावसरः, तत्रेदमाह–अर्थस्य चतुर्विधस्तु निक्षेपो–नामादिभेदात्, तत्र 'ओघेन' सामान्यतः षड्विधोऽर्थ आगमनोआगमव्यतिरिक्तो द्रव्यार्थः, चतुःषष्टिविधो 'विभागेन' विशेषेणेति गाथासमुदायार्थः ॥ अवयवार्थं त्वाह—

धन्नाणि रयण थावर दुपयचउप्पय तहेव कुविअं च । ओहेण छव्विहत्थो एसो धीरेहिं पन्नत्तो ॥ २५० ॥

व्याख्या–'धान्यानि' यवादीनि, रत्नं–सुवर्णं स्थावरं–भूमिगृहादि द्विपदं–गव्यादि चतुष्पदं–गवादि तथैव कुप्यं च–ताम्रकलशाद्यनेकविधम् । ओघेन षड्विधोऽर्थ 'एषः' अनन्तरोदितः 'धीरैः' तीर्थकरगणधरैः 'प्रज्ञसः' प्ररूपित इति गाथार्थः ॥ एनमेव विभागतोऽभिधित्सुराह—

१ चरित्तधम्मो समणधम्मो इत्यत्र चूर्णिकृद्भिर्विवृत्योक्तेः संलीनतासंयमादौ वा व्याख्यानादेवमाहुः.

॥ १९२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउवीसा चउवीसा तिगदुगदसहा अणेगविह एव । सव्वेसिंपि इमेसिं विभागमहयं पवक्खामि ॥ २५१ ॥

व्याख्या–चतुर्विंशतिः चतुर्विंशतीति चतुर्विंशतिविधो धान्यार्थो रत्नार्थश्च, 'त्रिद्विदशधे'ति त्रिविधः स्थावरार्थः द्विविधो द्विपदार्थः दशविधश्चतुष्पदार्थ, 'अनेकविध एवे'त्यनेकविधः कुप्यार्थः सर्वेषामप्यमीषां चतुर्विंशत्यादिसंख्याभिहितानां धान्यादीनां 'विभागं' विशेषम् 'अथ' अनन्तरं संप्रवक्ष्यामीत्यर्थः ॥

धन्नाइं चउव्वीसं जव१गोहुम२साली३वीहि४सट्ठीआ५ । कोद्दव६ अणुया७ कंगू८ रालग९ तिल १० मुग्ग११ मासा१२ य ॥ २५२ ॥

अयसि१३हरिमन्थ१४तिउडग१५निप्फाव१६सिलिंद१७रायमासा१८अ । इक्खू१९मसूर२०तुवरी२१कुलत्थ२२तह२३धन्नगकलाया२४ ॥

व्याख्या–धान्यानि चतुर्विंशतिः, यवगोधूमशालिव्रीहिषष्टिकाः कोद्रवाणुकाः कङ्गुरालगतिलमुद्गमाषाश्च अतसीहरिमन्थत्रिपुटकनिष्पावसिलिन्द्रराजमाषाश्च इक्षुमसूरतुवर्यः कुलत्था धान्यककलायाश्चेति, एतानि प्रायो लौकिकसिद्धान्येव, नवरं षष्टिकाः–शालिभेदाः कङ्गुः–उदकङ्गुः तद्भेदो रालकः हरिमन्थाः–कृष्णचणकाः निष्पावा–वल्लाः राजमाषाः–चवलकाः शिलिन्द्रा–मकुष्ठाः धान्यकं–कुस्तुम्भरी कलायका–वृत्तचणका इति गाथाद्वयार्थः ॥ उक्तो धान्यविभागः, अधुना रत्नविभागमाह—

रयणाणि चउव्वीसं सुवण्णतउतंबरययलोहाइं । सीसगहिरण्णपासाणवइरमणिमोत्तिअपवालं ॥ २५४ ॥

संखो तिणिसागुरुचंदणाणि वत्थामिलाणि कट्ठाणि । तह चम्मदंतवाला गंधा दव्वोसहाइं च ॥ २५५ ॥

व्याख्या–रत्नानि चतुर्विंशतिः, सुवर्णत्रपुताम्ररजतलोहानि सीसकहिरण्यपाषाणवज्रमणिमौक्तिकप्रवा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लानि । शङ्खतिनिशागरुचन्दनानि वस्त्राभिलानि काष्ठानि तथा चर्मदन्तवाला गन्धा द्रव्यौषधानि च । एतान्यपि प्रायो लौकिकसिद्धान्येव नवरं रजतं–रूप्यम् हिरण्यं–रूपकादि पाषाणा–विजातीयरत्नानि मणयो–जात्यानि । तिनिशो–वृक्षविशेषः अभिलानि–ऊर्णावस्त्राणि काष्ठानि–श्रीपर्ण्यादिफलकादीनि चर्माणि सिंहादीनां दन्ता गजादीनां वालाः चमर्यादीनां द्रव्यौषधानि–पिप्पल्यादीनीति गाथाद्वयार्थः ॥ उक्तो रत्नविभागः, स्थावरादिविभागमाह—

भूमी घरा य तरुगण तिविहं पुण थावरं मुणेअव्वं । चक्कारबद्धमाणुस दुविहं पुण होइ दुपयं तु ॥ २५६ ॥

व्याख्या–भूमिर्गृहाणि तरुगणाश्च, चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, त्रिविधं पुनरोघतः स्थावरं मन्तव्यं, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि?, खगतान् भेदान्, तद्यथा–भूमिः–क्षेत्रं, तच्च त्रिधा–सेतु केतु सेतुकेतु च, गृहाणि प्रासादाः, तेऽपि त्रिविधाः–खातोत्क्षृतोभयरूपाः, तरुगणा नालिकेर्याद्यारामा इति, 'चक्कारबद्धमानुष'मिति चक्कारबद्धं–गड्यादि मानुषं–दासादि, एवं द्विपदं पुनर्भवति द्विविधमिति गाथार्थः ॥ उक्तं स्थावरादि, चतुष्पदमाह—

गावी महिसी उट्टा अयएलगआसआसतरगा अ । घोडग गद्दह हत्थी चउप्पयं होइ दसहा उ ॥ २५७ ॥

व्याख्या–गौर्महिषी उष्ट्री अजा एडका अश्वा अश्वतराश्च घोटका गर्दभा हस्तिनश्चतुष्पदं भवति दशधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तु, एते गवादयः प्रतीता एव, नवरमश्वा–वाल्हीकादिदेशोत्पन्ना जात्याः अश्वतरा–वेगंसराः अजात्या घोटका इति गाथार्थः ॥ उक्तं चतुष्पदं, कुप्यमाह—

नाणाविहोवगरणं णेगविहं कुप्पलक्खणं होइ । एसो अत्थो भणिओ छव्विह चउसट्ठिभेओ उ ॥ २५८ ॥

व्याख्या–'नानाविधोपकरणं' ताम्रकलशकडिल्लादि जातितः अनेकविधं व्यक्तितः कुप्यलक्षणं भवति । 'एषः' अनन्तरोदितोऽर्थो 'भणित' उक्तः षड्विधः, चतुःषष्टिभेदस्तु ओघविभागाभ्यां प्रकृतोपयोगो द्रव्यार्थ इति गाथार्थः ॥ उक्तोऽर्थः, साम्प्रतं काममाह—

कामो चउवीसविहो संपत्तो खलु तहा असंपत्तो । संपत्तो चउदसहा दसहा पुण होअसंपत्तो ॥ २५९ ॥

व्याख्या–कामश्चतुर्विंशतिविधः ओघतः, संप्राप्तः खलु तथा असंप्राप्तो वक्ष्यमाणस्वरूपः, संप्राप्तः 'चतुर्दशधा–चतुर्दशप्रकारः, दशधा पुनर्भवत्यसंप्राप्त इति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थं त्वाह, तत्राप्यल्पतरवक्तव्यत्वादसंप्राप्तमाह—

तत्थ असंपत्तो अत्थो १ चिंता २ तह सद्ध ३ संसरणमेव ४। विक्कवय ५ लज्जनासो ६ पमाय ७ उम्माय ८ तब्भावो ९ ॥२६०॥

व्याख्या–तत्रासंप्राप्तोऽयं कामः, 'अर्थे'ति अर्थनमर्थः अदृष्टेऽपि विलयादौ, श्रुत्वा तदभिप्रायमात्रमित्यर्थः, तत्रैवाहो रूपादिगुणा इत्यभिनिवेशेन चिन्तनं चिन्ता, तथा श्रद्धा–तत्संगमाभिलाषः, संस्मरणमेव–संकल्पिकतद्रूपस्यालेख्यादिदर्शनं, वियोगतः पुनः पुनरतिविक्लवता–तच्छोकातिरेकेणाहारादिष्वपि निरपेक्षता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥१-५॥

दीप अनुक्रम [२२६--२३०]

लज्जानाशो–गुर्वादिसमक्षमपि तद्गुणोत्कीर्तनं, प्रमादः–तदर्थमेव सर्वारम्भेष्वपि प्रवर्तनम्, उन्मादो–नष्टचित्ततया आलजालभाषणं, तद्भावना–स्तम्भादीनामपि तद्बुद्ध्याऽऽलिङ्गनादिचेष्टेति गाथार्थः ॥

मरणं १० च होइ दसमो संपत्तंपिअ समासओ वोच्छं । दिट्ठीए संपाओ १ दिट्ठीसेवा य संभासो २ ॥ २६१ ॥

व्याख्या–मरणं च–शोकाद्यतिरेकेण क्रमेण भवति दशमः असंप्राप्तकामभेदः । संप्राप्तमपि च कामं समासतो वक्ष्य इति, तत्र दृष्टेः पुनः संपातः स्त्रीणां कुचाद्यवलोकनं दृष्टिसेवा च–भावसारं तद्दृष्टेर्दृष्टिमेलनं, संभाषणम्–उचितकाले स्मरकथाभिर्जल्प इति गाथार्थः ॥

हसिअ ३ललिअ ४उवगूहिअ ५दंत ६नहनिवाय ७चुंबणं ८होइ । आलिंगण ९मायाणं १०कर ११ सेवण १२संग १३किड्डा १४अ ॥२६२॥

व्याख्या–हसितं–वक्रोक्तिगर्भं प्रतीतं ललितं–पाशकादिक्रीडा उपगूहितं–परिष्वक्तं दन्तनिपातो–दशनच्छेद्यविधिः नखनिपातो–नखरदनजातिः चुम्बनं चैवेति–चुम्बनविकल्पः आलिङ्गनम्–ईषत्स्पर्शनम् आदानं–कुचादिग्रहणं 'करसेवणं'ति प्राकृतशैल्या करणासेवने, तत्र करणं नाम–नागरकादिप्रारम्भयन्त्रम् आसेवनं–मैथुनक्रिया अनङ्गक्रीडा च–अस्यादावर्थक्रियेति गाथार्थः ॥ उक्तः कामः, साम्प्रतं धर्मादीनामेव सपत्नतासपत्नते अभिधित्सुराह—

धम्मो अत्थो कामो भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता । जिणवयणं उत्तिन्ना असवत्ता होंति नायव्वा ॥ २६३ ॥

व्याख्या–धर्मोऽर्थः कामः त्रय एते पिण्डिता युगपत्संपातेन 'प्रतिसपत्नाः' परस्परविरोधिनः लोके कुप्रवच-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेषु च, यथोक्तम्—"अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च । धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाश्च ॥ १ ॥ इत्यादि" एते च परस्परविरोधिनोऽपि सन्तो जिनवचनमवतीर्णाः ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण धर्मादितत्त्वस्वरूपतो वा निश्चयेन 'असपत्नाः' परस्पराविरोधिनो भवन्ति ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ तत्र व्यवहारेणाविरोधमाह—

जिणवयणंमि परिणए अवत्थविहिआणुठाणओ धम्मो । सच्छासयप्पयोगा अत्थो वीसंभओ कामो ॥ २६४ ॥

व्याख्या–जिनवचने यथावत्परिणते सति अवस्थोचितविहितानुष्ठानात्–स्वयोग्यतामपेक्ष्य दर्शनादिश्रावकप्रतिमाङ्गीकरणे निरतिचारपालनाद्भवति धर्मः, स्वच्छाशयप्रयोगाद्विशिष्टलोकतः पुण्यबलाच्चार्थः, विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकरणतापेक्षो विश्रम्भेण काम इति गाथार्थः ॥ अधुना निश्चयेनाविरोधमाह—

धम्मस्स फलं मोक्खो सासयमउलं सिवं अणाबाहं । तमभिप्पेया साहू तम्हा धम्मत्थकाम त्ति ॥ २६५ ॥

व्याख्या–धर्मस्य निरतिचारस्य फलं 'मोक्षो' निर्वाणं, किंविशिष्टमित्याह—'शाश्वतं' नित्यम् 'अतुलम्' अनन्यतुलं 'शिवं' पवित्रम् 'अनाबाधं' बाधावर्जितमेतदेवार्थः 'तं' धर्मार्थं मोक्षमभिप्रेताः–कामयन्तः साधवो यस्मात्तस्माद्धर्मार्थकामा इति गाथार्थः ॥ एतदेव दृढयन्नाह—

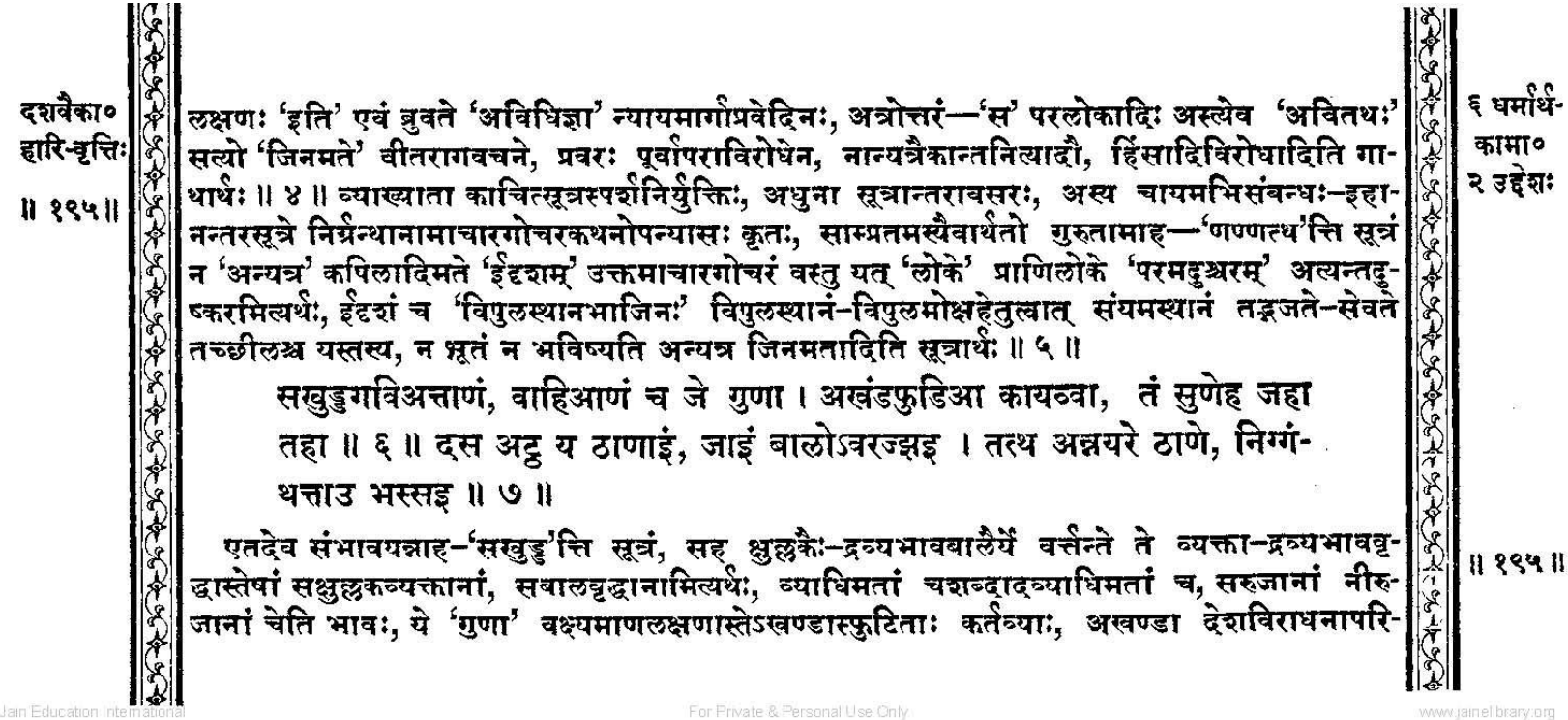
परलोगु मुत्तिमग्गो नत्थि हु मोक्खो त्ति बिंति अविहिन्नू । सो अत्थि अवितहो जिणमयंमि पवरो न अन्नत्थ ॥ २६६ ॥

व्याख्या—'परलोको' जन्मान्तरलक्षणो 'मुक्तिमार्गो' ज्ञानदर्शनचारित्राणि नास्त्येव 'मोक्षः' सर्वकर्मक्षय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-७॥

दीप अनुक्रम [२३१--२३२]



लक्षणः 'इति' एवं ब्रुवते 'अविधिज्ञा' न्यायमार्गाप्रवेदिनः, अत्रोत्तरं—'स' परलोकादिः अस्त्येव 'अवितथः' सत्यो 'जिनमते' वीतरागवचने, प्रवरः पूर्वापराविरोधेन, नान्यत्रैकान्तनित्यादौ, हिंसादिविरोधादिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ व्याख्याता काचित्सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिः, अधुना सूत्रान्तरावसरः, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तरसूत्रे निर्ग्रन्थानामाचारगोचरकथनोपन्यासः कृतः, साम्प्रतमस्यैवार्थतो गुरुतामाह—'णण्णत्थ'त्ति सूत्रं न 'अन्यत्र' कपिलादिमते 'ईदृशम्' उक्तमाचारगोचरं वस्तु यत् 'लोके' प्राणिलोके 'परमदुश्चरम्' अत्यन्तदुष्करमित्यर्थः, ईदृशं च 'विपुलस्थानभाजिनः' विपुलस्थानं–विपुलमोक्षहेतुत्वात् संयमस्थानं तद्भजते–सेवते तच्छीलश्च यस्तस्य, न भूतं न भविष्यति अन्यत्र जिनमतादिति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

सखुड्डगविअत्ताणं, वाहिआणं च जे गुणा । अखंडफुडिआ कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥ दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झइ । तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताउ भस्सइ ॥ ७ ॥

एतदेव संभावयन्नाह–'सखुड्ड'त्ति सूत्रं, सह क्षुल्लकैः–द्रव्यभावबालैर्ये वर्त्तन्ते ते व्यक्ता–द्रव्यभाववृद्धास्तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां, सबालवृद्धानामित्यर्थः, व्याधिमतां चशब्दादव्याधिमतां च, सरुजानां नीरुजानां चेति भावः, ये 'गुणा' वक्ष्यमाणलक्षणास्तेऽखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः, अखण्डा देशविराधनापरि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यागेन अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन, तत् शृणुत यथा कर्तव्यास्तथेति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ ते चागुणपरिहारेणाखण्डास्फुटिता भवन्तीति अगुणास्तावदुच्यन्ते–'दस'त्ति सूत्रं, दशाष्टौ च 'स्थानानि' असंयमस्थानानि वक्ष्यमाणलक्षणानि 'यानि' आश्रित्य 'बालः' अज्ञः 'अपराध्यति' तत्सेवनयाऽपराधमाप्नोति, कथमपराध्यतीत्याह–तत्रान्यतरे स्थाने वर्तमानः प्रमादेन 'निर्ग्रन्थत्वात्' निर्ग्रन्थभावाद् 'भ्रश्यति' निश्चयनयेनापैति बाल इति सूत्रार्थः ॥ अमुमेवार्थं सूत्रस्पर्शनिर्युक्त्या स्पष्टयति—

अट्ठारस ठाणाइं आयारकहाएँ जाइं भणियाइं । तेसिं अन्नतरागं सेवंतु न होइ सो समणो ॥ २६७ ॥

व्याख्या–अष्टादशस्थानान्याचारकथायां प्रस्तुतायां यानि भणितानि तीर्थकरैः तेषामन्यतरस्थानं सेवमानो न भवत्यसौ श्रमण आसेवक इति गाथार्थः ॥ कानि पुनस्तानि स्थानानीत्याह निर्युक्तिकारः—

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं । पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥ २६८ ॥

व्याख्या–'व्रतषट्कं' प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि रात्रिभोजनविरतिषष्ठानि षड् व्रतानि कायषट्कं–पृथिव्यादयः षड् जीवनिकायाः 'अकल्पः' शिक्षकस्थापनाकल्पादिर्वक्ष्यमाणः 'गृहिभाजनं' गृहस्थसंबन्धि कांस्यभाजनादि प्रतीतं 'पर्यङ्कः' शयनविशेषः प्रतीतः । 'निषद्या च' गृहे एकानेकरूपा 'स्नानं' देशसर्वभेदभिन्नं 'शोभावर्जनं' विभूषापरित्यागः, वर्जनमिति च प्रत्येकमभिसंबध्यते, शोभावर्जनं स्नानवर्जनमित्यादीति गाथार्थः ॥ ७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||८-१०||

दीप अनुक्रम [२३३--२३५]

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं । अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥ ८ ॥ जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा । ते जाणमजाणं वा, न हणे णोवि घायए ॥ ९ ॥ सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं । तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १० ॥

व्याख्याता सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिः, अधुना सूत्रान्तरं व्याख्यायते, अस्य चायमभिसंबन्धः–गुणा अष्टादशसु स्थानेषु अखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः, तत्र विधिमाह–'तत्थिमं'ति सूत्रं । 'तत्र' अष्टादशविधे स्थानगणे व्रतषट्के वा अनासेवनाद्वारेण 'इदं' वक्ष्यमाणलक्षणं प्रथमं स्थानं 'महावीरेण' भगवता अपश्चिमतीर्थकरेण 'देशितं' कथितं यदुताहिंसेति । इयं च सामान्यतः प्रभूतैर्देशितेत्यत आह–'निपुणा' आधाकर्माद्यपरिभोगतः कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा, न आगमद्वारेण देशिता अपितु 'दृष्टा' साक्षाद्धर्मसाधकत्वेनोपलब्धा, किमितीयमेव निपुणेत्यत आह–यतोऽस्यामेव महावीरदेशितायां 'सर्वभूतेषु' सर्वभूतविषयः संयमो, नान्यत्र, उद्दिश्यकृतादिभोगविधानादिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—'जावंति' सूत्रं, यतो हि भागवत्याज्ञा यावन्तः केचन लोके प्राणिनस्त्रसा–द्वीन्द्रियादयः अथवा स्थावराः–पृथिव्यादयः तान् जानन् रागाद्यभिभूतो दयापादनबुद्ध्या अजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण न हन्यात् स्वयं नापि घातयेदन्यैः 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणाद्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८-१०॥

दीप अनुक्रम [२३३--२३५]

घतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयाद्, अतो निपुणा दृष्टेति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ अहिंसैव कथं साध्वीत्येतदेवाह—'सव्वे'त्ति सूत्रं, सर्वे जीवा अपि दुःखितादिभेदभिन्ना इच्छन्ति जीवितुं न मर्तुं प्राणवल्लभत्वात्, यस्मादेवं तस्मात्प्राणवधं 'घोरं' रौद्रं दुःखहेतुत्वाद् 'निर्ग्रन्थाः' साधवो वर्जयन्ति भावतः । णमिति वाक्यालङ्कार इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया । हिंसगं न मुसं बूआ, नोवि अन्नं वयावए ॥ ११ ॥ मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ । अविस्सासो अ भूआणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥ १२ ॥

उक्तः प्रथमस्थानविधिः, अधुना द्वितीयस्थानविधिमाह–'अप्पणट्ठ'त्ति सूत्रं, 'आत्मार्थम्' आत्मनिमित्तमग्लान एव ग्लानोऽहं ममानेन कार्यमित्यादि 'परार्थं वा' परनिमित्तं वा एवमेव, तथा क्रोधाद्वा त्वं दास इत्यादि, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति मानाद्वा अबहुश्रुत एवाहं बहुश्रुत इत्यादि मायातो भिक्षाटनपरिजिहीर्षया पादपीडा ममेत्यादि लोभाच्छोभनतरान्नलाभे सति प्रान्तस्यैषणीयस्येऽप्यनेषणीयमिदमित्यादि, यदिवा 'भयात्' किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम्, अत एवाह–'हिंसकं' परपीडाकारि सर्वमेव न मृषा ब्रूयात् स्वयं नाप्यन्यं वादयेत्, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्' ब्रुवतोऽ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्यन्यान्न समनुजानीयादिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ किमित्येतदेवमित्याह–'मुसावाउ'त्ति सूत्रं, मृषावादो हि लोके सर्वस्मिन्नेव सर्वसाधुभिः 'गर्हितो' निन्दितः, सर्वव्रतापकारित्वात् प्रतिज्ञातापालनात्, 'अविश्वासश्च' अविश्वसनीयश्च भूतानां मृषावादी भवति, यस्मादेवं तस्मान्मृषावादं विवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइवा बहुं । दंतसोहणमित्तंपि, उग्गहंसि अजाइया ॥ १३ ॥ तं अप्पणा न गिण्हंति नोऽवि गिण्हावए परं । अन्नं वा गिण्हमाणंपि, नाणुजाणंति संजया ॥ १४ ॥

उक्तो द्वितीयस्थानविधिः, साम्प्रतं तृतीयस्थानविधिमाह—'चित्तमंत'त्ति सूत्रं, 'चित्तवद्' द्विपदादि वा 'अचित्तवद्वा' हिरण्यादि, अल्पं वा मूल्यतः प्रमाणतश्च, यदिवा बहु मूल्यप्रमाणाभ्यामेव, किं बहुना?—'दन्तशोधनमात्रमपि' तथाविधं तृणादि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा न गृह्णन्ति साधवः कदाचनेति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ एतदेवाह—'तं'ति सूत्रं, 'तत्' चित्तवदादि आत्मना न गृह्णन्ति विरतत्वात्, नापि ग्राहयन्ति परं विरतत्वादेव, तथाऽन्यं वा गृह्णन्तमपि स्वयमेव 'नानुजानन्ति' नानुमन्यन्ते संयता इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

अबंभचरिअं घोरं, पमायं दुरहिट्ठिअं । नायरंति मुणी लोए, भेआययणवज्जिणो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ १५ ॥ मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं । तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १६ ॥

उक्तस्तृतीयस्थानविधिः, चतुर्थस्थानविधिमाह—'अबंभ'त्ति सूत्रं, 'अब्रह्मचर्यं' प्रतीतं 'घोरं' रौद्रं रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्, 'प्रमादं' प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात् 'दुराश्रयं' दुस्सेवं विदितजिनवचनेनानन्तसंसारहेतुत्वात्, यतश्चैवमतो 'नाचरन्ति' नासेवन्ते मुनयो 'लोके' मनुष्यलोके, किंविशिष्टा इत्याह—'भेदायतनवर्जिनो' भेदः–चारित्रभेदस्तदायतनं–तत्स्थानमिदमेवोक्तन्यायात्तद्वर्जिनः–चारित्रातिचारभीरव इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ एतदेव निगमयति—'मूलं'ति सूत्रं, 'मूलं' बीजमेतद् 'अधर्मस्य' पापस्येति पारलौकिकोऽपायः 'महादोषसमुच्छ्रयं' महतां दोषाणां–चौर्यप्रवृत्त्यादीनां समुच्छ्रयं–संघातवदित्यैहिकोऽपायः, यस्मादेवं तस्मात् 'मैथुनसंसर्गं' मैथुनसंबन्धं योषिदालापाद्यपि निर्ग्रन्था वर्जयन्ति, णमिति वाक्यालङ्कार इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

बिडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणिअं । न ते संनिहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ॥ १७ ॥ लोहस्सेस अणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि । जे सिआ सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥ १८ ॥ जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तंपि संज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति अ ॥ १९ ॥ नं सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा। मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ॥ २० ॥ सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे। अवि अप्पणोऽवि देहंमि, नायरंति ममाइयं ॥ २१ ॥

प्रतिपादितश्चतुर्थस्थानविधिः, इदानीं पञ्चमस्थानविधिमाह—'बिड'त्ति सूत्रं, 'बिडं' गोमूत्रादिपक्वं 'उद्भेद्यं' सामुद्रादि यद्वा 'बिडं' प्रासुकम् 'उद्भेद्यम्' अप्रासुकमपि, एवं द्विप्रकारं लवणं, तथा तैलं सर्पिश्च फाणितम्, तत्र तैलं प्रतीतं, सर्पिर्घृतं, फाणितं द्रवगुडः, एतल्लवणाद्येवंप्रकारमन्यच्च न ते साधवः 'संनिधिं कुर्वन्ति' पर्युषितं स्थापयन्ति, 'ज्ञातपुत्रवचोरताः' भगवद्वर्धमानवचसि निःसङ्गतापतिपादनपरे सक्ता इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ संनिधिदोषमाह—'लोभस्स'त्ति सूत्रं, 'लोभस्य' चारित्रविघ्नकारिणश्चतुर्थकषायस्य 'एसोऽणुप्फासो'त्ति एषोऽनुस्पर्शः—एषोऽनुभावो यदेतत्संनिधिकरणमिति, यतश्चैवमतो 'मन्ये' मन्यन्ते, प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थकरगणधराः 'अन्यतरामपि' स्तोकामपि 'यः स्यात्' यः कदाचित्संनिधिं 'कामयते' सेवते 'गृही' गृहस्थोऽसौ भावतः प्रव्रजितो नेति, दुर्गतिनिमित्तानुष्ठानप्रवृत्तेः, संनिधीयते नरकादिष्वात्माऽनयेति संनिधिरिति शब्दार्थात् प्रव्रजितस्य च दुर्गतिगमनाभावादिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ आह—यद्येवं वस्त्रादि धारयतां साधूनां कथमसंनिधिरित्यत आह 'जंपि'त्ति सूत्रं, यदप्यागमोक्तं 'वस्त्रं वा' चोलपट्टकादि 'पात्रं

॥ १९८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा' अलाबुकादि 'कम्बलं' वर्षाकल्पादि, 'पादपुंछनं' रजोहरणं, तदपि 'संयमलज्जार्थ'मिति संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्रं, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्तेः, अथवा संयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद्वस्त्रादि धारयन्ति, पुष्टालम्बनविधानेन 'परिहरन्ति च 'परिभुञ्जते च' मूर्च्छारहिता इति सूत्रार्थः ॥१९॥ यतश्चैवमतः—'न सो'त्ति सूत्रं, नासौ निरभिष्वङ्गस्य वस्त्रधारणादिलक्षणः परिग्रह उक्तो, बन्धहेतुत्वाभावात्, केन? 'ज्ञातपुत्रेण' ज्ञात–उदारक्षत्रियः सिद्धार्थः तत्पुत्रेण वर्धमानेन 'त्रात्रा' स्वपरपरित्राणसमर्थेन, अपि तु 'मूर्च्छा' असत्स्वपि वस्त्रादिष्वभिष्वङ्गः परिग्रह उक्तो, बन्धहेतुत्वाद्, अर्थतस्तीर्थकरेण, ततोऽवधार्य 'इति' एवमुक्तो 'महर्षिणा' गणधरेण, सूत्रे सेज्जंभव आहेति सूत्रार्थः ॥ २० ॥ आह–वस्त्राद्यभावभाविन्यपि मूर्च्छा कथं वस्त्रादिभावे साधूनां न भविष्यति?, उच्यते, सम्यग्बोधेन तद्बीजभूतावोधोपघातादु, आह च—'सव्वत्थ'त्ति सूत्रं, 'सर्वत्र' उचिते क्षेत्रे काले च 'उपधिना 'आगमोक्तेन वस्त्रादिना सहापि 'बुद्धा' यथावद्विदितवस्तुतत्त्वाः साधवः 'संरक्षणपरिग्रह' इति संरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योगः, किं चानेन?, ते हि भगवन्तः 'अध्यात्मनोऽपि देह' इत्यात्मनो धर्मकायेऽपि विशिष्टप्रतिबन्धसंगतिं न कुर्वन्ति 'ममत्वम्' आत्मीयाभिधानं, वस्तुतत्त्वावबोधात्, तिष्ठतु तावदन्यत्, ततश्च देहवदपरिग्रह एव तदिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

Jain Education Inte... For Private & Personal Use Only ...inelibrary.org

अहो निच्चं तवो कम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णिअं । जाव लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोअणं ॥ २२ ॥ संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा । जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणिअं चरे? ॥ २३ ॥ उदउल्लं बीअसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं । दिआ ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे? ॥ २४ ॥ एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं। सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोअणं ॥ २५ ॥

उक्तः पञ्चमस्थानविधिः, अधुना षष्ठमधिकृत्याह—'अहो'त्ति सूत्रं, 'अहो निलं तपःकर्मे'ति अहो–विस्मये नित्यं नामापायाभावेन तदन्यगुणवृद्धिसंभवादप्रतिपात्येव तपःकर्म–तपोऽनुष्ठानं 'सर्वबुद्धैः' सर्वतीर्थकरैः 'वर्णितं' देशितं, किंविशिष्टमित्याह—'यावल्लज्जासमा वृत्तिः' लज्जा–संयमस्तेन समा–सदृशी तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थः वर्तनं वृत्तिः–देहपालना 'एकभक्तं च भोजनम्' एकं भक्तं द्रव्यतो भावतश्च यस्मिन् भोजने तत्तथा, द्रव्यत एकम्–एकसंख्यानुगतं, भावत एकं–कर्मबन्धाभावाद्द्वितीयं, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ रात्रिभोजने प्राणातिपातसंभवेन कर्मबन्धसद्द्वितीयतां दर्शयति—'संतिमे'त्ति सूत्रं, सन्त्येते–प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः सूक्ष्माः 'प्राणिनो' जीवाः त्रसा–द्वीन्द्रियादयः अथवा स्थावराः–पृथिव्यादयः यान् प्राणिनो रात्रावपश्यन् चक्षुषा कथम् 'एषणीयं' सत्त्वानुपरोधेन चरि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ष्यति भोक्ष्यते च[1]?, असंभव एव रात्रावेषणीयचरणस्येति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥ एवं रात्रौ भोजने दोषमभिधायाधुना ग्रहणगतमाह—'उदउल्लं'ति सूत्रं, उदकार्द्रं पूर्ववदेकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्सस्निग्धादिपरिग्रहः, तथा 'बीजसंसक्तं' बीजैः संसक्तं–मिश्रम्, ओदनादीति गम्यते, अथवा बीजानि पृथग्भूतान्येव, संसक्तं चारनालाद्यपरेणेति, तथा 'प्राणिनः' संपातिमप्रभृतयो निपतिता 'मह्यां' पृथिव्यां संभवन्ति, ननु दिवाप्येतत्संभवत्येव?, सत्यं, किंतु परलोकभीरुश्चक्षुषा पश्यन् दिवा तान्युदकार्द्रादीनि विवर्जयेत्, रात्रौ तु तत्र कथं चरति संयमानुपरोधेन?, असंभव एव शुद्धचरणस्येति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥ उपसंहरन्नाह—'एअं च'त्ति सूत्रं, 'एतं च' अनन्तरोदितं प्राणिहिंसारूपमन्यं चात्मविराधनादिलक्षणं दोषं दृष्ट्वा मतिचक्षुषा 'ज्ञातपुत्रेण' भगवता 'भाषितम्' उक्तं 'सर्वाहारं' चतुर्विधमप्यशनादिलक्षणमाश्रित्य न भुञ्जते 'निर्ग्रन्थाः' साधवो रात्रिभोजनमिति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयस कायस । तिविहेणं करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥ २६ ॥ पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ २७ ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । पुढ-

१ यद्यप्यवचूर्णिदीपिकयोर्नास्तीदं तथापि प्रतिग्रहप्रतिलेखनादोषसंपातिमसत्त्वोपरोधसंग्रहार्थं स्याच्चेन्नासंभव इति मन्ये, सर्वादर्शेषु दर्शनात्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्विकाय आदिकायानां हिंसा अकरण-उपदेशः

विकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ २८ ॥ आउकायं न हिंसंति, मणसा वयस कायसा । तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ॥ २९ ॥ आउकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ३० ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । आउकायसमारंभं जावजीवाइ वज्जए ॥ ३१ ॥

उक्तं व्रतषट्कम्, अधुना कायषट्कमुच्यते, तत्र पृथिवीकायमधिकृत्याह—'पुढवि'त्ति सूत्रं, पृथ्वीकायं न हिंसन्त्यालेखनादिना प्रकारेण मनसा वाचा कायेन, उपलक्षणमेतदत एवाह—'त्रिविधेन करणयोगेन' मनःप्रभृतिभिः करणादिरूपेण, के न हिंसन्तीत्याह—'संयताः' साधवः 'सुसमाहिता' उद्युक्ता इति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ अत्रैव हिंसादोषमाह—'पुढवि'त्ति सूत्रं, पृथिवीकायं हिंसन्नालेखनादिना प्रकारेण 'हिनस्त्येव' तुरवधारणार्थो व्यापादयत्येव, 'तदाश्रितान्' पृथिवीश्रितान् 'त्रसांश्च विविधान् प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन् चशब्दात्स्थावरांश्चाप्कायादीन् 'चाक्षुषांश्चाचाक्षुषांश्च' चक्षुरिन्द्रियग्राह्यानग्राह्यांश्चेति सूत्रार्थः ॥२७॥ यस्मादेवं 'तम्ह'त्ति सूत्रं, तस्मादेवं विज्ञाय दोषं तत्तदाश्रितजीवहिंसालक्षणं 'दुर्गतिवर्धनं' संसारवर्धनं पृथिवीकायसमारंभमालेखनादि 'यावज्जीवं' यावज्जीवमेव वर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ उक्तः सप्तमस्थानविधिः, अधुनाऽष्टमस्थानविधिमधिकृत्योच्यते—'आउकायं'ति सूत्रं, सूत्रत्रयमप्कायाभिलापेन नेयं, ततश्चायमप्युक्त एव २९-३०-३१॥

॥ २०० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायतेअं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए । तिक्खमन्नयरंसत्थं, सव्वओऽवि दुरासयं ॥ ३२ ॥ पाईणं पडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसामवि । अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओवि अ ॥ ३३ ॥ भूआणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ । तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥ ३४ ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । तेउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं नवमस्थानविधिमाह—'जायतेअं'ति सूत्रं, जाततेजा–अग्निः तं जाततेजसं नेच्छन्ति मनःप्रभृतिभिरपि 'पापकं' पाप एव पापकस्तं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभमित्यर्थः, किं नेच्छन्तीत्याह—'ज्वालयितुम्' उत्पादयितुं वृद्धिं वा नेतुं, किंविशिष्टमित्याह—'तीक्ष्णं' छेदकरणात्मकम् 'अन्यतरत्शस्त्रं' सर्वशस्त्रम्, एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भावः, अत एव 'सर्वतोऽपि दुराश्रयं' सर्वतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—'पाईणं'ति सूत्रं, 'प्राच्यां प्रतीच्यां वापि' पूर्वायां पश्चिमायां चेत्यर्थः, ऊर्द्धमनुदिश्वपि, 'सुपां सुपो भवन्ती'ति सप्तम्यर्थे षष्ठी, विदिश्वपीत्यर्थः, अधो दक्षिणतश्चापि 'दहति' दाह्यं भस्मीकरोत्युत्तरतोऽपि च, सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दहतीति सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥ यतश्चै-

१ वाचा कायेन चेच्छादर्शकचेष्टानिरोधात्. २ 'नव पूर्वा वादौ' अदिदादौ स्वसुपि वा पूर्वादयो नव सर्वादिरिति शाकटायनसूत्रदर्शनान्नापप्रयोगशङ्का.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वमतो 'भूआण'त्ति सूत्रं, 'भूतानां' स्थावरादीनामेष 'आघात' आघातहेतुत्वादाघातः 'हव्यवाहः' अग्निः 'न संशय' इत्येवमेवैतद् आघात एवेति भावः, येनैवं तेन 'तं' हव्यवाहं 'प्रदीपप्रतापनार्थम्' आलोकशीतापनोदार्थं 'संयताः' साधवः 'किञ्चित्' संघट्टनादिनाऽपि नारभन्ते, संयतत्वापगमनप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ३४ ॥ यस्मादेवं 'तम्ह'त्ति सूत्रं, व्याख्या पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं । सावज्जबहुलं चेअं, नेअं ताईहि सेविअं ॥ ३६ ॥ तालिअंटेण पत्तेण, साहाविहुअणेण वा । न ते वीइउमिच्छंति, वेआवेऊण वा परं ॥ ३७ ॥ जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति अ ॥ ३८ ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं। वाउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ ३९ ॥

उक्तो नवमस्थानविधिः, साम्प्रतं दशमस्थानविधिमधिकृत्याह—'अणिलस्स'त्ति, 'अनिलस्य' वायोः 'समारम्भं' तालवृन्तादिभिः करणं 'बुद्धाः' तीर्थकरा 'मन्यन्ते' जानन्ति 'तादृशं' जाततेजःसमारम्भसदृशं । 'सावद्यबहुलं' पापभूयिष्ठं चैतमितिकृत्वा सर्वकालमेव नैनं 'त्रातृभिः' सुसाधुभिः 'सेवितम्' आचरितं म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यन्ते बुद्धा एवेति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'तालियंटेण'त्ति सूत्रं, तालवृन्तेन पत्रेण शाखाविधूननेन वेत्यमीषां स्वरूपं यथा षड्जीवनिकायिकायां, न 'ते' साधवो वीजितुमिच्छन्त्यात्मानमात्मना, नापि वीजयन्ति परैरात्मानं तालवृन्तादिभिरेव, नापि वीजयन्तं परमनुमन्यन्त इति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥ उपकरणात्तद्विराधनेत्येतदपि परिहरन्नाह—'जंपि'त्ति सूत्रं, यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनम्, अमीषां पूर्वोक्तं धर्मोपकरणं तेनापि न ते वातमुदीरयन्ति अयतप्रत्युपेक्षणादिक्रियया, किंतु यतं परिहरन्ति, परिभोगपरिहारेण धारणापरिहारेण चेति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ यत एवं सुसाधुवर्जितोऽनिलसमारम्भः, 'तम्ह'त्ति सूत्रं, व्याख्या पूर्ववत् ॥ ३९ ॥ उक्तो दशमस्थानविधिः, इदानीमेकादशमाश्रित्य उच्यते इति

वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयस कायसा । तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥ ४० ॥ वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई अ तयस्सिए । तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४१ ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । वणस्सइसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥४२॥ तसकायं न हिंसंति, मणसा वयस कायसा । तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ॥ ४३ ॥ तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तयस्सिए। तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४४ ॥ तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं । तसकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ॥ ४५ ॥

'वणस्सइ' इत्यादि सूत्रत्रयं वनस्पतेरभिलापेन ज्ञेयं, ततश्चैकादशस्थानविधिरप्युक्त एव ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ साम्प्रतं द्वादशस्थानविधिरुच्यते—'तसकायं'ति सूत्रं, 'त्रसकायं' द्वीन्द्रियादिरूपं न हिंसन्त्यारम्भप्रवृत्त्या मनसा वाचा कायेन–तदहितचिन्तनादिना 'त्रिविधेन करणयोगेन' मनःप्रभृतिभिः करणादिना प्रकारेण 'संयताः' साधवः 'सुसमाहिताः' उद्युक्ता इति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥ तत्रैव हिंसादोषमाह—'तसकायं'ति सूत्रं, त्रसकायं विहिंसन् आरम्भप्रवृत्त्यादिना प्रकारेण हिनस्त्येव तुरवधारणार्थे व्यापादयत्येव 'तदाश्रितान्' त्रसान् विविधांश्च प्राणिनः–तदन्यद्वीन्द्रियादीन्, चशब्दात्स्थावरांश्च पृथिव्यादीन्, 'चाक्षुषानचाक्षुषांश्च' चक्षुरिन्द्रियग्राह्यानग्राह्यांश्चेति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ यस्मादेवं 'तम्ह'त्ति सूत्रं, तस्मादेतं विज्ञाय दोषं तदाश्रितजीवहिंसालक्षणं दुर्गतिवर्धनं संसारवर्धनं त्रयकायसमारम्भं तेन तेन विधिना 'यावज्जीवया' यावज्जीवमेव वर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥

जाइं चत्तारि भुज्जाइं, इसिणाऽऽहारमाइणि । ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥ ४६ ॥ पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य । अकप्पिअं न इच्छिज्जा, पडि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाहिज्ज कप्पिअं ॥ ४७ ॥ जे निआगं ममायंति, कीअमुद्देसिआहडं । वहं ते समणुजाणंति, इअ उत्तं महेसिणा ॥ ४८ ॥ तम्हा असणपाणाइं, कीअमुद्देसिआहडं । वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ॥ ४९ ॥

उक्तो द्वादशस्थानविधिः, प्रतिपादितं कायषट्कम्, एतत्प्रतिपादनादुक्ता मूलगुणाः, अधुनैतद्वृत्तिभूतोत्तरगुणावसरः, ते चाकल्पादयः षडुत्तरगुणाः, यथोक्तम्—'अकप्पो गिहिभायण'मित्यादि, तत्राकल्पो द्विविधः –शिक्षकस्थापनाकल्पः अकल्पस्थापनाकल्पश्च, तत्र शिक्षकस्थापनाकल्पः अनधीतपिण्डनिर्युक्त्यादिनाऽऽनीतमाहारादि न कल्पत इति, उक्तं च—"[1]अणहीआ खलु जेणं पिंडेसणसेज्जवत्थपाएसा । तेणाणियाणि जतिणो कप्पंति ण पिंडमाईणि ॥ १ ॥ उउबद्धंमि न अणला वासावासे उ दोऽवि णो सेहा । दिक्खिज्जंती पायं ठवणाकप्पो इमो होइ ॥ २ ॥" अकल्पस्थापनाकल्पमाह—'जाइं'ति सूत्रं, यानि चत्वारि 'अभोज्यानि' संयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि 'ऋषीणां' साधूनाम् 'आहारादीनि' आहारशय्यावस्त्रपात्राणि तानि तु विधिना वर्जयन् 'संयमं' सप्तदशप्रकारमनुपालयेत्, तदत्यागे संयमाभावादिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥ एतदेव स्पष्ट-

१ अनधीताः खलु येन पिण्डैषणाशय्यावस्त्रपात्रैषणाः । तेनानीतानि यतेः न कल्पन्ते पिण्डादीनि ॥ १ ॥ ऋतुबद्धे नावलाः वर्षावासे तु द्वयेऽपि न शैक्षकाः । दीक्ष्यन्ते प्रायः स्थापनाकल्पोऽयं भवति ॥ २ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥४६--४९॥

दीप अनुक्रम [२७१--२७४]

यति—'पिंड'न्ति सूत्रं, पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च चतुर्थं पात्रमेव च, एतत्स्वरूपं प्रकटार्थम्, अकल्पिकं नेच्छेत्, प्रतिगृह्णीयात् 'कल्पिकं' यथोचितमिति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥ अकल्पिके दोषमाह—'जे'त्ति सूत्रं, ये केचन द्रव्यसाध्वादयो द्रव्यलिङ्गधारिणो 'नियागं'ति नित्यमामन्त्रितं पिण्डं 'ममायन्ती'ति परिगृह्णन्ति, तथा 'क्रीतमौद्देशिकाहृतम्' एतानि यथा क्षुल्लकाचारकथायां 'वधं' त्रसस्थावरादिघातं 'ते' द्रव्यसाध्वादयः 'अनुजानन्ति' दातृप्रवृत्त्यनुमोदनेन इत्युक्तं च 'महर्षिणा' वर्धमानेनेति सूत्रार्थः ॥ ४८ ॥ यस्मादेवं 'तम्ह'त्ति सूत्रं, तस्मादशनपानादि चतुर्विधमपि यथोदितं क्रीतमौद्देशिकमाहृतं वर्जयन्ति 'स्थितात्मानो' महासत्त्वा 'निर्ग्रन्थाः' साधवो 'धर्मजीविनः' संयमैकजीविन इति सूत्रार्थः ॥ ४९ ॥

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो । भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥ ५० ॥ सीओदगसमारम्भे, मत्तधोअणछड्डणे । जाइं छंनंति (छिप्पंति) भूआइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ ५१ ॥ पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिआ तत्थ न कप्पइ । एअमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥ ५२ ॥

उक्तोऽकल्पस्तदभिधानात्रयोदशस्थानविधिः, इदानीं चतुर्दशस्थानविधिमाह—'कंसेसु'त्ति सूत्रं, 'कंसेषु' करोटकादिषु 'कंसपात्रेषु' तिलकादिषु 'कुण्डमोदेषु' हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु भुञ्जानोऽशनपानादि तद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्ग्रन्थानाम् संयम-मर्यादा उपदेशः

प्रत सूत्रांक ॥५०--५२॥

दीप अनुक्रम [२७५--२७७]

न्यदोषरहितमपि 'आचारात्' श्रमणसंबन्धिनः 'परिभ्रश्यति' अपैतीति सूत्रार्थः ॥ ५० ॥ कथमित्याह—'सीओदगं'ति सूत्रं, अनन्तरोद्दिष्टभाजनेषु श्रमणा भोक्ष्यन्ते भुक्तं वैभिरिति शीतोदकेन धावनं कुर्वन्ति, तदा 'शीतोदकसमारम्भे' सचेतनोदकेन भाजनधावनारम्भे तथा 'मात्रकधावनोज्झने' कुण्डमोदादिषु क्षालनजलत्यागे यानि 'क्षिप्यन्ते' हिंस्यन्ते 'भूतानि' अप्कायादीनि सोऽत्र–गृहिभाजनभोजने 'दृष्ट' उपलब्धः केवलज्ञानभास्वता असंयमः तस्य भोक्तुरिति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥ किंच—'पच्छाकम्मं'ति सूत्रं, पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्–तत्र कदाचिद्भवेद्गृहिभाजनभोजने, पश्चात्पुरःकर्मभावस्तूक्तवदित्येके, अन्ये तु भुञ्जन्तु तावत्साधवो वयं पश्चाद्भोक्ष्याम इति पश्चात्कर्म व्यत्ययेन तु पुरःकर्म व्याचक्षते, एतच्च न कल्पते धर्मचारिणां, यतश्चैवमतः 'एतदर्थं' पश्चात्कर्मादिपरिहारार्थं न भुञ्जते निर्ग्रन्थाः, केत्याह—'गृहिभाजने' अनन्तरोदित इति सूत्रार्थः ॥ ५२ ॥

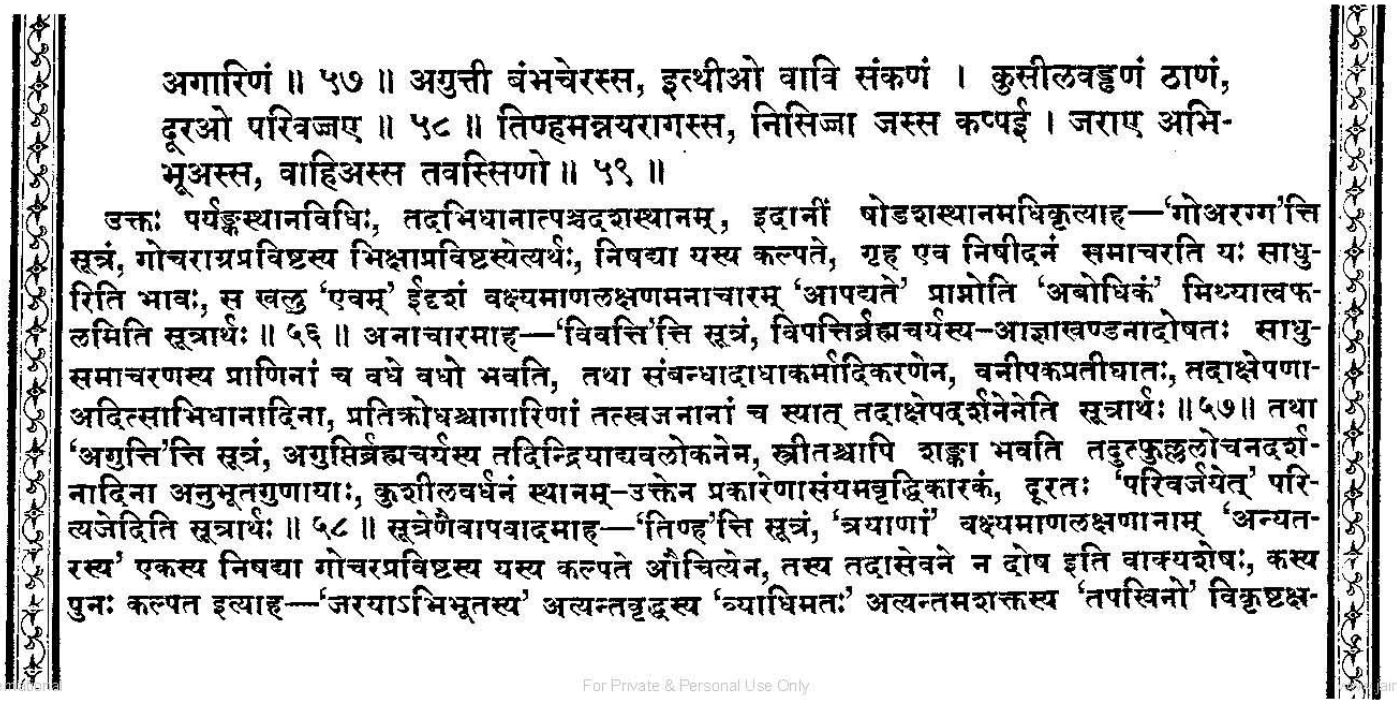
आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा । अणायरिअमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥ ५३ ॥ नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए । निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥ ५४ ॥ गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा । आसंदी पलिअंको अ, एअमट्ठं विवज्जिआ ॥ ५५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्तो गृहिभाजनदोषः, तदभिधानाच्चतुर्दशस्थानविधिः, साम्प्रतं पञ्चदशस्थानविधिमाह—'आसंदि'त्ति सूत्रं, आसन्दीपर्यङ्कौ प्रतीतौ, तयोरासन्दीपर्यङ्कयोः प्रतीतयोः, मञ्चाशालकयोश्च, मञ्चः–प्रतीतः आशालकस्तु–अवष्टम्भसमन्वित आसनविशेषः एतयोः 'अनाचरितम्' अनासेवितम् 'आर्याणां' साधूनाम् 'आसितुम्' उपवेष्टुं 'स्वप्तुं वा' निद्रातिवाहनं वा कर्तुं, शुषिरदोषादिति सूत्रार्थः ॥ ५३ ॥ अत्रैवापवादमाह—'नासंदि'त्ति सूत्रं, न 'आसन्दीपर्यङ्कयोः' प्रतीतयोः न निषद्यायाम्–एकादिकल्परूपायां न पीठके–वेत्रमयादौ 'निर्ग्रन्थाः' साधवः 'अप्रत्युपेक्ष्य' चक्षुरादिना, निषीदनादि न कुर्वन्तीति वाक्यशेषः, नन्न सर्वत्राभिसंबध्यते, न कुर्वन्तीति । किंविशिष्टा निर्ग्रन्थाः?, इत्याह—'बुद्धोक्ताधिष्ठातारः' तीर्थकरोक्तानुष्ठानपरा इत्यर्थः, इह चाप्रत्युपेक्षितासन्द्यादौ निषीदनादिनिषेधात् धर्मकथादौ राजकुलादिषु प्रत्युपेक्षितेषु निषीदनादिविधिमाह, विशेषणान्यथानुपपत्तेरिति सूत्रार्थः ॥ ५४ ॥ तत्रैव दोषमाह—'गंभीर'त्ति सूत्रं, गम्भीरम्–अप्रकाशं विजय–आश्रयः अप्रकाशाश्रया 'एते' प्राणिनामासन्द्यादयः, एवं च प्राणिनो दुष्प्रत्युपेक्षणीया एतेषु भवन्ति, पीड्यन्ते चैतदुपवेशनादिना, आसन्दः पर्यङ्कश्च चशब्दान्मञ्चादयश्च एतदर्थं विवर्जिताः साधुभिरिति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥

गोअरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ । इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहिअं ॥ ५६ ॥ विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो । वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अगारिणं ॥ ५७ ॥ अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं । कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ ५८ ॥ तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पई । जराए अभिभूअस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो ॥ ५९ ॥

उक्तः पर्यङ्कस्थानविधिः, तदभिधानात्पञ्चदशस्थानम्, इदानीं षोडशस्थानमधिकृत्याह—'गोअरग्ग'त्ति सूत्रं, गोचराग्रप्रविष्टस्य भिक्षाप्रविष्टस्येत्यर्थः, निषद्या यस्य कल्पते, गृह एव निषीदनं समाचरति यः साधुरिति भावः, स खलु 'एवम्' ईदृशं वक्ष्यमाणलक्षणमनाचारम् 'आपद्यते' प्राप्नोति 'अबोधिकं' मिथ्यात्वफलमिति सूत्रार्थः ॥ ५६ ॥ अनाचारमाह—'विवत्ति'त्ति सूत्रं, विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य–आज्ञाखण्डनादोषतः साधुसमाचरणस्य प्राणिनां च वधे वधो भवति, तथा संबन्धादाधाकर्मादिकरणेन, वनीपकप्रतीघातः, तदाक्षेपणाअदित्साभिधानादिना, प्रतिक्रोधश्चागारिणां तत्स्वजनानां च स्यात् तदाक्षेपदर्शनेनेति सूत्रार्थः ॥५७॥ तथा 'अगुत्ति'त्ति सूत्रं, अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य तदिन्द्रियाद्यवलोकनेन, स्त्रीतश्चापि शङ्का भवति तदुत्फुल्ललोचनदर्शनादिना अनुभूतगुणायाः, कुशीलवर्धनं स्थानम्–उक्तेन प्रकारेणासंयमवृद्धिकारकं, दूरतः 'परिवर्जयेत्' परित्यजेदिति सूत्रार्थः ॥ ५८ ॥ सूत्रेणैवापवादमाह—'तिण्ह'त्ति सूत्रं, त्रयाणां वक्ष्यमाणलक्षणानाम् 'अन्यतरस्य' एकस्य निषद्या गोचरप्रविष्टस्य यस्य कल्पते औचित्येन, तस्य तदासेवने न दोष इति वाक्यशेषः, कस्य पुनः कल्पत इत्याह—'जरयाऽभिभूतस्य' अत्यन्तवृद्धस्य 'व्याधितः' अत्यन्तमशक्तस्य 'तपस्विनो' विकृष्टक्ष-

Jain Education Inte... For Private & Personal Use Only ...ainelibrary.org

पकस्य । एते च भिक्षाटनं न कार्यन्त एव, आत्मलब्धिकाद्यपेक्षया तु सूत्रविषयः, न चैतेषां प्राय उक्तदोषाः संभवन्ति, परिहरन्ति च वनीपकप्रतिघातादीति सूत्रार्थः ॥ ५९ ॥

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए । वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥ ६० ॥ संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु अ । जे अ भिक्खू सिणायंतो, विअडेणुप्पलावए ॥ ६१ ॥ तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा । जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥ ६२ ॥ सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि अ । गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइवि ॥ ६३ ॥

उक्तो निषद्यास्थानविधिः, तदभिधानात्षोडशस्थानं, साम्प्रतं सप्तदशस्थानमाह—'वाहिओ व'त्ति सूत्रं, 'व्याधिमान् वा' व्याधिग्रस्तः 'अरोगी वा' रोगविप्रमुक्तो वा 'स्नानम्' अङ्गप्रक्षालनं यस्तु 'प्रार्थयते' सेवत इत्यर्थः, तेनेत्थंभूतेन व्युत्क्रान्तो भवति 'आचारो' बाह्यतपोरूपः, अस्नानपरीषहानतिसहनात्, 'जढः' परित्यक्तो भवति 'संयमः' प्राणिरक्षणादिकः, अप्कायादिविराधनादिति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥ प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्याग इत्याह—'संतिमे'त्ति सूत्रं, सन्ति 'एते' प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः 'सूक्ष्माः' श्लक्ष्णाः 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादयः 'घसासु' शुषिरभूमिषु 'भिलुगासु च' तथाविधभूमिराजीषु च, यांस्तु

Jain Education Intern For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षुः स्नानजलोज्झनक्रियया 'विकृतेन' प्रासुकोदकेनोत्साव्यति, तथा च तद्विराधनातः संयमपरित्याग इति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥ निगमयन्नाह—'तम्ह'त्ति सूत्रं, यस्मादेवमुक्तदोषप्रसंगस्तस्मात् 'ते' साधवो न स्नान्ति शीतेन वोष्णेनोदकेन, प्रासुकेनाप्रासुकेन वेत्यर्थः, किंविशिष्टास्त इत्याह—'यावज्जीवम्' आजन्म व्रतं 'घोरं' दुरनुचरमस्नानमाश्रित्य 'अधिष्ठातारः' अस्यैव कर्तार इति सूत्रार्थः ॥६२॥ किंच 'सिणाणं'ति सूत्रं, 'स्नानं' पूर्वोक्तम्, अथवा 'कल्कं' चन्दनकल्कादि 'लोध्रं गन्धद्रव्यं 'पद्मकानि च' कुङ्कुमकेसराणि, चशब्दादन्यच्चैवंविधं गात्रस्य 'उद्वर्त्तनार्थम्' उद्वर्त्तननिमित्तं नाचरन्ति कदाचिदपि, यावज्जीवमेव भावसाधव इति सूत्रार्थः ॥ ६३ ॥

नगिणस्स वावि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो । मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारिअं? ॥ ६४ ॥ विभूसावत्तिअं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं । संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ ६५ ॥ विभूसावत्तिअं चेअं, बुद्धा मन्नंति तारिसं । सावज्जबहुलं चेअं, नेयं ताईहिं सेविअं ॥ ६६ ॥

उक्तोऽस्नानविधिः, तदभिधानात्सप्तदशस्थानं, साम्प्रतमष्टादशं शोभावर्जनास्थानमुच्यते—शोभायां नास्ति दोषः 'अलङ्कृतश्चापि चरेद्धर्मं'मित्यादिवचनाद् (इति) पराभिप्रायमाशङ्क्याह—'नगिणस्स'त्ति सूत्रं, 'नग्नस्य वापि' कुचेलवतोऽप्युपचारनग्नस्य' निरुपचरितस्य नग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यमेव सूत्रं मुण्डस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यभावाभ्यां 'दीर्घरोमनखवतः' दीर्घरोमवतः कक्षादिषु दीर्घनखवतो हस्तादौ जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति यथाऽन्यसाधूनां शरीरेषु तमस्यपि न लगन्ति। मैथुनाद् 'उपशान्तस्य' उपरतस्य, किं 'विभूषया' राढया कार्यं?, न किञ्चिदिति सूत्रार्थः ॥ ६४ ॥ इत्थं प्रयोजनाभावमभिधायापायमाह—'विभूस'त्ति सूत्रं, 'विभूषाप्रत्ययं' विभूषानिमित्तं 'भिक्षुः' साधुः कर्म बध्नाति 'चिक्कणं' दारुणं, संसारसागरे 'घोरे' रौद्रे येन कर्मणा पतति 'दुरुत्तारे' अकुशलानुबन्धतोऽत्यन्तदीर्घ इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ एवं बाह्यविभूषापायमभिधाय संकल्पविभूषापायमाह—'विभूस'त्ति सूत्रं, 'विभूषाप्रत्ययं' विभूषानिमित्तं चेत एवं चैवं च यदि मम विभूषा संपद्यत इति, तत्प्रवृत्त्यङ्गं चित्तमित्यर्थः, 'बुद्धाः' तीर्थकरा 'मन्यन्ते' जानन्ति 'तादृशं' रौद्रकर्मबन्धहेतुभूतं विभूषाक्रियासदृशं 'सावद्यबहुलं चैतद्' आर्तध्यानानुगतं चेतः, नैतदित्थंभूतं 'आत्मभिः' आत्मारामैः साधुभिः 'सेवितम्' आचरितं, कुशलचित्तत्वात्तेषामिति सूत्रार्थः ॥ ६६ ॥

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजमअज्जवे गुणे। धुणंति पावाइं पुरेकडाइं,
नवाइं पावाइं न ते करंति ॥ ६७ ॥ सओवसंता अममा अकिंचणा, सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो। उउप्पसन्ने विमलेव चंदिमा, सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताइणो
॥ ६८ ॥ त्तिबेमि ॥ छट्ठं धम्मत्थकामज्झयणं समत्तं ॥ ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्तः शोभावर्जनस्थानविधिः, तदभिधानाद्दष्टादशं पदं, तदभिधानाच्चोत्तरगुणाः, साम्प्रतमुक्तफलप्रदर्शनेनोपसंहरन्नाह—'खवंति'त्ति सूत्रं, क्षपयन्त्यात्मानं तेन तेन चित्तयोगेनानुपशान्तं शमयोजनेन जीवं, किंविशिष्टा इत्याह—'अमोहदर्शिनः' अमोहं ये पश्यन्ति, यथावत्पश्यन्तीत्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते–तपसि–अनशनादिलक्षणे रताः–सक्ताः, किंविशिष्टे तपसीत्याह—'संयमार्जवगुणे' संयमार्जवे गुणौ यस्य तपसस्तस्मिन्, संयमऋजुभावप्रधाने, शुद्ध इत्यर्थः, त एवंभूता 'धुन्वन्ति' कम्पयन्त्यपनयन्ति पापानि 'पुराकृतानि' जन्मान्तरोपात्तानि 'नवानि' प्रत्यग्राणि पापानि न 'ते' साधवः कुर्वन्ति, तथाऽप्रमत्तत्वादिति सूत्रार्थः ॥६७॥ किं च—'सदोवसंत'त्ति सूत्रं, 'सदोपशान्ताः' सर्वकालमेव क्रोधरहिताः, सर्वत्राममा–ममत्वशून्याः 'अकिञ्चना' हिरण्यादिमिथ्यात्वादिद्रव्यभावकिञ्चनविनिर्मुक्ताः, स्वा–आत्मीया विद्या स्वविद्या–परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा तया स्वविद्यया विद्ययानुगता–युक्ताः, न पुनः परविद्यया इहलोकोपकारिण्येति, त एव विशेष्यन्ते—'यशस्विनः' शुद्धपारलौकिकयशोवन्तः, त एवंभूता ऋतौ 'प्रसन्ने' परिणते शरत्कालादौ विमल इव चन्द्रमाः चन्द्रमा इव विमलाः, इत्येवंकल्पास्ते भावमलरहिताः 'सिद्धिं' निर्वृतिं तथा सावशेषकर्माणो 'विमानानि' सौधर्मावतंसकादीनि 'उपयान्ति' सामीप्येन गच्छन्ति 'त्रातारः' स्वपरापेक्षया साधवः, इति ब्रवीमीति पूर्ववत्। उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च पूर्ववत्, ॥ ६८ ॥ व्याख्यातं षष्ठाध्ययनम्

इति श्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकवृत्तौ षष्ठमध्ययनम् ॥ ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र षष्ठं अध्ययनं परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥६८..॥

दीप अनुक्रम [२९३..]

अथ वाक्यशुद्ध्याख्यं सप्तममध्ययनम् ।

साम्प्रतं वाक्यशुद्ध्याख्यमध्ययनं प्रारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने गोचरप्रविष्टेन सता स्वाचारं पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्य (आचार) इति, अपि त्वालये गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यमित्येतदुक्तम्, इह त्वालयगतेनापि तेन गुरुणा वा वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा कथयितव्य इत्येतदुच्यते, उक्तं च—"[1]सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो न याणइ विसेसं । वोत्तुंपि तस्स ण खमं किमंग पुण देसणं काउं? ॥ १ ॥" इत्यनेनाभिसंबन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तत्र वाक्यशुद्धिरिति द्विपदं नाम, तत्र वाक्यनिक्षेपाभिधानायाह—

निक्खेवो अ (उ) चउक्को वक्के दव्वं तु भासदव्वाइं । भावे भासासद्दो तस्स य एगट्ठिआ इणमो ॥ २६९ ॥

व्याख्या–निक्षेपस्तु 'चतुष्को' नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणो 'वाक्ये' वाक्यविषयः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, 'द्रव्यं तु' द्रव्यवाक्यं पुनर्ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं 'भाषाद्रव्याणि' भाषकेण गृहीतान्यनुच्चार्यमाणानि, 'भाव' इति भाववाक्यं 'भाषाशब्दः' भाषाद्रव्याणि शब्दत्वेन परिणतान्युच्चार्यमाणानीत्यर्थः । तस्य तु वाक्यस्य एकार्थिकानि 'अमूनि' वक्ष्यमाणलक्षणानीति गाथार्थः ॥

वक्कं वयणं च गिरा सरस्सई भारही अ गो वाणी । भासा पन्नवणी देसणी अ वयजोग जोगे अ ॥ २७० ॥

---

१ सावद्यानवद्ययोर्वचनयोर्यो न जानाति विशेषम् । वक्तुमपि न तस्य क्षमं किमङ्ग पुनर्देशनां कर्तुम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -७- "वाक्यशुद्धि" आरभ्यते

अस्य अध्ययने उद्देशकः नास्ति, शिर्षकस्थाने यत् "२ उद्देश" इति मुद्रितं तत् मुद्रणदोष एव अस्ति

प्रत सूत्रांक ||६८..||

दीप अनुक्रम [२९३..]

व्याख्या–वाक्यं वचनं च गीः सरस्वती भारती च गौर्वाक् भाषा प्रज्ञापनी देशनी च वाग्योगो योगश्च, एतानि निगदसिद्धान्येवेति गाथार्थः ॥ पूर्वोद्दिष्टां द्रव्यादिभाषामाह—

दव्वे तिविहा गहणे अ निसिरणे तह भवे पराघाए । भावे दव्वे अ सुए चरित्तमाराहणी चेव ॥ २७१ ॥

व्याख्या–'द्रव्य' इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यभाषा त्रिविधा—ग्रहणे च निसर्गे तथा भवेत्पराघाते । तत्र ग्रहणं भाषाद्रव्याणां काययोगेन यत् सा ग्रहणद्रव्यभाषा, निसर्गस्तेषामेव भाषाद्रव्याणां वाग्योगेनोत्सर्गक्रिया, पराघातस्तु निसृष्टभाषाद्रव्यैस्तदन्येषां तथापरिणामापादनक्रियावत्प्रेरणम्, एषा त्रिप्रकाराऽपि क्रिया द्रव्ययोगस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वात् द्रव्यभाषेति । 'भाव' इति द्वारपरामर्शः, भावभाषा त्रिविधैव, द्रव्ये च श्रुते चारित्र इति, द्रव्यभावभाषा श्रुतभावभाषा चारित्रभावभाषा च, तत्र द्रव्यं प्रतीत्योपयुक्तैर्या भाष्यते सा द्रव्यभावभाषा, एवं श्रुतादिष्वपि वाच्यम्, इयं त्रिप्रकारापि वक्त्रभिप्रायात्तद्द्रव्यभावप्राधान्यापेक्षया भावभाषा, इयं चौघत एवाराधनी चैवेति, द्रव्याद्याराधनात्, चशब्दाद्विराधना चोभयं चानुभयं च भवति, द्रव्याद्याराधनादिभ्य इति । आह–इह द्रव्यभाववाक्यस्वरूपमभिधातव्यं, तस्य प्रस्तुतत्वात्, तत्किमनया भाषयेति, उच्यते, वाक्यपर्यायत्वाद्भाषाया न दोषः, तत्त्वतस्तस्यैवाभिधानादिति गाथासमुदायार्थः, अवयवार्थं तु वक्ष्यति । तत्र द्रव्यभावभाषामधिकृत्याराधन्यादिभेदयोजनामाह—

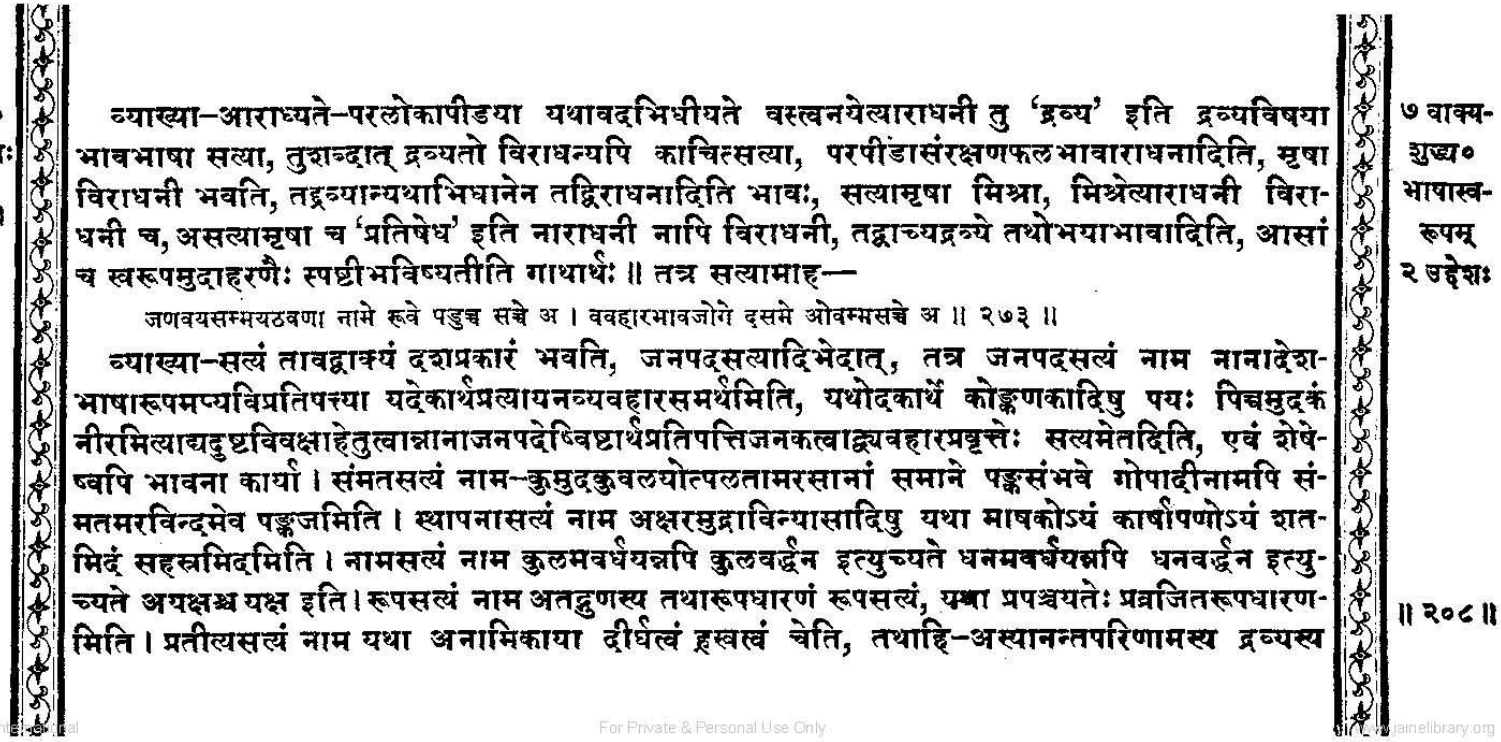
आराहणी उ दव्वे सच्चा मोसा विराहणी होइ । सच्चामोसा मीसा असच्चमोसा य पडिसेहा ॥ २७२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यभाषायाः अर्थ एवं भेदाः

प्रत सूत्रांक ॥६८..॥

दीप अनुक्रम [२९३..]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २०८ ॥

व्याख्या–आराध्यते–परलोकापीडया यथावदभिधीयते वस्त्वनयेत्याराधनी तु 'द्रव्य' इति द्रव्यविषया भावभाषा सत्या, तुशब्दात् द्रव्यतो विराधन्यपि काचित्सत्या, परपीडासंरक्षणफलभावाराधनादिति, मृषा विराधनी भवति, तद्द्रव्यान्यथाभिधानेन तद्विराधनादिति भावः, सत्यामृषा मिश्रा, मिश्रेत्याराधनी विराधनी च, असत्यामृषा च 'प्रतिषेध' इति नाराधनी नापि विराधनी, तद्वाच्यद्रव्ये तथोभयाभावादिति, आसां च स्वरूपमुदाहरणैः स्पष्टीभविष्यतीति गाथार्थः ॥ तत्र सत्यामाह—

जणवयसम्मयठवणा नामे रूवे पडुच्च सच्चे अ । ववहारभावजोगे दसमे ओवम्मसच्चे अ ॥ २७३ ॥

व्याख्या–सत्यं तावद्वाक्यं दशप्रकारं भवति, जनपदसत्यादिभेदात्, तत्र जनपदसत्यं नाम नानादेशभाषारूपमप्यविप्रतिपत्त्या यदेकार्थप्रत्यायनव्यवहारसमर्थमिति, यथोदकार्थे कोङ्कणकादिषु पयः पिच्चमुदकं नीरमित्याद्यदुष्टविवक्षाहेतुत्वान्नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वाद्व्यवहारप्रवृत्तेः सत्यमेतदिति, एवं शेषेष्वपि भावना कार्या । संमतसत्यं नाम–कुमुदकुवलयोत्पलतामरसानां समाने पङ्कसंभवे गोपादीनामपि संमतमरविन्दमेव पङ्कजमिति । स्थापनासत्यं नाम अक्षरमुद्राविन्यासादिषु यथा माषकोऽयं कार्षापणोऽयं शतमिदं सहस्रमिदमिति । नामसत्यं नाम कुलमवर्धयन्नपि कुलवर्द्धन इत्युच्यते धनमवर्धयन्नपि धनवर्द्धन इत्युच्यते अयक्षश्च यक्ष इति । रूपसत्यं नाम अतद्गुणस्य तथारूपधारणं रूपसत्यं, यथा प्रपञ्चयतेः प्रव्रजितरूपधारणमिति । प्रतीत्यसत्यं नाम यथा अनामिकाया दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेति, तथाहि–अस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य

७ वाक्य-शुद्ध० भाषास्वरूपम् २ उद्देशः ॥ २०८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अथ भाषा स्वरुपम् प्रकाश्यते

प्रत सूत्रांक ||६८..||

दीप अनुक्रम [२९३..]

तत्तत्सहकारिकारणसंनिधानेन तत्तद्रूपमभिव्यज्यत इति सत्यता । व्यवहारसत्यं नाम दह्यते गिरिर्गलति भाजनमनुदरा कन्या अलोमा एडकेति गिरिगततृणादिदाहे व्यवहारः प्रवर्तते तथोदके च गलति सति तथा संभोगजबीजप्रभवोदराभावे च सति तथा लवनयोग्यलोमाभावे सति । भावसत्यं नाम शुक्ला बलाका, सत्यपि पञ्चवर्णसंभवे शुक्लवर्णोत्कटत्वाच्छुक्लेति । योगसत्यं नाम छत्रयोगाच्छत्री दण्डयोगाद्दण्डीत्येवमादि । दशममौपम्यसत्यं च, तत्रौपम्यसत्यं नाम समुद्रवत्तडाग इति गाथार्थः ॥ उक्ता सत्या, अधुना मृषामाह—

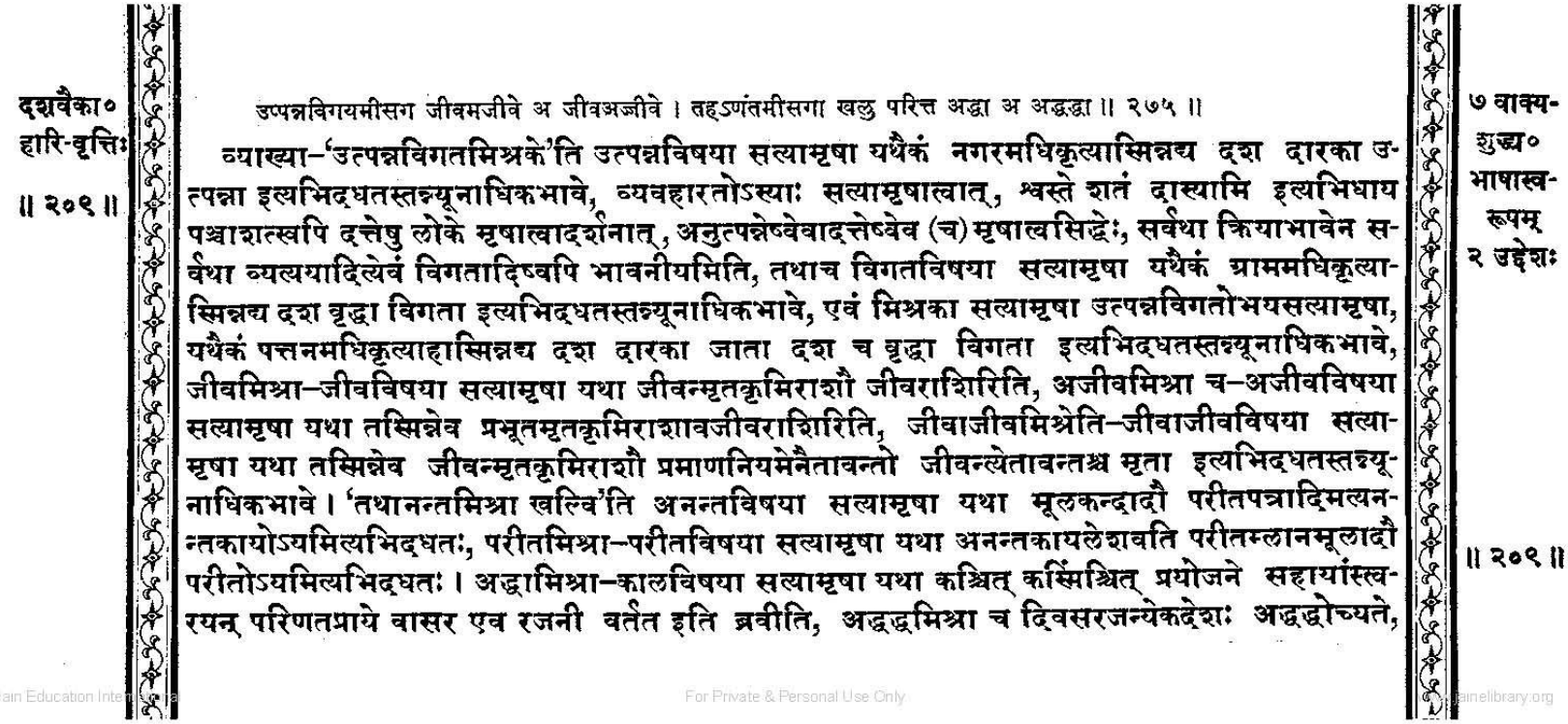
कोहे माणे माया लोभे पेज्जे तहेव दोसे अ । हासभए अक्खाइय उवघाए निस्सिआ दसमा ॥ २७४ ॥

व्याख्या–क्रोध इति क्रोधनिसृता, यथा क्रोधाभिभूतः पिता पुत्रमाह–न त्वं मम पुत्रः, यद्वा क्रोधाभिभूतो वक्ति तदाशयविपत्तितः सर्वमेवासत्यमिति, एवं माननिसृता मानाध्मातः कश्चित्केनचिदल्पधनोऽपि पृष्ट आह–महाधनोऽहमिति, मायानिसृता मायाकारप्रभृतय आहुः–नष्टो गोलक इति, लोभनिसृता वणिक्प्रभृतीनामन्यथाक्रीतमेवेत्थमिदं क्रीतमित्यादि, प्रेमनिसृता अतिरक्तानां दासोऽहं तवेत्यादि, द्वेषनिसृता मत्सरिणां गुणवत्यपि निर्गुणोऽयमित्यादि, हास्यनिसृता कान्दर्पिकानां किंचित्कस्यचित्संबन्धि गृहीत्वा पृष्टानां न दृष्टमित्यादि, भयनिसृता तस्करादिगृहीतानां तथा तथा असमञ्जसाभिधानम्, आख्यायिकानिसृता तत्प्रतिबद्धोऽसत्प्रलापः, उपघातनिसृता अचौरे चौर इत्यभ्याख्यानवचनमिति गाथार्थः ॥ उक्ता मृषा, साम्प्रतं सत्यामृषामाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६८..॥

दीप अनुक्रम [२९३..]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २०९ ॥

उप्पन्नविगयमीसग जीवमजीवे अ जीवअज्जीवे । तहऽण्णंतमीसगा खलु परित्त अद्धा अ अद्धद्धा ॥ २७५ ॥

व्याख्या–'उत्पन्नविगतमिश्रके'ति उत्पन्नविषया सत्यामृषा यथैकं नगरमधिकृत्यास्मिन्नद्य दश दारका उत्पन्ना इत्यभिदधतस्तन्यूनाधिकभावे, व्यवहारतोऽस्याः सत्यामृषात्वात्, श्वस्ते शतं दास्यामि इत्यभिधाय पञ्चाशत्स्वपि दत्तेषु लोके मृषात्वादर्शनात्, अनुत्पन्नेष्वेवादत्तेष्वेव (च) मृषात्वसिद्धेः, सर्वथा क्रियाभावेन सर्वथा व्यत्ययादित्येवं विगतादिष्वपि भावनीयमिति, तथाच विगतविषया सत्यामृषा यथैकं ग्राममधिकृत्यास्मिन्नद्य दश वृद्धा विगता इत्यभिदधतस्तन्यूनाधिकभावे, एवं मिश्रका सत्यामृषा उत्पन्नविगतोभयसत्यामृषा, यथैकं पत्तनमधिकृत्याहास्मिन्नद्य दश दारका जाता दश च वृद्धा विगता इत्यभिदधतस्तन्यूनाधिकभावे, जीवमिश्रा–जीवविषया सत्यामृषा यथा जीवन्मृतकृमिराशौ जीवराशिरिति, अजीवमिश्रा च–अजीवविषया सत्यामृषा यथा तस्मिन्नेव प्रभूतमृतकृमिराशावजीवराशिरिति, जीवाजीवमिश्रेति–जीवाजीवविषया सत्यामृषा यथा तस्मिन्नेव जीवन्मृतकृमिराशौ प्रमाणनियमेनैतावन्तो जीवन्त्येतावन्तश्च मृता इत्यभिदधतस्तन्यूनाधिकभावे । 'तथानन्तमिश्रा खल्वि'ति अनन्तविषया सत्यामृषा यथा मूलकन्दादौ परीतपत्रादिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः, परीतमिश्रा–परीतविषया सत्यामृषा यथा अनन्तकायलेशवति परीतम्लानमूलादौ परीतोऽयमित्यभिदधतः । अद्धामिश्रा–कालविषया सत्यामृषा यथा कश्चित् कस्मिंश्चित् प्रयोजने सहायांस्त्वरयन् परिणतप्राये वासर एव रजनी वर्तत इति ब्रवीति, अद्धद्धमिश्रा च दिवसरजन्येकदेशः अद्धद्धोच्यते,

७ वाक्यशुद्ध्य० भाषास्वरूपम् २ उद्देशः ॥ २०९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६८..||

दीप अनुक्रम [२९३..]

तद्विषया सत्यामृषा यथा कस्मिंश्चित् प्रयोजने त्वरयन् प्रहरमात्र एव मध्याह्न इत्याह। एवं मिश्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यत इति गाथार्थः ॥ उक्ता सत्यामृषा, साम्प्रतमसत्यामृषामाह—

आमंतणि आणवणी जायणि तह पुच्छणी अ पन्नवणी । पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा अ ॥ २७६ ॥

व्याख्या–आमन्त्रणी यथा हे देवदत्त इत्यादि, एषा किलाप्रवर्तकत्वात्सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतस्तथाविधदलोत्पत्तेरसत्यामृषेति, एवमाज्ञापनी यथेदं कुरु, इयमपि तस्य करणाकरणभावतः परमार्थेनैकत्राप्यनियमात्तथाप्रतीतेः अदुष्टविवक्षाप्रसूतत्वादसत्यामृषेति, एवं स्ववुद्ध्याऽन्यत्रापि भावना कार्येति । याचनी यथा भिक्षां प्रयच्छेति, तथा प्रच्छनी यथा कथमेतदिति, प्रज्ञापनी यथा हिंसाप्रवृत्तो दुःखितादिर्भवति, प्रत्याख्यानी भाषा यथाऽदित्सेति भाषा, इच्छानुलोमा च यथा केनचित्कश्चिदुक्तः साधुसकाशं गच्छाम इति, स आह–शोभनमिदमिति गाथार्थः ॥

अणभिग्गहिआ भासा भासा अ अभिग्गहंमि बोद्धव्वा । संसयकरणी भासा वायड अव्वायडा चेव ॥ २७७ ॥

व्याख्या–अनभिगृहीता भाषा अर्थमनभिगृह्य योच्यते डित्थादिवत्, भाषा चाभिग्रहे बोद्धव्या–अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादिवत्, तथा संशयकरणी च भाषा–अनेकार्थसाधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्, व्याकृता–स्पष्टा प्रकटार्था देवदत्तस्यैष भ्रातेत्यादिवत्, अव्याकृता चैव–अस्पष्टाऽप्रकटार्था बालकादीनां थपनिकेत्यादिवदिति गाथार्थः ॥ उक्ता असत्यामृषा, साम्प्रतमोघत एवास्याः प्रविभागमाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६८..॥

दीप अनुक्रम [२९३..]

सव्वावि अ सा दुविहा पज्जत्ता खलु तहा अपज्जत्ता । पढमा दो पज्जत्ता उवरिल्ला दो अपज्जत्ता ॥ २७८ ॥

व्याख्या–सर्वाऽपि च 'सा' सत्यादिभेदभिन्ना भाषा द्विविधा–पर्याप्ता खलु तथाऽपर्याप्ता, पर्याप्ता या एकपक्षे निक्षिप्यते सत्या वा मृषा वेति तद्व्यवहारसाधनी, तद्विपरीता पुनरपर्याप्ता, अत एवाह–प्रथमे द्वे भाषे सत्यामृषे पर्याप्ते, तथास्वविषयव्यवहारसाधनात्, तथा उपरितने द्वे सत्यामृषाऽसत्यामृषाभाषे अपर्याप्ते, तथास्वविषयव्यवहारासाधनादिति गाथार्थः ॥ उक्ता द्रव्यभावभाषा, साम्प्रतं श्रुतभावभाषामाह—

सुअधम्मे पुण तिविहा सच्चा मोसा असच्चमोसा अ । सम्मद्दिट्ठी उ सुओवउत्तु सो भासई सच्चं ॥ २७९ ॥

व्याख्या–'श्रुतधर्मे' इति श्रुतधर्मविषया पुनस्त्रिविधा भवति भावभाषा, तद्यथा–सत्या मृषा असत्यामृषा चेति, तत्र 'सम्यग्दृष्टिस्तु' सम्यग्दृष्टिरेव 'श्रुतोपयुक्त' इत्यागमे यथावदुपयुक्तो यः स भाषते 'सत्यम्' आगमानुसारेण वक्तीति गाथार्थः ॥

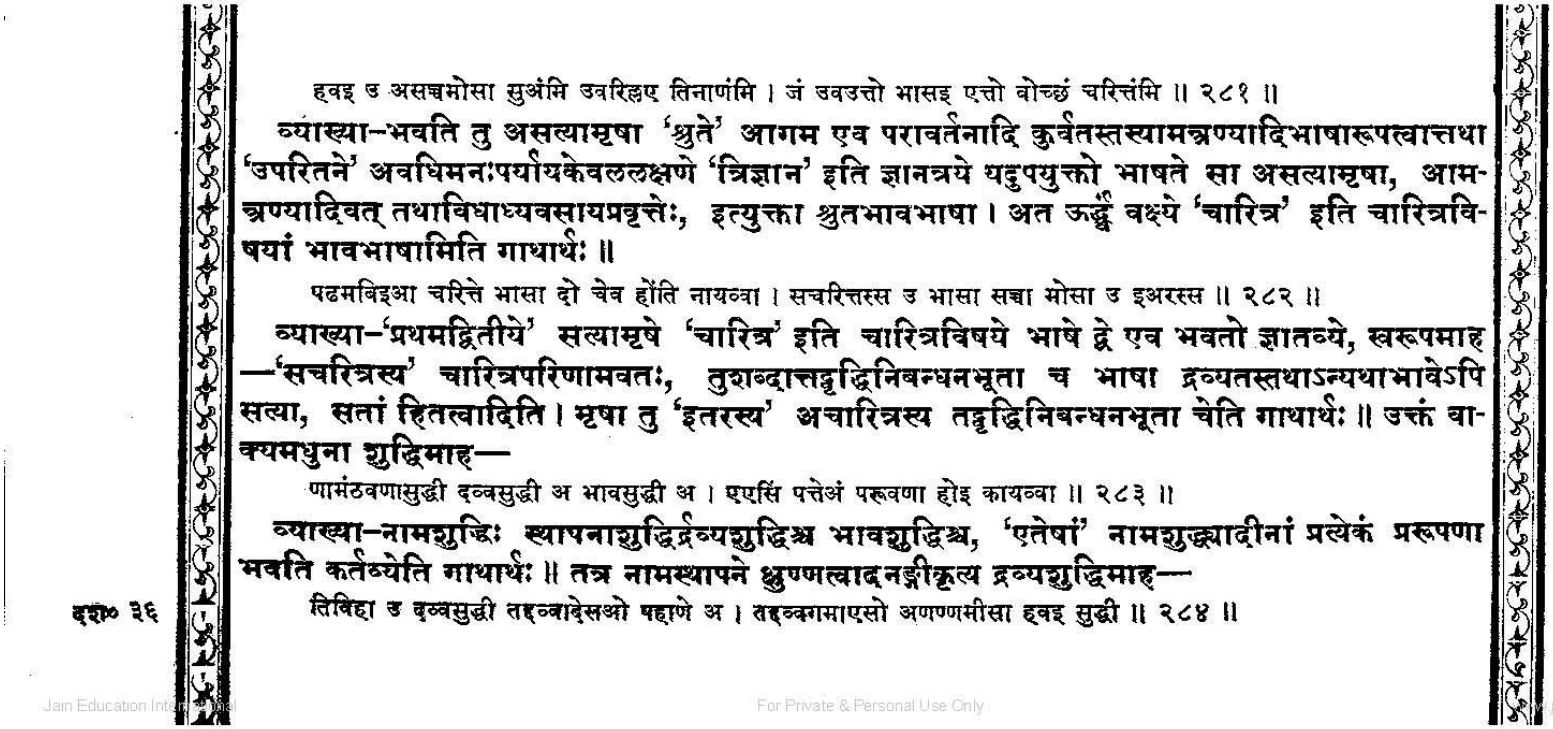
सम्मद्दिट्ठी उ सुअंमि अणुवउत्तो अहेउगं चेव । जं भासइ सा मोसा मिच्छादिट्ठीवि अ तहेव ॥ २८० ॥

व्याख्या–'सम्मद्दिट्ठी' सम्यग्दृष्टिरेव सामान्येन 'श्रुते' आगमे अनुपयुक्तः प्रमादाद्यत्किंचिद् 'अहेतुकं चैव' युक्तिविकलं चैव यद्भाषते तन्तुभ्यः पट एव भवतीत्येवमादि सा मृषा, विज्ञानादेरपि तत एव भावादिति । मिथ्यादृष्टिरपि 'तथैवे'त्युपयुक्तोऽनुपयुक्तो वा यद्भाषते सा मृषैव, घुणाक्षरन्याय(यात्)संवादेऽपि सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवदिति गाथार्थः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६८..॥

दीप अनुक्रम [२९३..]



हवइ उ असच्चमोसा सुअंमि उवरिल्लए तिनाणंमि । जं उवउत्तो भासइ एत्तो वोच्छं चरित्तंमि ॥ २८१ ॥

व्याख्या–भवति तु असत्यामृषा 'श्रुते' आगम एव परावर्तनादि कुर्वतस्तस्यामन्नण्यादिभाषारूपत्वात्तथा 'उपरितने' अवधिमनःपर्यायकेवललक्षणे 'त्रिज्ञान' इति ज्ञानत्रये यदुपयुक्तो भाषते सा असत्यामृषा, आमन्नण्यादिवत् तथाविधाध्यवसायप्रवृत्तेः, इत्युक्ता श्रुतभावभाषा । अत ऊर्द्धं वक्ष्ये 'चारित्र' इति चारित्रविषयां भावभाषामिति गाथार्थः ॥

पढमबिइआ चरित्ते भासा दो चेव होंति नायव्वा । सचरित्तस्स उ भासा सच्चा मोसा उ इअरस्स ॥ २८२ ॥

व्याख्या–'प्रथमद्वितीये' सत्यामृषे 'चारित्र' इति चारित्रविषये भाषे द्वे एव भवतो ज्ञातव्ये, स्वरूपमाह —'सचरित्रस्य' चारित्रपरिणामवतः, तुशब्दात्तद्बुद्धिनिबन्धनभूता च भाषा द्रव्यतस्तथाऽन्यथाभावेऽपि सत्या, सतां हितत्वादिति । मृषा तु 'इतरस्य' अचारित्रस्य तद्बुद्धिनिबन्धनभूता चेति गाथार्थः ॥ उक्तं वाक्यमधुना शुद्धिमाह—

णामंठवणासुद्धी दव्वसुद्धी अ भावसुद्धी अ । एएसिं पत्तेअं परूवणा होइ कायव्वा ॥ २८३ ॥

व्याख्या–नामशुद्धिः स्थापनाशुद्धिर्द्रव्यशुद्धिश्च भावशुद्धिश्च, 'एतेषां' नामशुद्ध्यादीनां प्रत्येकं प्ररूपणा भवति कर्तव्येति गाथार्थः ॥ तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनङ्गीकृत्य द्रव्यशुद्धिमाह—

तिविहा उ दव्वसुद्धी तद्दव्वादेसओ पहाणे अ । तद्दव्वगमाएसो अणण्णमीसा हवइ सुद्धी ॥ २८४ ॥

दश० ३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अथ "शुद्धि" शब्दस्य नामादि चत्वारः निक्षेपाः दर्शयते

प्रत सूत्रांक ||६८..||

दीप अनुक्रम [२९३..]

व्याख्या–त्रिविधा तु द्रव्यशुद्धिर्भवति 'तद्द्रव्यत' इति तद्द्रव्यशुद्धिः 'आदेशत' इति आदेशद्रव्यशुद्धिः 'प्राधान्यतश्चे'ति प्राधान्यद्रव्यशुद्धिश्च। तत्र तद्द्रव्यशुद्धिः 'अनन्ये'त्यनन्यद्रव्यशुद्धिः, यद्द्रव्यमन्येन द्रव्येण सहासंयुक्तं सच्छुद्धं भवति क्षीरं दधि वा असौ तद्द्रव्यशुद्धिः, आदेशे मिश्रा भवति शुद्धिरन्यानन्यविषया, एतदुक्तं भवति–आदेशतो द्रव्यशुद्धिर्द्विविधा–अन्यत्वेनानन्यत्वेन च, अन्यत्वे यथा शुद्धवासा देवदत्तः, अनन्यत्वे शुद्धदन्त इति गाथार्थः ॥ प्राधान्यद्रव्यशुद्धिमाह—

वण्णरसगंधफासे समणुण्णा सा पहाणओ सुद्धी। तत्थ उ सुक्किल महुरा उ संमया चेव उक्कोसा ॥ २८५ ॥

व्याख्या–वर्णरसगन्धस्पर्शेषु या मनोज्ञता–सामान्येन कमनीयता अथवा मनोज्ञता–यथाभिप्रायमनुकूलता सा प्राधान्यतः शुद्धिरुच्यते, 'तत्र' चैवंभूतचिन्ताव्यतिकरे शुक्लमधुरौ वर्णरसौ तुशब्दात्सुरभिमृदू गन्धस्पर्शौ च संमतौ, यथाभिप्रायमपि प्रायो मनोज्ञौ, बहूनामित्थंप्रवृत्तिसिद्धेः, 'उत्कृष्टौ च' कमनीयौ च। चशब्दस्य व्यवहित उपन्यास इति गाथार्थः ॥ उक्ता द्रव्यशुद्धिः, अधुना भावशुद्धिमाह—

एमेव भावसुद्धी तब्भावाएसओ पहाणे अ। तब्भावगमाएसो अणण्णमीसा हवइ सुद्धी ॥ २८६ ॥

व्याख्या–'एवमेवे'ति यथा द्रव्यशुद्धिस्तथा भावशुद्धिरपि, त्रिविधेत्यर्थः, 'तद्भाव' इति तद्भावशुद्धिः 'आदेशत' इति आदेशभावशुद्धिः 'प्राधान्यतश्चे'ति प्राधान्यभावशुद्धिश्च, तत्र तद्भावशुद्धिः 'अनन्ये'त्यनन्यभावशुद्धिस्तद्भावशुद्धिः, यो भावोऽन्येन भावेन सहासंयुक्तः सन् शुद्धो भवति बुभुक्षितादेरन्नाद्यभिलाषव-

॥ २११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६८..||

दीप अनुक्रम [२९३..]

दसौ तद्भावशुद्धिः, आदेशे मिश्रा भवति शुद्धिस्तदन्यानन्यविषयेत्यर्थः, एतदुक्तं भवति–आदेशभावशुद्धिर्द्विविधा–अन्यत्वेऽनन्यत्वे च, अन्यत्वे यथा शुद्धभावस्य साधोर्गुरुः अनन्यत्वे शुद्धभाव इति गाथार्थः ॥ प्रधानभावशुद्धिमाह—

दंसणनाणचरित्ते तवोविसुद्धी पहाणमाएसो । जम्हा उ विसुद्धमलो तेण विसुद्धो हवइ सुद्धो ॥ २८७ ॥

व्याख्या–'दर्शनज्ञानचारित्रेषु' दर्शनज्ञानचारित्रविषया तथा तपोविशुद्धिः 'प्राधान्यादेश' इति यद्दर्शनादीनामादिश्यमानानां प्रधानं सा प्रधानभावशुद्धिः, यथा दर्शनादिषु क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तपःप्रधानभावशुद्धिः–आन्तरतपोऽनुष्ठानाराधनमिति। कथं पुनरियं प्रधानभावशुद्धिरिति?, उच्यते, एभिर्दर्शनादिभिः शुद्धैर्यस्माद्विशुद्धमलो भवति साधुः, कर्ममलरहित इत्यर्थः, तेन च मलेन 'विशुद्धो' मुक्तो भवति सिद्ध इत्यतः प्रधानभावशुद्धिर्यथोक्तान्येव दर्शनादीनीति गाथार्थः ॥ उक्ता शुद्धिः, इह च भावशुद्ध्याऽधिकारः, सा च वाक्यशुद्धेर्भवतीत्याह—

जं वक्कं वयमाणस्स संजमो सुज्झई न पुण हिंसा । न य अत्तकलुसभावो तेण इहं वक्कसुद्धित्ति ॥ २८८ ॥

व्याख्या–'यद्' यस्माद्वाक्यं शुद्धं वदतः सतः संयमः शुद्ध्यति, शुद्ध्यतीति निर्मल उपजायते, न पुनर्हिंसा भवति कौशिकादेरिव, न चात्मनः कलुषभावः कालुष्यं–दुष्टाभिसंधिरूपं संजायते, तेन कारणेन 'इह' प्रवचने वाक्यशुद्धिर्भावशुद्धेर्निमित्तमित्यतोऽत्र प्रयतितव्यमिति गाथार्थः॥ ततश्चैतदेव कर्तव्यमित्याह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६८..||

दीप अनुक्रम [२९३..]

वयणविभत्तीकुसलस्स संजमंमी समुज्जुयमइस्स । दुब्भासिएण हुज्जा हु विराहणा तत्थ जइअव्वं ॥ २८९ ॥

व्याख्या–'वचनविभक्तिकुशलस्य' वाच्येतरवचनप्रकाराभिज्ञस्य न केवलमित्थंभूतस्यापितु 'संयमे उ(सम्यु)-द्यतमतेः' अहिंसायां प्रवृत्तचित्तस्येत्यर्थः तस्याप्येवंभूतस्य कथंचिदुर्भाषितेन कृतेन भवेत् विराधना–परलोक-पीडा अतः 'तत्र' दुर्भाषितवाक्यपरिज्ञाने 'यतितव्यं' प्रयत्नः कार्य इति गाथार्थः॥ आह–यद्येवमलमनेनैव प्रयासेन, मौनं श्रेय इति, न, अज्ञस्य तत्रापि दोषाद्, आह च—

वयणविभत्तिअकुसलो वओगयं बहुविहं अयाणंतो । जइवि न भासइ किंची न चेव वयगुत्तयं पत्तो ॥ २९० ॥

व्याख्या–'वचनविभक्त्यकुशलो' वाच्येतरप्रकारानभिज्ञः 'वाग्गतं बहुविधम्' उत्सर्गादिभेदभिन्नमजानानः यद्यपि न भाषते किञ्चित् मौनेनैवास्ते, न चैव वाग्गुप्ततां प्राप्तः, तथाप्यसौ अवाग्गुप्त एवेति गाथार्थः॥ व्यतिरेकमाह—

वयणविभत्तीकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो । दिवसंपि भासमाणो तहावि वयगुत्तयं पत्तो ॥ २९१ ॥

व्याख्या–'वचनविभक्तिकुशलो' वाच्येतरप्रकाराभिज्ञः 'वाग्गतम्' बहुविधमुत्सर्गादिभेदभिन्नं विजानन् दिवसमपि भाषमाणः सिद्धान्तविधिना तथापि वाग्गुप्ततां प्राप्तः, वाग्गुप्त एवासाविति गाथार्थः॥ साम्प्रतं वचनविभक्तिकुशलस्यौघतो वचनविधिमाह—

पुव्वं बुद्धीइ पेहित्ता, पच्छा वयमुयाहरे । अचक्खुओ व नेतारं, बुद्धिमन्नेउ ते गिरा ॥ २९२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

वचनविभक्ति-अकुशलानां उपदेशः

प्रत सूत्रांक ॥१-४॥

दीप अनुक्रम [२९४--२१७]

व्याख्या–'पूर्वं' प्रथममेव वचनोच्चारणकाले 'बुद्ध्या प्रेक्ष्य' वाच्यं दृष्ट्वा पश्चाद्वाक्यमुदाहरेत्, अर्थापत्त्या कस्यचिदपीडाकरमित्यर्थः, दृष्टान्तमाह—'अचक्षुष्मानिव' अन्ध इव 'नेतारम्' आकर्षकं 'बुद्धिमन्वेतु ते गीः' बुद्ध्यनुसारेण वाक्प्रवर्तनामिति श्लोकार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं । दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ॥ १ ॥ जा अ सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा अ जा मुसा । जा अ बुद्धेहिं नाइन्ना, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥ २ ॥ असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं । समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३ ॥ एअं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं । स भासं सच्चमोसंपि, तंपि धीरो विवज्जए ॥ ४ ॥

चतसृणां खलु भाषाणां, खलुशब्दोऽवधारणे, चतसृणामेव, नातोऽन्या भाषा विद्यत इति, 'भाषाणां' सत्यादीनां 'परिसंख्याय' सर्वैः प्रकारैर्ज्ञात्वा, स्वरूपमिति वाक्यशेषः 'प्रज्ञावान्' प्राज्ञो बुद्धिमान् साधुः, किमित्याह—'द्वाभ्यां' सत्यासत्यामृषाभ्यां तुरवधारणे द्वाभ्यामेवाभ्यां 'विनयं' शुद्धप्रयोगं विनीयतेऽनेन कर्मेतिकृत्वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	सूत्रकारेण सूत्रितं भाषा स्वरुपम्

प्रत सूत्रांक ॥१-४॥

दीप अनुक्रम [२९४--२१७]

'शिक्षेत' जानीयात्, 'द्वे' असत्यासत्यामृषे न भाषेत 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ विनयमेवाह —'जा अ सच्च'त्ति सूत्रं, या च सत्या पदार्थतत्त्वमङ्गीकृत्य 'अवक्तव्या' अनुच्चारणीया सावद्यत्वेन, अमुत्र स्थिता पल्लीति कौशिकभाषावत्, सत्यामृषा वा यथा दश दारका जाता इत्यादिलक्षणा, मृषा च संपूर्णैव, चशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः, या च 'बुद्धैः' तीर्थकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा अविधिपूर्वकं खरादिना प्रकारेण, 'नैनां भाषेत' नेत्थंभूतां वाचं समुदाहरेत् 'प्रज्ञावान्' बुद्धिमान् साधुरिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ यथाभूताऽवाच्या भाषा तथाभूतोक्ता, साम्प्रतं यथाभूता वाच्या तथाभूतामाह— 'असच्चमोसं'ति सूत्रम्, 'असत्यामृषाम्' उक्तलक्षणां 'सत्यां च' उक्तलक्षणामेव, इयं च सावद्यापि कर्कशापि भवत्यत आह—'असावद्याम्' अपापाम् 'अकर्कशाम्' अतिशयोक्त्या ह्यमत्सरपूर्वां 'संप्रेक्ष्य' स्वपरोपकारिणीति बुद्ध्याऽऽलोच्य 'असंदिग्धां' स्पष्टामक्षेपेण प्रतिपत्तिहेतुं 'गिरं' वाचं 'भाषेत' ब्रूयात् 'प्रज्ञावान्' बुद्धिमान् साधुरिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ साम्प्रतं सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह—'एअं च'त्ति सूत्रम्, 'एतं चार्थम्' अनन्तरप्रतिषिद्धं सावद्यकर्कशविषयम् 'अन्यं वा' एवंजातीयं, प्राकृतशैल्या 'यस्तु नामयति शाश्वतं' य एव कश्चिदर्थो नामयति–अनुगुणं करोति शाश्वतं–मोक्षं तमाश्रित्य 'स' साधुः पूर्वोक्तभाषाभाषकत्वेनाधिकृतो भाषां 'सत्यामृषामपि' पूर्वोक्ताम्, अपिशब्दात्सत्यापि या तथाभूता तामपि 'धीरो' बुद्धिमान् 'विवर्जयेत्' न ब्रूयादिति भावः। आह–सत्यामृषाभाषाया ओघत एव प्रतिषेधात्तथाविधसत्यायाश्च

॥ २१३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||५-७||

दीप अनुक्रम [२९८--३००]

सावद्यत्वेन गतार्थं सूत्रमिति, उच्यते, मोक्षपीडाकरं सूक्ष्ममप्यर्थमङ्गीकृत्यान्यतरभाषाभाषणमपि न कर्तव्यमित्यतिशयप्रदर्शनपरमेतददुष्टमेवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

वितहंपि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो । तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुणं जो मुसं वए? ॥ ५ ॥ तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ । अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ ॥ ६ ॥ एवमाइ उ जा भासा, एसकालंमि संकिआ। संपयाइअमट्ठे वा, तंपि धीरो विवज्जए ॥ ७ ॥

साम्प्रतं मृषाभाषासंरक्षणार्थमाह—'वितहंपि'त्ति सूत्रं, 'वितथम्' अतथ्यं 'तथामूर्त्यपि' कथंचित्तत्स्वरूपमपि वस्तु, अपिशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः, एतदुक्तं भवति–पुरुषनेपथ्यस्थितवनिताद्यप्यङ्गीकृत्य यां गिरं भाषते नरः, इयं स्त्री आगच्छति गायति वेत्यादिरूपां, 'तस्माद्' भाषणादेवंभूतात्पूर्वमेवासौ वक्ता भाषणाभिसंधिकाले 'स्पृष्टः पापेन' बद्धः कर्मणा, किं पुनर्यो मृषा वक्ति भूतोपघातिनीं वाचं?, स सुतरां बद्ध्यत इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ 'तम्ह'त्ति सूत्रं, यस्माद्वितथं तथामूर्त्यपि वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणो बद्ध्यते तस्माद्गमिष्याम एव श्व इतोऽन्यत्र, वक्ष्याम एव श्वस्तत्तद्औषधनिमित्तमिति, अमुकं वा नः कार्यं वस्त्यादि भविष्यत्येव, अहं चेदं लोचादि करिष्यामि नियमेन, एष वा साधुरस्माकं विश्रामणादि करिष्यत्येवेति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ 'एव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८-१०॥

दीप अनुक्रम [३०१--३०३]

माइ'त्ति सूत्रम्, एवमाद्या तु या भाषा, आदिशब्दात् पुस्तकं ते दास्याम्येवेत्येवमादिपरिग्रहः, 'एष्यत्काले' भविष्यत्कालविषया, बहुविघ्नत्वात् मुहूर्तादीनां 'शङ्किता' किमिदमित्थमेव भविष्यत्युतान्यथेत्यनिश्चितगोचरा, तथा साम्प्रतातीतार्थयोरपि या शङ्किता, साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति, अतीतार्थेऽप्येवमेव बलीवर्दतत्रुयाद्यनिश्चये तदाऽत्र गौरस्माभिर्दृष्ट इति। याप्येवंभूता भाषा शङ्किता तामपि धीरो विवर्जयेत्, तत्तथाभावनिश्चयाभावेन व्यभिचारतो मृषात्वोपपत्तेः, विघ्नतोऽगमनादौ गृहस्थमध्ये लाघवादिप्रसङ्गात्, सर्वमेव सावसरं वक्तव्यमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ किंच

अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए । जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेअंति नो वए ॥ ८ ॥ अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए । जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअं ति नो वए ॥ ९ ॥ अईयंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए । निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निद्दिसे ॥ १० ॥

'अईयंमि'त्ति सूत्रं, अतीते च काले तथा 'प्रत्युत्पन्ने' वर्तमानेऽनागते च यमर्थं तु न जानीयात् सम्यगेवमयमिति, तमङ्गीकृत्य एवमेतदिति न ब्रूयादिति सूत्रार्थः, अयमज्ञातभाषणप्रतिषेधः ॥ ८ ॥ तथा—'अईयम्मि'त्ति सूत्रं, अतीते च काले प्रत्युत्पन्नेऽनागते यत्रार्थे शङ्का भवेदिति तमप्यर्थमाश्रित्यैवमेतदिति न ब्रूया-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--२०॥

दीप अनुक्रम [३०४--३१३]

दिति सूत्रार्थः, अयमपि विशेषतः शङ्कितभाषणप्रतिषेधः ॥ ९ ॥ तथा—'अईयंमि'त्ति सूत्रं, अतीते च काले प्रत्युत्पन्नेऽनागते निःशङ्कितं भवेत्, यदर्थजातं तुशब्दादनवद्यं, तदेवमेतदिति निर्दिशेत्, अन्ये पठन्ति—'स्तोकस्तोक'मिति, तत्र परिमितया वाचा निर्दिशेदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी । सच्चावि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥ ११ ॥ तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा । वाहिअं वावि रोगित्ति, तेणं चोरत्ति नो वए ॥ १२ ॥ एएणऽन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ । आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥ १३ ॥ तहेव होले गोलित्ति, साणे वा वसुलित्ति अ । दमए दुहए वावि, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ १४ ॥ अज्जिए पज्जिए वावि, अम्मो माउसिअत्ति अ । पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए णत्तुणिअत्ति अ ॥ १५ ॥ हले हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि । होले गोले वसुलित्ति, इत्थिअं नेवमालवे ॥ १६ ॥ नामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो । जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषा, यत् तु नो वदेत्

प्रत सूत्रांक ॥११--२०॥

दीप अनुक्रम [३०४--३१३]

॥ १७ ॥ अज्जए पज्जए वावि, बप्पो चुल्लपिउत्ति अ । माउलो भाइणिज्ज त्ति, पुत्ते णत्तुणिअत्ति अ ॥ १८ ॥ हे भो हलित्ति अन्नित्ति, भट्टे सामिअ गोमिअ । होल गोल वसुलि त्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥ १९ ॥ नामधिज्जेण णं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो । जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥ २० ॥

'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव 'परुषा भाषा' निष्ठुरा भावस्नेहरहिता 'गुरुभूतोपघातिनी' महाभूतोपघातवती, यथा कश्चित्कस्यचित् कुलपुत्रत्वेन प्रतीतस्तदा तं दासमित्यभिदधतः, सर्वथा सत्यापि सा बाह्यार्थतथाभावमङ्गीकृत्य न वक्तव्या, 'यतो' यस्या भाषायाः सकाशात् 'पापस्यागमः' अकुशलबन्धो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ 'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैवेति पूर्ववत्, 'काणं'ति भिन्नाक्षं काण इति, तथा 'पण्डकं' नपुंसकं पण्डक इति वा, व्याधिमन्तं वापि रोगीति, स्तेनं चौर इति नो वदेत्, अप्रीतिलज्जानाशस्थिररोगवुद्धिविराधनादिदोषप्रसङ्गादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ 'एएण'त्ति सूत्रं, एतेनान्येन वाऽर्थेनोक्तेन सता परो येनोपहन्यते, येन केनचित्प्रकारेण । आचारभावदोषज्ञो यतिर्न तं भाषेत प्रज्ञावांस्तमर्थमिति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ 'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैवेति पूर्ववत्, होलो गोल इति श्वा वा वसुल इति वा द्रमको वा दुर्भगश्चापि नैवं भाषेत प्रज्ञावान् । इह होलादिशब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादिवाचकाः अतस्तत्प्रतिषेध इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ एवं स्त्रीपुरुषयोः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--२०॥

दीप अनुक्रम [३०४--३१३]

सामान्येन भाषणप्रतिषेधं कृत्वाऽधुना स्त्रियमधिकृत्याह—'अज्जिए'त्ति सूत्रं, आर्जिके प्रार्जिके वापि अम्ब मातृष्वस इति च पितृष्वसः भागिनेयीति दुहितः नप्त्रीति च। एतान्यामन्त्रणवचनानि वर्तन्ते, तत्र मातुः पितुर्वा माताऽऽर्यिका, तस्या अपि याऽन्या माता सा प्रार्यिका, शेषाभिधानानि प्रकटार्थान्येवेति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ किं च—'हले हले'त्ति सूत्रं, हले हले इत्येवमन्ने इत्येवं तथा भट्ट स्वामिनि गोमिनि । तथा होले गोले वसुले इति, एतान्यपि नानादेशापेक्षया आमन्त्रणवचनानि गौरवकुत्सादिगर्भाणि वर्तन्ते, यतश्चैवमतः स्त्रियं नैवं हलादिशब्दैरालपेदिति, दोषाश्चैवमालपनं कुर्वतः सङ्गर्हातत्प्रद्वेषप्रवचनलाघवादय इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ यदि नैवमालपेत् कथं तर्ह्यालपेदित्याह—'नामधिज्जेणं'ति सूत्रं, 'नामधेयेने'ति नाम्नैव एनां ब्रूयात्स्त्रियं क्वचित्कारणे यथा देवदत्ते! इत्येवमादि । नामास्मरणादौ गोत्रेण वा पुनर्ब्रूयात् स्त्रियं यथा काश्यपगोत्रे! इत्येवमादि, 'यथार्हं' यथायथं वयोदेशैश्वर्याद्यपेक्षया 'अभिगृह्य' गुणदोषानालोच्य 'आलपेल्लपेद्वा' ईषत्सकृद्वा लपनमालपनमतोऽन्यथा लपनं, तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना, अन्यथा च यथा न लोकोपघात इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ उक्तः स्त्रियमधिकृत्यालपनप्रतिषेधो विधिश्च, साम्प्रतं पुरुषमाश्रित्याह—'अज्जए'त्ति सूत्रं, आर्यकः प्रार्यकश्चापि बप्पइच्चुल्लपितेति च, तथा मातुल भागिनेयेति पुत्र नप्त इति च, इह भावार्थः स्त्रियामिव द्रष्टव्यः, नवरं चुल्लबप्पः पितृव्योऽभिधीयत इति सूत्रार्थः॥ १८॥ किंच—'हे भो'त्ति सूत्रं, हे भो हलेति। अन्नेत्ति भर्तः! स्वामिन् गोमिन् होल गोल वसुल इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--२५॥

दीप अनुक्रम [३०४--३१३]

पुरुषं नैवमालपेदिति, अत्रापि भावार्थः पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ यदि नैवमालपेत्, कथं तर्ह्यालपेदित्याह—'नामधिज्जेण'त्ति सूत्रं, व्याख्या पूर्ववदेव, नवरं पुरुषाभिलापेन योजना कार्येति ॥ २० ॥

पंचिंदिआण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं । जाव णं न विजाणिज्जा, ताव जाइत्ति आलवे ॥ २१ ॥ तहेव माणुसं पसुं, पक्खिं वावि सरीसवं । थूले पमेइले वज्झे, पायमित्ति अ नो वए ॥ २२ ॥ परिवूढत्ति णं बूआ, बूआ उवचिअत्ति अ । संजाए पीणिए वावि, महाकायत्ति आलवे ॥ २३ ॥ तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहगत्ति अ । वाहिमा रहजोगित्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २४ ॥ जुवं गवित्ति णं बूआ, धेणुं रसदयत्ति अ । रहस्से महल्लए वावि, वए संवहणित्ति अ ॥ २५ ॥

उक्तः पुरुषमप्याश्रित्यालपनप्रतिषेधो विधिश्च, अधुना पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतं वाग्विधिमाह—'पंचिंदिआण'त्ति सूत्रं, 'पञ्चेन्द्रियाणां' गवादीनां प्राणिनां 'कचिद्' विप्रकृष्टदेशावस्थितानामेषा स्त्री गौरयं पुमान् बलीवर्दः, यावदेतद्विशेषेण न विजानीयात् तावन्मार्गप्रश्नादौ प्रयोजने उत्पन्ने सति 'जाति'मिति जातिमाश्रित्यालपेत्, अस्माद्गोरूपजातात्कियद्दूरेणेत्येवमादि, अन्यथा लिङ्गव्यत्ययसंभवान्मृषावादापत्तिः, गोपाला-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२१--२५||

दीप अनुक्रम [३०४--३१३]

दीनामपि विपरिणाम इत्येवमादयो दोषाः, आक्षेपपरिहारौ तु वृद्धविवरणादवसेयौ, तच्चेदम्–जइ लिंगवचए दोसो ता कीस पुढवादि नपुंसगत्तेवि पुरिसित्थिनिद्देसो पयट्टइ, जहा पत्थरो मट्टिआ करओ उस्सा मुम्मुरो जाला वाओ वाउली अंबओ अंबिलिआ किमिओ जलूया मक्कोडओ कीडिआ भमरओ मच्छिया इच्चेवमादि?, आयरिओ आह–जणवयसच्चेण ववहारसच्चेण य एवं पयट्टइत्ति ण एत्थ दोसो, पंचिंदिएसु पुण ण एयमंगीकीरइ, गोवालादीणवि ण सुदिट्ठधम्मत्ति विपरिणामसंभवाओ, पुच्छिअसामायारिकहणे वा गुणसंभवादिति इति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ किंच—'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैव' यथोक्तं प्राक् 'मनुष्यम्' आर्यादिकं 'पशुम्' अजादिकं 'पक्षिणं वापि' हंसादिकं 'सरीसृपम्' अजगरादिकं 'स्थूलः' अत्यन्तमांसलोऽयं मनुष्यादिः तथा 'प्रमेदुरः' प्रकर्षेण मेदःसंपन्नः तथा 'वध्यो' व्यापादनीयः पाक्य इति च नो वदेत्, 'पाक्यः' पाकप्रायोग्यः, कालप्राप्त इत्यन्ये, 'नो वदेत्' न ब्रूयात् तदप्रीतितदव्यापत्त्याशङ्कादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ कारणे पुनरुत्पन्न एवं वदेदित्याह—'परिवूढ'त्ति सूत्रं, परिवृद्ध इत्येनं–स्थूलं मनुष्यादिं ब्रूयात्, तथा ब्रूयादुपचित इति च, संजातः प्रीणितश्चापि महाकाय इति चालपेत् परिवृद्धं, पलोपचितं परिहरेदित्यादाविति सूत्रार्थः

१ यदि लिङ्गव्यत्यये दोषः तदा कथं पृथ्व्यादीनां नपुंसकत्वेऽपि स्त्रीपुंसत्वेन निर्देशः प्रवर्त्तते, यथा प्रस्तरो मृत्तिका करकोऽवश्यायो मुर्मुरो ज्वाला वातो वातूली (वाल्या) आम्र अम्लिका कृमिः जलौकाः मत्कोटकः कीटिका भ्रमरो मक्षिका इत्येवमादि?, आचार्य आह—जनपदसत्येन व्यवहारसत्येन चैवं प्रवर्त्तते इति नात्र दोषः, पञ्चेन्द्रियेषु पुनर्नैतदङ्गीक्रियते, गोपालादीनामपि न सुदृष्टधर्माण इति विपरिणामसंभवात्, पृष्टसामाचारीकथने वा गुणसंभवात्.

दश० ३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--२५॥

दीप अनुक्रम [३१४--३१८]

॥ २३ ॥ किं च—'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव गावो 'दोह्या' दोहार्हा दोहसमय आसां वर्तत इत्यर्थः, 'दम्या' दमनीया गोरथका इति च, गोरथकाः कल्होडाः, तथा वाह्याः सामान्येन ये क्वचित्तानाश्रित्य रथयोग्याश्चैत इति नैवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुः, अधिकरणलाघवादिदोषादिति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥ प्रयोजने तु क्वचिदेवं भाषेतेत्याह—जुवं ति सूत्रं, युवा गौरिति–दम्यो गौर्युवेति ब्रूयात्, धेनुं गां रसदेति ब्रूयात्, रसदा गौरिति, तथा ह्रस्वं महल्लकं वापि गोरथकं ह्रस्वं वाह्यं महल्लकं वदेत्, संवहनमिति रथयोग्यं संवहनं वदेत्, क्वचिद्विगुपलक्षणादौ प्रयोजन इति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ । रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २६ ॥ अलं पासायखंभाणं, तोरणाण गिहाण अ । फलिहऽग्गलनावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥ २७ ॥ पीढए चंगबेरे (रा) अ, नंगले मइयं सिआ । जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिआ व अलं सिआ ॥ २८ ॥ आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए । भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २९ ॥ तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ । रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३० ॥ जाइमंता इमे रुक्खा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६--३५॥

दीप अनुक्रम [३१९--३२८]

दीहवट्टा महालया । पयायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति अ ॥ ३१ ॥ तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए । वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइ त्ति नो वए ॥ ३२ ॥ असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमाफला । वइज्ज बहुसंभूआ, भूअरूवत्ति वा पुणो ॥ ३३ ॥ तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ । लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥ ३४ ॥ रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढावि अ । गब्भिआओ पसूआओ, संसाराउत्ति आलवे ॥ ३५ ॥

'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैवे'ति पूर्ववत्, गत्वा 'उद्यानं' जनक्रीडास्थानं तथा पर्वतान् प्रतीतान् गत्वा तथा वनानि च, तत्र वृक्षान् 'महतो' महाप्रमाणान् 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वा नैवं भाषेत 'प्रज्ञावान्' साधुरिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ किमित्याह—'अलं'ति सूत्रं, 'अलं' पर्याप्ता एते वृक्षाः प्रासादस्तम्भयोः, अत्रैकस्तम्भः प्रासादः, स्तम्भस्तु स्तंभ एव, तयोरलम्, तथा 'तोरणानां' नगरतोरणादीनां 'गृहाणां च' कुटीरकादीनाम्, अलमिति योगः, तथा 'परिघार्गलानावां वा' तत्र नगरद्वारे परिघः गोपुरकपाटादिष्वर्गला नौः प्रतीतेति आसामलमेते वृक्षाः,

१ 'अलं निवारणे । अलङ्करणसामर्थ्यपर्याप्तिष्ववधारणे' इत्युक्तेः अलमितिपर्याप्त्यर्थग्रहणमित्युक्तेश्चात्र सामर्थ्यार्थग्रहणान्न चतुर्थी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२६--३५||

दीप अनुक्रम [३१९--३२८]

तथा उदकद्रोणीनां अलम्, उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥ तथा 'पीढए'त्ति सूत्रं, पीठकायालमेते वृक्षाः, पीठकं प्रतीतं तदर्थम्, 'सुपां सुपो भवन्ती'ति चतुर्थ्यर्थे प्रथमा, एवं सर्वत्र योजनीयं, तथा 'चंगबेरा ये'ति चङ्गबेरा–काष्ठपात्री तथा 'नंगले'त्ति लाङ्गलं–हलं, तथा अलं मयिकाय स्यात्, मयिकम् –उत्सबीजाच्छादनं, तथा यन्त्रयष्टये वा, यन्त्रयष्टिः प्रतीता, तथा नाभये वा, नाभिः शकटरथाङ्गं, गण्डिकायै वाऽलं स्युरेते वृक्षा इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावानिति वर्तते, गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी (अहिगरणी) स्थापनी भवतीति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ तथा 'आसणं'ति सूत्रं, 'आसनम्' आसन्दकादि 'शयनं' पर्यङ्कादि 'यानं' युग्यादि भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये–वसतावन्यद्–द्वारपात्राद्येतेषु वृक्षेष्विति 'भूतोपघातिनीं' सत्त्वपीडाकारिणीं भाषां नैव भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति सूत्रार्थः ॥ दोषाश्चात्र तद्वनस्वामी व्यन्तरादिः कुप्येत्, सलक्षणो वा वृक्ष इत्यभिगृह्णीयात्, अनियमितभाषिणो लाघवं चेत्येवमादयो योज्याः ॥ २९ ॥ अत्रैव विधिमाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, वस्तुतः पूर्ववदेव, नवरमेवं भाषेत ॥ ३० ॥ 'जाइमंत'त्ति सूत्रं, 'जातिमन्तः' उत्तमजातयोऽशोकादयः अनेकप्रकारा 'एत' उपलभ्यमानस्वरूपा वृक्षा 'दीर्घवृत्ता महालयाः' दीर्घा नालिकेरीप्रभृतयः वृत्ता नन्दिवृक्षादयः महालया वटादयः 'प्रजातशाखा' उत्पन्नडाला 'विटपिनः' प्रशाखावन्तो वदेद्दर्शनीया इति च। एतदपि प्रयोजन उत्पन्ने विश्रमणतदासन्नमार्गकथनादौ वदेन्नान्यदेति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥ 'तहा फलाणि'त्ति सूत्रं, तथा 'फलानि' आम्रफलादीनि 'पक्कानि' पाकप्राप्तानि तथा 'पाकखाद्यानि'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२६--३५||

दीप अनुक्रम [३१९--३२८]

बद्धास्थीनीति गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति नो वदेत् । तथा 'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं कालं न विषहन्तीत्यर्थः, 'टालानि' अबद्धास्थीनि कोमलानीति तदुक्तं भवति, तथा 'द्वैधिकानी'ति पेशीसंपादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानीति नो वदेत् । दोषाः पुनरत्रात ऊर्ध्वं नाश एवामीषां न शोभनानि वा प्रकारान्तरभोगेनेत्यवधार्य गृहिप्रवृत्तावधिकरणादय इति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादावेवं वदेदित्याह—'असंथड'त्ति सूत्रं, असमर्था 'एते' आम्राः, अतिभरेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः, आम्रग्रहणं प्रधानवृक्षोपलक्षणम्, एतेन पक्वार्थं उक्तः, तथा 'बहुनिर्वर्त्तितफलाः' बहूनि निर्वर्त्तितानि—बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा, अनेन पाकखाद्यार्थं उक्तः, वदेद् 'बहुसंभूताः' बहूनि संभूतानि–पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचितार्थं उक्तः, तथा भूतरूपा इति वा पुनर्वदेत्, भूतानि रूपाणि–अबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालार्थं उपलक्षित इति सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥ 'तहेव'त्ति सूत्रं, तथा 'ओषधयः' शाल्यादिलक्षणाः, पक्का इति, तथा नीलाश्छवय इति वा वल्लचवलकादिफललक्षणाः तथा 'लवनवल्यो' लवनयोग्याः 'भर्जनवल्य' इति भर्जनयोग्याः तथा 'पृथुकभक्ष्या' इति पृथुकभक्षणयोग्याः, नो वदेदिति सर्वत्राभिसंबध्यते, पृथुका अर्धपक्वशाल्यादिषु क्रियन्ते, अभिधानदोषाः पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ ३४ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादावेवमालपेदित्याह—'रूढ'त्ति सूत्रं, 'रूढाः' प्रादुर्भूताः 'बहुसंभूता' निष्पन्नप्रायाः 'स्थिरा' निष्पन्नाः 'उत्सृता' इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३६--३७||

दीप अनुक्रम [३२९--३३०]

उपघातेभ्यो निर्गता इति वा, तथा 'गर्भिता' अनिर्गतशीर्षकाः 'प्रसूता' निर्गतशीर्षकाः 'संसाराः' संजाततन्दुलादिसारा इत्येवमालपेत्, पक्वान्नार्थयोजना स्वधिया कार्येति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥

तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जंति नो वए। तेणगं वावि वज्झित्ति, सुतित्थित्ति अ आवगा ॥ ३६ ॥ संखडिं संखडिं बूआ, पणिअट्ठ त्ति तेणगं। बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं विआगरे ॥ ३७ ॥

वाग्विधिप्रतिषेधाधिकारेऽनुवर्तमान इदमपरमाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव 'संखडिं ज्ञात्वा' संखण्ड्यन्ते प्राणिनामायूंषि यस्यां प्रकरणक्रियायां सा संखडी तां ज्ञात्वा, 'करणीये'ति पित्रादिनिमित्तं कृत्यैवैषेति नो वदेत्, मिथ्यात्वोपबृंहणदोषात्, तथा स्तेनकं वापि वध्य इति नो वदेत्, तदनुमतत्वेन निश्चयादिदोषप्रसङ्गात्, सुतीर्था इति च, चशब्दादुस्तीर्था इति वा 'आपगा' नद्यः केनचित्पृष्टः सन्नो वदेत्, अधिकरणविघातादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ प्रयोजने पुनरेवं वदेदित्याह—'संखडि'न्ति सूत्रं, संखडिं संखडिं ब्रूयात्, साधुकथनादौ संकीर्णा संखडीत्येवमादि, पणितार्थ इति स्तेनकं वदेत्, शैक्षकादिकर्मविपाकदर्शनादौ, पणितेनार्थोऽस्येति पणितार्थः, प्राणद्यूतप्रयोजन इत्यर्थः, तथा बहुसमानि तीर्थानि 'आपगानां' नदीनां व्याकृणीयात् साध्वादिविषय इति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३८--४०||

दीप अनुक्रम [३३१--३३३]

तहा नईओ पुण्णाओ, कायतिज्जत्ति नो वए । नावाहिं तारिमाउत्ति, पाणिपिज्जत्ति नो वए ॥ ३८ ॥ बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा । बहुवित्थडोदगा आवि, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३९ ॥ तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठा अ निट्ठिअं । कीरमाणंति वा नच्चा, सावज्जं न लवे मुणी ॥ ४० ॥

वाग्विधिप्रतिषेधाधिकार एवेदमाह—'तहा नईउ'त्ति सूत्रं, तथा नद्यः 'पूर्णाः' भृता इति नो वदेत्, प्रवृत्तश्रवणनिवर्त्तनादिदोषात्, तथा 'कायतरणीयाः' शरीरतरणयोग्या इति नो वदेत्, साधुवचनतोऽविघ्नमिति प्रवर्त्तनादिप्रसङ्गात्, तथा नौभिः–द्रोणीभिस्तरणीयाः–तरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, अन्यथा विघ्नशङ्कया तत्प्रवर्त्तनात्, तथा 'प्राणिपेयाः' तटस्थप्राणिपेया नो वदेदिति, तथैव प्रवर्तनादिदोषादिति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ प्रयोजने तु साधुमार्गकथनादावेवं भाषेतेत्याह—'बहुवाहड'त्ति सूत्रं, बहुभृताः प्रायशो भृता इत्यर्थः, तथा 'अगाधा' इति बहुगाधाः प्रायोगम्भीराः, तथा 'बहुसलिलोत्पीलोदकाः' प्रतिस्रोतोवाहितापरसरित इत्यर्थः, तथा 'विस्तीर्णोदकाश्च' स्वतीरप्लावनप्रवृत्तजलाश्च, एवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुः, न तु तदाऽऽगतपृष्टो न वेद्म्यहमिति ब्रूयात्, प्रत्यक्षमृषावादित्वेन तत्प्रद्वेषादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ वाग्विधिप्रतिषेधाधिकार एवेदमाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव 'सावद्यं' सपापं 'योगं' व्यापारमधिकरणं सभादिविषयं 'परस्यार्थाय'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--४२॥

दीप अनुक्रम [३३४--३३५]

परनिमित्तं 'निष्ठितं' निष्पन्नं तथा 'क्रियमाणं वा' वर्त्तमानं वाशब्दाद्भविष्यत्कालभाविनं वा ज्ञात्वा 'सावद्यं नालपेत्' सपापं न ब्रूयात् 'मुनिः' साधुरिति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥

सुकडित्ति सुपक्किति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे । सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥ ४१ ॥ पयत्तपक्कत्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्नत्ति व छिन्नमालवे । पयत्तलट्ठित्ति व कम्महेउअं, पहारगाढत्ति व गाढमालवे ॥ ४२ ॥

तत्र निष्ठितं नैवं ब्रूयादित्याह—'सुकडि'त्ति सूत्रं, 'सुकृत'मिति सुष्ठु कृतं सभादि 'सुपक्व'मिति सुष्ठु पक्वं सहस्रपाकादि 'सुच्छिन्न'मिति सुष्ठु छिन्नं तद्वनादि 'सुहृत'मिति सुष्ठु हृतं क्षुद्रस्य वित्तं 'सुमृत' इति सुष्ठु मृतः प्रत्यनीक इति, अत्रापि सुशब्दोऽनुवर्तते, 'सुनिष्ठित'मिति सुष्ठु निष्ठितं वित्ताभिमानिनो वित्तं 'सुलट्ठि'त्ति सुष्ठु सुन्दरा कन्या इत्येवं सावद्यमालपनं वर्जयेद् मुनिः, अनुमत्यादिदोषप्रसङ्गात्, निरवद्यं तु न वर्जयेत्, यथा—'सुकृत'मिति सुष्ठु कृतं वैयावृत्त्यमनेन 'सुपक्व'मिति सुष्ठु पक्वं ब्रह्मचर्यं साधोः 'सुच्छिन्न'मिति सुष्ठु छिन्नं स्नेहबन्धनमनेन, 'सुहृत'मिति सुष्ठु हृतं शिक्षकोपकरणमुपसर्गे 'सुमृत' इति सुष्ठु मृतः पण्डितमरणेन साधुरिति, अत्रापि सुशब्दोऽनुवर्त्तते, 'सुनिष्ठित'मिति सुष्ठु निष्ठितं कर्माप्रमत्तसंयतस्य 'सुलट्ठ'त्ति सुष्ठु सुन्दरा साधुक्रियेत्येवमादीति सूत्रार्थः ॥ ४१ ॥ उक्तानुक्तापवादविधिमाह—'पयत्त'त्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४१--४२||

दीप अनुक्रम [३३४--३३५]

सूत्रं, 'प्रयत्नपक्व'मिति वा प्रयत्नपक्वमेतत् 'पक्वं' सहस्रपाकादि ग्लानप्रयोजन एवमालपेत्, तथा 'प्रयत्नच्छिन्न'मिति वा प्रयत्नच्छिन्नमेतत् 'छिन्नं' वनादि साधुनिवेदनादौ एवमालपेत्, तथा 'प्रयत्नलष्टे'ति वा प्रयत्नसुन्दरा कन्या दीक्षिता सती सम्यक् पालनीयेति 'कर्महेतुक'मिति सर्वमेव वा कृतादि कर्मनिमित्तमालपेदिति योगः, तथा 'गाढप्रहार'मिति वा कञ्चन गाढमालपेत्–गाढप्रहारं ब्रूयात् क्वचित्प्रयोजने, एवं हि तदप्रीत्यादयो दोषाः परिहृता भवन्तीति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥

सव्वुक्कसं परग्घं वा, अउलं नत्थि एरिसं । अविक्किअमवत्तव्वं, अचिअत्तं चेव नो वए ॥ ४३ ॥ सव्वमेअं वइस्सामि, सव्वमेअं ति नो वए । अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ४४ ॥ सुक्कीअं वा सुविक्कीअं, अकिज्जं किज्जमेव वा । इमं गिण्ह इमं मुंच, पणीअं नो विआगरे ॥ ४५ ॥ अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कएवि वा । पणिअट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं विआगरे ॥ ४६ ॥

क्वचिद्व्यवहारे प्रक्रान्ते पृष्टोऽपृष्टो वा नैवं ब्रूयादित्याह—'सव्वुक्कसं'ति सूत्रं, एतन्मध्य इदं 'सर्वोत्कृष्टं' स्वभावेन सुन्दरमित्यर्थः, 'परार्घं वा' उत्तमार्घं वा महार्घं क्रीतमिति भावः अतुलं नास्तीदृशमन्यत्रापि क्वचित्, 'अविक्किअं'ति असंस्कृतं सुलभमीदृशमन्यत्रापि, 'अवक्तव्य'मित्यनन्तगुणमेतत् अविअत्तं वा–अ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४३--४६॥

दीप अनुक्रम [३३६--३३९]

प्रीतिकरं चैतदिति नो वदेत्, अधिकरणान्तरायादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥ किं च—'सव्वमेअं'ति सूत्रं, 'सर्वमेतद्वक्ष्यामी'ति केनचित् कस्यचित् संदिष्टे सर्वमेतत्त्वया वक्तव्यमिति सर्वमेतद्वक्ष्यामीति नो वदेत्, सर्वस्य तथास्वरव्यञ्जनाद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तथा सर्वमेतदिति नो वदेत्, कस्यचित्संदेशं प्रयच्छन् सर्वमेतदित्येवं वक्तव्य इति नो वदेत्, सर्वस्य तथास्वरव्यञ्जनाद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात्, असंभवाभिधाने मृषावादः, यतश्चैवमतः 'अनुचिन्त्य' आलोच्य सर्वं वाच्यं 'सर्वत्र' कार्येषु यथा असंभवाद्यभिधानादिना मृषावादो न भवत्येवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ किंच–'सुक्कीअं व'त्ति सूत्रं, 'सुक्रीतं वे'ति किञ्चित् केनचित् क्रीतं दर्शितं सत्सुक्रीतमिति न व्यागृणीयात् इति योगः, तथा 'सुविक्रीत'मिति किञ्चित्केनचिद्विक्रीतं दृष्ट्वा पृष्टः सन् सुविक्रीतमिति न व्यागृणीयात्, तथा केनचित् क्रीते पृष्टः 'अक्रेयं' क्रयार्हमेव न भवतीति न व्यागृणीयात्, तथैवमेव 'क्रेयमेव वा' क्रयार्हमेवेति, तथा 'इदं' गुडादि गृहाणागामिनि काले महार्घं भविष्यति तथा 'इदं' सुश्च घृताद्यागामिनि काले समर्घं भविष्यतीतिकृत्वा 'पणितं' पण्यं नैव व्यागृणीयात्, अप्रीत्यधिकरणादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥ अत्रैव विधिमाह—'अप्पग्घे व'त्ति सूत्रं, अल्पार्घे वा महार्घे वा, कस्मिन्नित्याह–क्रये वा विक्रयेऽपि वा 'पणितार्थे' पण्यवस्तुनि समुत्पन्ने केनचित् पृष्टः सन् 'अनवद्यम्' अपापं व्यागृणीयात् यथा नाधिकारोऽत्र तपस्विनां व्यापाराभावादिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४७--४९||

दीप अनुक्रम [३४०--३४२]

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा । सय चिट्ठ वयाहित्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ४७ ॥ बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो । न लवे असाहु साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे ॥ ४८ ॥ नाणदंसणसंपन्नं, संजमे अ तवे रयं । एवंगुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥ ४९ ॥

किंच—'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव 'असंयतं' गृहस्थं 'धीरः' संयतः आस्वेहैव, एहीतोऽत्र, कुरु वेदं-संचयादि, तथा शेष्व निद्रया, तिष्ठोर्ध्वस्थानेन, व्रज ग्राममिति नैवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥ किंच—'बहवे'त्ति सूत्रं, बहवः 'एते' उपलभ्यमानस्वरूपा आजीवकादयः असाधवः निर्वाणसाधकयोगापेक्षया 'लोके तु' प्राणिसंघाते उच्यन्ते साधवः सामान्येन, तत्र नालपेदसाधुं साधुं, मृषावादप्रसङ्गात्, अपितु साधुं साधुमित्यालपेत्, न तु तमपि नालपेत्, उपबृंहणातिचारदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ४८ ॥ किंविशिष्टं साधुं साधुमित्यालपेदित्यत आह—'नाण'त्ति सूत्रं, ज्ञानदर्शनसंपन्नं–समृद्धं संयमे तपसि च रतं यथाशक्ति एवं-गुणसमायुक्तं संयतं साधुमालपेत्, न तु द्रव्यलिङ्गधारिणमपीति सूत्रार्थः ॥ ४९ ॥

देवाणं मणुआणं च, तिरिआणं च वुग्गहे । अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५०--५४॥

दीप अनुक्रम [३४३--३४७]

नो वए ॥ ५० ॥ वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवंति वा । कया णु हुज्ज ए-आणि?, मा वा होउ त्ति नो वए ॥ ५१ ॥ तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देवदेव-त्ति गिरं वइज्जा । समुच्छिए उन्नए वा पओए, वइज्ज वा वुट्ठ बलाहय त्ति ॥ ५२ ॥ अंतलिक्खत्ति णं ब्रूआ, गुज्झाणुचरिअत्ति अ । रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतंति आलवे ॥ ५३ ॥ तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा, ओहारिणी जा य परोवघाइणी । से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणोऽवि गिरं वइज्जा ॥ ५४ ॥

किंच—'देवाणं'ति सूत्रं, 'देवानां' देवासुराणां 'मनुजानां' नरेन्द्रादीनां 'तिरश्चां' महिषादीनां च 'विग्रहे' संग्रामे सति 'अमुकानां' देवादीनां जयो भवतु मा वा भवत्विति नो वदेद्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ५० ॥ किं च—'वाउ'त्ति सूत्रं, 'वातो' मलयमारुतादिः, 'वृष्टं वा' वर्षणं, शीतोष्णं प्रतीतं 'क्षेमं' राजविड्वरशून्यं 'भ्रातं' सुभिक्षं 'शिव'मिति चोपसर्गरहितं कदा नु भवेयुः 'एतानि' वातादीनि, मा वा भवेयुरिति घर्माद्यभिभूतो नो वदेद्, अधिकरणादिदोषप्रसङ्गाद्, वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडापत्तेः तद्वचनतस्तथाभवनेऽप्यार्तध्यानभावादिति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥ 'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव मेघं वा नभो वा मानवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५०--५४॥

दीप अनुक्रम [३४३--३४७]

वाऽऽश्रित्य नो देवदेवत्ति गिरं वदेत्, मेघमुन्नतं दृष्ट्वा उन्नतो देव इति नो वदेत्, एवं 'नभ' आकाशं 'मानवं' राजानं वा देवमिति नो वदेत्, मिथ्यावादलाघवादिप्रसङ्गात् । कथं तर्हि वदेदित्याह–उन्नतं दृष्ट्वा संमूर्छित उन्नतो वा पयोद इति, वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति सूत्रार्थः ॥ ५२ ॥ नभ आश्रित्याह—'अंतलिक्ख'त्ति सूत्रं, इह नभोऽन्तरिक्षमिति ब्रूयाद्रुह्यानुचरितमिति वा, सुरसेवितमित्यर्थः, एवं किल मेघोऽप्येतदुभयशब्दवाच्य एव । तथा 'ऋद्धिमन्तं' संपदुपेतं नरं दृष्ट्वा, किमित्याह—'रिद्धिमंत'मिति ऋद्धिमानयमित्येवमालपेत्, व्यवहारतो मृषावादादिपरिहारार्थमिति सूत्रार्थः ॥ ५३ ॥ किंच—'तहेव'त्ति सूत्रं, तथैव सावद्यानुमोदिनी 'गीः' वाग् यथा सुष्ठु हतो ग्राम इति, तथा 'अवधारिणी' इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा, या च परोपघातिनी यथा–मांसमदोषाय 'से' इति तामेवंभूतां क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धासाद्वा, मानप्रेमादीनामुपलक्षणमेतत्, 'मानवः' पुमान् साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वादिति सूत्रार्थः ॥ ५४ ॥

सवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया । मिअं अदुट्ठे (ट्ठं) अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥ ५५ ॥ भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिआ, तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया । छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हिअ-

१ एवमर्थे समाम्नावित्युक्तेरेवमर्थोऽत्रेतिस्तेन न देवमिति विरुद्धम् .

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार-रूपेण भाषाशुद्धिः विषयक उपदेशः

प्रत सूत्रांक ||५५--५७||

दीप अनुक्रम [३४८--३५०]

माणुलोमिअं ॥ ५६ ॥ परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए ।
से निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ५७ ॥ ति बेमि ॥
सवक्कसुद्धीअज्झयणं समत्तं ॥ ७ ॥

वाक्यशुद्धिफलमाह—'सवक्क'त्ति सूत्रं, सद्वाक्यशुद्धिं स्ववाक्यशुद्धिं वा सवाक्यशुद्धिं वा, सतीं शोभनां, स्वामात्मीयां, स इति वक्ता, वाक्यशुद्धिं 'संप्रेक्ष्य' सम्यग् दृष्ट्वा 'मुनिः' साधुः गिरं तु 'दुष्टां' यथोक्तलक्षणां परिवर्जयेत् सदा, किंतु 'मितं' स्वरतः परिमाणतश्च, 'अदुष्टं' देशकालोपपन्नादि 'अनुविचिन्त्य' पर्यालोच्य भाषमाणः सन् 'सतां' साधूनां मध्ये 'लभते प्रशंसनं' प्राप्नोति प्रशंसामिति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥ यतश्चैवमतः—'भासाइ'त्ति सूत्रं, 'भाषाया' उक्तलक्षणाया दोषांश्च गुणांश्च 'ज्ञात्वा' यथावद्वेत्य तस्याश्च दुष्टाया भाषायाः परिवर्जकः सदा, एवंभूतः सन् षड्जीवनिकायेषु संयतः, तथा 'श्रामण्ये' श्रमणभावे चरणपरिणामगर्भे चेष्टिते 'सदा यतः' सर्वकालमुद्युक्तः सन् वदेद् बुद्धो 'हितानुलोमं' हितं–परिणामसुन्दरम् अनुलोमं –मनोहारीति सूत्रार्थः ॥ ५६ ॥ उपसंहरन्नाह—'परिक्ख'त्ति सूत्रं, 'परीक्ष्यभाषी' आलोचितवक्ता तथा 'सुसमाहितेन्द्रियः' सुप्रणिहितेन्द्रिय इत्यर्थः, 'अपगतचतुष्कषायः' क्रोधादिनिरोधकर्तेति भावः, 'अनिश्रितो'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५५--५७॥

दीप अनुक्रम [३४८--३५०]

द्रव्यभावनिश्चारहितः, प्रतिबन्धविमुक्त इति हृदयम्, स इत्थंभूतो 'निर्धूय' प्रस्फोट्य 'धूनमलं' पापमलं 'पुराकृतं' जन्मान्तरकृतं, किमिति?–'आराधयति' प्रगुणीकरोति लोकम् 'एनं' मनुष्यलोकं वाक्संयतत्वेन, तथा 'पर'मिति परलोकमाराधयति निर्वाणलोकं, यथासंभवमनन्तरं पारम्पर्येण वेति गर्भः। ब्रवीमीति पूर्ववत्। नयाः पूर्ववदेव ॥ ५७ ॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकटीकायां (सप्तमस्य) वाक्यशुद्ध्यध्ययनस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सप्तमं अध्ययनं परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥५७..॥

दीप अनुक्रम [३५०..]

अथाष्टममाचारप्रणिधिनामाध्ययनं प्रारभ्यते ॥

व्याख्यातं वाक्यशुद्ध्यध्ययनम्, इदानीमाचारप्रणिध्याख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तराध्ययने साधुना वचनगुणदोषाभिज्ञेन निरवद्यवचसा वक्तव्यमित्येतदुक्तम्, इह तु तन्निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुच्यते, उक्तं च—"पणिहाणरहिअस्सेह, निरवज्जंपि भासिअं। सावज्जतुल्लं विन्नेअं, अज्झत्थेणेह संवुडम् ॥ १ ॥" इत्यनेनाभिसंबन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तत्र चाचारप्रणिधिरिति द्विपदं नाम, तत्राचारनिक्षेपमतिदिशन् प्रणिधिं च प्रतिपादयन्नाह—

जो पुव्विं उद्दिट्ठो आयारो सो अहीणमइरित्तो। दुविहो अ होइ पणिही दव्वे भावे अ नायव्वो ॥ २९३ ॥

व्याख्या—यः पूर्वं क्षुल्लिकाचारकथायामुद्दिष्ट आचारः सोऽहीनातिरिक्तः—तदवस्थ एवेहापि द्रष्टव्य इति वाक्यशेषः, क्षुण्णत्वान्नामस्थापने अनादृत्य प्रणिधिमधिकृत्याह—द्विविधश्च भवति प्रणिधिः, कथमित्याह—'द्रव्य' इति द्रव्यविषयो 'भाव' इति भावविषयश्च ज्ञातव्य इति गाथार्थः। तत्र—

१ प्रणिधानरहितस्येह निरवद्यमपि भाषितम्। सावद्यतुल्यं विज्ञेयं अध्यात्मस्थेनेह संवृतम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अध्ययनं -८- "आचारप्रणिधि" आरभ्यते

***अस्य अध्ययने उद्देशकः नास्ति, शिर्षकस्थाने यत् "२ उद्देश" इति मुद्रितं तत् मुद्रणदोष एव अस्ति

प्रत सूत्रांक ॥५७..॥

दीप अनुक्रम [३५०..]

दव्वे निहाणमाई मायपउत्ताणि चेव दव्वाणि । भावेंदिअनोइंदिअ दुविहो उ पसत्थ अपसत्थो ॥ २९४ ॥

व्याख्या–'द्रव्य' इति द्रव्यविषयः प्रणिधिः निधानादि प्रणिहितं निधानं निक्षिप्तमित्यर्थः, आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापकः, मायाप्रयुक्तानि चेह द्रव्याणि द्रव्यप्रणिधिः, पुरुषस्य स्त्रीवेषेण पलायनादिकरणं स्त्रियो वा पुरुषवेषेणेत्यादि । तथा 'भाव' इति भावप्रणिधिर्द्विविधः–इन्द्रियप्रणिधिर्नोइन्द्रियप्रणिधिश्च, तत्रेन्द्रियप्रणिधिर्द्विविधः–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति गाथार्थः ॥ प्रशस्तमिन्द्रियप्रणिधिमाह—

सद्देसु अ रूवेसु अ गंधेसु रसेसु तह य फासेसु । नवि रज्जइ न वि दुस्सइ एसा खलु इंदिअप्पणिही ॥ २९५ ॥

व्याख्या–शब्देषु च रूपेषु च गन्धेषु रसेषु तथा च स्पर्शेषु एतेष्विन्द्रियार्थेष्विष्टानिष्टेषु चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्नापि रज्यते नापि द्विष्यते एष खलु माध्यस्थ्यलक्षण इन्द्रियप्रणिधिः प्रशस्त इति भावार्थः, अन्यथा त्वप्रशस्तः, तत्र दोषमाह—

सोइंदिअरस्सीहि उ मुक्काहिं सद्दमुच्छिओ जीवो । आइअइ अणाउत्तो सद्दगुणसमुट्ठिए दोसे ॥ २९६ ॥

व्याख्या–'श्रोत्रेन्द्रियरश्मिभिः' श्रोत्रेन्द्रियरज्जुभिः 'मुक्ताभिः' उच्छृङ्खलाभिः, किमित्याह—'शब्दमूर्च्छितः' शब्दगृद्धो जीवः 'आदत्ते' गृह्णात्यनुपयुक्तः सन्, कानित्याह–शब्दगुणसमुत्थितान् दोषान्–शब्द एवेन्द्रियगुणः तत्समुत्थितान् दोषान्–बन्धवधादीन् श्रोत्रेन्द्रियरज्जुभिरादत्त इति गाथार्थः ॥ शेषेन्द्रियातिदेशमाह—

जह एसो सद्देसुं एसेव कमो उ सेसएहिं पि । चउहिंपि इंदिएहिं रूवे गंधे रसे फासे ॥ २९७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"प्रणिधि" शब्दस्य द्रव्यादि भेद-प्रभेदाः वर्णनं

प्रत सूत्रांक ॥५७..॥

दीप अनुक्रम [३५०..]

व्याख्या–यथैष 'शब्देषु' शब्दविषयः श्रोत्रेन्द्रियमधिकृत्य दोष उक्तः, एष एव क्रमः 'शेषैरपि' चक्षुरादिभिश्चतुर्भिरपीन्द्रियैर्दोषाभिधाने द्रष्टव्यः, तद्यथा–चक्खिन्दिअरस्सीहि उ, इत्यादि, अत एवाह—'रूपे गन्धे रसे स्पर्शे' रूपादिविषय इति गाथार्थः ॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्ताभिधानेनाह—

जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इंदिआइं तवं चरंतस्स । सो हीरइ असहीणेहिं सारही वा तुरंगेहिं ॥ २९८ ॥

व्याख्या–'यस्य खल्वि'ति यस्यापि दुष्प्रणिहितानीन्द्रियाणि विश्रोतोगामीनि 'तपश्चरत' इति तपोऽपि कुर्वतः स तथाभूतो 'ह्रियते' अपनीयते इन्द्रियैरेव निर्वाणहेतोश्चरणात्, दृष्टान्तमाह—'असाधीनैः' अस्ववशैः 'सारथिरिव' रथनेतेव 'तुरङ्गमैः' अश्वैरिति गाथार्थः ॥ उक्त इन्द्रियप्रणिधिः, नोइन्द्रियप्रणिधिमाह—

कोहं माणं मायं लोहं च महब्भयाणि चत्तारि । जो रुंभइ सुद्धप्पा एसो नोइंदिअप्पणिही ॥ २९९ ॥

व्याख्या–क्रोधं मानं मायां लोभं चेत्येतेषां स्वरूपमनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्नं पूर्ववत्[1], एत एव च महाभयानि चत्वारि, सम्यगदर्शनादिप्रतिबन्धरूपत्वात् । एतानि यो रुणद्धि शुद्धात्मा उदयनिरोधादिना 'एष' निरोद्धा क्रोधादिनिरोधपरिणामानन्यत्वान्नोइन्द्रियप्रणिधिः, कुशलपरिणामत्वादिति गाथार्थः ॥ एतदनिरोधे दोषमाह—

जस्सवि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स । सो बालतवस्सीविव गयण्हाणपरिस्समं कुणइ ॥ ३०० ॥

१ आवश्यके विस्तरेण पूर्वं व्याख्यानात्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५७..॥

दीप अनुक्रम [३५०..]

व्याख्या–यस्यापि कस्यचिद्व्यवहारतपस्विनो दुष्प्रणिहिता–अनिरुद्धा भवन्ति 'कषायाः' क्रोधादयः 'तपश्चरतः' तपः कुर्वत इत्यर्थः स बालतपस्वीव उपवासपारणकप्रभूततरारम्भको जीवो (यथा) गजस्नानपरिश्रमं करोति, चतुर्थषष्ठादिनिमित्ताभिधानतः प्रभूतकर्मबन्धोपपत्तेरिति गाथार्थः ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह—

सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति । मन्नामि उच्छुफुल्लं व निप्फलं तस्स सामन्नं ॥ ३०१ ॥

व्याख्या—'श्रामण्यमनुचरतः' श्रमणभावमपि द्रव्यतः पालयत इत्यर्थः, कषाया यस्योत्कटा भवन्ति क्रोधादयः मन्ये इक्षुपुष्पमिव निष्फलं निर्जराफलमधिकृत्य तस्य श्रामण्यमिति गाथार्थः ॥ उपसंहरन्नाह—

एसो दुविहो पणिही सुद्धो जइ दोसु तस्स तेसिं च । एत्तो पसत्थमपसत्थ लक्खणमज्झत्थनिप्फन्नं ॥ ३०२ ॥

व्याख्या–'एषः' अनन्तरोदितो 'द्विविधः प्रणिधिः' इन्द्रियनोइन्द्रियलक्षणः 'शुद्ध' इति निर्दोषो भवति, यदि 'द्वयोः' बाह्याभ्यन्तरचेष्टयोः 'तस्य' इन्द्रियकषायवतः 'तेषां च' इन्द्रियकषायाणां सम्यग्योगो भवति, एतदुक्तं भवति–यदि बाह्यचेष्टायामभ्यन्तरचेष्टायां च तस्य च प्रणिधिमत इन्द्रियाणां कषायाणां च निग्रहो भवति ततः शुद्धः प्रणिधिरितरथा त्वशुद्धः, एवमपि तत्त्वनीत्याऽभ्यन्तरैव चेष्टेह गरीयसीत्याह, अत एवमपि तत्त्वे प्रशस्तं चारु, तथाऽप्रशस्तमचारु लक्षणं प्रणिधेः 'अध्यात्मनिष्पन्नम्' अध्यवसानोद्गतमिति गाथार्थः ॥ एतदेवाह—

मायागारवसहिओ इंदिअनोइंदिएहिं अपसत्थो । धम्मत्था अ पसत्थो इंदिअनोइंदिअप्पणिही ॥ ३०३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५७..॥

दीप अनुक्रम [३५०..]

व्याख्या–'मायागारवसहितो' मातृस्थानयुक्त ऋद्ध्यादिगारवयुक्तश्चेन्द्रियनोइन्द्रिययोर्निग्रहं करोति, मातृस्थानत ईर्यादिप्रत्युपेक्षणं द्रव्यक्षान्त्याद्यासेवनं तथा ऋद्ध्यादिगारवाद्वेति 'अप्रशस्त' इत्ययमप्रशस्तः प्रणिधिः । तथा धर्मार्थं प्रशस्त इति, मायागारवरहितो धर्मार्थमेवेन्द्रियनोइन्द्रियनिग्रहं करोति यः स तद्भेदोपचारात् 'प्रशस्तः' सुन्दर इन्द्रियनोइन्द्रियप्रणिधिर्निर्जराफलत्वादिति गाथार्थः ॥ साम्प्रतमप्रशस्तेतरप्रणिधेर्दोषगुणानाह—

अट्ठविहं कम्मरयं बंधइ अपसत्थपणिहिमाउत्तो । तं चेव खवेइ पुणो पसत्थपणिहीसमाउत्तो ॥ ३०४ ॥

व्याख्या–'अष्टविधं' ज्ञानावरणीयादिभेदात् कर्मरजो 'बध्नाति' आदत्ते, क इत्याह—'अप्रशस्तप्रणिधिमायुक्तः' अप्रशस्तप्रणिधौ व्यवस्थित इत्यर्थः, तदेवाष्टविधं कर्मरजः क्षपयति पुनः, कदेत्याह–प्रशस्तप्रणिधिसमायुक्त इति गाथार्थः ॥ संयमाद्यर्थं च प्रणिधिः प्रयोक्तव्य इत्याह—

दंसणनाणचरित्ताणि संजमो तस्स साहणट्ठाए । पणिही पउंजिअव्वो अणायणाइं च वज्जाइं ॥ ३०५ ॥

व्याख्या–दर्शनज्ञानचारित्राणि संयमः संपूर्णः, 'तस्य' संपूर्णसंयमस्य साधनार्थं प्रणिधिः प्रशस्तः प्रयोक्तव्यः, तथा 'अनायतनानि च' विरुद्धस्थानानि वर्जनीयानि इति गाथार्थः ॥ एवमकरणे दोषमाह—

दुप्पणिहिअजोगी पुण लंछिज्जइ संजमं अयाणंतो । वीसत्थनिसट्ठंगोव्व कंटइल्ले जह पडंतो ॥ ३०६ ॥

व्याख्या–'दुष्प्रणिहितयोगी पुनः' सुप्रणिधिरहितस्तु प्रव्रजित इत्यर्थः लञ्छ्यते–खण्ड्यते संयममजानानः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५७..॥

दीप अनुक्रम [३५०..]

संयत एवेति। दृष्टान्तमाह–विश्रब्धो निसृष्टाङ्गस्तथा अयत्नपरः कंटकवति श्वभ्रादौ यथा पतन् कश्चिल्लङ्घ्यते तद्वदसौ संयत इति गाथार्थः ॥ व्यतिरेकमाह—

सुप्पणिहिअजोगी पुण न लिप्पई पुव्वभणिअदोसेहिं। निद्दहइ अ कम्माइं सुक्कतणाइं जहा अग्गी ॥ ३०७ ॥

व्याख्या–'सुप्रणिहितयोगी पुनः' सुप्रणिहितः प्रव्रजितः पुनः न लिप्यते 'पूर्वभणितदोषैः' कर्मबन्धादिभिः, संवृताश्रवद्वारत्वात्, निर्दहति च कर्माणि प्राक्तनानि तपःप्रणिधिभावेन, दृष्टान्तमाह–शुष्कतृणानि यथा अग्निर्निर्दहति तद्वदिति गाथार्थः ॥

तम्हा उ अप्पसत्थं पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं। पणिहाणंमि पसत्थे भणिओ आयारपणिहित्ति ॥ ३०८ ॥

व्याख्या–यस्मादेवमप्रशस्तप्रणिधिर्दुःखद इतरश्च सुखदस्तस्माद् 'अप्रशस्तं प्रणिधानम्' अप्रशस्तं प्रणिधिम् 'उज्झित्वा' परित्यज्य 'श्रमणेन' साधुना 'प्रणिधाने' प्रणिधौ 'प्रशस्ते' कल्याणे, यत्नः कार्य इति वाक्यशेषः। निगमयन्नाह–भणित आचारप्रणिधिरिति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

आयारप्पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा। तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [३५१]

अस्य व्याख्या—'आचारप्रणिधिम्' उक्तलक्षणं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'यथा' येन प्रकारेण कर्तव्यं विहितानुष्ठानं 'भिक्षुणा' साधुना 'तं' प्रकारं 'मे' भवद्भ्यः 'उदाहरिष्यामि' कथयिष्यामि 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या शृणुत ममेति गौतमादयः स्वशिष्यानाहुरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

पुढविदगअगणिमारुअ, तणरुक्खस्सबीयगा । तसा अ पाणा जीवत्ति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ २ ॥ तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होअव्वयं सिआ । मणसा कायवक्केणं, एवं हवइ संजए ॥ ३ ॥ पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे । तिविहेण करणजोएणं, संजए सुसमाहिए ॥ ४ ॥ सुद्धपुढवीं न निसीए, ससरक्खंमि अ आसणे । पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥ ५ ॥ सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि अ । उसिणोदगं तत्तफासुअं, पडिगाहिज्ज संजए ॥ ६ ॥ उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे । समुप्पेह तहाभूअं, नो णं संघट्टए मुणी ॥ ७ ॥ इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइअं । न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥ ८ ॥ तालिअंटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा । न वीइज्जऽप्पणो कायं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकारेण उक्त आचार-प्रणिधेः वर्णनं आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥२-१२॥

दीप अनुक्रम [३५२--३६२]

बाहिरं वावि पुग्गलं ॥ ९ ॥ तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई । आमगं विविहं बीअं, मणसावि ण पत्थए ॥ १० ॥ गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा । उदगंमि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ११ ॥ तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा । उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥ १२ ॥

तं प्रकारमाह—'पुढवि'त्ति सूत्रं, पृथिव्युदकाग्निवायवस्तृणवृक्षसबीजा एते पञ्चैकेन्द्रियकायाः पूर्ववत्, त्रसाश्च प्राणिनो द्वीन्द्रियादयो जीवा इत्युक्तं 'महर्षिणा' वर्धमानेन गौतमेन वेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ यतश्चैवमतः 'तेसिं'ति सूत्रं, अस्य व्याख्या—'तेषां' पृथिव्यादीनाम् 'अक्षणयोगेन' अहिंसाव्यापारेण नित्यं 'भवितव्यं' वर्त्तितव्यं स्यात् भिक्षुणा मनसा कायेन वाक्येन एभिः करणैरित्यर्थः, एवं वर्तमानोऽहिंसकः सन् भवति संयतो, नान्यथेति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ एवं सामान्येन षड्जीवनिकायाहिंसया संयतत्वमभिधायाधुना तद्व्रतविधीन्विधानतो विशेषेणाह—'पुढवि'त्ति सूत्रं, पृथिवीं शुद्धां 'भित्तिं' तटीं 'शिलां' पाषाणात्मिकां 'लेष्टुम्' इष्टालखण्डं नैव भिन्द्यात् नो संलिखेत्, तत्र भेदनं द्वैधीभावोत्पादनं 'संलेखनम्' ईषल्लेखनं 'त्रिविधेन करणयोगेन' न करोति मनसेत्यादिना 'संयतः' साधुः 'सुसमाहितः' शुद्धभाव इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ तथा 'सुद्ध'त्ति सूत्रं, 'शुद्धपृथिव्याम्' अशस्त्रोपहतायामनन्तरितायां न निषीदेत्, तथा 'सरजस्के वा' पृथ्वीरजोऽवशु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥२-१२॥

दीप अनुक्रम [३५२--३६२]

ण्ठिते वा 'आसने' पीठकादौ न निषीदेत्, निषीदनग्रहणात्स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रहः, अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणेन निषीदेत् 'ज्ञात्वे'त्यचेतनां ज्ञात्वा 'याचयित्वाऽवग्रह'मिति यस्य संबन्धिनी पृथिवी तमवग्रहमनुज्ञाप्येति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ उक्तः पृथिवीकायविधिः, अधुना अप्कायविधिमाह—'सीओदगं'ति सूत्रं, 'शीतोदकं' पृथिव्युद्भवं सचित्तोदकं न सेवेत, तथा शिलावृष्टं हिमानि च न सेवेत, तत्र शिलाग्रहणेन करकाः परिगृह्यन्ते, वृष्टं वर्षणं, हिमं प्रतीतं प्राय उत्तरापथे भवति। यद्येवं कथमयं वर्त्तेतेत्याह—'उष्णोदकं' कथितोदकं 'तप्तप्रासुकं' तप्तं सत्प्रासुकं त्रिदण्डोद्वृत्तं, नोष्णोदकमात्रं, प्रतिगृह्णीयाद्वृत्त्यर्थं 'संयतः' साधुः, एतच्च सौवीराद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ तथा 'उदउल्लं'ति सूत्रं, नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहतः 'उदकार्द्रम्' उदकबिन्दुचितमात्मनः 'कायं' शरीरं लिङ्गं वा नैव 'पुञ्छयेद्' वस्त्रतृणादिभिः 'न संलिखेत्' पाणिना, अपितु 'संप्रेक्ष्य' निरीक्ष्य 'तथाभूतम्' उदकार्द्रादिरूपं नैव कायं 'संघट्टयेत्' मुनिर्मनागपि न स्पृशेदिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ उक्तोऽप्कायविधिः, तेजःकायविधिमाह—'इंगालं'ति सूत्रं, 'अङ्गारं' ज्वालारहितम् 'अग्निम्' अयःपिण्डानुगतम् 'अर्चिः' छिन्नज्वालम् 'अलातम्' उल्मुकं वा 'सज्योतिः' साग्निकमित्यर्थः, किमित्याह–नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत्, तत्रोज्ज्वनमुत्सेचनं प्रदीपादेः, घट्टनं मिथश्चालनं, तथा नैनम्–अग्निं 'निर्वापयेद्' अभावमापादयेत् 'मुनिः' साधुरिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ प्रतिपादितस्तेजःकायविधिः, वायुकायविधिमाह —'तालिअंटेण'त्ति सूत्रं, 'तालवृन्तेन' व्यजनविशेषेण 'पत्रेण' पद्मिनीपत्रादिना 'शाखया' वृक्षडालरूपया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१२॥

दीप अनुक्रम [३५२--३६२]

'विधूप(व)नेन वा' व्यजनेन वा, किमित्याह–न वीजयेद् 'आत्मनः कायं' स्वशरीरमित्यर्थः 'बाह्यं वापि पुद्गलम्' उष्णोदकादीति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ प्रतिपादितो वायुकायविधिः, वनस्पतिविधिमाह—'तण'त्ति सूत्रं, तृणवृक्षमित्येकवद्भावः, तृणानि–दर्भादीनि वृक्षाः–कदम्बादयः, एतान्न छिन्द्यात्, फलं मूलं वा कस्यचिद्वृक्षादेर्न छिन्द्यात्, तथा 'आमम्' अशस्त्रोपहतं 'विविधम्' अनेकप्रकारं बीजं न मनसाऽपि प्रार्थयेत्, किमुत अश्नीयादिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ तथा 'गहणेसु'त्ति सूत्रं, 'गहनेषु' वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत्, संघट्टनादिदोषप्रसङ्गात्, तथा 'बीजेषु' प्रसारितशाल्यादिषु 'हरितेषु वा' दूर्वादिषु न तिष्ठेत्, 'उदके तथा नित्यम्' अत्रोदकम्–अनन्तवनस्पतिविशेषः, यथोक्तम्—'उदए अवए पणए' इत्यादि, उदकमेवान्ये, तत्र नियमतो वनस्पतिभावात्, उत्तिङ्गपनकयोर्वा न तिष्ठेत्, तत्रोत्तिङ्गः–सर्पच्छत्रादिः पनकः–उल्लिवनस्पतिरिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ उक्तो वनस्पतिकायविधिः, त्रसकायविधिमाह—'तस'त्ति सूत्रं, 'त्रसप्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन् न हिंस्यात्, कथमित्याह–वाचा अथवा 'कर्मणा' कायेन, मनसस्तदन्तर्गतत्वाद्ग्रहणम्, अपि च–'उपरतः' सर्वभूतेषु निक्षिप्तदण्डः सन् पश्येद्विविधं 'जगत्' कर्मपरतन्त्रं नरकादिगतिरूपं, निर्वेदायेति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

अट्ठ सुहुमाइ पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए । दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि

१ उदकं वनस्पतिविशेषः प्र. २ उदकमवकः पनकः.

Jain Education Inte... For Private & Personal Use Only ...ainelibrary.org

आचार-प्रणिधेः स्थूलविधिः उक्तं, अधुना सूक्ष्म विधिः उच्यते

प्रत सूत्रांक ॥१३--१६॥

दीप अनुक्रम [३६३--३६६]

वा ॥ १३ ॥ कयराइं अट्ठ सुहुमाइं?, जाइं पुच्छिज्ज संजए । इमाइं ताइं मेहावी, आइक्खिज्ज विअक्खणो ॥ १४ ॥ सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य । पणगं बीअहरिअं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥ १५ ॥ एवमेआणि जाणिज्जा, सव्वभावेण संजए । अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिअसमाहिए ॥ १६ ॥

उक्तः स्थूलविधिः, अथ सूक्ष्मविधिमाह—'अट्ठ'त्ति सूत्रं, अष्टौ 'सूक्ष्माणि' वक्ष्यमाणानि प्रेक्ष्योपयोगत आसीत तिष्ठेच्छयीत वेति योगः, किंविशिष्टानीत्याह–यानि ज्ञात्वा संयतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च दयाधिकारी भूतेषु भवति, अन्यथा दयाधिकार्येव नेति, तानि प्रेक्ष्य तद्रहित एवासनादीनि कुर्याद्, अन्यथा तेषां सातिचारतेति सूत्रार्थः॥ १३॥ आह—'कयराणि' सूत्रं, कतराण्यष्टौ सूक्ष्माणि यानि दयाधिकारित्वाभावभयात् पृच्छेत्संयतः?, अनेन दयाधिकारिण एव एवंविधेषु यत्नमाह, स ह्यवश्यं तदुपकारकाण्यपकारकाणि च पृच्छति, तत्रैव भावप्रतिबन्धादिति । 'अमूनि' तानि अनन्तरं वक्ष्यमाणानि मेधावी आचक्षीत विचक्षण इति, अनेनाप्येतदेवाह–मर्यादावर्तिना तज्ज्ञेन तत्प्ररूपणा कार्या, एवं हि श्रोतुस्तत्रोपादेयबुद्धिर्भवति, अन्यथा विपर्यय इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ 'सिणेहं'ति सूत्रं, 'स्नेह'मिति स्नेहसूक्ष्मम्–अवश्यायहिममहिकाकरकहरत-

१ सारम्भाणामशक्यं वर्जनं यस्य, निरारम्भैः सूक्ष्मोपयोगेन वर्जनीयं यत्, स्वरूपेण वा सूक्ष्मताभाक्.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१३--१६||

दीप अनुक्रम [३६३--३६६]

नुरूपं, पुष्पसूक्ष्मं चेति वटोदुम्बराणां पुष्पाणि, तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणीति न लक्ष्यन्ते, 'पाणी'ति प्राणिसूक्ष्ममनुद्धरिः कुन्थुः, स हि चलन् विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वात् । 'उत्तिंगं तथैव चे'त्युत्तिंगसूक्ष्मं–कीटिकानगरं, तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति । तथा 'पनक'मिति पनकसूक्ष्मं प्रायः प्रावृट्काले भूमिकाष्ठादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यलीनः पनक इति, तथा 'बीजसूक्ष्मं' शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका, या लोके तुषमुखमित्युच्यते, 'हरितं चे'ति हरितसूक्ष्मं, तच्चाद्यन्ताभिनवोद्भिन्नं पृथिवीसमानवर्णमेवेति, 'अण्डसूक्ष्मं चाष्टम'मिति एतच्च मक्षिकाकीटिकागृहकोलिकाब्राह्मणीकृकलासाद्यण्डमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ 'एवमेआणि'त्ति सूत्रं, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण एतानि सूक्ष्माणि ज्ञात्वा सूत्रादेशेन 'सर्वभावेन' शक्त्यनुरूपेण स्वरूपसंरक्षणादिना 'संयतः' साधुः किमित्याह—'अप्रमत्तो' निद्रादिप्रमादरहितः यतेत मनोवाक्कायैः संरक्षणं प्रति 'नित्यं' सर्वकालं 'सर्वेन्द्रियसमाहितः' शब्दादिषु रागद्वेषावगच्छन्निति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं । सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवाऽऽसणं ॥ १७ ॥ उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लिअं । फासुअं पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ॥ १८ ॥ पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोअणस्स वा । जयं चिट्ठे मिअं भासे, न य रूवेसु मणं करे ॥ १९ ॥ बहुं सुणेहि कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ । न य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--२८॥

दीप अनुक्रम [३६७--३७८]

दिट्ठं सुअं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ २० ॥ सुअं वा जइ वा दिट्ठं, न लविज्जोवघाइअं । न य केणइ उवाएणं, गिहिजोगं समायरे ॥ २१ ॥ निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगंति वा । पुट्ठो वावि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥ २२ ॥ न य भोअणंमि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो । अफासुअं न भुंजिज्जा, कीअमुद्देसिआहडं ॥ २३ ॥ संनिहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायंपि संजए । मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥ २४ ॥ लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिआ । आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चा णं जिणसासणं ॥ २५ ॥ कन्नसुक्खेहिं सद्देहिं, पेम्मं नाभिनिवेसए । दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहिआसए ॥ २६ ॥ खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउण्हं अरइं भयं । अहिआसे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥ २७ ॥ अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए । आहारमइयं सव्वं, मणसावि ण पत्थए ॥ २८ ॥

तथा 'ध्रुव'न्ति सूत्रं, तथा 'ध्रुवं च' नित्यं च यो यस्य काल उक्तोऽनागतः परिभोगे च तस्मिन् प्रत्युपेक्षेत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्तविधिना 'योगे सति' सति सामर्थ्ये अन्यूनातिरिक्तं, किं तदित्याह—'पात्रकम्बलम्' पात्रग्रहणाद्-लाबुदारुमयादिपरिग्रहः, कम्बलग्रहणादूर्णासूत्रमयपरिग्रहः, तथा 'शय्यां' वसतिं द्विकालं त्रिकालं च उच्चारभुवं च-अनापातवदादि स्थण्डिलं तथा 'संस्तारकं' तृणमयादिरूपमथवा 'आसनम्' अपवादगृहीतं पीठकादि प्रत्युपेक्षेतेति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ तथा 'उच्चारं'ति सूत्रं, उच्चारं प्रस्रवणं श्लेष्म सिंघाणं जल्लमिति प्रतीतानि, एतानि प्रासुकं प्रत्युपेक्ष्य स्थण्डिलमिति वाक्यशेषः, 'परिस्थापयेद्' व्युत्सृजेत् संयत इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ उपाश्रयस्थानविधिरुक्तो, गोचरप्रवेशमधिकृत्याह—'पविसित्तु' सूत्रं, प्रविश्य 'परागारं' परगृहं पानार्थं भोजनस्य ग्लानादेरौषधार्थं वा यतं–गवाक्षकादीन्यनवलोकयन् तिष्ठेदुचितदेशे, मितं यतनया भाषेत आगमनप्रयोजनादीति, न च 'रूपेषु' दातृकान्तादिषु मनः कुर्यात्, एवंभूतान्येतानीति न मनो निवेशयेत्, रूपग्रहणं रसाद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ गोचरादिगत एव केनचित्तथाविधं पृष्ट एवं ब्रूयादित्याह—'बहु'न्ति सूत्रं, अथवा उपदेशाधिकारे सामान्येनाह—'बहु'न्ति सूत्रं, 'बहु' अनेकप्रकारं शोभनाशोभनं शृणोति कर्णाभ्यां, शब्दजातमिति गम्यते, तथा 'बहु' अनेकप्रकारमेव शोभनाशोभनभेदेनाक्षिभ्यां पश्यति, रूपजातमिति गम्यते, एवं न च दृष्टं श्रुतं सर्वं स्वपरोभयाहितमपि 'श्रुता ते रुदती पत्नी'त्येवमादि भिक्षुराख्यातुमर्हति, चारित्रोपघातात्, अर्हति च स्वपरोभयहितं 'दृष्टस्ते राजानमुपशामयञ्शिष्य' इति सूत्रार्थः ॥ २० ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—'सुअं'ति सूत्रं, श्रुतं वा अन्यतः यदिवा दृष्टं स्वयमेव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१७--२८||

दीप अनुक्रम [३६७--३७८]

'नालपेत्' न भाषेत, 'औपघातिकम्' उपघातेन निर्वृत्तं तत्फलं वा, यथा–चौरस्त्वमित्यादि, अतो नालपेदपीति गम्यते, तथा न च केनचिदुपायेन सूक्ष्मयाऽपि भङ्ग्या 'गृहियोगं' गृहिसंबन्धं तद्बालग्रहणादिरूपं गृहिव्यापारं वा–प्रारम्भरूपं 'समाचरेत्' कुर्यान्नैवेति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ किं च—'णिट्ठाणं'ति सूत्रं, 'निष्ठानं' सर्वगुणोपेतं संभृतमन्नं रसं निर्यूढमेतद्विपरीतं कदशनम्, एतदाश्रित्याद्यं भद्रकं द्वितीयं पापकमिति वा, पृष्टो वापि परेण कीदृग् लब्धमिति अपृष्टो वा स्वयमेव लाभालाभं निष्ठानादेर्न निर्दिशेद्, अद्य साधु लब्धमसाधु वा शोभनमिदमपरमशोभनं वेति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥ किं च—'न यं'त्ति सूत्रं, न च भोजने गृद्धः सन् विशिष्टवस्तुलाभायेश्वरादिकुलेषु सुखमङ्गलिकया चरेत्, अपितु उञ्छं भावतो ज्ञाताज्ञातमजल्पन (ग्रन्थाग्रम् ५५००) शीलो धर्मलाभमात्राभिधायी चरेत्, तत्रापि 'अप्रासुकं' सचित्तं सन्मिश्रादि कथञ्चिद्गृहीतमपि न भुञ्जीत, तथा क्रीतमौद्देशिकाहृतं प्रासुकमपि न भुञ्जीत, एतद्विशोध्यविशोधिकोट्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥ 'संनिहिं'ति सूत्रं, 'संनिधिं च' प्राङ्निरूपितस्वरूपां न कुर्यात् 'अणुमात्रमपि' स्तोकमपि 'संयतः' साधुः, तथा मुधाजीवीति पूर्ववत्, असंबद्धः पद्मिनीपत्रोदकवद्गृहस्थैः, एवंभूतः सन् भवेत् 'जगन्निश्रितः' चराचरसंरक्षणप्रतिबद्ध इति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥ किंच—'लूह'त्ति सूत्रं, रूक्षैः–वल्लचणकादिभिर्वृत्तिरस्येति रूक्षवृत्तिः, सुसंतुष्टो येन वा तेन वा संतोषगामी, अल्पेच्छो न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागी, सुभरः स्यात् अल्पेच्छत्वादेव दुर्भिक्षादाविति फलं प्रत्येकं वा स्यादिति क्रियायोगः, रूक्षवृत्तिः स्यादित्यादि । तथा 'आसुरत्वं' क्रो-

॥ २३१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धभावं न गच्छेत् क्वचित् स्वपक्षादौ श्रुत्वा 'जिनशासनं' क्रोधविपाकप्रतिपादकं वीतरागवचनं। "[1]जहा चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए कम्मं पकरेंति, तंजहा–कोहसीलयाए पाहुडसीलयाए जहा ठाणे जाव जं णं मए एस पुरिसे अण्णाणी मिच्छादिट्ठी अक्कोसइ हणइ वा तं ण मे एस किंचि अवरज्झइत्ति, किं तु मम एयाणि वेयणिज्जाणि कम्माणि अवरज्झंतित्ति सम्ममहियासमाणस्स निज्जरा एव भविस्सइ'त्ति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥ तथा 'कण्ण'त्ति सूत्रं, कर्णसौख्यहेतवः कर्णसौख्याः शब्दा–वेणुवीणादिसंबन्धिनस्तेषु 'प्रेम' रागं 'न अभिनिवेशयेत्' न कुर्यादित्यर्थः, 'दारुणम्' अनिष्टं 'कर्कशं' कठिनं स्पर्शमुपनतं सन्तं कायेनाधिसहेत् न तत्र द्वेषं कुर्यादिति, अनेनाद्यन्तयो रागद्वेषनिराकरणेन सर्वेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषप्रतिषेधो वेदितव्य इति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ किं च—'खुहं पि'त्ति सूत्रं, 'क्षुधं' बुभुक्षां 'पिपासां' तृषं 'दुःशय्यां' विषमभूम्यादिरूपां शीतोष्णं प्रतीतम् 'अरतिं' मोहनीयोद्भवां 'भयं' व्याघ्रादिसमुत्थमतिसहेदेतत्सर्वमेव 'अव्यथितः' अदीनमनाः सन् देहे दुःखं महाफलं संचिन्त्येति वाक्यशेषः। तथा च शरीरे सत्येतदुःखं, शरीरं चासारं, सम्यगतिसह्यमानं च मोक्षफलमेवेदमिति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥ किंच—'अत्थं'ति सूत्रं, 'अस्तं गत आदित्ये' अस्तपर्वतं प्राप्ते अद-

[1] यथा चतुर्भिः स्थानैर्जीवा आसुरत्वाय कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—क्रोधशीलतया प्राभृतशीलतया यथा स्थानाङ्गे यावत् यन्ममेष पुरुषोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिराक्रोशति हन्ति वा तत्र मे एष किञ्चिदपराध्यतीति, किन्तु ममैतानि वेदनीयानि कर्माणि अपराध्यन्तीति सम्यगध्यासीनस्य निर्जरैव भविष्यतीति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--४०॥

दीप अनुक्रम [३७९--३९०]

शीनीभूते वा 'पुरस्ताचानुद्गते' प्रत्यूषस्यनुदित इत्यर्थः, आहारात्मकं 'सर्वं' निरवशेषमाहारजातं मनसापि न प्रार्थयेत्, किमङ्ग पुनर्वाचा कर्मणा वेति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मिआसणे । हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए- ॥ २९ ॥ न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे । सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि- बुद्धिए ॥ ३० ॥ से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मिअं पयं । संवरे खिप्पमप्पाणं, बीअं तं न समायरे ॥ ३१ ॥ अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे । सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए ॥ ३२ ॥ अमोहं वयणं कुज्जा, आयरिअस्स महप्पणो । तं परि- गिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥ ३३ ॥ अधुवं जीविअं नच्चा, सिद्धिमग्गं वि- आणिआ । विणिअट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिअप्पणो ॥ ३४ ॥ बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो । खित्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥ ३५ ॥ जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई । जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे

१ नैषा व्याख्याक्रन्मता.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--४०॥

दीप अनुक्रम [३७९--३९०]

॥ ३६ ॥ कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं । वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ॥ ३७ ॥ कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो । माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥ ३८ ॥ उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे । मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥ ३९ ॥ कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ, माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ ४० ॥

दिवाप्यलभमान आहारे किमित्याह—'अतिंतिणे'त्ति सूत्रं, अतिन्तिणो भवेत्, अतिन्तिणो नामालाभेऽपि नेषत्यिकञ्चनभाषी, तथा अचपलो भवेत्, सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः । तथा 'अल्पभाषी' कारणे परिमितवक्ता, तथा 'मिताशनो' मितभोक्ता 'भवे'दित्येवंभूतो भवेत्, तथा 'उदरे दान्तो' येन वा तेन वा वृत्तिशीलः, तथा 'स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्' देयं दातारं वा न हीलयेदिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ मदवर्जनार्थमाह—'न बाहिरं'ति सूत्रं, न 'बाह्यम्' आत्मनोऽन्यं परिभवेत्, तथा आत्मानं न समुत्कर्षयेत्, सामान्येनेत्थंभूतोऽहमिति, श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत, पण्डितो लब्धिमानहमित्येवं, तथा जात्या—ताप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्येन बुद्ध्या वा, न माद्येतेति वर्त्तते, जातिसंपन्नस्तपस्वी बुद्धिमानहमित्येवम्, उपलक्षणं चैतत्कुलबलरूपाणाम्, कुलसंपन्नोऽहं बलसंपन्नोऽहं रूपसंपन्नोऽहमित्येवं न माद्येतेति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥ ओघत आभोगानाभोगसेवितार्थमाह—'से'त्ति सूत्रं, 'स' साधुः 'जानन्नजानन् वा' आभोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः 'कृत्वाऽधार्मिकं पदं' कथञ्चिद्रागद्वेषाभ्यां मूलोत्तरगुणविराधनामिति भावः 'संवरेत्' 'क्षिप्रमात्मानं' भावतो निवर्त्यालोचनादिना प्रकारेण, तथा द्वितीयं पुनस्तन्न समाचरेत्, अनुबन्धदोषादिति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥ एतदेवाह—'अणायारं'ति सूत्रं, 'अनाचारं' सावद्ययोगं 'पराक्रम्य' आसेव्य गुरुसकाशे आलोचयन् 'नैव गूहयेत् न निह्नवीत' तत्र गूहनं किञ्चित्कथनं निह्नव एकान्तापलापः, किंविशिष्टः सन्नित्याह—'शुचिः' अकलुषितमतिः सदा 'विकटभावः' प्रकटभावः 'असंसक्तः' अप्रतिबद्धः क्वचित् 'जितेन्द्रियो' जितेन्द्रियप्रमादः सन्निति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ तथा 'अमोहं'ति सूत्रं, 'अमोघम्' अवन्ध्यं 'वचनम्' इदं कुर्वित्यादिरूपं 'कुर्या'दिति एवमित्यभ्युपगमेन, केषामित्याह—'आचार्याणां महात्मनां' श्रुतादिभिर्गुणैः, तत्परिगृह्य वाचा एवमित्यभ्युपगमेन 'कर्मणोपपादयेत्' क्रियया संपादयेदिति सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥ तथा 'अधुवं'ति सूत्रं, 'अध्रुवम्' अनित्यं मरणाशङ्कि जीवितं सर्वभावनिबन्धनं ज्ञात्वा । तथा 'सिद्धिमार्गं' सम्यगदर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं विज्ञाय विनिवर्तेत भोगेभ्यो बन्धैकहेतुभ्यः, तथा ध्रुवमप्यायुः परिमितं संवत्सरशतादिमानेन विज्ञायात्मनो विनिवर्तेत भोगेभ्य इति सूत्रार्थः ॥ ३४ ॥ उपदेशाधिकारे प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह–'जर'त्ति सूत्रं, 'जरा' वयोहा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--४०॥

दीप अनुक्रम [३७९--३९०]

निलक्षणा यावन्न पीडयति 'व्याधिः' क्रियासामर्थ्यशत्रुर्यावन्न वर्द्धते यावद् 'इन्द्रियाणि' क्रियासामर्थ्योपकारीणि श्रोत्रादीनि न हीयन्ते तावदत्रान्तरे प्रस्ताव इतिकृत्वा धर्मं समाचरेच्चारित्रधर्ममिति सूत्रार्थः ॥३५॥ ॥ ३६ ॥ तदुपायमाह—'कोहं' गाहा, क्रोधं मानं च मायां च लोभं च पापवर्धनं, सर्वे एते पापहेतव इति पापवर्द्धनव्यपदेशः, यतश्चैवमतो वमेच्चतुरो 'दोषान्' एतानेव क्रोधादीन् हितमिच्छन्नात्मनः, एतद्वमने हि सर्वसंपदिति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥ अवमने त्विहलोक एवापायमाह—'कोह'त्ति सूत्रं, क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, क्रोधान्धवचनतस्तदुच्छेददर्शनात्, मानो विनयनाशनः, अवलेपेन मूर्खतया तदकरणोपलब्धेः, माया मित्राणि नाशयति, कौटिल्यवतस्तत्त्यागदर्शनात्, लोभः सर्वविनाशन, तत्त्वतस्त्रयाणामपि तद्भावभावित्वादिति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ यत एवमतः—'उवसमेण'त्ति सूत्रं, 'उपशमेन' शान्तिरूपेण हन्यात् क्रोधम्, उदयनिरोधोदयप्राप्तफलीकरणेन, एवं मानं मार्दवेन–अनुच्छ्रिततया जयेत् उदयनिरोधादिनैव, मायां च ऋजुभावेन—अशठतया जयेत् उदयनिरोधादिनैव, एवं लोभं 'संतोषतः' निःस्पृहत्वेन जयेत्, उदयनिरोधोदयप्राप्तफलीकरणेनेति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ क्रोधादीनामेव परलोकापायमाह—'कोहो'त्ति सूत्रं, क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ—उच्छृङ्खलौ, माया च लोभश्च 'विवर्धमानौ च' वृद्धिं गच्छन्तौ, 'चत्वार' एते क्रोधादयः 'कृत्स्नाः' संपूर्णाः 'कृष्णा वा' क्लिष्टाः कषायाः सिञ्चन्ति अशुभभावजलेन मूलानि तथाविधकर्मरूपाणि 'पुनर्भवस्य' पुनर्जन्मतरोरिति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--५०॥

दीप अनुक्रम [३९१--४००]

रायाणिएसु विणयं पउंजे, धुवसीलयं सययं न हावइज्जा । कुम्मुव्व अल्लीणपलीण-गुत्तो, परक्कमिज्जा तवसंजमंमि ॥ ४१ ॥ निद्दं च न बहु मन्निज्जा, सप्पहासं विव-ज्जए । मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायंमि रओ सया ॥ ४२ ॥ जोगं च समणधम्मंमि, जुंजे अनलसो धुवं । जुत्तो अ समणधम्मंमि, अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥ ४३ ॥ इहलो-गपारत्तहिअं, जेणं गच्छइ सुग्गइं । बहुस्सुअं पज्जुवासिज्जा, पुच्छिज्जत्थविणिच्छयं ॥ ४४ ॥ हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए । अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ॥ ४५ ॥ न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ । न य ऊरुं स-मासिज्जा, चिट्ठिज्जा गुरुणंतिए ॥ ४६ ॥ अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अं-तरा । पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥ ४७ ॥ अप्पत्तिअं जेण सिआ, आसु कुप्पिज्ज वा परो । सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं ॥ ४८ ॥ दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं । अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--५०॥

दीप अनुक्रम [३९१--४००]

॥ ४९ ॥ आयारपन्नत्तिधरं, दिट्ठिवायमहिज्जगं । वायविक्खलिअं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥ ५० ॥

यत एवमतः कषायनिग्रहार्थमिदं कुर्यादित्याह—'रायणिए'त्ति, 'रत्नाधिकेषु' चिरदीक्षितादिषु 'विनयम्' अभ्युत्थानादिरूपं प्रयुञ्जीत, तथा 'ध्रुवशीलताम्' अष्टादशशीलाङ्गसहस्रपालनरूपां 'सततम्' अनवरतं यथाशक्त्या(क्ति) न हापयेत्, तथा 'कूर्म इव' कच्छप इवालीनप्रलीनगुप्तः अङ्गोपाङ्गानि सम्यक् संयम्येत्यर्थः, 'पराक्रमेत' प्रवर्त्तेत 'तपःसंयमे' तपःप्रधाने संयम इति सूत्रार्थः ॥ ४१ ॥ किंच—'निद्दं च'त्ति सूत्रं, 'निद्रां च न बहु मन्येत' न प्रकामशायी स्यात्। 'सप्रहासं च' अतीवहासरूपं विवर्जयेत्, 'मिथःकथासु' राहस्यिकीषु न रमेत, 'स्वाध्याये' वांचनादौ रतः सदा, एवंभूतो भवेदिति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥ तथा—'जोगं च'त्ति सूत्रं, 'योगं च' त्रिविधं मनोवाक्कायव्यापारं 'श्रमणधर्मे' क्षान्त्यादिलक्षणे युञ्जीत 'अनलसः' उत्साहवान्, 'ध्रुवं' कालाद्यौचित्येन नित्यं संपूर्णं सर्वत्र प्रधानोपसर्जनभावेन वा, अनुप्रेक्षाकाले मनोयोगमध्ययनकाले वाग्योगं प्रत्युपेक्षणाकाले काययोगमिति । फलमाह—'युक्त' एवं व्यापृतः श्रमणधर्मे दशविधेऽर्थे 'लभते' प्रामोत्यनुत्तरं भावार्थं ज्ञानादिरूपमिति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥ एतदेवाह—'इहलोग'त्ति सूत्रं, 'इहलोकपरत्रहितम्' इहाकुशलप्रवृत्तिदुःखनिरोधेन परत्र कुशलानुबन्धत उभयलोकहितमित्यर्थः, 'येन' अर्थेन ज्ञानादिना

दश० ४०

Jain Education Inte For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४१--५०||

दीप अनुक्रम [३९१--४००]

करणभूतेन गच्छति सुगतिं, पारम्पर्येण सिद्धिमित्यर्थः, उपदेशाधिकार उक्तव्यतिकरसाधनोपायमाह— 'बहुश्रुतम्' आगमवृद्धं 'पर्युपासीत' सेवेत, सेवमानश्च पृच्छेद् 'अर्थविनिश्चयम्' अपायरक्षकं कल्याणावहं वाऽर्थावितथभावमिति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ पर्युपासीनश्च 'हत्थं'ति सूत्रं, हस्तं पादं च कायं च 'प्रणिधाये'ति संयम्य जितेन्द्रियो निभृतो भूत्वा आलीनगुप्तो निषीदेत्, ईषल्लीन उपयुक्त इत्यर्थः, सकाशे गुरोर्मुनिरिति सूत्रार्थः॥ ४५॥ किं च—'न पक्खओ'त्ति सूत्रं, न पक्षतः–पार्श्वतः न पुरतः–अग्रतः नैव 'कृत्यानाम्' आचार्यादीनां 'पृष्ठतो' मार्गतो निषीदेदिति वर्त्तते, यथासंख्यमविनयवन्दमानान्तरायादर्शनादिदोषप्रसङ्गात्। न च 'ऊरुं समाश्रित्य' ऊरोरुपर्यूरुं कृत्वा तिष्ठेद्दुर्वन्तिके, अविनयादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥ उक्तः कायप्रणिधिः, वाक्प्रणिधिमाह—'अपुच्छिओ'त्ति सूत्रं, अपृष्टो निष्कारणं न भाषेत, भाषमाणस्य चान्तरेण न भाषेत, नेदमित्थं किं तर्ह्येवमिति, तथा 'पृष्ठिमांसं' परोक्षदोषकीर्तनरूपं 'न खादेत्' न भाषेत, 'मायामृषां' मायाप्रधानां मृषावादं विवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥ किंच—'अप्पत्तिअं'ति सूत्रं, 'अप्रीतिर्येन स्या'दिति प्राकृतशैल्या येनेति–यया भाषया भाषितया अप्रीतिरित्यप्रीतिमात्रं भवेत् तथा 'आशु' शीघ्रं 'कुप्येद्वा परो' रोषकार्यं दर्शयेत् 'सर्वशः' सर्वावस्थासु 'ताम्' इत्थंभूतां न भाषेत भाषाम् 'अहितगामिनीम्' उभयलोकविरुद्धामिति सूत्रार्थः ॥ ४८ ॥ भाषणोपायमाह—'दिट्ठं'ति सूत्रं, 'दृष्टां' दृष्टार्थविषयां 'मितां' स्वरूपप्रयोजनाभ्याम् 'असंदिग्धां' निःशङ्कितां 'प्रतिपूर्णां' स्वरादिभिः 'व्यक्ताम्' अलल्लां 'जितां' परिचिताम् 'अज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४१--५०||

दीप अनुक्रम [३९१--४००]

ल्पनशीलां' नोच्चैर्ललविलाम् 'अनुद्विग्नां' नोद्वेगकारिणीमेवंभूतां भाषां 'निसृजेद्' ब्रूयाद् 'आत्मवान्' सचेतन इति सूत्रार्थः ॥ ४९ ॥ प्रस्तुतोपदेशाधिकार एवेदमाह—'आयार'त्ति सूत्रं, 'आचारप्रज्ञप्तिधर'मित्याचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवंभूतम् । तथा दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनं 'वागविस्खलितं ज्ञात्वा' विविधम्–अनेकैः प्रकारैर्लिङ्गभेदादिभिः स्खलितं विज्ञाय न 'तम्' आचारादिधरमुपहसेन्मुनिः, अहो नु खल्वाचारादिधरस्य वाचि कौशलमित्येवम्, इह च दृष्टिवादमधीयानमित्युक्तमत इदं गम्यते–नाधीतदृष्टिवादं, तस्य ज्ञानाप्रमादातिशयतः स्खलनाऽसंभवाद्, यद्येवंभूतस्यापि स्खलितं संभवति न चैनमुपहसेदित्युपदेशः, ततोऽन्यस्य सुतरां संभवति, नासौ हसितव्य इति सूत्रार्थः ॥ ५० ॥

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंतभेसजं । गिहिणो तं न आइक्खे, भूआहिगरणं पयं ॥ ५१ ॥ अन्नट्ठं पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं । उच्चारभूमिसंपन्नं, इत्थीपसुविवज्जिअं ॥ ५२ ॥ विवित्ता अ भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं । गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ॥ ५३ ॥ जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं । एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ५४ ॥ चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५१--६०॥

दीप अनुक्रम [४०१--४१०]

किअं । भक्खरंपिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ५५ ॥ हत्थपायपलिच्छिन्नं, कण्ण-नासविगप्पिअं । अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥ ५६ ॥ विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीअं रसभोअणं । नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ५७ ॥ अंग-पच्चंगसंठाणं, चारुल्लवि अपेहिअं । इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ५८ ॥ विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए । अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पुग्गलाण उ ॥ ५९ ॥ पोग्गलाणं परीणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा । विणीअतण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥ ६० ॥

किं च—'नक्खत्तं'ति सूत्रं, गृहिणा पृष्टः सन्नक्षत्रम्–अश्विन्यादि 'स्वप्नं' शुभाशुभफलमनुभूतादि 'योगं' वशीकरणादि 'निमित्तम्' अतीतादि 'मन्त्रं' वृश्चिकमन्त्रादि 'भेषजम्' अतीसाराद्यौषधं 'गृहिणाम्' असंयतानां तद् नाचक्षीत, किंविशिष्टमित्याह—'भूताधिकरणं पद'मिति भूतानि–एकेन्द्रियादीनि संघट्टनादिनाऽधिक्रियन्तेऽस्मिन्निति, ततश्च तदप्रीतिपरिहारार्थमित्थं ब्रूयाद्–अनधिकारोऽत्र तपस्विनामिति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥ किं च—'अन्नट्ठं'ति सूत्रं, 'अन्यार्थं प्रकृतं' न साधुनिमित्तमेव निर्वर्त्तितं 'लयनं' स्थानं वसतिरूपं 'भजेत्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५१--६०॥

दीप अनुक्रम [४०१--४१०]

सेवेत, तथा 'शयनासन'मित्यन्यार्थं प्रकृतं संस्तारकपीठकादि सेवेतेत्यर्थः, एतदेव विशेष्यते—'उच्चारभूमिसंपन्नम्' उच्चारप्रस्रवणादिभूमियुक्तं, तद्रहितेऽसकृत्तदर्थं निर्गमनादिदोषात्, तथा 'स्त्रीपशुविवर्जित'मित्येकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितं रुयाद्यालोकनादिरहितमिति सूत्रार्थः ॥ ५२ ॥ तदित्थंभूतं लयनं सेवमानस्य धर्मकथाविधिमाह—'विविक्ता य'त्ति सूत्रं, 'विविक्ता च' तदन्यसाधुभी रहिता च, चशब्दात्तथाविधभुजङ्गप्रायैकपुरुषयुक्ता च भवेच्छय्या–वसतिर्यदि ततो 'नारीणां' स्त्रीणां न कथयेत्कथां, शङ्कादिदोषप्रसङ्गात्, औचित्यं विज्ञाय पुरुषाणां तु कथयेत्, अविविक्तायां नारीणामपीति, तथा 'गृहिसंस्तवं' गृहिपरिचयं न कुर्यात् तत्स्नेहादिदोषसंभवात्। कुर्यात्साधुभिः सह 'संस्तवं' परिचयं, कल्याणमित्रयोगेन कुशलपक्षवृद्धिभावत इति सूत्रार्थः ॥ ५३ ॥ कथञ्चिद्गृहिसंस्तवभावेऽपि स्त्रीसंस्तवो न कर्तव्य एवेत्यत्र कारणमाह—'जह'त्ति सूत्रं, यथा 'कुक्कुटपोतस्य' कुक्कुटचेल्लकस्य 'नित्यं' सर्वकालं 'कुललतो' मार्जारात् भयम्, एवमेव 'ब्रह्मचारिणः' साधोः 'स्त्रीविग्रहात्' स्त्रीशरीराद्भयम्। विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ ५४ ॥ यतश्चैवमतः—'चित्त'त्ति सूत्रं, 'चित्तभित्तिं' चित्रगतां स्त्रियं 'न निरीक्षेत' न पश्येत्, नारीं वा सचेतनामेव सलङ्कृताम्, उपलक्षणमेतदनलङ्कृतां च न निरीक्षेत, कथञ्चिद्दर्शनयोगेऽपि 'भास्करमिव' आदित्यमिव दृष्ट्वा दृष्टिं 'प्रतिसमाहरेद्' द्रागेव निवर्तयेदिति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥ किं बहुना?-'हत्थ'त्ति सूत्रं, 'हस्तपादप्रतिच्छिन्ना'मिति प्रतिच्छिन्नहस्तपादां 'कर्णनासाविकृत्ता'मिति विकृत्तकर्णना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामपि वर्षशतिकां नारीम्, एवंविधामपि किमङ्ग पुनस्तरुणीं?, तां तु सुतरामेव, 'ब्रह्मचारी' चारित्रधनो महाधन इव तस्करान् विवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥५६॥ अपिच—'विभूस'त्ति सूत्रं, 'विभूषा' वस्त्रादिराढा 'स्त्रीसंसर्गः' येन केनचित्प्रकारेण स्त्रीसंबन्धः 'प्रणीतरसभोजनं' गलत्स्नेहरसाभ्यवहारः, एतत्सर्वमेव विभूषादि नरस्य 'आत्मगवेषिण' आत्महितान्वेषणपरस्य 'विषं तालपुटं यथा' तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितमिति सूत्रार्थः ॥ ५७ ॥ 'अंग'त्ति सूत्रं, 'अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थान'मिति अङ्गानि–शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि–नयनादीनि एतेषां संस्थानं–विन्यासविशेषं, तथा चारु–शोभनं 'लपितप्रेक्षितं' लपितं–जल्पितं प्रेक्षितं–निरीक्षितं स्त्रीणां संबन्धि, तदङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानादि 'न निरीक्षेत' न पश्येत्, किमित्यत आह–कामरागविवर्द्धनमिति, एतद्धि निरीक्ष्यमाणं मोहदोषात् मैथुनाभिलाषं वर्द्धयति, अत एवास्य प्राक् स्त्रीणां निरीक्षणप्रतिषेधाद्गतार्थतायामपि प्राधान्यख्यापनार्थो भेदेनोपन्यास इति सूत्रार्थः ॥ ५८ ॥ किं च—'विसएसु'त्ति सूत्रं, 'विषयेषु' शब्दादिषु 'मनोज्ञेषु' इन्द्रियानुकूलेषु 'प्रेम' रागं 'नाभिनिवेशयेत्' न कुर्यात्, एवममनोज्ञेषु द्वेषम्, आह–उक्तमेवेदं प्राक् 'कण्णसोक्खेही'त्यादौ किमर्थं पुनरुपन्यास इति?, उच्यते, कारणविशेषाभिधानेन विशेषोपलम्भार्थमिति, आह च–'अनित्यमेव' परिणामानित्यतया 'तेषां' पुद्गलानां, तुशब्दाच्छब्दादिविषयसंबन्धिनामिति योगः, 'विज्ञाय' अवेत्य जिनवचनानुसारेण, किमित्याह—'परिणामं' पर्यायान्तरापत्तिलक्षणं, ते हि मनोज्ञा अपि सन्तो विषयाः क्षणादमनोज्ञतया परिणमन्ति अमनोज्ञा अपि मनोज्ञतया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६१--६४||

दीप अनुक्रम [४११--४१४]

इति तुच्छं रागद्वेषयोर्निमित्तमिति सूत्रार्थः ॥ ५९ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—'पोग्गलाणं'ति सूत्रं, 'पुद्गलानां' शब्दादिविषयान्तर्गतानां 'परिणामम्' उक्तलक्षणं तेषां 'ज्ञात्वा' विज्ञाय यथा मनोज्ञेतररूपतया भवन्ति तथा ज्ञात्वा 'विनीततृष्णः' अपेताभिलाषः शब्दादिषु विहरेत् 'शीतीभूतेन' क्रोधाद्यभ्युपगमात्प्रशान्तेनात्मनेति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥

जाइ सद्धाइ निक्खंतो, परिआयट्ठाणमुत्तमं । तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिअसंमए ॥ ६१ ॥ तवं चिमं संजमजोगयं च, सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए । सुरे व सेणाइ समत्तमाउहे, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ ६२ ॥ सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स । विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं, समीरिअं रुप्पमलं व जोइणा ॥ ६३ ॥ से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए, सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे । विरायई कम्मघणंमि अवगए, कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमि ॥ ६४ ॥ त्ति बेमि ॥ आयारपणिही णाम अज्झयणं समत्तं ८ ॥

किं च—'जाइ'त्ति सूत्रं, यया 'श्रद्धया' प्रधानगुणस्वीकरणरूपया निष्क्रान्तोऽविरतिजम्बालात् 'पर्याय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६१--६४॥

दीप अनुक्रम [४११--४१४]

स्थानं' प्रव्रज्यारूपम् 'उत्तमं' प्रधानं प्राप्त इत्यर्थः, तामेव श्रद्धामप्रतिपततया प्रवर्द्धमानामनुपालयेद्यत्नेन, क इत्याह—'गुणेषु' मूलगुणादिलक्षणेषु, 'आचार्यसंमतेषु' तीर्थकरादिबहुमतेषु, अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमेतदिति व्याचक्षते, तामेव श्रद्धामनुपालयेद्गुणेषु, किंभूताम्?–आचार्यसंमतां, न तु स्वाग्रहकलङ्कितामिति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥ आचारप्रणिधिफलमाह—'तवं चिमं'ति सूत्रं, तपश्चेदम्–अनशनादिरूपं साधुलोकप्रतीतं 'संयमयोगं च' पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च 'स्वाध्याययोगं च' वाचनादिव्यापारं 'सदा' सर्वकालम् 'अधिष्ठाता' तपःप्रभृतीनां कर्तेत्यर्थः, इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाभिधानमिति । 'स' एवंभूतः 'शूर इव' विक्रान्तभट इव 'सेनया' चतुरङ्गरूपया इन्द्रियकषायादिरूपया निरुद्धः सन् 'समाप्तायुधः' संपूर्णतपःप्रभृतिखड्गाद्यायुधः 'अलम्' अत्यर्थमात्मनो भवति संरक्षणाय अलं च परेषां निराकरणायेति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—'सज्झाय'त्ति सूत्रं, स्वाध्याय एव सद्ध्यानं स्वाध्यायसद्ध्यानं तत्र रतस्य–सक्तस्य 'त्रातुः' स्वपरोभयत्राणशीलस्य 'अपापभावस्य' लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्तस्य 'तपसि' अनशनादौ यथाशक्ति रतस्य 'विशुद्ध्यते' अपैति यद् 'अस्य' साधोः 'मलं' कर्ममलं 'पुराकृतं' जन्मान्तरोपात्तं, दृष्टान्तमाह—'समीरितं' प्रेरितं रूप्यमलमिव 'ज्योतिषा' अग्निनेति सूत्रार्थः ॥ ६३ ॥ ततः—'से तारिसे'त्ति सूत्रं, 'स तादृशः' अनन्तरोदितगुणयुक्तः साधुः 'दुःखसहः' परीषहजेता 'जितेन्द्रियः' पराजितश्रोत्रेन्द्रियादिः 'श्रुतेन युक्तो' विद्यावानित्यर्थः 'अममः' सर्वत्र ममत्वरहितः

॥ २३८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६१--६४॥

दीप अनुक्रम [४११--४१४]

'अकिञ्चनो' द्रव्यभावकिञ्चनरहितः 'विराजते' शोभते, 'कर्मघने' ज्ञानावरणीयादिकर्ममेघे अपगते सति, निदर्शनमाह—'कृत्स्नाभ्रपुटापगम इव चन्द्रमा इति' यथा कृत्स्ने कृष्णे वा अभ्रपुटे अपगते सति चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसावपेतकर्मघनः समासादितकेवलालोको विराजत इति सूत्रार्थः ॥ ६४ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत्, उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च पूर्ववदेव । व्याख्यातमाचारप्रणिध्यध्ययनम् ॥ ८ ॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकबृहद्वृत्तावष्टमाध्ययनम् संपूर्णम् ॥ ८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अष्टमं अध्ययनं परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥६४..॥

दीप अनुक्रम [४१४..]

अथ नवमं विनयसमाधिनामाध्ययनं प्रारभ्यते ॥

अधुना विनयसमाध्याख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुक्तम्, इह त्वाचारप्रणिहितो यथोचितविनयसंपन्न एव भवतीत्येतदुच्यते, उक्तं च—"[1]आयारपणिहाणंमि, से सम्मं वट्टई बुहे । णाणादीण विणीए जे, मोक्खट्ठा निव्विगिच्छए ॥ १ ॥" इत्यनेनाभिसंबन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तत्र च विनयसमाधिरिति द्विपदं नाम, तन्निक्षेपायाह—

विणयस्स समाहीए निक्खेवो होइ दोण्हवि चउक्को । दव्वविणयंमि तिणिसो सुवण्णमिच्चेवमाईणि ॥ ३०९ ॥

व्याख्या–'विनयस्य' प्रसिद्धतत्त्वस्य 'समाधेश्च' प्रसिद्धतत्त्वस्यैव निक्षेपो–न्यासो भवति द्वयोरपि चतुष्को नामादिभेदात्, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यविनयमाह–द्रव्यविनये ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ते 'तिनिशो' वृक्षविशेष उदाहरणं, स रथाङ्गादिषु यत्र यत्र यथा यथा विनीयते तत्र तत्र तथा तथा परिणमति, योग्यत्वादिति । तथा सुवर्णमित्यादीनि कटककुण्डलादिप्रकारेण विनयनाद् द्रव्याणि द्रव्यविनयः, आदिशब्दात्तत्तद्योग्यरूप्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं भावविनयमाह—

[1] आचारप्रणिधाने स सम्यग्वर्त्तते बुधः । ज्ञानादिषु विनीतो यो मोक्षार्थं निर्विचिकित्सकः ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -९- "विनयसमाधि" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ||६४..||

दीप अनुक्रम [४१४..]

लोगोवयारविणओ अत्थनिमित्तं च कामहेउं च । भयविणय मुक्खविणओ विणओ खलु पंचहा होइ ॥ ३१० ॥
अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं अतिहिपूआ य । लोगोवयारविणओ देवयपूआ य विहवेणं ॥ ३११ ॥
अब्भासवित्तिछंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च । अब्भुट्ठाणं अंजलिआसणदाणं च अत्थकए ॥ ३१२ ॥
एमेव कामविणओ भए अ नेअव्वमाणुपुव्वीए । मोक्खंमिऽवि पंचविहो परूवणा तस्सिमा होइ ॥ ३१३ ॥

व्याख्या–लोकोपचारविनयो लोकप्रतिपत्तिफलः 'अर्थनिमित्तं च' अर्थप्राप्त्यर्थं च 'कामहेतुश्च' कामनिमित्तश्च तथा 'भयविनयो' भयनिमित्तो 'मोक्षविनयो' मोक्षनिमित्तः, एवमुपाधिभेदाद्विनयः खलु 'पञ्चधा' पञ्चप्रकारो भवतीति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थाभिधित्सया तु लोकोपचारविनयमाह—'अभ्युत्थानं' तदुचितस्यागतस्याभिमुखमुत्थानम् 'अञ्जलिः' विज्ञापनादौ, आसनदानं च गृहागतस्य प्रायेण, अतिथिपूजा चाहारादिदानेन 'एष' इत्थंभूतो लोकोपचारविनयः, देवतापूजा च यथाभक्ति बल्याद्युपचाररूपा 'विभवेने'ति यथाविभवं विभवोचितेति गाथार्थः ॥ उक्तो लोकोपचारविनयः, अर्थविनयमाह—'अभ्यासवृत्तिः' नरेन्द्रादीनां समीपावस्थानं 'छन्दोऽनुवर्तनम्' अभिप्रायाराधनं 'देशकालदानं च' कटकादौ विशिष्टनृपतेः प्रस्तावदानं, तथाऽभ्युत्थानमञ्जलिरासनदानं च नरेन्द्रादीनामेव कुर्वन्ति 'अर्थकृते' अर्थार्थमिति गाथार्थः ॥ उक्तोऽर्थविनयः, कामादिविनयमाह—'एवमेव' यथाऽर्थविनय उक्तोऽभ्यासवृत्त्यादिः तथा कामविनयः 'भये चे'ति भयविनयश्च 'ज्ञातव्यो' विज्ञेयः 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या, तथाहि–कामिनो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अथ "भावविनय" प्रकाश्यते

प्रत सूत्रांक ॥६४..॥

दीप अनुक्रम [४१४..]

वेश्यादीनां कामार्थमेवाभ्यासवृत्त्यादि यथाक्रमं सर्वं कुर्वन्ति प्रेष्याश्च भयेन स्वामिनामिति, उक्तौ कामभयविनयौ, मोक्षविनयमाह—'मोक्षेऽपि' मोक्षविषयो विनयः 'पञ्चविधः' पञ्चप्रकारः 'प्ररूपणा' निरूपणा तस्यैषा भवति वक्ष्यमाणेति गाथार्थः ॥

दंसणनाणचरित्ते तवे अ तह ओवयारिए चेवं । एसो अ मोक्खविणओ पंचविहो होइ नायव्वो ॥ ३१४ ॥
दव्वाण सव्वभावा उवइट्ठा जे जहा जिणवरेहिं । ते तह सद्दहइ नरो दंसणविणओ हवइ तम्हा ॥ ३१५ ॥
नाणं सिक्खइ नाणं गुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं । नाणी नवं न बंधइ नाणविणीओ हवइ तम्हा ॥ ३१६ ॥
अट्ठविहं कम्मचयं जम्हा रित्तं करेइ जयमाणो । नवमन्नं च न बंधइ चरित्तविणओ हवइ तम्हा ॥ ३१७ ॥
अवणेइ तवेण तमं उवणेइ अ सग्गमोक्खमप्पाणं । तवविणयनिच्छयमई तवोविणीओ हवइ तम्हा ॥ ३१८ ॥
अह ओवयारिओ पुण दुविहो विणओ समासओ होइ । पडिरूवजोगजुंजण तह य अणासायणाविणओ ॥ ३१९ ॥
पडिरूवो खलु विणओ काइअजोए य वाइ माणसिओ । अट्ठ चउव्विह दुविहो परूवणा तस्सिमा होइ ॥ ३२० ॥
अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं अभिग्गह किई अ । सुस्सूसणमणुगच्छण संसाहण काय अट्ठविहो ॥ ३२१ ॥
हिअमिअअफरुसवाई अणुवीईभासि वाइओ विणओ । अकुसलचित्तनिरोहो कुसलमणउदीरणा चेव ॥ ३२२ ॥

व्याख्या–'दर्शनज्ञानचारित्रेषु' दर्शनज्ञानचारित्रविषयः 'तपसि च' तपोविषयश्च तथा 'औपचारिकश्चैव' प्रतिरूपयोगव्यापारश्चैव, एष तु मोक्षविनयो–मोक्षनिमित्तः पञ्चविधो भवति ज्ञातव्य इति गाथासमासार्थः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षविनयस्य पंच प्रकाराः सव्याख्या प्रकाश्यते

प्रत सूत्रांक ॥६४..॥

दीप अनुक्रम [४१४..]

व्यासार्थं दर्शनविनयमाह—'द्रव्याणां' धर्मास्तिकायादीनां 'सर्वभावाः' सर्वपर्यायाः 'उपदिष्टाः' कथिता 'ये' अगुरुलघ्वादयो 'यथा' येन प्रकारेण 'जिनवरैः' तीर्थकरैः 'तान्' भावान् 'तथा' तेन प्रकारेण श्रद्धत्ते नरः, श्रद्दधानश्च कर्म विनयति यस्मादर्शनविनयो भवति तस्माद्, दर्शनाद्विनयो दर्शनविनय इति गाथार्थः ॥ ज्ञानविनयमाह—'ज्ञानं शिक्षति' अपूर्वं ज्ञानमादत्ते, 'ज्ञानं गुणयति' गृहीतं सत्प्रत्यावर्त्तयति, ज्ञानेन करोति 'कृत्यानि' संयमकृत्यानि, एवं ज्ञानी नवं कर्म न बध्नाति प्राक्तनं च विनयति यस्मात् 'ज्ञान-विनीतो' ज्ञानेनापनीतकर्मा भवति तस्मादिति गाथार्थः ॥ चारित्रविनयमाह—'अष्टविधम्' अष्टप्रकारं 'कर्म-चयं' कर्मसंघातं प्रागबद्धं यस्माद् 'रिक्तं करोति' तुच्छतापादनेनापनयति 'यतमानः' क्रियायां यत्नपरः तथा नवमन्यं च कर्मचयं न बध्नाति यस्मात् 'चारित्रविनय' इति चारित्राद्विनयश्चारित्रविनयः चारित्रेण विनी-तकर्मा भवति तस्मादिति गाथार्थः ॥ तपोविनयमाह—अपनयति तपसा 'तमः' अज्ञानम् उपनयति च स्वर्गं मोक्षम् 'आत्मानं' जीवं तपोविनयनिश्चयमतिः, यस्मादेवंविधस्तपोविनीतो भवति तस्मादिति गाथार्थः ॥ उपचारविनयमाह—अथौपचारिकः पुनर्द्विविधो विनयः समासतो भवति, द्वैविध्यमेवाह–प्रतिरूपयोगयोजनं तथाऽनाशातनाविनय इति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थमाह—'प्रतिरूपः' उचितः खलु विनयस्त्रिविधः, 'कायवाङ्मनोयोगे च वाचि मानसः' कायिको वाचिको मानसश्च, अष्टचतुर्विधद्विविधः, कायिकोऽष्टविधः वाचिक-श्चतुर्विधः मानसो द्विविधः। प्ररूपणा तस्य कायिकाष्टविधादेरियं भवति वक्ष्यमाणलक्षणेति गाथार्थः ॥

दश० ४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६४..॥

दीप अनुक्रम [४१४..]

॥ २४१ ॥

कायिकमाह—अभ्युत्थानमर्हस्य, अञ्जलिः प्रश्नादौ, आसनदानं पीठकाद्युपनयनम्, अभिग्रहो गुरुनियोगकरणाभिसंधिः, 'कृतिश्चे'ति कृतिकर्म वन्दनमित्यर्थः, 'शुश्रूषणं' विधिवददूरासन्नतया सेवनं, 'अनुगमनम्' आगच्छतः प्रत्युद्गमनं, 'संसाधनं च' गच्छतोऽनुव्रजनं चाष्टविधः कायविनय इति गाथार्थः ॥ वागादिविनयमाह—'हितमितापरुषवा'गिति हितवाक्-हितं वक्ति परिणामसुन्दरं, मितवाग्–मितं स्तोकैरक्षरैः, अपरुषवागपरुषम्–अनिष्ठुरं, तथा 'अनुविचिन्त्यभाषी' स्वालोचितवक्तेति वाचिको विनयः । तथा अकुशलमनोनिरोधः आर्तध्यानादिप्रतिषेधेन, कुशलमनउदीरणं चैव धर्मध्यानादिप्रवृत्त्येति मानस इति गाथार्थः ॥ आह–किमर्थमयं प्रतिरूपविनयः?, कस्य चैष इति?, उच्यते—

पडिरूवो खलु विणओ पराणुअत्तिमइओ मुणेअव्वो । अप्पडिरूवो विणओ नायव्वो केवलीणं तु ॥ ३२३ ॥ एसो भे परिकहिओ विणओ पडिरूवलक्खणो तिविहो । बावन्नविहिविहाणं वेंति अणासायणाविणयं ॥ ३२४ ॥ तित्थगरसिद्धकुलगणसंघकियाधम्मनाणनाणीणं । आयरिअथेरओज्झागणीणं तेरस पयाणि ॥ ३२५ ॥ अणसायणा य भत्ती बहुमाणो तहय वन्नसंजलणा । तित्थगराई तेरस चउग्गुणा होंति बावन्ना ॥ ३२६ ॥

व्याख्या–'प्रतिरूपः' उचितः खलु विनयः 'परानुवृत्त्यात्मकः' तत्तद्वस्त्वपेक्षया प्राय आत्मव्यतिरिक्तप्रधानानुवृत्त्यात्मको मन्तव्यः । अयं च बाहुल्येन छद्मस्थानां । तथा 'अप्रतिरूपो विनयः' अपरानुवृत्त्यात्मकः, स च ज्ञातव्यः केवलिनामेव, तेषां तेनैव प्रकारेण कर्मविनयनात्, तेषामपीत्वरः प्रतिरूपोऽज्ञातकेवलभावानां

॥ २४१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६४..||

दीप अनुक्रम [४१४..]

भवत्येवेति गाथार्थः ॥ उपसंहरन्नाह—'एषः' अनन्तरोदितो 'भे' भवतां परिकथितो विनयः प्रतिरूपलक्षणः 'त्रिविधः' कायिकादिः 'द्विपञ्चाशद्विधिविधानम्' एतावत्प्रभेदमित्यर्थः 'ब्रुवते' अभिदधति तीर्थकरा 'अनाशातनाविनयं' वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ एतदेवाह—तीर्थकरसिद्धकुलगणसङ्घक्रियाधर्मज्ञानज्ञानिनां तथा आचार्यस्थविरोपाध्यायगणिनां संबन्धीनि त्रयोदश पदानि, अत्र तीर्थकरसिद्धौ प्रसिद्धौ, कुलं नागेन्द्रकुलादि, गणः कोटिकादिः, सङ्घः प्रतीतः, क्रियाऽस्तिवादरूपा, धर्मः श्रुतधर्मादिः, ज्ञानं मत्यादि, ज्ञानिनस्तद्वन्तः, आचार्यः प्रतीतः, स्थविरः सीदतां स्थिरीकरणहेतुः, उपाध्यायः प्रतीतः, गणाधिपतिर्गणिरिति गाथार्थः ॥ एतानि त्रयोदश पदानि अनाशातनादिभिश्चतुर्भिर्गुणितानि द्विपञ्चाशद्भवन्तीत्याह—अनाशातना च तीर्थकरादीनां सर्वथा अहीलनेत्यर्थः, तथा भक्तिस्तेष्वेवोचितोपचाररूपा, तथा बहुमानस्तेष्वेवान्तरभावप्रतिबन्धरूपः, तथा च वर्णसंज्वलना–तीर्थकरादीनामेव सद्भूतगुणोत्कीर्तना । एवमनेन प्रकारेण तीर्थकरादयस्त्रयोदश चतुर्गुणा अनाशातनाद्युपाधिभेदेन भवन्ति द्विपञ्चाशद्भेदा इति गाथार्थः ॥ उक्तो विनयः, साम्प्रतं समाधिरुच्यते, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यादिसमाधिमाह—

दव्वं जेण व दव्वेण समाही आहिअं च जं दव्वं । भावसमाहि चउव्विह दंसणनाणे तवचरित्ते ॥ ३२७ ॥

व्याख्या–'द्रव्य'मिति द्रव्यमेव समाधिः द्रव्यसमाधिः यथा मात्रकम् अविरोधि वा क्षीरगुडादि तथा येन वा द्रव्येणोपयुक्तेन समाधिस्त्रिफलादिना तद् द्रव्यसमाधिरिति । तथा आहितं वा यद्द्रव्यं समतां करोति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

समाधेः द्रव्यादि भेदाः कथयते

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४१५]

तुलारोपितपलशतादिवत्स्वस्थाने तद् द्रव्यं समाधिरिति । उक्तो द्रव्यसमाधिः, भावसमाधिमाह—'भाव-समाधिः' प्रशस्तभावाविरोधलक्षणश्चतुर्विधः, चातुर्विध्यमेवाह–दर्शनज्ञानतपश्चारित्रेषु । एतद्विषयो दर्शनादीनां व्यस्तानां समस्तानां वा सर्वथाऽविरोध इति गाथार्थः ॥ उक्तः समाधिः, तदभिधानान्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादिचर्चः पूर्ववत् तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे । सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ १ ॥

'थंभा व'त्ति, अस्य व्याख्या—'स्तम्भाद्वा' मानाद्वा जात्यादिनिमित्तात् 'क्रोधाद्वा' अक्षान्तिलक्षणात् 'मायाप्रमादा'दिति मायातो–निकृतिरूपायाः प्रमादाद्–निद्रादेः सकाशात्, किमित्याह—'गुरोः सकाशे' आचार्यादेः समीपे 'विनयम्' आसेवनाशिक्षाभेदभिन्नं 'न शिक्षते' नोपादत्ते, तत्र स्तम्भात्कथमहं जात्यादिमान् जात्यादिहीनसकाशे शिक्षामीति, एवं क्रोधात्क्वचिद्वितथकरणचोदितो रोषाद्वा, मायातः शूलं मे क्रियत इत्यादिव्याजेन, प्रमादात्प्रक्रान्तोचितमनवबुद्ध्यमानो निद्रादिव्यासङ्गेन, स्तम्भादिक्रमोपन्यासश्चेत्थमेवामीषां विनयविघ्नहेतुतामाश्रित्य प्राधान्यख्यापनार्थः । तदेवं स्तम्भादिभ्यो गुरोः सकाशे विनयं न शि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४१५]

क्षते, अन्ये तु पठन्ति–गुरोः सकाशे 'विनये न तिष्ठति' विनये न वर्त्तते, विनयं नासेवत इत्यर्थः। इह च 'स एव तु' स्तम्भादिर्विनयशिक्षाविघ्नहेतुः 'तस्य' जडमतेः 'अभूतिभाव' इति अभूतेर्भावोऽभूतिभावः, असंपद्भाव इत्यर्थः, किमित्याह—'वधाय भवति' गुणलक्षणभावप्राणविनाशाय भवति, दृष्टान्तमाह—'फलमिव कीचकस्य' कीचको–वंशस्तस्य यथा फलं वधाय भवति, सति तस्मिंस्तस्य विनाशात्, तद्वदिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

जे आवि मंदित्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा । हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायण ते गुरूणं ॥ २ ॥ पगईइ मंदावि भवंति एगे, डहरावि अ जे सुअबुद्धोववेआ । आयारमंतो गुणसुट्ठिअप्पा, जे हीलिआ सिहिरिव भास कुज्जा ॥ ३ ॥ जे आवि नागं डहरंति नच्चा, आसायए से अहिआय होइ । एवायरिअंपि हु हीलयंतो, निअच्छई जाइपहं खु मंदो ॥ ४ ॥ आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा? । आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ॥ ५ ॥ जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा, आसीविसं वावि हु कोव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१०॥

दीप अनुक्रम [४१६--४२४]

इज्जा । जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ६ ॥ सिआ हु से पावय नो डहिज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे । सिआ विसं हालहलं न मारे, न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ७ ॥ जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे, सुत्तं व सीहं पडिबोहइज्जा । जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ८ ॥ सिआ हु सीसेण गिरिंपि भिंदे, सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे । सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं, न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ९ ॥ आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो । तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥ १० ॥

किं च—'जे आवि'त्ति सूत्रं, ये चापि केचन द्रव्यसाधवोऽगम्भीराः, किमित्याह—'मन्द इति गुरुं विदित्वा' क्षयोपशमवैचित्र्यात्तन्नयुक्त्यालोचनाऽसमर्थः सत्प्रज्ञाविकल इति स्वमाचार्यं ज्ञात्वा । तथा कारणान्तरस्थापितमप्राप्तवयसं 'डहरोऽयम्' अप्राप्तवयाः खल्वयं, तथा 'अल्पश्रुत' इत्यनधीतागम इति विज्ञाय, किमित्याह—'हीलयन्ति' सूयया ऽसूयया वा खिंसयन्ति, सूयया अतिप्रज्ञस्त्वं वयोवृद्धो बहुश्रुत इति, असू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१०॥

दीप अनुक्रम [४१६--४२४]

यया तु मन्दप्रज्ञस्त्वमित्याद्यभिदधति, 'मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमाना' इति गुरुर्न हीलनीय इति तत्त्वमन्यथाऽवगच्छन्तः कुर्वन्ति 'आशातनां' लघुतापादनरूपां 'ते' द्रव्यसाधवः 'गुरूणाम्' आचार्याणां, तत्स्थापनाया अबहुमानेन एकगुर्वाशातनायां सर्वेषामाशातनेति बहुवचनम्, अथवा कुर्वन्ति 'आशातनां' स्वसम्यग्दर्शनादिभावापह्नासरूपां ते गुरूणां संबन्धिनीं, तन्निमित्तत्वादिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ अतो न कार्या हीलनेति, आह च—'पगइ'त्ति सूत्रं, 'प्रकृत्या' स्वभावेन कर्मवैचित्र्यात् 'मन्दा अपि' सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्ति 'एके' केचन वयोवृद्धा अपि तथा 'डहरा अपि च' अपरिणता अपि च वयसाऽन्येऽमन्दा भवन्तीति वाक्यशेषः, किंविशिष्टा इत्याह—ये च 'श्रुतबुद्ध्युपपेताः' तथा सत्प्रज्ञावन्तः श्रुतेन बुद्धिभावेन वा, भाविनीं वृत्तिमाश्रित्याल्पश्रुता इति, सर्वथा 'आचारवन्तो' ज्ञानाद्याचारसमन्विताः 'गुणसुस्थितात्मानो' गुणेषु-संग्रहोपग्रहादिषु सुष्ठु–भावसारं स्थित आत्मा येषां ते तथाविधा न हीलनीयाः, ये 'हीलिताः' खिंसिताः 'शिखीव' अग्निरिवेन्धनसंघातं 'भस्मसात्कुर्युः' ज्ञानादिगुणसंघातमपनयेयुरिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ विशेषेण डहरहीलनादोषमाह—'जे आवि'त्ति सूत्रं, यश्चापि कश्चिदज्ञो 'नागं' सर्पं 'डहर इति' बाल इति 'ज्ञात्वा' विज्ञाय 'आशातयति' किलिञ्चादिना कदर्थयति 'स' कदर्थ्यमानो नागः 'से' तस्य कदर्थकस्य 'अहिताय भवति' भक्षणेन प्राणनाशाय भवति, एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः–एवमाचार्यमपि कारणतोऽपरिणतमेव स्थापितं हीलयन् निर्गच्छति 'जातिपन्थानं' द्वीन्द्रियादिजातिमार्गं 'मन्दः' अज्ञः, संसारे परिभ्रमतीति सूत्रार्थः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२-१०||

दीप अनुक्रम [४१६--४२४]

॥ ४ ॥ अत्रैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्महदन्तरमित्येतदाह—'आसि'त्ति सूत्रं, 'आशीविषश्चापि' सर्पोऽपि परं 'सुरुष्टः' सुकुद्धः सन् किं 'जीवितनाशात्' मृत्योः परं कुर्यात्?, न किंचिदपीत्यर्थः, आचार्यपादाः पुनः 'अप्रसन्ना' हीलनयाऽननुग्रहे प्रवृत्ताः, किं कुर्वन्तीत्याह—'अबोधिं' निमित्तहेतुत्वेन मिथ्यात्वसंहतिं, तदाशातनया मिथ्यात्वबन्धात्, यतश्चैवमत आशातनया गुरोर्नास्ति मोक्ष इति, अबोधिसंतानानुबन्धेनानन्तसंसारिकत्वादिति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ किं च—'जो पावगं'ति सूत्रं, यः 'पावकम्' अग्निं ज्वलितं सन्तम् 'अपक्रामेद्' अवष्टभ्य तिष्ठति, 'आशीविषं वापि हि' भुजङ्गमं वापि हि 'कोपयेत्' रोषं ग्राहयेत्, यो वा विषं खादति 'जीवितार्थी' जीवितुकामः, 'एषोपमा' अपायप्राप्तिं प्रत्येतदुपमानम्, आशातनया कृतया गुरूणां संबन्धिन्या तद्वदपायो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ अत्र विशेषमाह—'सिआ हु'त्ति सूत्रं, 'स्यात्' कदाचिन्मन्त्रादिप्रतिबन्धादसौ 'पावकः' अग्निः 'न दहेत्' न भस्मसात्कुर्यात्, 'आशीविषो वा' भुजङ्गो वा कुपितो 'न भक्षयेत्' न खादयेत्, तथा 'स्यात्' कदाचिन्मन्त्रादिप्रतिबन्धादेव विषं 'हालाहलम्' अतिरौद्रं 'न मारयेत्' न प्राणांस्त्याजयेत्, एवमेतत्कदाचिद्भवति न चापि मोक्षो 'गुरुहीलनया' गुरोराशातनया कृतया भवतीति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ किंच—'जो पव्वयं'ति सूत्रं, यः पर्वतं 'शिरसा' उत्तमाङ्गेन भेत्तुमिच्छेत्, सुप्तं वा सिंहं गिरिगुहायां प्रतिबोधयेत्, यो वा ददाति 'शक्त्यग्रे' प्रहरणविशेषाग्रे प्रहारं हस्तेन, एषोपमाऽऽशातनया गुरूणामिति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ अत्र विशेषमाह—'सिआ हु'त्ति सूत्रं, 'स्यात्' कदाचित्कश्चिद्वासु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१०॥

दीप अनुक्रम [४१६--४२४]

देवादिः प्रभावातिशयाच्छिरसा 'गिरिमपि' पर्वतमपि भिन्द्यात्, स्यान्मन्त्रादिसामर्थ्यात्सिंहः कुपितो न भक्षयेत्, स्याद्देवतानुग्रहादेर्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रं प्रहारे दत्तेऽपि, एवमेतत्कदाचिद्भवति, न चापि मोक्षो 'गुरुहीलनया' गुरोराशातनया भवतीति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ एवं पावकाद्याशातनाया गुर्वाशातना महतीत्यतिशयप्रदर्शनार्थमाह—'आयरिअ'त्ति सूत्रं, आचार्यपादाः पुनरप्रसन्ना इत्यादि पूर्वार्धं पूर्ववत्, यस्मादेवं तस्माद् 'अनाबाधसुखाभिकाङ्क्षी' मोक्षसुखाभिलाषी साधुः 'गुरुप्रसादाभिमुखः' आचार्यादिप्रसाद उद्युक्तः सन् 'रमेत' वर्तेत इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं । एवायरिअं उवचिट्ठइज्जा, अणंतनाणोवगओऽवि संतो ॥ ११ ॥ जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे । सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं ॥ १२ ॥ लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं । जे मे गुरू सययमणुसासयंति, तेऽहं गुरू सययं पूअयामि ॥ १३ ॥ जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासई केवल भारहं तु । एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए, विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥ १४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१७॥

दीप अनुक्रम [४२५--४३१]

जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो, नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा । खे सोहई विमले अब्भ-
मुक्के, एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥ १५ ॥ महागरा आयरिआ महेसी, समाहि-
जोगेसुअसीलबुद्धिए । संपाविउकामे अणुत्तराइं, आराहए तोसइ धम्मकामी ॥ १६ ॥
सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं, सुस्सूसए आयरिअप्पमत्तो । आराहइत्ताण गुणे अणेगे,
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥१७॥ ति बेमि । विणयसमाहीए पढमो उद्देसो समत्तो ॥९–१॥

केन प्रकारेणेत्याह—'जहाहिअग्गि'त्ति सूत्रं, यथा 'आहिताग्निः' कृतावसथादिर्ब्राह्मणो 'ज्वलनम्' अग्निं नमस्यति, किंविशिष्टमित्याह—'नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तं' तत्राहुतयो–घृतप्रक्षेपादिलक्षणा मन्त्रपदानि–अग्नये स्वाहेत्येवमादीनि तैरभिषिक्तं–दीक्षासंस्कृतमित्यर्थः, 'एवम्' अग्निमिवाचार्यम् 'उपतिष्ठेत्' विनयेन सेवेत, किंविशिष्ट इत्याह—'अनन्तज्ञानोपगतोऽपी'ति अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया वस्तु ज्ञायते येन तदनन्त-ज्ञानं तदुपगतोऽपि सन्, किमङ्ग पुनरन्य इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'जस्स'त्ति सूत्रं, 'यस्या-न्तिके' यस्य समीपे 'धर्मपदानि' धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि 'शिक्षेत' आदद्यात् 'तस्यान्तिके' तत्समीपे किमित्याह—'वैनयिकं प्रयुञ्जीत' विनय एव वैनयिकं तत्कुर्यादिति भावः, कथमित्याह–सत्कारयेदभ्युत्था-

॥ २४५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१७॥

दीप अनुक्रम [४२५--४३१]

नादिना पूर्वोक्तेन 'शिरसा' उत्तमाङ्गेन 'प्राञ्जलिः' प्रोद्गताञ्जलिः सन् 'कायेन' देहेन 'गिरा' वाचा मस्तकेन वन्दे इत्यादिरूपया 'भो' इति शिष्यामन्त्रणं 'मनसा च' भावप्रतिबन्धरूपेण 'नित्यं' सदैव सत्कारयेत्, न तु सूत्रग्रहणकाल एव, कुशलानुबन्धव्यवच्छेदप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ एवं च मनसि कुर्यादित्याह—'लज्जा दय'त्ति सूत्रं, 'लज्जा' अपवादभयरूपा 'दया' अनुकम्पा 'संयमः' पृथिव्यादिजीवविषयः 'ब्रह्मचर्यं' विशुद्धतपोऽनुष्ठानम्, एतल्लज्जादि विपक्षव्यावृत्त्या कुशलपक्षप्रवर्त्तकत्वेन कल्याणभागिनो जीवस्य 'विशोधिस्थानं' कर्ममलापनयनस्थानं वर्त्तते, अनेन ये मां 'गुरव' आचार्याः 'सततम्' अनवरतम् 'अनुशासयन्ति' कल्याणयोग्यतां नयन्ति तानहमेवंभूतान् गुरून् सततं पूजयामि, न तेभ्योऽन्यः पूजार्ह इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ इतश्चैते पूज्या इत्याह—'जह'त्ति सूत्रं, यथा 'निशान्ते' रात्र्यवसाने दिवस इत्यर्थः, तपन् 'अर्चिर्माली' सूर्यः 'प्रभासयति' उद्योतयति 'केवलं' संपूर्णं 'भारतं' भरतक्षेत्रं, तुशब्दादन्यच्च क्रमेण एवम्—अर्चिर्मालीवाचार्यः 'श्रुतेन' आगमेन 'शीलेन' परद्रोहविरतिरूपेण 'बुद्ध्या च' स्वाभाविक्या युक्तः सन् प्रकाशयति जीवादिभावानिति । एवं च वर्त्तमानः सुसाधुभिः परिवृतो विराजते 'सुरमध्य इव' सामानिकादिमध्यगत इव इन्द्र इति सूत्रार्थः॥१४॥ किंच—'जह'त्ति सूत्रं, यथा 'शशी' चन्द्रः 'कौमुदीयोगयुक्तः' कार्त्तिकपौर्णमास्यामुदित इत्यर्थः, स एव विशेष्यते—'नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा' नक्षत्रादिभिर्युक्त इति भावः, 'खे' आकाशे शोभते, किंविशिष्टे खे?—'विमलेऽभ्रमुक्ते' अभ्रमुक्तमेवात्यन्तं विमलं (तत्) भवतीति ख्यापनार्थमेतत्, एवं चन्द्र इव 'गणी'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१७॥

दीप अनुक्रम [४२५--४३१]

(तत्) आचार्यः शोभते 'भिक्षुमध्ये' साधुमध्ये, अतोऽयं महत्त्वात्पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ किंच—'महागर'त्ति सूत्रं, महाकरा ज्ञानादिभावरत्नापेक्षया आचार्या 'महैषिणो' मोक्षैषिणः, कथं महैषिण इत्याह—'समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिभिः' समाधियोगैः–ध्यानविशेषैः श्रुतेन–द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन–परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया, अन्ये तु व्याचक्षते–समाधियोगश्रुतशीलबुद्धीनां महाकरा इति । तानेवंभूतानाचार्यान् संप्राप्तुकामोऽनुत्तराणि ज्ञानादीनि आराधयेद्विनयकरणेन, न सकृदेव, अपि तु 'तोषयेद्' असकृत्करणेन तोषं ग्राहयेत् धर्मकामो–निर्जरार्थं, न तु ज्ञानादिफलापेक्षयाऽपीति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ 'सोच्चाण'त्ति सूत्रं, श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि गुर्वाराधनफलाभिधायीनि, किमित्याह–शुश्रूषयेदाचार्यान् 'अप्रमत्तो' निद्रादिरहितस्तदाज्ञां कुर्वीतेत्यर्थः, य एवं गुरुशुश्रूषापरः स आराध्य 'गुणान्' अनेकान् ज्ञानादीन् प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तरां, मुक्तिमित्यर्थः, अनन्तरं सुकुलादिपरम्परया वा । ब्रवीमीति पूर्ववदयं सूत्रार्थः ॥ १७॥

इति श्रीदशवैकालिकटीकायां श्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां नवमाध्ययने प्रथम उद्देशकः ॥ १ ॥

अथ द्वितीय उद्देशः ।

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुविंति साहा । साहप्पसाहा विरुहंति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अत्र नवमे अध्ययने प्रथम उद्देशकः परिसमाप्तः तथा द्वितिय उद्देशकः आरब्धः

प्रत सूत्रांक ॥१-२॥

दीप अनुक्रम [४३२--४३३]

पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो अ ॥ १ ॥ एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो । जेण किर्त्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥ २ ॥

विनयाधिकारवानेव द्वितीय उच्यते, तत्रेदमादिमं सूत्रं—'मूलाउ' इत्यादि, अस्य व्याख्या—'मूलाद्' आदिप्रबन्धात् 'स्कन्धप्रभवः' स्थुडोत्पादः, कस्येत्याह—'द्रुमस्य' वृक्षस्य । 'ततः' स्कन्धात् सकाशात् 'पश्चात्' तदनु 'समुपयान्ति' आत्मानं प्रापुवन्त्युत्पद्यन्त इत्यर्थः, कास्ता इत्याह—'शाखाः' तद्भुजाकल्पाः । तथा 'शाखाभ्य' उक्तलक्षणाभ्यः प्रशाखास्तदंशभूता 'विरोहन्ति' जायन्ते, तथा तेभ्योऽपि 'पत्राणि' पर्णानि विरोहन्ति । 'ततः' तदनन्तरं 'से' तस्य द्रुमस्य पुष्पं च फलं च रसश्च फलगत एवैते क्रमेण भवन्तीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—'एवं'ति सूत्रं, 'एवं' द्रुममूलवत् धर्मस्य परमकल्पवृक्षस्य विनयो 'मूलम्' आदिप्रबन्धरूपं 'परम' इत्यग्रो रसः 'से' तस्य फलरसवन्मोक्षः, स्कन्धादिकल्पानि तु देवलोकगमनसुकुलागमनादीनि, अतो विनयः कर्तव्यः, किंविशिष्ट इत्याह—'येन' विनयेन 'कीर्त्तिं' सर्वत्र शुभप्रवादरूपां तथा 'श्रुतम्' अङ्गप्रविष्टादि 'श्लाघ्यं' प्रशंसास्पदभूतं 'निःशेषं' संपूर्णम् 'अधिगच्छति' प्राप्नोतीति ॥ २ ॥

जे अ चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे । वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगयं

दश० ४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३-४॥

दीप अनुक्रम [४३४--४३५]

जहा ॥ ३ ॥ विणयंपि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो । दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं, दंडेण पडिसेहए ॥ ४ ॥

अविनयवतो दोषमाह—'जे अ'त्ति सूत्रं, यः 'चण्डो' रोषणो 'मृगः' अज्ञः हितमप्युक्तो रुष्यति तथा 'स्तब्धो' जात्यादिमदोन्मत्तः 'दुर्वाग्' अप्रियवक्ता 'निकृतिमान्' मायोपेतः 'शठः' संयमयोगेष्वनादृतः, एभ्यो दोषेभ्यो विनयं न करोति यः उच्यतेऽसौ पापः संसारस्रोतसा 'अविनीतात्मा' सकलकल्याणैकनिबन्धनविनयविरहितः । किमिवेत्याह–काष्ठं 'स्रोतोगतं' नद्यादिवहनीपतितं यथा तद्वदिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ किं च— 'विणयंपी'ति सूत्रं, 'विनयम्' उक्तलक्षणं यः 'उपायेनापि' एकान्तमृदुभणनादिलक्षणेनापि अपिशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः 'चोदित' उक्तः 'कुप्यति' रुष्यति नरः । अत्र निदर्शनमाह—'दिव्याम्' अमानुषीम् 'असौ' नरः 'श्रियं' लक्ष्मीम् 'आगच्छन्तीम्' आत्मनो भवन्तीं 'दण्डेन' काष्ठमयेन 'प्रतिषेधयति' निवारयति । एतदुक्तं भवति–विनयः संपदो निमित्तं, तत्र स्खलितं यदि कश्चिच्चोदयति स गुणस्तत्रापि रोषकरणेन वस्तुतः संपदो निषेधः, उदाहरणं चात्र दशारादयः कुरूपागतश्रीप्रार्थनाप्रणयभङ्गकारिणस्तद्रहितास्तदभङ्गकारी च तद्युक्तः कृष्ण इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

तहेव अविणीअप्पा, उववज्झा हया गया । दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||५-६||

दीप अनुक्रम [४३६--४३७]

॥ ५ ॥ तहेव सुविणीअप्पा, उववज्झा हया गया । दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ६ ॥

अविनयदोषोपदर्शनार्थमेवाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैवे'ति तथवैते 'अविनीतात्मानो' विनयरहिता अनात्मज्ञाः, उपवाह्यानां–राजादिवल्लभानामेते कर्मकरा इत्यौपवाह्याः 'हया' अश्वाः 'गजा' हस्तिनः, उपलक्षणमेतन्महिषकादीनामिति। एते किमित्याह—'दृश्यन्ते' उपलभ्यन्त एव मन्दुरादौ अविनयदोषेण उभयलोकवर्त्तिना यवसादिवोढारः 'दुःखं' संक्लेशलक्षणम् 'एधयन्तः' अनेकार्थत्वादनुभवन्तः 'आभियोग्यं' कर्मकरभावम् 'उपस्थिताः' प्राप्ता इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ एतेष्वेव विनयगुणमाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैवे'ति तथैवैते 'सुविनीतात्मानो' विनयवन्त आत्मज्ञा औपवाह्या राजादीनां हया गजा इति पूर्ववत्। एते किमित्याह—'दृश्यन्ते' उपलभ्यन्त एव सुखम्–आह्लादलक्षणम् 'एधमाना' अनुभवन्तः 'शुद्धिं प्राप्ता' इति विशिष्टभूषणालयभोजनादिभावतः प्राप्तर्द्धयो 'महायशसो' विख्यातसद्गुणा इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

तहेव अविणीअप्पा, लोगंमि नरनारिओ । दीसंति दुहमेहंता, छाया विगलितेंदिआ ॥ ७ ॥ दंडसत्थापरिज्जुन्ना, असब्भवयणेहि अ । कलुणाविवन्नच्छंदा, खुप्पि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७-९॥

दीप अनुक्रम [४३८--४४०]

वासाइपरिगया ॥ ८ ॥ तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ । दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ९ ॥

एतदेव विनयाविनयफलं मनुष्यानधिकृत्याह—'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैव' तिर्यञ्च इव अविनीतात्मान इति पूर्ववत्। 'लोके' अस्मिन्मनुष्यलोके, नरनार्य इति प्रकटार्थं दृश्यन्ते दुःखमेधमाना इति पूर्ववत् 'छारा(ताः)' कस घातव्रणाङ्कितशरीराः 'विगलितेन्द्रिया' अपनीतनासिकादीन्द्रियाः पारदारिकादय इति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ तथा 'दंड'त्ति सूत्रं, दण्डा–वेत्रदण्डादयः शस्त्राणि–खड्गादीनि ताभ्यां परिजीर्णाः–समन्ततो दुर्बलभावमापादिताः तथा 'असभ्यवचनैश्च' खरकर्कशादिभिः परिजीर्णाः, त एवंभूताः सतां करुणाहेतुत्वात्करुणा–दीना व्यापन्नच्छन्दसः–परायत्ततया अपेतस्वाभिप्रायाः, क्षुधा–बुभुक्षया पिपासया–तृषा परिगता–व्याप्ता अन्नादिनिरोधस्तोकदानाभ्यामिति । एवमिह लोके प्रागविनयोपात्तकर्मानुभावत एवंभूताः परलोके तु कुशलाप्रवृत्तेर्दुःखिततरा विज्ञेया इति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ विनयफलमाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैव' विनीततिर्यञ्च इव सुविनीतात्मानो लोकेऽस्मिन्नरनार्य इति पूर्ववत् । दृश्यन्ते सुखमेधमानाः शुद्धिं प्राप्ता महायशस इति पूर्ववदेव, नवरं स्वाराधितनृपगुरुजना उभयलोकसाफल्यकारिण एत इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

तहेव अविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा । दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१०-११||

दीप अनुक्रम [४४१--४४२]

ट्ठिआ ॥ १० ॥ तहेव सुविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा । दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ ११ ॥

एतदेव विनयाविनयफलं देवानधिकृत्याह—'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैव' यथा नरनार्यः 'अविनीतात्मानो' भवान्तरेऽकृतविनयाः 'देवा' वैमानिका ज्योतिष्का 'यक्षाश्च' व्यन्तराश्च 'गुह्यका' भवनवासिनः, त एते दृश्यन्ते आगमभावचक्षुषा दुःखमेधमानाः पराज्ञाकरणपरवृद्धिदर्शनादिना, आभियोग्यमुपस्थिताः–अभियोगः–आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीत्यभियोगी तद्भाव आभियोग्यं कर्मकरभावमित्यर्थः उपस्थिताः–प्राप्ता इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ विनयफलमाह—'तहेव'त्ति सूत्रं, 'तथैवे'ति पूर्ववत्, 'सुविनीतात्मानो' जन्मान्तरकृतविनया निरतिचारधर्माराधका इत्यर्थः, देवा यक्षाश्च गुह्यका इति पूर्ववदेव, दृश्यन्ते सुखमेधमाना अर्हत्कल्याणादिषु 'ऋद्धिं प्राप्ता' इति देवाधिपादिप्राप्तर्द्धयो 'महायशसो' विख्यातसद्गुणा इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

जे आयरिअउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा । तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥ १२ ॥ अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा णेउणिआणि अ । गिहिणो उवभोगट्ठा, इहलोगस्स कारणा ॥ १३ ॥ जेणं बंधं वहं घोरं, परिआवं च दारुणं । सिक्खमाणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२-१६॥

दीप अनुक्रम [४४३--४४७]

निअच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिआ ॥ १४ ॥ तेऽवि तं गुरुं पूअंति, तस्स सिप्पस्स कारणा । सक्कारंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥ १५ ॥ किं पुणं जे सुअग्गाही, अणंतहिअकामए । आयरिआ जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइवत्तए ॥ १६ ॥

एवं नारकापोहेन व्यवहारतो येषु सुखदुःखसंभवस्तेषु विनयाविनयफलमुक्तम्, अधुना विशेषतो लोकोत्तरविनयफलमाह—'जे आयरिअ'त्ति सूत्रं, य आचार्योपाध्याययोः–प्रतीतयोः 'शुश्रूषावचनकराः' पूजाप्रधानवचनकरणशीलास्तेषां पुण्यभाजां 'शिक्षा' ग्रहणासेवनालक्षणा भावार्थरूपाः 'प्रवर्द्धन्ते' वृद्धिमुपयान्ति, दृष्टान्तमाह–जलसिक्ता इव 'पादपा' वृक्षा इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ एतच्च मनस्याधाय विनयः कार्य इत्याह— 'आत्मार्थम्' आत्मनिमित्तमनेन मे जीविका भविष्यतीति, एवं 'परार्थं वा' परनिमित्तं वा पुत्रमहमेतद्ग्राहयिष्यामीत्येवं 'शिल्पानि' कुम्भकारक्रियादीनि 'नैपुण्यानि च' आलेख्यादिकलालक्षणानि 'गृहिणः' असंयता 'उपभोगार्थम्' अन्नपानादिभोगाय, शिक्षन्त इति वाक्यशेषः 'इहलोकस्य कारणम्' इहलोकनिमित्तमिति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ 'येन' शिल्पादिना शिक्ष्यमाणेन 'बन्धं' निगडादिभिः 'वधं' कषादिभिः 'घोरं' रौद्रं परितापं च 'दारुणम्' एतज्जनितमनिष्टं निर्भर्त्सनादिवचनजनितं च शिक्षमाणा गुरोः सकाशात् 'नियच्छन्ति' प्राप्नुवन्ति 'युक्ता' इति नियुक्ताः शिल्पादिग्रहणे ते 'ललितेन्द्रिया' गर्भेश्वरा राजपुत्रादय इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२-१६॥

दीप अनुक्रम [४४३--४४७]

सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ तेऽपीत्वरं शिल्पादि शिक्षमाणास्तं गुरुं बन्धादिकारकमपि पूजयन्ति सामान्यतो मधुरवचनाभिनन्दनेन तस्य शिल्पस्येत्वरस्य कारणात्, तन्निमित्तत्वादिति भावः, तथा 'सत्कारयन्ति' वस्त्रादिना 'नमस्यन्ति' अञ्जलिप्रग्रहादिना। तुष्टा इत्यमुत इदमवाप्यत इति हृष्टा 'निर्देशवर्त्तिन' आज्ञाकारिण इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ यदि तावदेतेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति अतः–'किं' सूत्रं, किं पुनर्यः साधुः 'श्रुतग्राही' परमपुरुषप्रणीतागमग्रहणाभिलाषी 'अनन्तहितकामुकः' मोक्षं यः कामयत इत्यभिप्रायः, तेन तु सुतरां गुरवः पूजनीया इति, यतश्चैवमाचार्या यद्वदन्ति किमपि तथा तथाऽनेकप्रकारं 'भिक्षुः' साधुस्तस्मात्तदाचार्यवचनं नातिवर्त्तेत, युक्तत्वात्सर्वमेव संपादयेदिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

नीअं सिज्जं गइं ठाणं, नीअं च आसणाणि अ। नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा अ अंजलिं ॥ १७ ॥ संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि। खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणुत्ति अ ॥ १८ ॥ दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहई रहं। एवं दुबुद्धि किच्चाणं, वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥ १९ ॥ "आलवंते लवंते वा, न निसिज्जाइ पडिस्सुणे। मुत्तूण आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥" कालं छंदोवयारं च, पडिलेहित्ता ण हेउहिं। तेण तेण उवाएणं, तं तं संपडिवायए ॥ २० ॥

प्रक्षेपगाथा-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--२०॥

दीप अनुक्रम [४४८--४५२]

विनयोपायमाह–नीचां 'शय्यां' संस्तारकलक्षणामाचार्यशय्यायाः सकाशात्कुर्यादिति योगः, एवं नीचां गतिं आचार्यगतेः, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुतं यायादित्यर्थः, एवं नीचं स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमिति भावः । तथा 'नीचानि' लघुतराणि कदाचित्कारणजाते 'आसनानि' पीठकानि तस्मिन्नुपविष्टे तदनुज्ञातः सेवेत, नान्यथा, तथा 'नीचं' च सम्यगवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, नावज्ञया, तथा कचित्प्रश्नादौ 'नीचं' नम्रकायं 'कुर्यात्' संपादयेच्चाञ्जलिं, न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ एवं कायविनयमभिधाय वाग्विनयमाह—'संघट्टिय' स्पृष्ट्वा 'कायेन' देहेन कथंचित्तथाविधप्रदेशोपविष्टमाचार्यं तथा 'उपधिनापि' कल्पादिना कथंचित्संघट्ट्य मिथ्यादुष्कृतपुरःसरमभिवन्द्य 'क्षमस्व' सहस्व 'अपराधं' दोषं मे मन्दभाग्यस्यैवं 'वदेद्' ब्रूयात् 'न पुनरिति च' नाहमेनं भूयः करिष्यामीति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ एतच्च बुद्धिमान् स्वयमेव करोति, तदन्यस्तु कथमित्याह—'दुर्गौरिव' गलिबलीवर्दवत् 'प्रतोदेन' आरादण्डलक्षणेन 'चोदितो' विद्धः सन् 'वहति' नयति क्वापि 'रथं' प्रतीतम्, 'एवं' दुर्गौरिव 'दुर्बुद्धिः' अहितावहबुद्धिः शिष्यः 'कृत्यानाम्' आचार्यादीनां 'कृत्यानि वा' तदभिरुचितकार्याणि 'उक्त उक्तः' पुनः पुनरभिहित इत्यर्थः, 'प्रकरोति' निष्पादयति प्रयुङ्क्ते चेति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ एवं च कृतान्यमूनि न शोभनानीत्यतः(आह)—'कालं' शरदादिलक्षणं, 'छन्दः' तदिच्छारूपम् 'उपचारम्' आराधनाप्रकारं, चशब्दादेशादिपरिग्रहः, एतत् 'प्रत्युपेक्ष्य' ज्ञात्वा 'हेतुभिः' यथानुरूपैः कारणैः किमित्याह–तेन तेनोपायेन–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--२३॥

दीप अनुक्रम [४५३--४५५]

गृहस्थावर्जनादिना 'तत्तत्' पित्तहरादिरूपमशनादि संप्रतिपादयेत्, यथा काले शरदादौ पित्तहरादिभोजनं प्रवातनिवातादिरूपा शय्या इच्छानुलोमं वा यद्यस्य हितं रोचते च आराधनाप्रकारोऽनुलोमं भाषणं ग्रन्थाभ्यासवैयावृत्त्यकरणादि देशे अनूपदेशाद्युचितं निष्ठीवनादिभिर्हेतुभिः श्लेष्माद्याधिक्यं विज्ञाय तदुचितं संपादयेदिति सूत्रार्थः ॥ २० ॥

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणिअस्स य । जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ २१ ॥ जे आवि चंडे मइइड्ढिगारवे, पिसुणे नरे साहसहीणपेसणे । अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए, असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥ २२ ॥ निद्देसवित्ती पुण जे गुरूणं, सुअत्थधम्मा विणयंमि कोविआ । तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥ २३ ॥ त्ति बेमि ॥ विणयसमाहिअज्झयणे बीओ उद्देसो समत्तो ॥ २ ॥

किंच–विपत्तिरविनीतस्य ज्ञानादिगुणानां, संप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादिगुणानामेव, 'यस्यैतत्' ज्ञानादिप्राप्त्यप्राप्तिद्वयम् 'उभयतः' उभयाभ्यां विनयाविनयाभ्यां सकाशात् भवतीत्येवं 'ज्ञातम्' उपादेयं चैतदिति

Jain Education Inter... For Private & Personal Use Only ...jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--२३॥

दीप अनुक्रम [४५३--४५५]

भवति 'शिक्षां' ग्रहणासेवनारूपाम् 'असौ' इत्थंभूतः अधिगच्छति–प्राप्नोति, भावत उपादेयपरिज्ञानादिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ एतदेव दृढयन्नविनीतफलमाह–यश्चापि 'चण्डः' प्रव्रजितोऽपि रोषणः 'ऋद्धिगौरवमतिः' ऋद्धिगौरवे अभिनिविष्टः 'पिशुनः' पृष्ठिमांसखादकः 'नरो' नरव्यञ्जनो न भावनरः 'साहसिकः' अकृत्यकरणपरः 'हीनप्रेषणः' हीनगुर्वाज्ञापरः 'अदृष्टधर्मा' सम्यगनुपलब्धश्रुतादिधर्मा 'विनयेऽकोविदो' विनयविषयेऽपण्डितः 'असंविभागी' यत्र क्वचन लाभे न संविभागवान्। य इत्थंभूतोऽधमो नैव तस्य मोक्षः, सम्यग्दृष्टेश्चारित्रवत इत्थंविधसंक्लेशाभावादितिसूत्रार्थः ॥२२॥ विनयफलाभिधानेनोपसंहरन्नाह–निर्देश–आज्ञा तद्वर्त्तिनः पुनर्ये 'गुरूणाम्' आचार्यादीनां 'श्रुतार्थधर्मा' इति प्राकृतशैल्या श्रुतधर्मार्था गीतार्था इत्यर्थः, विनये कर्त्तव्ये कोविदा–विपश्चितो य इत्थंभूतास्तीर्त्वा ते महासत्त्वा 'ओघमेनं' प्रत्यक्षोपलभ्यमानं संसारसमुद्रं दुरुत्तारं तीर्त्वैव तीर्त्वा, चरमभवं केवलित्वं च प्राप्येति भावः, ततः क्षपयित्वा कर्म निरवशेषं भवोपग्राहिसंज्ञितं गतिमुत्तमां सिद्ध्याख्यां 'गताः' प्राप्ताः । इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥

॥ इति विनयसमाधौ व्याख्यातो द्वितीय उद्देशः ॥ २ ॥

१ जं च पेसगं आयरिएहिं दिण्णं तं देसकालादीहिं हीणं करेइ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र नवमे अध्ययने द्वितीय उद्देशकः परिसमाप्तः

प्रत सूत्रांक ||१-७||

दीप अनुक्रम [४५६--४६२]

अथ तृतीय उद्देशः ।

आयरिअं अग्गिमिवाहिअग्गी, सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा । आलोइअं इंगिअमेव नच्चा, जो छंदमाराहयई स पुज्जो ॥ १ ॥ आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं । जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥ २ ॥ राय-णिएसु विणयं पउंजे, डहराऽवि अ जे परिआयजिट्ठा । नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई, उ-वायवं वक्कयरे स पुज्जो ॥ ३ ॥ अन्नायउंछं चरई विसुद्धं, जवणट्ठया समुआणं च निच्चं । अलद्धुअं नो परिदेवइज्जा, लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥ ४ ॥ संथारसिज्जास-णभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभेऽवि संते । जो एवमप्पाणभितोसइज्जा, संतोसपाह-न्नरए स पुज्जो ॥ ५ ॥ सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं । अणासए जो उ सहिज्ज कंटए, वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥ ६ ॥ मुहुत्तदुक्खा उ ह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

अथ नवमे अध्ययने तृतीय उद्देशकः आरब्धः

प्रत सूत्रांक ॥१-७॥

दीप अनुक्रम [४५६--४६२]

वंति कंटया, अओमया तेऽवि तओ सुउद्धरा । वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥

साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, इह च विनीतः पूज्य इत्युपदर्शयन्नाह—'आचार्यं' सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं वाऽन्यं ज्येष्ठार्यं, किमित्याह—'अग्निमिव' तेजस्कायमिव 'आहिताग्निः' ब्राह्मणः 'शुश्रूषमाणः' सम्यक्सेवमानः 'प्रतिजागृयात्' तत्तत्कृत्यसंपादनेनोपचरेत् । आह–यथाऽऽहिताग्निरित्यादिना प्रागिदमुक्तमेव, सत्यं, किं तु तदाचार्यमेवाङ्गीकृत्य इदं तु रत्नाधिकादिकमप्यधिकृत्योच्यते, वक्ष्यति च—'रायणीएसु विणयं'मित्यादि, प्रतिजागरणोपायमाह—'आलोकितं' निरीक्षितम् 'इङ्गितमेव च' अन्यथावृत्तिलक्षणं 'ज्ञात्वा' विज्ञायाचार्योयं 'यः' साधुः 'छन्दः' अभिप्रायमाराधयति । यथा शीते पतति प्रावरणावलोकने तदानयने, इङ्गिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्याद्यानयनेन 'स पूज्यः' स इत्थंभूतः साधुः पूजार्हः, कल्याणभागिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ प्रक्रान्ताधिकार एवाह—'आचारार्थं' ज्ञानाद्याचारनिमित्तं 'विनयम्' उक्तलक्षणं 'प्रयुङ्क्ते' करोति यः 'शुश्रूषन्' श्रोतुमिच्छन्, किमयं वक्ष्यतीत्येवम् । तदनु तेनोक्ते सति परिगृह्य वाक्यम् आचार्योयं ततश्च 'यथोपदिष्टं' यथोक्तमेव अभिकाङ्क्षन्, मायारहितः श्रद्धया कर्तुमिच्छन् विनयं प्रयुङ्क्ते, अतोऽन्यथाकरणेन 'गुरुं खि'ति आचार्यमेव 'नाशातयति' न हीलयति यः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ किं च—'रत्नाधिकेषु' ज्ञाना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनीतस्य पूज्यता प्रदर्श्यते

प्रत सूत्रांक ॥१-७॥

दीप अनुक्रम [४५६--४६२]

दि भावरत्नाभ्युच्छ्रितेषु 'विनयं' यथोचितं 'प्रयुङ्क्ते' करोति, तथा डहरा अपि च ये वयःश्रुताभ्यां 'पर्याय-ज्येष्ठाः' चिरप्रव्रजितास्तेषु विनयं प्रयुङ्क्ते, एवं च यो 'नीचत्वे' गुणाधिकान् प्रति नीचभावे वर्त्तते 'सत्यवादी' अविरुद्धवक्ता तथा 'अवपातवान्' वन्दनशीलो निकटवर्त्ती वा एवं च यो 'वाक्यकरो' गुरुनिर्देशकरणशीलः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ किं च–'अज्ञातोञ्छं' परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्धरितादि 'चरति' अटित्वाऽऽनीतं भुङ्क्ते, न तु ज्ञातस्तद्दहुमतमिति, एतदपि 'विशुद्धम्' उद्गमादिदोषरहितं, न तद्विपरीतम्, एतदपि 'यापनार्थं' संयमभरोद्वाहिशरीरपालनाय नान्यथा 'समुदानं च' उचितभिक्षालब्धं च 'नित्यं' सर्वकालं न तूञ्छमप्येकत्रैव बहुलब्धं कादाचित्कं वा, एवंभूतमपि विभागतः 'अलब्ध्वा' अनासाद्य 'न परिदेवयेत्' न खेदं यायात्, यथा–मन्दभाग्योऽहमशोभनो वाऽयं देश इति, एवं विभागतश्च 'लब्ध्वा' प्राप्योचितं 'न विकत्थते' न श्लाघां करोति–सपुण्योऽहं शोभनो वाऽयं देश इत्येवं स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ किं च–संस्तारकशय्यासनभक्तपानानि प्रतीतान्येव, एतेषु 'अल्पेच्छता' अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहणं वा अतिलाभेऽपि सति संस्तारकादीनां गृहस्थेभ्यः सकाशात् य एवमात्मानम् 'अभितोषयति' येन वा तेन वा यापयति 'संतोषप्राधान्यरतः' संतोष एव प्रधानभावे सक्तः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ इन्द्रियसमाधिद्वारेण पूज्यतामाह–शक्याः सोढुम् 'आशये'ति इदं मे भविष्यतीति प्रत्याशया, क इत्याह–कण्टका 'अयोमया' लोहात्मकाः 'उत्सहता नरेण' अर्थोद्यमवतेत्यर्थः, तथा च कुर्वन्ति केचिदयोमयकण्टकास्तरणशय-

दश० ४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-७॥

दीप अनुक्रम [४५६--४६२]

नमप्यर्थलिप्सया, न तु वाक्कण्टकाः शक्या इत्येवं व्यवस्थिते 'अनाशया' फलप्रत्याशया निरीहः सन् यस्तु सहेत कण्टकान् 'वाङ्मयान्' खरादिवागात्मकान् 'कर्णसरान्' कर्णगामिनः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'मुहूर्त्तदुःखा' अल्पकालदुःखा भवन्ति कंटका अयोमयाः, वेधकाल एव प्रायो दुःखभावात्, तेऽपि 'ततः' कायात् 'सूद्धराः' सुखेनैवोद्रियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते, वाग्दुरुक्तानि पुनः 'दुरुद्धराणि' दुःखेनोद्रियन्ते मनोलक्षवेधनाद् 'वैरानुबन्धीनि' तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति, अत एव महाभयानि, कुगतिपातादिमहाभयहेतुत्वादिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

समावयंता वयणाभिघाया, कन्नंगया दुम्मणिअं जणंति । धम्मुत्ति किच्चा परमग्ग-सूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ ८ ॥ अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं । ओहारणिं अप्पिअकारिणिं च, भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥ ९ ॥ अलोलुए अक्कुहए अमाई, अपिसुणे आवि अदीणवित्ती । नो भावए नोऽविअ भाविअप्पा, अकोउहल्ले अ सया स पुज्जो ॥ १० ॥ गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू । विआणिआ अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||८-१५||

दीप अनुक्रम [४६३--४७०]

स पुज्जो ॥ ११ ॥ तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थीं पुमं पव्वइअं गिहिं वा । नो हीलए नोऽवि अ खिंसइज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ १२ ॥ जे माणिआ सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति । ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥ तेसिं गुरूणं गुणसायराणं, सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं । चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥ गुरुमिह सययं पडिअरिअ मुणी, जिणमयनिउणे अभिगमकुसले । धुणिअ रयमलं पुरेकडं, भासुरमउलं गइं वइ ॥१५॥ त्ति बेमि ॥ विणयसमाहीए तइओ उद्देसो समत्तो ॥ ३ ॥

किं च—'समापतन्त' एकीभावेनाभिमुखं पतन्तः, क इत्याह—'वचनाभिघाताः' खरादिवचनप्रहाराः कर्णगताः सन्तः प्रायोऽनादिभवाभ्यासात् 'दौर्मनस्यं' दुष्टमनोभावं जनयन्ति, प्राणिनामेवंभूतान् वचनाभिघातान् धर्म इतिकृत्वा सामायिकपरिणामापन्नो न स्वशक्त्यादिना 'परमाग्रशूरो' दानसंग्रामशूरापेक्षया प्रधानः शूरो जितेन्द्रियः सन् यः सहते न तु तैर्विकारमुपदर्शयति स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ तथा—'अवर्णवादं च' अश्लाघावादं च 'पराङ्मुखस्य' पृष्ठत इत्यर्थः 'प्रत्यक्षतश्च' प्रत्यक्षस्य च 'प्रत्यनीकाम्' अपकारिणीं चौ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||८-१५||

दीप अनुक्रम [४६३--४७०]

रस्त्वमित्यादिरूपां भाषां तथा 'अवधारिणीम्' अशोभन एवायमित्यादिरूपाम् 'अप्रियकारिणीं च' श्रोतुर्मृतनिवेदनादिरूपां 'भाषां' वाचं 'न भाषेत सदा' यः कदाचिदपि नैव ब्रूयात्स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ तथा—'अलोलुप' आहारादिष्वलुब्धः 'अकुहक' इन्द्रजालादिकुहकरहितः 'अमायी' कौटिल्यशून्यः 'अपिशुनश्चापि' नो छेदभेदकर्ता 'अदीनवृत्तिः' आहाराद्यलाभेऽपि शुद्धवृत्तिः (ग्रन्थाग्रम् ६०००) नो भावयेद् अकुशलभावनया परं, यथाऽमुकपुरतो भवताऽहं वर्णनीयः 'नापि च भावितात्मा' स्वयमन्यपुरतः स्वगुणवर्णनापरः अकौतुकश्च सदा नटनर्त्तकादिषु यः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ किंच—'गुणैः' अनन्तरोदितैर्विनयादिभिर्युक्तः साधुर्भवति, तथा 'अगुणैः' उक्तगुणविपरीतैरसाधुः, एवं सति गृहाण साधुगुणान् मुञ्चासाधुगुणानिति शोभन उपदेशः, एवमधिकृत्य प्राकृतशैल्या 'विज्ञापयति' विविधं ज्ञापयत्यात्मानमात्मना यः तथा 'रागद्वेषयोः समः' न रागवान्न द्वेषवानिति स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ किं च—'तथैवे'ति पूर्ववत्, डहरं वा महल्लकं वा, वाशब्दान्मध्यमं वा, स्त्रियं पुमांसमुपलक्षणत्वान्नपुंसकं वा प्रव्रजितं गृहिणं वा, वाशब्दादन्यतीर्थिकं वा 'न हीलयति नापि च खिंसयति' तत्र सूयया असूयया वा सकृदुष्टाभिधानं हीलनं, तदेवासकृत्खिंसनमिति । हीलनखिंसनयोश्च निमित्तभूतं 'स्तम्भं च' मानं च 'क्रोधं च' रोषं च त्यजति यः स पूज्यो, निदानत्यागेन तत्त्वतः कार्यत्यागादिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ किं च–ये मानिता अभ्युत्थानादिसत्कारैः 'सततम्' अनवरतं शिष्यान् 'मानयन्ति' श्रुतोपदेशं प्रति चोदनादिभिः, तथा 'यत्नेन क-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||८-१५||

दीप अनुक्रम [४६३--४७०]

न्यामिव निवेशयन्ति' यथा मातापितरः कन्यां गुणैर्वयसा च संवर्द्ध्य योग्यभर्त्तरि स्थापयन्ति एवमाचार्याः शिष्यं सूत्रार्थवेदिनं दृष्ट्वा महत्याचार्यपदेऽपि स्थापयन्ति । तानेवंभूतान् गुरून्मानयति योऽभ्युत्थानादिना 'मानार्हान्' मानयोग्यान् तपस्वी सन् जितेन्द्रियः सत्वरत इति, प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणद्वयं, स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ तेषां 'गुरूणाम्' अनन्तरोदितानां 'गुणसागराणां' गुणसमुद्राणां संबन्धीनि श्रुत्वा मेधावी 'सुभाषितानि' परलोकोपकारकाणि 'चरति' आचरति 'मुनिः' साधुः 'पञ्चरतः' पञ्चमहाव्रतसक्तः 'त्रिगुप्तो' मनोगुप्त्यादिमान् 'चतुःकषायापगत' इत्यपगतक्रोधादिकषायो यः स पूज्य इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ प्रस्तुतफलाभिधानेनोपसंहरन्नाह—'गुरुम्' आचार्यादिरूपम् 'इह' मनुष्यलोके 'सततम्' अनवरतं 'परिचर्य' विधिनाऽऽराध्य 'मुनिः' साधुः, किंविशिष्टो मुनिरित्याह—'जिनमतनिपुणः' आगमे प्रवीणः 'अभिगमकुशलो' लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः, स एवंभूतः विधूय रजोमलं पुराकृतं, क्षपयित्वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भावः, किमित्याह–भास्वरां ज्ञानतेजोमयत्वात् 'अतुलाम्' अनन्यसदृशीं 'गतिं' सिद्धिरूपां 'व्रजती'ति गच्छति तदा जन्मान्तरेण वा सुकुलप्रजात्यादिना प्रकारेण । ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

॥ इति विनयसमाधौ व्याख्यातस्तृतीय उद्देशः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र नवमे अध्ययने तृतीय उद्देशकः परिसमाप्तः

प्रत सूत्रांक [१] + [१]

दीप अनुक्रम [४७१--४७२]

अथ चतुर्थ उद्देशः ।

सुअं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता, कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता?, इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता, तंजहा– विणयसमाही सुअसमाही तवसमाही आयारसमाही । विणए सुए अ तवे, आयारे निच्चपंडिआ । अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिआ ॥ १ ॥

अथ चतुर्थ आरभ्यते, तत्र सामान्योक्तविनयविशेषोपदर्शनार्थमिदमाह–श्रुतं मया आयुष्मंस्तेन भगवता एवमाख्यातमित्येतद्यथा षड्जीवनिकायां तथैव द्रष्टव्यम्, इह 'खल्वि'ति इह क्षेत्रे प्रवचने वा खलुशब्दो विशेषणार्थः न केवलमत्र किं त्वन्यत्राप्यन्यतीर्थकृत्प्रवचनेष्वपि 'स्थविरैः' गणधरैः 'भगवद्भिः' परमैश्वर्यादियुक्तैश्चत्वारि 'विनयसमाधिस्थानानि' विनयसमाधिभेदरूपाणि 'प्रज्ञप्तानि' प्ररूपितानि, भगवतः सकाशे श्रुत्वा ग्रन्थत उपरचितानीत्यर्थः, कतराणि खलु तानीत्यादिना प्रश्नः, अमूनि खलु तानीत्यादिना निर्वचनं, 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, विनयसमाधिः १ श्रुतसमाधिः २ तपःसमाधिः ३ आचारसमाधिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ नवमे अध्ययने चतुर्थ उद्देशकः आरब्धः

४, तत्र समाधानं समाधिः–परमार्थत आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यं, विनये विनयाद्वा समाधिः विनयसमाधिः, एवं शेषेष्वपि शब्दार्थो भावनीयः ॥ एतदेव श्लोकेन संगृह्णाति—'विनये' यथोक्तलक्षणे 'श्रुते' अङ्गादौ 'तपसि' बाह्यादौ 'आचारे च' मूलगुणादौ, चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, 'नित्यं' सर्वकालं 'पण्डिताः' सम्यक्परमार्थवेदिनः, किं कुर्वन्तीत्याह—'अभिरमयन्ति' अनेकार्थत्वादाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जते 'आत्मानं' जीवं, किमिति?, अस्योपादेयत्वात्, क एवं कुर्वन्तीत्याह–ये भवन्ति 'जितेन्द्रिया' जितचक्षुरादिभावशत्रवः, त एव परमार्थतः पण्डिता इति प्रदर्शनार्थमेतदिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ, तंजहा–अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ १ सम्मं संपडिवज्जइ २ वेयमाराहइ ३ न य भवइ अत्तसंपग्गहिए ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो–पेहेइ हिआणुसासणं, सुस्सूसई तं च पुणो अहिट्ठए । न य माणमएण मज्जई, विणयसमाहि आययट्ठिए ॥ २ ॥

विनयसमाधिमभिधित्सुराह–चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति, 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'अणुसासिज्जंतो' इत्यादि, 'अनुशास्यमानः' तत्र तत्र चोद्यमानः 'शुश्रूषते' तदनुशासनमर्थितया श्रोतुमिच्छति १, इच्छाप्रवृत्तितः तत् 'सम्यक् संप्रतिपद्यते' सम्यग्–अविपरीतमनुशासनतत्त्वं यथाविषयमवबुद्ध्यते २, स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२] + ||२||

दीप अनुक्रम [४७३--४७५]

चैवं विशिष्टप्रतिपत्तेरेव वेदमाराधयति, वेद्यतेऽनेनेति वेदः–श्रुतज्ञानं तद् यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति ३, अत एव विशुद्धप्रवृत्तेः 'न च भवत्यात्मसंप्रगृहीतः' आत्मैव सम्यक् प्रकर्षेण गृहीतो येनाहं विनीतः सुसाधुरित्येवमादिना स तथाऽनात्मोत्कर्षप्रधानत्वाद्विनयादेः, न चैवंभूतो भवतीत्यभिप्रायः, 'चतुर्थे पदं भवती'त्येतदेव सूत्रक्रमप्रामाण्यादुत्तरोत्तरगुणापेक्षया चतुर्थमिति, भवति च 'अत्र श्लोकः' अत्रेति विनयसमाधौ 'श्लोकः' छन्दोविशेषः ॥ स चायम्—'प्रार्थयते हितानुशासनम्' इच्छतीहलोकपरलोकोपकारिणमाचार्यादिभ्य उपदेशं, 'शुश्रूषती'त्यनेकार्थत्वाद्यथाविषयमवबुध्यते, तच्चावबुद्धं सत्पुनरधितिष्ठति–यथावत् करोति, न च कुर्वन्नपि 'मानमदेन' मानगर्वेण 'माद्यति' मदं याति 'विनयसमाधौ' विनयसमाधिविषये 'आयतार्थिको' मोक्षार्थीति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

चउव्विहा खलु सुअसमाही भवइ, तंजहा–सुअं मे भविस्सइत्ति अज्झाइअव्वं भवइ १, एगग्गचित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइअव्वयं भवइ २, अप्पाणं ठावइस्सामित्ति अज्झाइअव्वयं भवइ ३, ठिओ परं ठावइस्सामित्ति अज्झाइअव्वयं भवइ ४, चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो–नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावई परं । सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३] + ||३||

दीप अनुक्रम [४७६--४७८]

उक्तो विनयसमाधिः, श्रुतसमाधिमाह–चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति, 'तद्यथे'त्युदाहारणोपन्यासार्थः। श्रुतं मे आचारादि द्वादशाङ्गं भविष्यतीत्यनया बुद्ध्याऽध्येतव्यं भवति, न गौरवाद्यालम्बनेन १, तथाऽध्ययनं कुर्वन्नेकाग्रचित्तो भविष्यामि न विप्लुतचित्त इत्यध्येतव्यं भवत्यनेन चालम्बनेन २, तथाऽध्ययनं कुर्वन्विदितधर्मतत्त्व आत्मानं स्थापयिष्यामि शुद्धधर्म इत्यनेन चालम्बनेनाध्येतव्यं भवति ३, तथाऽध्ययनफलात् स्थितः स्वयं धर्मे 'परं' विनेयं स्थापयिष्यामि तन्त्रैवेत्यध्येतव्यं भवत्यनेनालम्बनेन ४ चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् ॥ स चायम्—'ज्ञान'मित्यध्ययनपरस्य ज्ञानं भवति 'एकाग्रचित्तश्च' तत्परतया एकाग्रालम्बनश्च भवति 'स्थित' इति विवेकाद्धर्मस्थितो भवति 'स्थापयति पर'मिति स्वयं धर्मे स्थितत्वादन्यमपि स्थापयति, श्रुतानि च नानाप्रकाराण्यधीतेऽधीत्य च 'रतः' सक्तो भवति श्रुतसमाधाविति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा–नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा १ नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा २, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ३, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ४, चउत्थं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो–

विविहगुणतवोरए निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए। तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४] + ||४|| दीप अनुक्रम [४७९--४८१]

उक्तः श्रुतसमाधिः, तपःसमाधिमाह–चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति, 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, न 'इहलोकार्थम्' इहलोकनिमित्तं लब्ध्यादिवाञ्छया 'तपः' अनशनादिरूपम् 'अधितिष्ठेत्' न कुर्याद्धर्म्मिलवत् १, तथा न 'परलोकार्थं' जन्मान्तरभोगनिमित्तं तपोऽधितिष्ठेद्ब्रह्मदत्तवत्, एवं न 'कीर्त्तिवर्णशब्दश्लाघार्थं'मिति सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्त्तिः एकदिग्व्यापी वर्णः अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः तत्स्थान एव श्लाघा, नैतदर्थं तपोऽधितिष्ठेत्, अपि तु 'नान्यत्र निर्जरार्थं'मिति न कर्मनिर्जरामेकां विहाय तपोऽधितिष्ठेत्, अकामः सन् यथा कर्मनिर्जरैव फलं भवति तथाऽधितिष्ठेदित्यर्थः चतुर्थं पदं भवति । भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् ॥ स चायम्–विविधगुणतपोरतो हि नित्यम्–अनशनाद्यपेक्षयाऽनेकगुणं यत्तपस्तद्रत एव सदा भवति 'निराशो' निष्प्रत्याश इहलोकादिषु 'निर्जरार्थिकः' कर्मनिर्जरार्थी, स एवंभूतस्तपसा विशुद्धेन 'धुनोति' अपनयति 'पुराणपापं' चिरन्तनं कर्म, नवं च न बध्नात्येवं युक्तः सदा तपःसमाधाविति सूत्रार्थः ॥४॥

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ, तंजहा–नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा १, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा २, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा ३, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो–जिणवयणरए अतिंतिणे, पडिपुन्नाययमाययट्ठिए । आयारसमा-

॥ २५७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||५-७||

दीप अनुक्रम [४८२--४८४]

हिसंवुडे, भवइ अ दंते भावसंधए ॥ ५ ॥ अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहिअप्पओ । विउलहिअं सुहावहं पुणो, कुव्वइ अ सो पयखेममप्पणो ॥ ६ ॥ जाइमरणाओ मुच्चइ, इत्थंथं च चएइ सव्वसो । सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महड्ढिए ॥ ७ ॥ त्ति बेमि ॥ चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ ४ ॥ विणयसमाही-णामज्झयणं समत्तं ॥ ९ ॥

उक्तस्तपःसमाधिः, आचारसमाधिमाह–चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति, 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, नेहलोकार्थमित्यादि चाचाराभिधानभेदेन पूर्ववद्यावन्नान्यत्र 'आर्हतैः' अर्हत्संबन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिः 'आचारं' मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेन्निरीहः सन् यथा मोक्ष एव भवतीति चतुर्थं पदं भवति । भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् ॥ स चायम्—'जिनवचनरत' आगमे सक्तः 'अतिन्तिनः' न सकृत्किञ्चिदुक्तः सन्नसूयया भूयो भूयो वक्ता प्रतिपूर्णः सूत्रादिना, 'आयतमायतार्थिक' इत्यत्यन्तं मोक्षार्थी 'आचारसमाधिसंवृत' इति आचारे यः समाधिस्तेन स्थगिताश्रवद्वारः सन् भवति दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां 'भावसंधकः' भावो–मोक्षस्तत्संधक आत्मनो मोक्षासन्नकारीति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ सर्वसमाधिफलमाह—'अभिगम्य' विज्ञायासेव्य च 'चतुरः समाधीन्' अनन्तरोदितान्, सुविशुद्धो मनोवाक्कायैः, सुसमाहितात्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||५-७|| दीप अनुक्रम [४८२--४८४]

सप्तदशविधे संयमे, एवंभूतो धर्मराज्यमासाद्य 'विपुलहितसुखावहं पुन'रिति विपुलं–विस्तीर्णं हितं तदात्वे आयत्यां च पथ्यं सुखमावहति–प्रापयति यत्तत् तथाविधं करोत्यसौ साधुः पदं–स्थानं क्षेमं–शिवम् आत्मन इत्यात्मन एव न त्वन्यस्य इत्यनेनैकान्तक्षणभङ्गव्यवच्छेदमाहेति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'जाति-मरणात्' संसारान्मुच्यते असौ सुसाधुः 'इत्थंस्थं चेती'दंप्रकारमापन्नमित्थम् इत्थं स्थितमित्थंस्थं–नार-कादिव्यपदेशबीजं वर्णसंस्थानादि तच्च त्यजति 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैरपुनर्ग्रहणतया एवं 'सिद्धो वा' कर्म-क्षयात्सिद्धो भवति 'शाश्वतः' अपुनरागामी सावशेषकर्मा देवो वा 'अल्परतः' कण्डूपरिगतकण्डूयनक-ल्परतरहितः 'महर्द्धिकः' अनुत्तरवैमानिकादिः । ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः, उक्तोऽनुगमः, नयाः पूर्ववत् ॥ ७ ॥ इति चतुर्थः ॥ ४ ॥

अत्र नवमे अध्ययने चतुर्थ उद्देशकः परिसमाप्तः

इति श्रीमद्धरिभद्रसूरिविरचितायां दशवैकालिकटीकायां व्याख्यातं विनयसमाध्यध्ययनं नाम नवममध्ययनम् ॥ ९ ॥

अथ दशमं सभिक्षवध्ययनम् ।

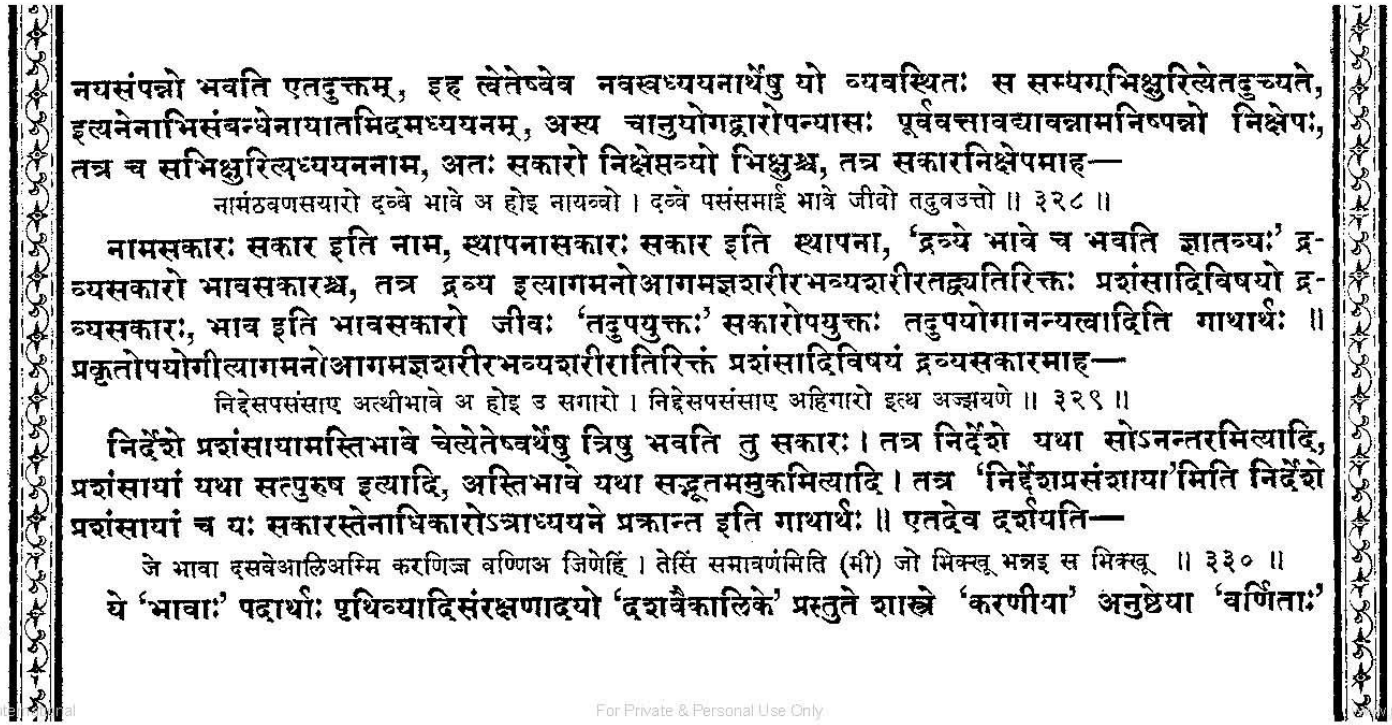
अधुना सभिक्षवाख्यमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तराध्ययन आचारःप्रणिहितो यथोचितवि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययनं -१०- "सभिक्षु" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [४८४..]



नयसंपन्नो भवति एतदुक्तम्, इह खेतेष्वेव नवस्वध्ययनार्थेषु यो व्यवस्थितः स सम्यग्भिक्षुरित्येतदुच्यते, इत्यनेनाभिसंबन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तत्र च सभिक्षुरित्यध्ययननाम, अतः सकारो निक्षेप्तव्यो भिक्षुश्च, तत्र सकारनिक्षेपमाह—

नामंठवणसयारो दव्वे भावे अ होइ नायव्वो । दव्वे पसंसमाई भावे जीवो तदुवउत्तो ॥ ३२८ ॥

नामसकारः सकार इति नाम, स्थापनासकारः सकार इति स्थापना, 'द्रव्ये भावे च भवति ज्ञातव्यः' द्रव्यसकारो भावसकारश्च, तत्र द्रव्य इत्यागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तः प्रशंसादिविषयो द्रव्यसकारः, भाव इति भावसकारो जीवः 'तदुपयुक्तः' सकारोपयुक्तः तदुपयोगानन्यत्वादिति गाथार्थः ॥ प्रकृतोपयोगीत्यागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीरातिरिक्तं प्रशंसादिविषयं द्रव्यसकारमाह—

निद्देसपसंसाए अत्थीभावे अ होइ उ सगारो । निद्देसपसंसाए अहिगारो इत्थ अज्झयणे ॥ ३२९ ॥

निर्देशे प्रशंसायामस्तिभावे चेत्येतेष्वर्थेषु त्रिषु भवति तु सकारः । तत्र निर्देशे यथा सोऽनन्तरमित्यादि, प्रशंसायां यथा सत्पुरुष इत्यादि, अस्तिभावे यथा सद्भूतमसुकमित्यादि । तत्र 'निर्देशप्रसंशाया'मिति निर्देशे प्रशंसायां च यः सकारस्तेनाधिकारोऽत्राध्ययने प्रक्रान्त इति गाथार्थः ॥ एतदेव दर्शयति—

जे भावा दसवेआलिअम्मि करणिज्ज वण्णिअ जिणेहिं । तेसिं समावणंमिति (मी) जो भिक्खू भन्नइ स भिक्खू ॥ ३३० ॥

ये 'भावाः' पदार्थाः पृथिव्यादिसंरक्षणादयो 'दशवैकालिके' प्रस्तुते शास्त्रे 'करणीया' अनुष्ठेया 'वर्णिताः'

दश० ४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

'स' एवं 'भिक्षु' शब्दयोः निक्षेपाः

प्रत सूत्रांक ॥७..॥

दीप अनुक्रम [४८४..]

कथिता जिनैः–तीर्थकरगणधरैः, 'तेषां' भावानां 'समापने' यथाशक्त्या(क्ति) द्रव्यतो भावतश्चाचरणेन पर्यन्त-नयनेन 'यो भिक्षुः' तदर्थं यो भिक्षणशीलो न तूदरादिभरणार्थं भण्यते स भिक्षुरिति, इतिशब्दस्य व्यव-हित उपन्यासः। स भिक्षुरित्यत्र निर्देशे सकार इति गाथार्थः॥ प्रशंसायामाह—

चरगमरुगाइआणं भिक्खुजीवीण काउणमपोहं। अज्झयणगुणनिउत्तो होइ पसंसाइ उ सभिक्खू ॥ ३३१ ।

'चरकमरुकादीना'मिति चरकाः–परिव्राजकविशेषाः मरुका–धिग्वर्णाः आदिशब्दाच्छाक्यादिपरिग्रहः, अ-मीषां 'भिक्षोपजीविनां' भिक्षणशीलानामगुणवत्त्वेनापोहं कृत्वा 'अध्ययनगुणनियुक्तः' प्रक्रान्तशास्त्रनिष्य-न्दभूतप्रक्रान्ताध्ययनाभिहितगुणसमन्वितो भवति। प्रशंसायामवगम्यमानायां सद्भिक्षुः–संश्चासौ भिक्षुश्च तत्तदन्यापोहेन सद्भिक्षुरिति गाथार्थः॥ उक्तः सकारः, इदानीं भिक्षुमभिधातुकाम आह—

भिक्खुस्स य निक्खेवो निरुत्तएगट्ठिआणि लिंगाणि। अगुणट्ठिओ न भिक्खू अवयवा पंच दाराइं ॥ ३३२ ॥

भिक्षोः 'निक्षेपो' नामादिलक्षणः कार्यः, तथा निरुक्तं वक्तव्यं भिक्षोरेव, तथा 'एकार्थिकानि' पर्यायश-ब्दरूपाणि वक्तव्यानि, तथा 'लिङ्गानि' संवेगादीनि, तथा अगुणस्थितो न भिक्षुरपि तु गुणस्थित एवेत्येतद्वा-च्यम्। अत्र च 'अवयवाः पञ्च' प्रतिज्ञादयो वक्ष्यमाणा इति, द्वाराण्येतानीति गाथासमासार्थः॥ यथाक्रमं व्यासार्थमाह—

णामंठवणाभिक्खू दव्वभिक्खू अ भावभिक्खू अ। दव्वम्मि आगमाई अन्नोऽवि अ पज्जवो इणमो ॥ ३३३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [४८४..]

'नामस्थापनाभिक्षु'रिति भिक्षुशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नामभिक्षुः स्थापनाभिक्षुः द्रव्यभिक्षुश्च भावभिक्षुश्चेति । तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यभिक्षुमाह—'द्रव्य' इति द्रव्यभिक्षुः 'आगमादिः' आगमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तैकभविकादिभेदभिन्नः, अन्योऽपि च 'पर्यायो' भेदः 'अयं' द्रव्यभिक्षोर्वक्ष्यमाणलक्षण इति गाथार्थः ॥

भेअओ भेअणं चेव, भिंदिअव्वं तहेव य । एएसिं तिण्हंपि अ, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥ ३३४ ॥

भेदकः पुरुषः भेदनं चैव परश्वादि भेत्तव्यं तथैव च काष्ठादीति भावः । एतेषां 'त्रयाणामपि' भेदकादीनां 'प्रत्येकं' पृथक्पृथक् प्ररूपणां वक्ष्य इति गाथार्थः ॥ एतदेवाह—

जह दारुकम्मगारो भेअणभित्तव्वसंजुओ भिक्खू । अन्नेवि दव्वभिक्खू जे जायणगा अविरया अ ॥ ३३५ ॥

यथा 'दारुकर्मकरो' वर्धक्यादिः भेदनभेत्तव्यसंयुक्तः सन्–क्रियाविशिष्टविदारणादिदारुसमन्वितो द्रव्यभिक्षुः, द्रव्यं भिनत्तीतिकृत्वा, तथाऽन्येऽपि द्रव्यभिक्षवः–अपारमार्थिकाः, क इत्याह–ये 'याचनका' भिक्षणशीला 'अविरताश्च' अनिवृत्ताश्च पापस्थानेभ्य इति गाथार्थः ॥ एते च द्विविधाः–गृहस्था लिङ्गिनश्चेति, तदाह—

गिहिणोऽवि सयारंभग उज्जुप्पन्नं जणं विमग्गंता । जीवणिअ दीणकिविणा ते विज्जा दव्वभिक्खुत्ति ॥ ३३६ ॥

'गृहिणोऽपि' सकलत्रा अपि 'सदारंभका' नित्यमारम्भकाः षण्णां जीवनिकायानामृजुप्रज्ञं जनं अनालो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७..॥

दीप अनुक्रम [४८४..]

दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २६० ॥

चकं विमृगयन्तः–अनेकप्रकारं द्विपदादि भूमिदेवा वयं लोकहितायावतीर्णा इत्यभिधाय याचमानाः, द्रव्यभिक्षणशीलत्वाद्रव्यभिक्षवः, एते च भिन्नवर्णाः, तथा ये च 'जीवनिकाये' जीवनिकानिमित्तं 'दीनकृपणाः' कार्पटिकादयो भिक्षामटन्ति तान् 'विद्याद्' विजानीयाद्रव्यभिक्षूनिति, द्रव्यार्थं भिक्षणशीलत्वादिति गाथार्थः ॥ उक्ता गृहस्थद्रव्यभिक्षवः, लिङ्गिनोऽधिकृत्याह—

मिच्छदिट्ठी तसथावराण पुढवाइविंदिआईणं । निच्चं वहकरणरया अबंभयारी अ संचइआ ॥ ३३७ ॥

शाक्यभिक्षुप्रभृतयो हि 'मिथ्यादृष्टयः' अतत्त्वाभिनिवेशिनः प्रशमादिलिङ्गशून्याः, त्रसस्थावराणां प्राणिनां पृथिव्यादीनां द्वीन्द्रियादीनां च, अत्र पृथिव्यादयः स्थावराः द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः, नित्यं वधकरणरताः-सदैतदतिपाते सक्ताः, कथमित्यत्राह–अब्रह्मचारिणः संचयिनश्च यतः, अतोऽप्रधानत्वाद्रव्यभिक्षवः, चशब्दस्य व्यवहित उपन्यास इति गाथार्थः ॥ एते चाब्रह्मचारिणः संचयादेवेति संचयमाह—

दुपयचउप्पयधणधन्नकुविअतिअतिअपरिग्गहे निरया । सच्चित्तभोइ पयमाणगा अ उद्दिट्ठभोई अ ॥ ३३८ ॥

द्विपदं–दास्यादि चतुष्पदं–गवादि धनं–हिरण्यादि धान्यं–शाल्यादि कुप्यम्–अलिञ्जरादि एतेषु द्विपदादिषु क्रमेण मनोलक्षणादिना करणत्रिकेण त्रिकपरिग्रहे–कृतकारितानुमतपरिग्रहे निरताः–सक्ताः । न चैतदनार्षम्—"विहारान् कारयेद्रम्यान्वासयेच्च बहुश्रुतान्" इतिवचनात्, सद्भूतगुणानुष्ठायिनो नेत्थंभूता इत्याशङ्क्याह–सचित्तभोजिनः, तेऽपि मांसापक्कायादिभोजिनः, तदप्रतिषेधात्, 'पचन्तश्च' स्वयंपचास्तापसा-

१० सभिक्ष्वध्य० ॥ २६० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७..॥

दीप अनुक्रम [४८४..]

दयः, उद्दिष्टभोजिनश्च सर्व एव शाक्यादयः, तत्प्रसिद्ध्या तपस्विनोऽपि, पिण्डविशुद्ध्यपरिज्ञानादिति गाथार्थः ॥ त्रिकत्रिकपरिग्रहे निरता इत्येतद्व्याचिख्यासुराह—

करणतिए जोअतिए सावज्जे आयहेउपरउभए । अट्ठाणट्ठपवत्ते ते विज्जा दव्वभिक्खुत्ति ॥ ३३९ ॥

करणत्रिक इति 'सुपां सुपो भवन्ती'ति 'करणत्रिकेण' मनोवाक्कायलक्षणेन 'योगत्रितय' इति कृतकारितानुमतिरूपे 'सावद्ये' सपापे आत्महेतोः–आत्मनिमित्तं देहाद्युपचयाय, एवं परनिमित्तं–मित्राद्युपभोगसाधनाय एवमुभयनिमित्तम्–उभयसाधनार्थम्, एवमर्थायात्माद्यर्थम् अनर्थाय वा–विना प्रयोजनेन आर्त्तध्यानचिन्तनखरादिभाषणलक्षवेधनादिभिः प्राणातिपातादौ प्रवृत्तान्–तत्परान् तानेवंभूतान् 'विद्याद्–विजानीयात् द्रव्यभिक्षूनिति, प्रवृत्ताश्चैवं शाक्यादयः, तद्द्रव्यभिक्षव इति गाथार्थः ॥ एवं स्त्र्यादिसंयोगाद्विशुद्धतपोऽनुष्ठानाभावाच्चाब्रह्मचारिण एत इत्याह—

इत्थीपरिग्गहाओ आणादाणाइभावसंगाओ । सुद्धतवाभावाओ कुतित्थिआऽबंभचारित्ति ॥ ३४० ॥

'स्त्रीपरिग्रहा'दिति दास्यादिपरिग्रहात् 'आज्ञादानादिभावसङ्गाच्च' परिणामाशुद्धेरित्यर्थः न च शाक्या भिक्षवः, 'शुद्धतपोऽभावा'दिति शुद्धस्य तपसोऽभावात् तापसादयः कुतीर्थिका अब्रह्मचारिण इति, ब्रह्मशब्देन शुद्धं तपोऽभिधीयते, तद्चारिण इति गाथार्थः ॥ उक्तो द्रव्यभिक्षुः, भावभिक्षुमाह—

आगमतो उवउत्तो तग्गुणसंवेअओ अ (उ) भावंमि । तस्स निरुत्तं भेअगभेअणभेत्तव्वएण तिहा ॥ ३४१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७..॥

दीप अनुक्रम [४८४..]

भावभिक्षुर्द्विविधः–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमत 'उपयुक्त' इति भिक्षुपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, 'तद्गुणसंवेदकस्तु' भिक्षुगुणसंवेदकः पुनर्नोआगमतो भवति भावभिक्षुरित्युक्तो भिक्षुनिक्षेपः । साम्प्रतं निरुक्तमभिधातुकाम आह—'तस्य निरुक्त'मिति 'तस्य' भिक्षोर्निश्चितमुक्तमन्वर्थरूपं भेदकभेदनभेत्तव्यैरेभिर्भेदैर्वक्ष्यमाणैस्त्रिधा भवतीति गाथार्थः ॥ एतदेव स्पष्टयति—

भेत्ताऽऽगमोवउत्तो दुविह तवो भेअणं च भेत्तव्वं । अट्ठविहं कम्मखुहं तेण निरुत्तं स भिक्खुत्ति ॥ ३४२ ॥

'भेत्ता' भेदकोऽत्रागमोपयुक्तः साधुः, तथा 'द्विविधं' बाह्याभ्यन्तरभेदेन तपो भेदनं वर्तते, तथा 'भेत्तव्यं' विदारणीयं चाष्टविधं कर्म च–अष्टप्रकारं ज्ञानावरणीयादि कर्म, तच्च क्षुदादिदुःखहेतुत्वात् क्षुच्छब्दवाच्यं, यतश्चैवं तेन निरुक्तं–यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुरिति गाथार्थः ॥ किं च—

भिंदंतो अ जह खुहं भिक्खू जयमाणओ जई होइ । संजमचरओ चरओ भवं खिवंतो भवंतो उ ॥ ३४३ ॥

'भिन्दंश्च' विदारयंश्च यथा 'क्षुधं' कर्म भिक्षुर्भवति, भावतो यतमानस्तथा तथा गुणेषु स एव यतिर्भवति नान्यथा, एवं 'संयमचरकः' सप्तदशप्रकारसंयमानुष्ठायी चरकः, एवं 'भवं' संसारं 'क्षपयन्' परीतं कुर्वन् स एव भवान्तो भवति नान्यथेति गाथार्थः ॥ प्रकारान्तरेण निरुक्तमेवाह—

जं भिक्खमत्तवित्ती तेण व भिक्खू खवेइ जं व अणं । तवसंजमे तवस्सित्ति वावि अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ ३४४ ॥

'यद्' यस्माद् 'भिक्षामात्रवृत्तिः' भिक्षामात्रेण सर्वोपधाशुद्धेन वृत्तिरस्येति समासः, तेन वा भिक्षु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [४८४..]

भिक्षणशीलो भिक्षुरितिकृत्वा, अनेनैव प्रसङ्गेन अन्येषामपि तत्पर्यायाणां निरुक्तमाह–क्षपयति 'यद्' यस्माद्वा 'क्षणं' कर्म तस्मात्क्षपणः, क्षपयतीति क्षपण इतिकृत्वा, तथा संयमतपसीति संयमप्रधानं तपः संयमतपः तस्मिन् विद्यमाने तपस्वीति वापि भवति, तपोऽस्यास्तीतिकृत्वा, अन्योऽपि पर्याय इति–अन्योऽपि भेदोऽर्थतो भिक्षुशब्दनिरुक्तस्येति गाथार्थः । उक्तं निरुक्तद्वारम्, अधुनैकार्थिकद्वारमाह—

तिन्ने ताई दविए वई अ खंते अ दंत विरए अ । मुणितावसपन्नवगुजुभिक्खू बुद्धे जइ विऊ अ ॥ ३४५ ॥

तीर्णवत्तीर्णः विशुद्धसम्यग्दर्शनादिलाभाद्भवार्णवमिति गम्यते, तायोऽस्यास्तीति तायी, तायः सुदृष्टमार्गोक्तिः, सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थः, द्रव्यं रागद्वेषरहितः, व्रती च हिंसादिविरतश्च, क्षान्तश्च क्षाम्यति क्षमां करोतीति क्षान्तः, बहुलवचनात् कर्तरि निष्ठा, एवं दाम्यतीन्द्रियादिदमं करोतीति दान्तः, विरतश्च विषयसुखनिवृत्तश्च, मुनिर्मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, तपःप्रधानस्तापसः, प्रज्ञापकोऽपवर्गमार्गस्य प्ररूपकः, ऋजुः–मायारहितः संयमवान् वा, भिक्षुः पूर्ववत्, बुद्धोऽवगततत्त्वः, यतिरुत्तमाश्रमी प्रयत्नवान् वा, विद्वांश्च–पण्डितश्चेति गाथार्थः ॥ तथा—

पव्वइए अणगारे पासंडी चरग बंभणे चेव । परिवायगे अ समणे निग्गंथे संजए मुत्ते ॥ ३४६ ॥

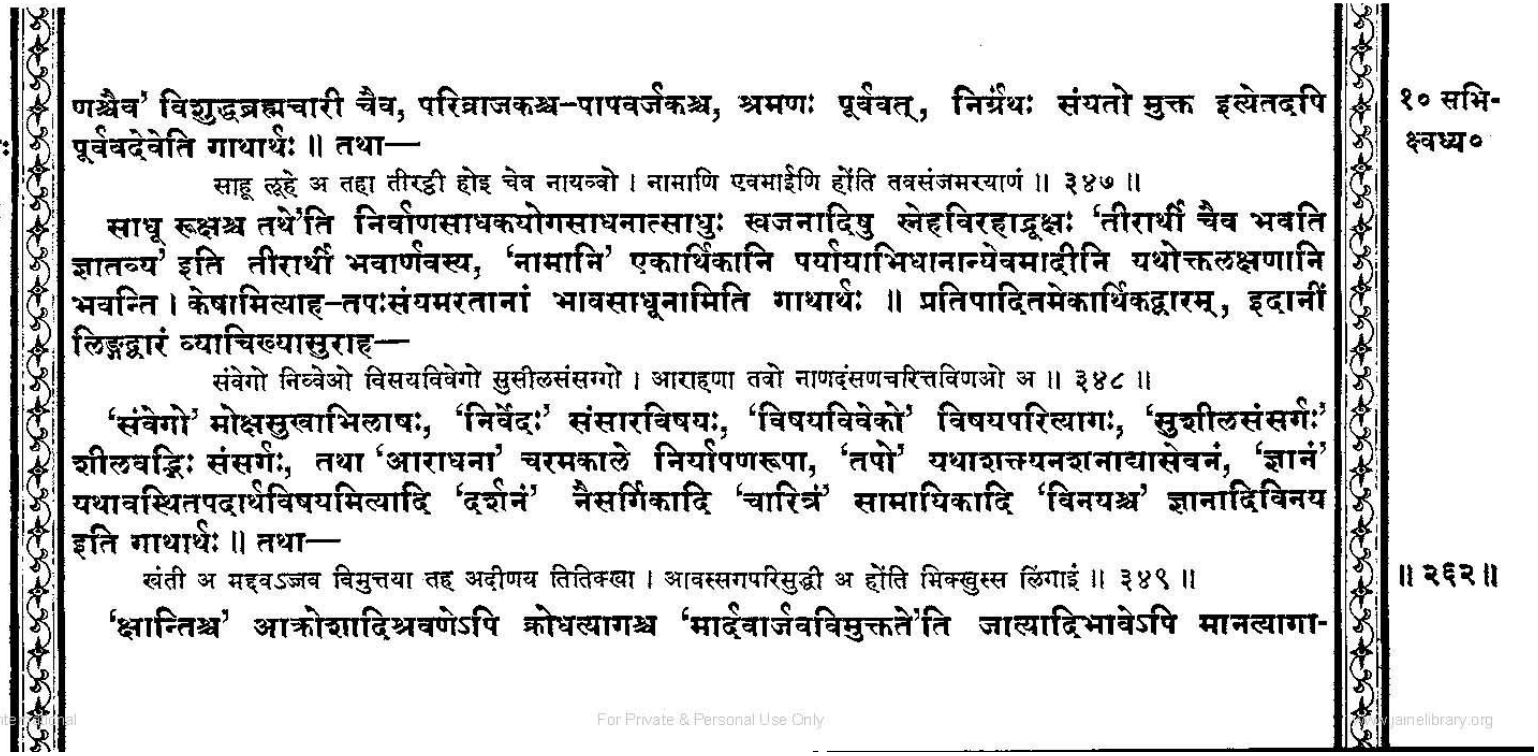
प्रव्रजितः–पापान्निष्क्रान्तः, अनगारो–द्रव्यभावागारशून्यः, पाषण्डी–पाशाड्डीनः, चरकः पूर्ववत्, 'ब्राह्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'भिक्षु' शब्दस्य एकार्थिक शब्दाः

प्रत सूत्रांक ॥७..॥

दीप अनुक्रम [४८४..]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २६२ ॥

णश्चैव' विशुद्धब्रह्मचारी चैव, परिव्राजकश्च–पापवर्जकश्च, श्रमणः पूर्ववत्, निर्ग्रंथः संयतो मुक्त इत्येतदपि पूर्ववदेवेति गाथार्थः ॥ तथा—

साहू लूहे अ तहा तीरट्ठी होइ चेव नायव्वो । नामाणि एवमाईणि होंति तवसंजमरयाणं ॥ ३४७ ॥

साधू रूक्षश्च तथे'ति निर्वाणसाधकयोगसाधनात्साधुः स्वजनादिषु स्नेहविरहाद्रूक्षः 'तीरार्थी चैव भवति ज्ञातव्य' इति तीरार्थी भवार्णवस्य, 'नामानि' एकार्थिकानि पर्यायाभिधानान्येवमादीनि यथोक्तलक्षणानि भवन्ति । केषामित्याह–तपःसंयमरतानां भावसाधूनामिति गाथार्थः ॥ प्रतिपादितमेकार्थिकद्वारम्, इदानीं लिङ्गद्वारं व्याचिख्यासुराह—

संवेगो निव्वेओ विसयविवेगो सुसीलसंसग्गो । आराहणा तवो नाणदंसणचरित्तविणओ अ ॥ ३४८ ॥

'संवेगो' मोक्षसुखाभिलाषः, 'निर्वेदः' संसारविषयः, 'विषयविवेको' विषयपरित्यागः, 'सुशीलसंसर्गः' शीलवद्भिः संसर्गः, तथा 'आराधना' चरमकाले निर्यापणरूपा, 'तपो' यथाशक्त्यनशनाद्यासेवनं, 'ज्ञानं' यथावस्थितपदार्थविषयमित्यादि 'दर्शनं' नैसर्गिकादि 'चारित्रं' सामायिकादि 'विनयश्च' ज्ञानादिविनय इति गाथार्थः ॥ तथा—

खंती अ मद्दवऽज्जव विमुत्तया तह अदीणय तितिक्खा । आवस्सगपरिसुद्धी अ होंति भिक्खुस्स लिंगाइं ॥ ३४९ ॥

'क्षान्तिश्च' आक्रोशादिश्रवणेऽपि क्रोधत्यागश्च 'मार्दवार्जवविमुक्तते'ति जात्यादिभावेऽपि मानत्यागा-

१० सभिक्षवध्य० ॥ २६२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षोः लिङ्गद्वारम् प्रतिपाद्यते

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [४८४..]

न्मार्दवं, परस्मिन्निकृतिपरेऽपि मायापरित्याग आर्जवं, धर्मोपकरणेष्वप्यमूर्च्छा विमुक्तता, तथाऽशनाद्यलाभेऽप्यदीनता, क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि तितिक्षा, तथा 'आवश्यकपरिशुद्धिश्च' अवश्यंकरणीययोगनिरतिचारता च, भवन्ति 'भिक्षोः' भावसाधोः 'लिङ्गानि' अनन्तरोदितानि संवेगादीनीति गाथार्थः ॥ व्याख्यातं लिङ्गद्वारम्, अवयवद्वारमाह—

अज्झयणगुणी भिक्खू न सेस इइ णो पइन्न–को हेऊ ? । अगुणत्ता इइ हेऊ–को दिट्ठंतो ? सुवण्णमिव ॥ ३५० ॥

'अध्ययनगुणी' प्रक्रान्ताध्ययनोक्तगुणवान् 'भिक्षुः' भावसाधुर्भवतीति, तत्स्वरूपमेतत्, 'न शेषः' तद्गुणरहित इति 'नः प्रतिज्ञा' अस्माकं पक्षः, 'को हेतुः'? कोऽत्र पक्षधर्म इत्याशङ्क्याह—'अगुणत्वादिति हेतुः' अविद्यमानगुणोऽगुणस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मादित्ययं हेतुः, अध्ययनगुणशून्यस्य भिक्षुत्वप्रतिषेधः साध्य इति, 'को दृष्टान्तः?' किं पुनरत्र निदर्शनमित्याशङ्क्याह—'सुवर्णमिव' यथा सुवर्णं स्वगुणरहितं सुवर्णं न भवति तद्वदिति गाथार्थः ॥ सुवर्णगुणानाह—

विसघाइ रसायण मंगलत्थ विणिए पयाहिणावत्ते । गुरुए अडज्झऽकुत्थे अट्ठ सुवण्णे गुणा भणिआ ॥ ३५१ ॥

'विषघाति' विषघातनसमर्थं 'रसायनं' वयस्तम्भनकर्तृ 'मङ्गलार्थं' मङ्गलप्रयोजनं 'विनीतं' यथेष्टकटकादिप्रकारसंपादनेन 'प्रदक्षिणावर्त्तं' तप्यमानं प्रादक्षिण्येनावर्त्तते 'गुरु' सारोपेतम् 'अदाह्यं' नाग्निना दह्यते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७..॥

दीप अनुक्रम [४८४..]

'अकुथनीयं' न कदाचिदपि कुथतीत्येतेऽष्टावनन्तरोदिताः 'सुवर्णे' सुवर्णविषया गुणा भणितास्तत्स्वरूपज्ञैरिति गाथार्थः ॥ उक्ताः सुवर्णगुणाः, साम्प्रतमुपनयमाह—

चउकारणपरिसुद्धं कसछेअणतावताळणाए अ । जं तं विसघाइरसायणाइगुणसंजुअं होइ ॥ ३५२ ॥

'चतुष्कारणपरिशुद्धं' चतुःपरीक्षायुक्तमित्यर्थः, कथमित्याह—'कषच्छेदतापताडनया चे'ति कषेण छेदेन तापेन ताडनया च, यदेवंविधं तद्विषघाति रसायनादिगुणसंयुक्तं भवति, भावसुवर्णं स्वकार्यसाधकमिति गाथार्थः ॥ यच्चैवंभूतम्—

तं कसिणगुणोवेअं होइ सुवण्णं न सेसयं जुत्ती । नहि नामरूवमेत्तेण एवमगुणो हवइ भिक्खू ॥ ३५३ ॥

'तद्' अनन्तरोदितं 'कृत्स्नगुणोपेतं' संपूर्णगुणसमन्वितं भवति सुवर्णं यथोक्तं, न 'शेषं' कषाद्यशुद्धं, 'युक्ति'रिति वर्णादिगुणसाम्येऽपि युक्तिसुवर्णमित्यर्थः, प्रकृते योजयति–यथैतत्सुवर्णं न भवति, एवं न हि नामरूपमात्रेण–रजोहरणादिसंधारणादिना 'अगुणः' अविद्यमानप्रस्तुताध्ययनोक्तगुणो भवति भिक्षुः, भिक्षामदन्नपि न भवतीति गाथार्थः ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—

जुत्तीसुवण्णगं पुण सुवण्णवण्णं तु जइवि कीरिज्जा । न हु होइ तं सुवण्णं सेसेहिं गुणेहिं संतेहिं ॥ ३५४ ॥

युक्तिसुवर्णं कृत्रिमसुवर्णमिह लोके 'सुवर्णवर्णं तु' जात्यसुवर्णवर्णमपि यद्यपि क्रियेत पुरुषनैपुण्येन तथापि नैव भवति तत् सुवर्णं परमार्थेन 'शेषैर्गुणैः' कषादिभिः 'असद्भिः' अविद्यमानैरिति गाथार्थः ॥ एवमेव किमित्याह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७..॥

दीप अनुक्रम [४८४..]

जे अज्झयणे भणिआ भिक्खुगुणा तेहि होइ सो भिक्खू । वण्णेण जच्चसुवण्णगं व संते गुणनिहिंमि ॥ ३५५ ॥

येऽध्ययने भणिता भिक्षुगुणा अस्मिन्नेव प्रक्रान्ते जिनवचने चित्तसमाध्यादयः तैः करणभूतैः सद्भिर्भवत्यसौ भिक्षुर्नामस्थापनाद्रव्यभिक्षुव्यपोहेन भावभिक्षुः, परिशुद्धभिक्षावृत्तित्वात् । किमिवेत्याह—'वर्णेन' पीतलक्षणेन 'जात्यसुवर्णमिव' परमार्थसुवर्णमिव 'सति गुणनिधौ' विद्यमानेऽन्यस्मिन् कषादौ गुणसंघाते, एतदुक्तं भवति–यथाऽन्यगुणयुक्तं शोभनवर्णं सुवर्णं भवति तथा चित्तसमाध्यादिगुणयुक्तो भिक्षणशीलो भिक्षुर्भवतीति गाथार्थः ॥ व्यतिरेकतः स्पष्टयति—

जो भिक्खू गुणरहिओ भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू । वण्णेण जुत्तिसुवण्णगं व असई गुणनिहिम्मि ॥ ३५६ ॥

यो भिक्षुः 'गुणरहितः' चित्तसमाध्यादिशून्यः सन् भिक्षामटति न भवत्यसौ भिक्षुर्भिक्षाटनमात्रेणैव, अपरिशुद्धभिक्षावृत्तित्वात्, किमिवेत्याह–वर्णेन युक्तिसुवर्णमिव, यथा तद्वर्णमात्रेण सुवर्णं न भवत्यसति 'गुणनिधौ' कषादिक इति गाथार्थः ॥ किंच—

उद्दिट्ठकयं भुंजइ छक्कायपमद्दओ घरं कुणइ । पच्चक्खं च जलगए जो पियइ कह नु सो भिक्खू? ॥ ३५७ ॥

उद्दिश्य कृतं भुङ्क्ते इत्यौद्देशिकमित्यर्थः, षट्कायप्रमर्दकः–यत्र क्वचन पृथिव्यादुपमर्दकः, गृहं करोति संभवत्येवैषणीयालये मूर्च्छया वसतिं भाटकगृहं वा, तथा 'प्रत्यक्षं च' उपलभ्यमान एव 'जलगतान्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [४८४..]

अप्कायादीन् यः पिबति, तत्त्वतो विनाऽऽलम्बनेन, कथं न्वसौ भिक्षुः, नैव भावभिक्षुरिति गाथार्थः ॥ उक्त उपनयः, साम्प्रतं निगमनमाह—

तम्हा जे अज्झयणे भिक्खुगुणा तेहिँ होइ सो भिक्खू। तेहि अ सउत्तरगुणेहि होइ सो भाविअतरो उ ॥ ३५८ ॥

यस्मादेतदेवं यदनन्तरमुक्तं तस्माद् येऽध्ययने प्रस्तुत एव 'भिक्षुगुणा' मूलगुणरूपा उक्तास्तैः करणभूतैः सद्भिर्भवत्यसौ भिक्षुः, तैश्च 'सोत्तरगुणैः' पिण्डविशुद्ध्यादयुत्तरगुणसमन्वितैर्भवत्यसौ 'भावितरः' चारित्रधर्मे तु प्रसन्नतर इति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

निक्खम्ममाणाइ अ बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा। इत्थीण वसं न आवि
गच्छे, वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥ १ ॥ पुढविं न खणे न खणावए, सीओ-
दगं न पिए न पिआवए। अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं, तं न जले न जलावए
जे स भिक्खू ॥ २ ॥ अनिलेण न वीए न वीयावए, हरियाणि न छिंदे न छिंदा-
वए। बीआणि सया विवज्जयंतो, सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ ३ ॥ वहणं त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-५॥

दीप अनुक्रम [४८५--४८९]

सथावराण होइ, पुढवीतणकट्ठनिस्सिआणं । तम्हा उद्देसिअं न भुंजे, नोऽवि पए
न पयावए जे स भिक्खू ॥ ४ ॥ रोइअ नायपुत्तवयणे, अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥ ५ ॥

'निष्क्रम्य' द्रव्यभावगृहात् प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थः 'आज्ञया' तीर्थकरगणधरोपदेशेन योग्यतायां सत्यां, निष्क्रम्य किमित्याह—'बुद्धवचने' अवगततत्त्वतीर्थकरगणधरवचने 'नित्यं' सर्वकालं 'चित्तसमाहितः' चित्तेनातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भः, व्यतिरेकतः समाधानोपायमाह—'स्त्रीणां' सर्वासत्कार्यनिबन्धनभूतानां 'वशं' तदायत्ततारूपं न चापि गच्छेत्, तद्वशगो हि नियमतो वान्तं प्रत्यापिबति, 'अतो' बुद्धवचनचित्तसमाधानतः सर्वथा स्त्रीवशत्यागाद्, अनेनैवोपायेनान्योपायासंभवात्, 'वान्तं' परित्यक्तं सद्विषयजम्बालं 'न प्रत्यापिबति' न मनागप्याभोगतोऽनाभोगतश्च तत्सेवते यः स भिक्षुः —भावभिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ तथा—'पृथिवीं' सचेतनादिरूपां न खनति स्वयं न खानयति परैः, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति खनन्तमप्यन्यं न समनुजानाति, एवं सर्वत्र वेदितव्यं । 'शीतोदकं' सचित्तं पानीयं न पिबति स्वयं न पाययति परानिति, अग्निः षड्जीवघातकः, किंवदित्याह—'शस्त्रं' खड्गादि यथा 'सुनिशितम्' उज्ज्वालितं तद्वत्, तं न ज्वालयति स्वयं न ज्वालयति परैः, य इत्थंभूतः स भिक्षुः । आह—

दश० ४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-५॥

दीप अनुक्रम [४८५--४८९]

षड्जीवनिकायादिषु सर्वाध्ययनेष्वयमर्थोऽभिहितः किमर्थं पुनरुक्त इति, उच्यते, तदुक्तार्थानुष्ठानपर एव भिक्षुरिति ज्ञापनार्थं, ततश्च न दोष इति सूत्रार्थः ॥२॥ तथा 'अनिलेन' अनिलहेतुना चेलकर्णादिना न वीजयत्यात्मादि स्वयं न वीजयति परैः। 'हरितानि' शष्पादीनि न छिनत्ति स्वयं न छेदयति परैः, 'बीजानि' हरितफलरूपाणि व्रीह्यादीनि 'सदा' सर्वकालं विवर्जयन् संघट्टनादिक्रियया, सचित्तं नाहारयति यः कदाचिदप्यपुष्टालम्बनः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ औद्देशिकादिपरिहारेण त्रसस्थावरपरिहारमाह—'वधनं' हननं 'त्रसस्थावराणां' द्वीन्द्रियादिपृथिव्यादीनां भवति कृतौद्देशिके, किंविशिष्टानाम्?—'पृथिवीतृणकाष्ठनिश्रितानां' तथासमारम्भात्, यस्मादेवं तस्मादौद्देशिकं कृताद्यन्यच्च सावद्यं न भुङ्क्ते, न केवलमेतत्, किंतु? नापि पचति स्वयं न पाचयति अन्यैर्न पचन्तमनुजानाति यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ किंच—'रोचयित्वा' विधिग्रहणभावनाभ्यां प्रियं कृत्वा, किं तदित्याह—'ज्ञातपुत्रवचनं' भगवन्महावीरवर्धमानवचनम् 'आत्मसमान्' आत्मतुल्यान् मन्यते 'षडपि कायान्' पृथिव्यादीन्, 'पञ्च चे'ति चशब्दोऽप्यर्थः पञ्चापि 'स्पृशति' सेवते महाव्रतानि 'पञ्चाश्रवसंवृतश्च' द्रव्यतोऽपि पञ्चेन्द्रियसंवृतश्च यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे । अहणे निज्जायरूवरयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ ६ ॥ सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६-१०||

दीप अनुक्रम [४९०--४९४]

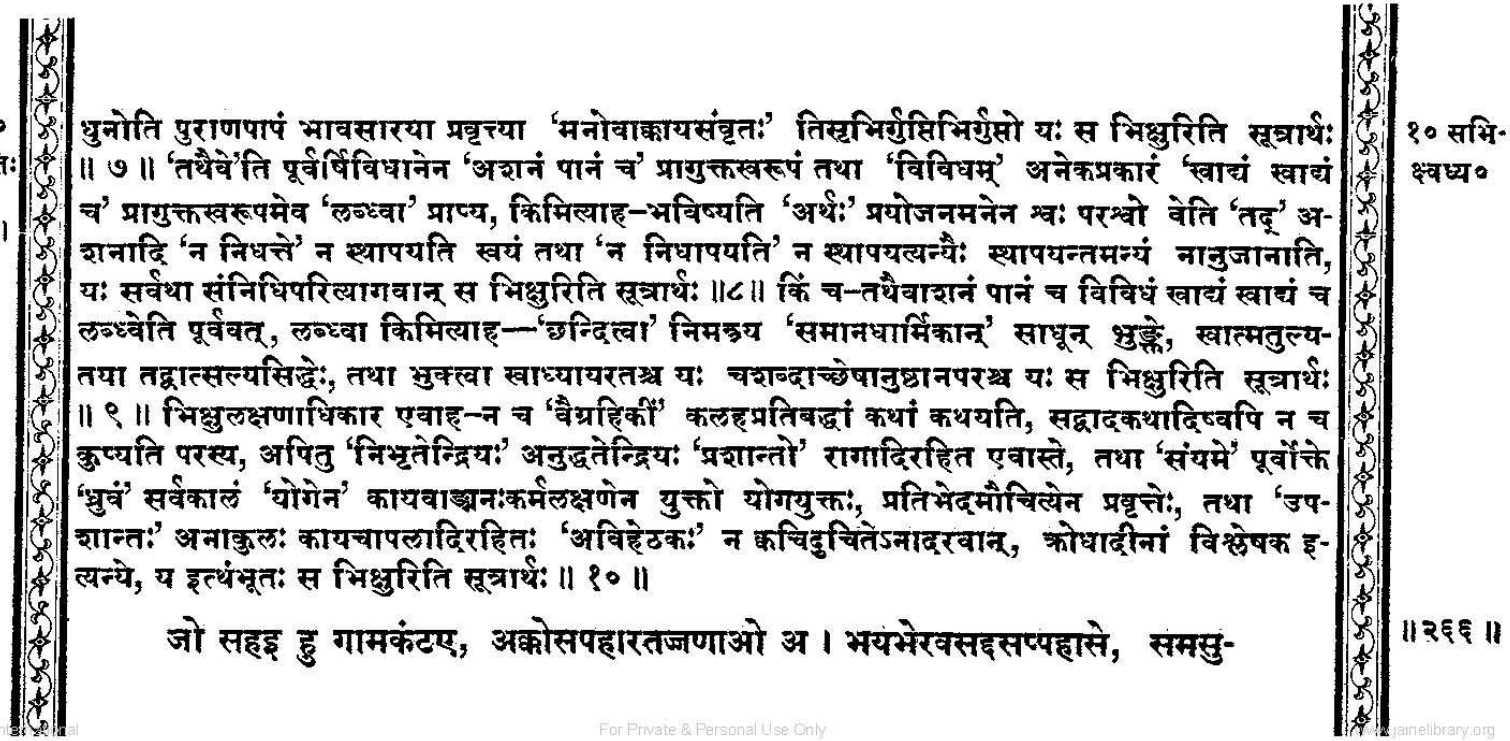
तवे संजमे अ । तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ ७ ॥ तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता । होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥ ८ ॥ तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता । छंदिअ साहम्मिआण भुंजे, भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥ ९ ॥ न य वुग्गहिअं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते । संजमे धुवं जोगेण जुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

किं च–चतुरः क्रोधादीन् वमति तत्प्रतिपक्षाभ्यासेन 'सदा' सर्वकालं कषायान्, ध्रुवयोगी च–उचितनित्ययोगवांश्च भवति, बुद्धवचन इति तृतीयार्थे सप्तमी, तीर्थकरवचनेन करणभूतेन, ध्रुवयोगी भवति यथागममेवेति भावः, 'अधनः' चतुष्पदादिरहितः 'निर्जातरूपरजतो' निर्गतसुवर्णरूप्य इति भावः, 'गृहियोगं' मूर्च्छया गृहस्थसंबन्धं 'परिवर्जयति' सर्वैः प्रकारैः परित्यजति यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ तथा—'सम्यग्दृष्टिः' भावसम्यगदर्शनी सदा 'अमूढः' अविप्लुतः सन्नेवं मन्यते–अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्ममलापनयनजलकल्पं संयमश्च नवकर्मानुपादानरूपः, इत्थं च दृढभावस्तपसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-१०॥

दीप अनुक्रम [४९०--४९४]



दशवैका० हारि-वृत्तिः ॥ २६६ ॥

धुनोति पुराणपापं भावसारया प्रवृत्त्या 'मनोवाक्कायसंवृतः' तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तो यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ 'तथैवे'ति पूर्वर्षिविधानेन 'अशनं पानं च' प्रागुक्तस्वरूपं तथा 'विविधम्' अनेकप्रकारं 'खाद्यं स्वाद्यं च' प्रागुक्तस्वरूपमेव 'लब्ध्वा' प्राप्य, किमित्याह–भविष्यति 'अर्थः' प्रयोजनमनेन श्वः परश्वो वेति 'तद्' अशनादि 'न निधत्ते' न स्थापयति स्वयं तथा 'न निधापयति' न स्थापयत्यन्यैः स्थापयन्तमन्यं नानुजानाति, यः सर्वथा संनिधिपरित्यागवान् स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥८॥ किं च–तथैवाशनं पानं च विविधं खाद्यं स्वाद्यं च लब्ध्वेति पूर्ववत्, लब्ध्वा किमित्याह—'छन्दित्वा' निमन्त्र्य 'समानधार्मिकान्' साधून् भुङ्क्ते, स्वात्मतुल्यतया तद्वात्सल्यसिद्धेः, तथा भुक्त्वा स्वाध्यायरतश्च यः चशब्दाच्छेषानुष्ठानपरश्च यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ भिक्षुलक्षणाधिकार एवाह–न च 'वैग्रहिकीं' कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति, सद्वादकथादिष्वपि न च कुप्यति परस्य, अपितु 'निभृतेन्द्रियः' अनुद्धतेन्द्रियः 'प्रशान्तो' रागादिरहित एवास्ते, तथा 'संयमे' पूर्वोक्ते 'ध्रुवं' सर्वकालं 'योगेन' कायवाङ्मनःकर्मलक्षणेन युक्तो योगयुक्तः, प्रतिभेदमौचित्येन प्रवृत्तेः, तथा 'उपशान्तः' अनाकुलः कायचापलादिरहितः 'अविहेठकः' न क्वचिदुचितेऽनादरवान्, क्रोधादीनां विश्लेषक इत्यन्ये, य इत्थंभूतः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ अ । भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसु-

१० सभिक्ष्वध्य० ॥२६६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१५॥

दीप अनुक्रम [४९५--४९९]

हदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ॥ ११ ॥ पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे, नो भीयए भय-भेरवाइं दिस्स । विविहगुणतवोरए अ निच्चं, न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥ १२ ॥ असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए लूसिए वा । पुढविसमे मुणी हविज्जा, अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥ १३ ॥ अभिभूअ काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं । विइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥ १४ ॥ हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए । अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥ १५ ॥

किंच–यः खलु महात्मा सहते 'सम्यग्ग्रामकण्टकान्' ग्रामा–इन्द्रियाणि तद्दुःखहेतवः कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह–आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाश्चेति, तत्राक्रोशो यकारादिभिः प्रहाराः कशादिभिः तर्जना असूयादिभिः, तथा 'भैरवभया' अत्यन्तरौद्रभयजनकाः शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते तत्तथा तस्मिन्, वैतालादिकृतार्त्तनादाट्टहास इत्यर्थः, अत्रोपसर्गेषु सत्सु समसुखदुःखसहश्च–यः अचलितसामा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१५॥

दीप अनुक्रम [४९५--४९९]

यिकभावः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'प्रतिमां' मासादिरूपां 'प्रतिपद्य' विधिनाऽङ्गीकृत्य 'श्मशाने' पितृवने 'न बिभेति' न भयं याति 'भैरवभयानि दृष्ट्वा' रौद्रभयहेतूनुपलभ्य वैतालादिरूपशब्दादीनि 'विविधगुणतपोरतश्च नित्यं' मूलगुणाद्यनशनादिसक्तश्च सर्वकालं, न शरीरमभिकाङ्क्षते निःस्पृहतया वार्त्तमानिकं भावि च, य इत्थंभूतः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ न सकृदसकृत्सर्वदेत्यर्थः, किमित्याह—'व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः' व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देहः–शरीरं येन स तथाविधः, आक्रुष्टो वा यकारादिना हतो वा दण्डादिना लूषितो वा खड्गादिना भक्षितो वा श्वश्रृगालादिना 'पृथिवीसमः' सर्वसहो मुनिर्भवति, न च रागादिना पीड्यते, तथा 'अनिदानो' भाविफलाशंसारहितः, अकुतूहलश्च नटादिषु, य एवंभूतः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ भिक्षुस्वरूपाभिधानाधिकार एवाह—'अभिभूय' पराजित्य 'कायेन' शरीरेणापि, न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या मनोवाग्भ्यामेव, कायेनानभिभवे तत्त्वतस्तदनभिभवात्, 'परीषहान्' क्षुदादीन्, 'समुद्धरति' उत्तारयति 'जातिपथात्' संसारमार्गादात्मानं, कथमित्याह—'विदित्वा' विज्ञाय जातिमरणं संसारमूलं 'महाभयं' महाभयकारणं, 'तपसि रतः' तपसि सक्तः, किंभूत इत्याह—'श्रामण्ये' श्रमणानां संबन्धिनि, शुद्ध इति भावः, य एवंभूतः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥१४॥ तथा हस्तसंयतः पादसंयत इति–कारणं विना कूर्मवल्लीन आस्ते कारणे च सम्यग्गच्छति, तथा वाक्संयतः अकुशलवाग्निरोधकुशलवागुदीरणेन, 'संयतेन्द्रियो' निवृत्तविषयप्रसरः, 'अध्यात्मरतः' प्रशस्तध्यानासक्तः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--२१॥

दीप अनुक्रम [५००--५०५]

सुसमाहितात्मा ध्यानापादकगुणेषु, तथा सूत्रार्थं च यथावस्थितं विधिग्रहणशुद्धं विजानाति यः सम्यग्यथाविषयं स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

उवहिंमि अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए । कयविक्कयसंनिहिओ विरए, सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥ १६ ॥ अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे, उंछं चरे जीविअ नाभिकंखे । इड्ढिं च सक्कारणपूअणं च, चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥ १७ ॥ न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा । जाणिअ पत्तेअं पुण्णपावं, अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ १८ ॥ न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएण मत्ते । मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥ पवेअए अज्जपयं महामुणी, धम्मे ठिओ ठावयई परं पि । निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंगं, न आवि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥ २० ॥ तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा । छिंदित्तु जाईमरणस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--२१॥

दीप अनुक्रम [५००--५०५]

बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ २१ ॥ ति बेमि ॥ सभिक्खुअज्झयणं दसमं समत्तं ॥ १० ॥

तथा—'उपधौ' वस्त्रादिलक्षणे 'अमूर्च्छितः' तद्विषयमोहत्यागेन 'अगृद्धः' प्रतिबन्धाभावेन, अज्ञातोञ्छं चरति भावपरिशुद्धं, स्तोकं स्तोकमित्यर्थः, 'पुलाकनिष्पुलाक' इति संयमासारतापादकदोषरहितः, 'क्रय-विक्रयसंनिधिभ्यो विरतः' द्रव्यभावभेदभिन्नक्रयविक्रयपर्युषितस्थापनेभ्यो निवृत्तः, 'सर्वसङ्गापगतश्च यः' अपगतद्रव्यभावसङ्गश्च यः, स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ किंच–अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपरो 'भिक्षुः' साधुः न रसेषु गृद्धः, प्राप्तेष्वप्यप्रतिबद्ध इति भावः, उञ्छं चरति भावोञ्छमेवेति पूर्ववत्, नवरं तत्रोपधि-माश्रित्योक्तमिह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यं, तथा जीवितं नाभिकाङ्क्षते, असंयमजीवितं, तथा 'ऋद्धिं च' आ-मर्षौषध्यादिरूपां सत्कारं वस्त्रादिभिः पूजनं च स्तवादिना त्यजति, नैतदर्थमेव यतते, स्थितात्मा ज्ञाना-दिषु, 'अनिभ' इत्यमायो यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ तथा न 'परं' स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तं वदति–अयं कुशीलः, तदप्रीत्यादिदोषप्रसङ्गात्, स्वपक्षविनेयं तु शिक्षाग्रहणबुद्ध्या वदत्यपि, सर्वथा येनान्यः कश्चित् कुप्यति न तद् ब्रवीति दोषसद्भावेऽपि, किमित्यत आह–ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं, नान्यसंबन्ध्यन्यस्य भवति अग्निदाहवेदनावत्, एवं सत्स्वपि गुणेषु नात्मानं समुत्कर्षति–न स्वगुणैर्गर्वमायाति यः स भिक्षुरिति सू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--२१॥

दीप अनुक्रम [५००--५०५]

त्रार्थः ॥ १८ ॥ मदप्रतिषेधार्थमाह–न जातिमत्तो यथाऽहं ब्राह्मणः क्षत्रियो वा, न च रूपमत्तो यथाऽहं रूपवानादेयः, न लाभमत्तो यथाऽहं लाभवान्, न श्रुतमत्तो यथाऽहं पण्डितः, अनेन कुलमदादिपरिग्रहः, अत एवाह–मदान् सर्वान् कुलादिविषयानपि 'परिवर्ज्य' परित्यज्य 'धर्मध्यानरतो' यो यथागमं तत्र सक्तः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ किंच—'प्रवेदयति' कथयति 'आर्यपदं' शुद्धधर्मपदं परोपकाराय 'महामुनिः' शीलवान् ज्ञाता एवंभूत एव वस्तुतो नान्यः, किमित्येतदेवमित्यत आह–धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि–श्रोतारं, तत्रादेयभावप्रवृत्तेः, तथा निष्क्रम्य वर्जयति 'कुशीललिङ्गम्' आरम्भादि कुशीलचेष्टितं, तथा 'न चापि हास्यकुहको' न हास्यकारिकुहकयुक्तो यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ २० ॥ भिक्षुभावफलमाह—'तं देहवास'मित्येवं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं चारकरूपं शरीरावासम् अशुचिं शुक्रशोणितोद्भवत्वादिना अशाश्वतं प्रतिक्षणपरिणत्या सदा त्यजति ममत्वानुबन्धत्यागेन, क इत्याह—'निःसंहिते' मोक्षसाधने सम्यग्दर्शनादौ 'स्थितात्मा' अत्यन्तसुस्थितः, स चैवंभूतश्छित्त्वा 'जातिमरणस्य' संसारस्य 'बन्धनं' कारणम् 'उपैति' सामीप्येन गच्छति 'भिक्षुः' यतिः 'अपुनरागमां' पुनर्जन्मादिरहितामित्यर्थः, गतिमिति–सिद्धिगतिं, ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ उक्तोऽनुगमो, नयाः पूर्ववत्, इति व्याख्यातं सभिक्षवध्ययनम् ॥ १० ॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिविरचितायां श्रीदशवैकालिकबृहद्वृत्तौ दशममध्ययनम् ॥ १० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं – १० परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

अथ चूलिके ।

अधुनौघतश्चूडे आरभ्येते, अनयोश्चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने भिक्षुगुणयुक्त एव भिक्षुरुक्तः, स चैवंभूतोऽपि कदाचित् कर्मपरतन्त्रत्वात् कर्मणश्च बलवत्त्वात् सीदेद्, अतस्तत्स्थिरीकरणं कर्त्तव्यमिति तदर्थाधिकारवच्चूडाद्वयमभिधीयते, तत्र चूडाशब्दार्थमेवाभिधातुकाम आह—

दव्वे खेत्ते काले भावम्मि अ चूलिआय निक्खेवो । तं पुण उत्तरतंतं सुअगहिअत्थं तु संगहणी ॥ ३५९ ॥

नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्याह—'द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च' द्रव्यादिविषयः चूडाया 'निक्षेपो' न्यास इति तत्पुनश्चूडाद्वयम् 'उत्तरतंत्रं' दशवैकालिकस्य आचारपञ्चचूडावत्, एतच्चोत्तरतन्त्रं 'श्रुतगृहीतार्थमेव' दशवैकालिकाख्यश्रुतेन गृहीतोऽर्थोऽस्येति विग्रहः, यद्येवमपार्थकमिदं, नेत्याह—'संग्रहणी' तदुक्तानुक्तार्थसंक्षेप इति गाथार्थः ॥ द्रव्यचूडादिव्याचिख्यासयाऽऽह—

दव्वे सचित्ताई कुक्कुडचूडामणीमऊराई । खेत्तंमि लोगनिक्कुड मंदरचूडा अ कूडाई ॥ ३६० ॥

'द्रव्य' इति द्रव्यचूडा आगमनोआगमज्ञशरीरेतरादि, व्यतिरिक्ता त्रिविधा 'सचित्ताद्या' सचित्ता अचित्ता मिश्रा च, यथासंख्यं दृष्टान्तमाह–कुक्कुटचूडा सचित्ता मणिचूडा अचित्ता मयूरशिखा मिश्रा । 'क्षेत्र'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

चूलिका -१- "रतिवाक्य" आरभ्यते

***'चूडा'शब्दस्य नामादि षड् निक्षेपाः

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

इति क्षेत्रचूडा लोकनिष्कुटा उपरिवर्त्तिनः, मन्दरचूडा च पाण्डुकम्बला कूटादयश्च तदन्यपर्वतानां, क्षेत्रप्राधान्यात्, आदिशब्दादधोलोकस्य सीमन्तकः तिर्यग्लोकस्य मन्दर ऊर्ध्वलोकस्येषत्प्राग्भारेति गाथार्थः ॥

अइरित्त अहिगमासा अहिगा संवच्छरा अ कालंमि । भावे खओवसमिए इमा उ चूडा मुणेअव्वा ॥ ३६१ ॥

'अतिरिक्ता' उचितकालात् समधिका 'अधिकमासकाः' प्रतीताः, अधिकाः संवत्सराश्च षष्ट्यब्दाद्यपेक्षया 'काल' इति कालचूडा, 'भाव' इति भावचूडा क्षायोपशमिके भावे इयमेव द्विप्रकारा चूडा 'मन्तव्या' विज्ञेया क्षायोपशमिकत्वाच्छ्रुतस्येति गाथार्थः ॥ तत्रापि प्रथमा रतिवाक्यचूडा, अस्याश्चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे रतिवाक्येति द्विपदं नाम, तत्र रतिनिक्षेप उच्यते–तत्रापि नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यभावरत्यभिधित्सयाऽऽह—

दव्वे दुहा उ कम्मे नोकम्मरई अ सद्ददव्वाई । भावरई तस्सेव उ उदए एमेव अरईवि ॥ ३६२ ॥

द्रव्यरतिरागमनोआगमज्ञशरीरेतरातिरिक्ता द्विधा–कर्मद्रव्यरतिर्नोकर्मद्रव्यरतिश्च, तत्र कर्मद्रव्यरती रतिवेदनीयं कर्म, एतच्च बद्धमनुदयावस्थं गृह्यते नोकर्मद्रव्यरतिस्तु शब्दादिद्रव्याणि, आदिशब्दात् स्पर्शरसादिपरिग्रहः रतिजनकानि–रतिकारणानि । भावरतिः 'तस्यैव तु' रतिवेदनीयस्य कर्मण उदये भवति, एवमेवारतिरपि द्रव्यभावभेदभिन्ना यथोक्तरतिप्रतिपक्षतो विज्ञेयेति गाथार्थः ॥ उक्ता रतिः, इदानीं वाक्यमतिदिशन्नाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य-भावौ रति-अरत्योः विवेचनं क्रियते

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

वक्कं तु पुव्वभणिअं धम्मे रइकारगाणि वक्काणि । जेणमिमीए तेणं रइवक्केसा हवइ चूडा ॥ ३६३ ॥

वाक्यं तु पूर्वभणितं–वाक्यशुद्ध्यध्ययनेऽनेकप्रकारमुक्तं 'धर्मे' चारित्ररूपे 'रतिकारकाणि' रतिजनकानि तानि च वाक्यानि येन कारणेन 'अस्यां' चूडायां तेन निमित्तेन रतिवाक्यैषा चूडा, रतिकर्तृणि वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्येति गाथार्थः॥ इह च रत्यभिधानं सम्यक्सहनेन गुणकारिणीत्वोपदर्शनार्थम् । आह च—

जह नाम आउरस्सिह सीवणछेज्जेसु कीरमाणेसु । जंतणमपत्थकुच्छाऽऽमदोसविरई हिअकरी उ ॥ ३६४ ॥

यथा नामेति प्रसिद्धमेतत् 'आतुरस्य' शरीरसमुत्थेन आगन्तुकेन वा व्रणेन ग्लानस्य 'इह' लोके 'सीवनच्छेदेषु' सीवनच्छेदनकर्मसु क्रियमाणेषु सत्सु, किमित्याह–यन्त्रणं गलयन्त्रादिना 'अपथ्यकुत्सा' अपथ्यप्रतिषेधः 'आमदोषविरतिः' अजीर्णदोषनिवृत्तिः हितकारिण्येव विपाकसुन्दरत्वादिति गाथार्थः ॥ दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

अट्ठविहकम्मरोगाउरस्स जीअस्स तह तिगिच्छाए । धम्मे रई अधम्मे अरई गुणकारिणी होइ ॥ ३६५ ॥

'अष्टविधकर्मरोगातुरस्य' ज्ञानावरणीयादिरोगेण भावग्लानस्य 'जीवस्य' आत्मनः 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'चिकित्सायां' संयमरूपायां प्रक्रान्तायामलानलोचादिना पीडाभावेऽपि 'धर्मे' श्रुतादिरूपे 'रतिः' आसक्तिः 'अधर्मे' तद्विपरीते 'अरतिः' अनासक्तिर्गुणकारिणी भवति, निर्वाणसाधकत्वेनेति गाथार्थः ॥ एतदेव स्पष्टयति—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

सज्झायसंजमतवे वेआवच्चे अ झाणजोगे अ । जो रमइ नो रमइ अस्संजमम्मि सो वच्चई सिद्धिं ॥ ३६६ ॥

स्वाध्याये–वाचनादौ संयमे–पृथिवीकायसंयमादौ तपसि–अनशनादौ वैयावृत्त्ये च–आचार्यादिविषये ध्यानयोगे च–धर्मध्यानादौ यो 'रमते' स्वाध्यायादिषु सक्त आस्ते, तथा 'न रमते' न सक्त आस्ते 'असंयमे' प्राणातिपातादौ स 'व्रजति सिद्धिं' गच्छति मोक्षम्। इह च संयमतपोग्रहणे सति स्वाध्यायादिग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ उपसंहरन्नाह—

तम्हा धम्मे रइकारगाणि अरइकारगाणि उ(य) अहम्मे । ठाणाणि ताणि जाणे जाइं भणिआइं अज्झयणे ॥ ३६७ ॥

तस्माद् 'धर्मे' चारित्ररूपे 'रतिकारकाणि' रतिजनकानि 'अरतिकारकाणि च' अरतिजनकानि च 'अधर्मे' असंयमे स्थानानि 'तानि' वक्ष्यमाणानि जानीयात् यानि 'भणितानि' प्रतिपादितानि इह अध्ययने प्रक्रान्त इति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादि पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

इह खलु भो! पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सिगयंकुसपोयपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं भवंति–तंजहा–हंभो! दुस्समाए दुप्पजीवी १, लहुसगा इत्त-

दश० ४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५०६]

रिआ गिहीणं कामभोगा २, भुज्जो अ साइबहुला मणुस्सा ३, इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सई ४, ओमजणपुरक्कारे ५, वंतस्स य पडिआयणं ६, अहरगइवासोवसंपया ७, दुल्लहे खलु भो! गिहीणं धम्मे गिहवासमज्झे वसंताणं ८, आयंके से वहाय होइ ९, संकप्पे से वहाय होइ १०, सोवक्केसे गिहवासे निरुवक्केसे परिआए ११, बंधे गिहवासे मुक्खे परिआए १२, सावज्जे गिहवासे अणवज्जे परिआए १३, बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा १४, पत्तेअं पुण्णपावं १५, अणिच्चे खलु भो! मणुआण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले १६, बहुं च खलु भो! पावं कम्मं पगडं १७, पावाणं च खलु भो! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिन्नाणं दुप्पडिकंताणं वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता १८ । अट्ठारसमं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो–

'इह खलु भोः प्रव्रजितेन' इहेति जिनप्रवचने खलुशब्दोऽवधारणे स च भिन्नक्रम इति दर्शयिष्यामः, भो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५०६]

इत्यामन्त्रणे, प्रव्रजितेन–साधुना, किंविशिष्टेनेत्याह—'उत्पन्नदुःखेन' संजातशीतादिशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन 'संयमे' व्यावर्णितस्वरूपे 'अरतिसमापन्नचित्तेन' उद्वेगगताभिप्रायेण संयमनिर्विण्णभावेनेत्यर्थः, स एव विशेष्यते—'अवधानोत्प्रेक्षिणा' अवधानम्–अपसरणं संयमादुत्–प्राबल्येन प्रेक्षितुं शीलं यस्य स तथाविधस्तेन, उत्प्रव्रजितुकामेनेति भावः, 'अनवधावितेनैव' अनुत्प्रव्रजितेनैव 'अमूनि' वक्ष्यमाणलक्षणान्यष्टादश स्थानानि 'सम्यग्' भावसारं 'सुष्ठु प्रेक्षितव्यानि' सुष्ठ्वालोचनीयानि भवन्तीति योगः, अवधावितस्य तु प्रत्युपेक्षणं प्रायोऽनर्थकमिति । तान्येव विशेष्यन्ते—'हयरश्मिगजाङ्कुशपोतपताकाभूतानि' अश्वखलिनगजाङ्कुशवोहित्थसितपटतुल्यानि, एतदुक्तं भवति–यथा हयादीनामुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां रश्म्यादयो नियमनहेतवस्तथैतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां भव्यसत्त्वानामिति, यतश्चैवमतः सम्यक् संप्रत्युपेक्षितव्यानि भवन्ति, खलुशब्दोऽवधारणे, योगात्सम्यक्–सम्यगेव संप्रत्युपेक्षितव्यान्येवेत्यर्थः 'तद्यथे'त्यादि, तद्यथेत्युपन्यासार्थः, 'हंभो दुष्षमायां दुष्प्रजीविन' इति हंभो–शिष्यामन्त्रणे दुष्षमायाम्–अधमकालाख्यायां कालदोषादेव दुःखेन–कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीला दुष्प्रजीविनः, प्राणिन इति गम्यते, नरेन्द्रादीनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्शनात्, उदारभोगरहितेन च विडम्बनाप्रायेण कुगतिहेतुना किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम् १ । तथा 'लघव इत्वरा गृहिणां कामभोगाः', दुष्षमायामिति वर्त्तते, सन्तोऽपि 'लघवः' तुच्छाः प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः 'इत्वरा' अल्पकालाः 'गृहिणां' गृह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानां 'कामभोगा' मदनकामप्रधानाः शब्दादयो विषया विपाककटवश्च, न देवानामिव विपरीताः, अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं स्थानम् २। तथा 'भूयश्च खातिबहुला मनुष्याः' दुष्षमायामिति वर्त्तत एव, पुनश्च 'खातिबहुला' मायाप्रचुरा 'मनुष्या' इति प्राणिनो, न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानां च कीदृक्सुखं?, तथा मायाबन्धहेतुत्वेन दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानं ३। तथा 'इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति' 'इदं च' अनुभूयमानं मम श्रामण्यमनुपालयतो 'दुःखं' शारीरमानसं कर्मफलं परीषहजनितं न चिरकालमुपस्थातुं शीलं भविष्यति, श्रामण्यपालनेन परीषहनिराकृतेः कर्मनिर्जरणात्संयमराज्यप्राप्तेः, इतरथा महानरकादौ विपर्ययः, अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानं ४। तथा 'ओमजणपुरस्कार'मिति न्यूनजनपूजा, प्रव्रजितो हि धर्मप्रभावाद्राजामात्यादिभिरभ्युत्थानासनाञ्जलिप्रग्रहादिभिः पूज्यते, उत्प्रव्रजितेन तु न्यूनजनस्यापि खव्यसनगुप्तयेऽभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा वेष्टिप्रयोक्तुः खरकर्मणो नियमत एव इहैवेदमधर्मफलम् अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानम् ५। एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया, तथा 'वान्तस्य प्रत्यापानं' भुक्तोज्झितपरिभोग इत्यर्थः, अयं च श्वशृगालादिक्षुद्रसत्त्वाचरितः सतां निन्द्यो व्याधिदुःखजनकः, वान्ताश्च भोगाः प्रव्रज्याङ्गीकरणेन, एतत्प्रत्यापानमप्येवं चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् ६। तथा 'अधरगतिवासोपसंपत्' अधो(धर)गतिः–नरकतिर्यग्गतिस्तस्यां वसनमधोगतिवासः, एतन्निमित्तभूतं कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५०६]

गृह्यते, तस्योपसंपत्–सामीप्येनाङ्गीकरणं यदेतदुत्प्रव्रजनम्, एवं चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानं ७। तथा 'दुर्लभः खलु भो! गृहिणां धर्मः' इति प्रमादबहुलत्वाद्दुर्लभ एव 'भो' इत्यामन्त्रणे गृहस्थानां परमनिर्वृतिजनको धर्मः, किंविशिष्टानामित्याह—'गृहपाशमध्ये वसता'मित्यत्र गृहशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते, तन्मध्ये वसताम्, अनादिभवाभ्यासादकारणं स्नेहबन्धनम्, एतच्चिन्तनीयमित्यष्टमं स्थानं ८। तथा 'आतङ्कस्तस्य वधाय भवति' 'आतङ्कः' सद्योघाती विषूचिकादिरोगः 'तस्य' गृहिणो धर्मबन्धुरहितस्य 'वधाय' विनाशाय भवति, तथा वधश्चानेकवधहेतुः, एवं चिन्तनीयमिति नवमं स्थानं ९। तथा 'संकल्पस्तस्य वधाय भवति' 'संकल्प' इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानस आतङ्कः, 'तस्य' गृहिणस्तथा चेष्टायोगान्मिथ्याविकल्पाभ्यासेन ग्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवति, एतच्चिन्तनीयमिति दशमं स्थानं १०। तथा 'सोपक्लेशो गृहिवास' इति सहोपक्लेशैः सोपक्लेशो गृहिवासो–गृहाश्रमः, उपक्लेशाः–कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः पण्डितजनगर्हिताः शीतोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेति, एवं चिन्तनीयमित्येकादशं स्थानं ११। तथा 'निरुपक्लेशः पर्याय' इति, एभिरेवोपक्लेशैः रहितः प्रव्रज्यापर्यायः, अनारम्भी कुचिन्तापरिवर्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येवं चिन्तनीयमिति द्वादशं स्थानं १२। तथा 'बन्धो गृहवासः' सदा तद्धेत्वनुष्ठानात्, कोशकारकीटवदिति, एतच्चिन्तनीयमिति त्रयोदशं स्थानं १३। तथा 'मोक्षः पर्यायः' अनवरतं कर्मनिगडविगमान्मुक्तवदित्येवं चिन्तनीयमिति चतुर्दशं स्थानम् १४। अत एव 'सावद्यो गृहवास' इति सावद्यः–सपापः प्राणातिपातमृषावादादि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५०६]

प्रवृत्तेरेतचिन्तनीयमिति पञ्चदशं स्थानम् १५। एवम् 'अनवद्यः पर्याय' इति अपाप इत्यर्थः, अहिंसादिपालनात्मकत्वाद्, एतच्चिन्तनीयमिति षोडशं स्थानं १६। तथा 'बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा' इति बहुसाधारणाः–चौरराजकुलादिसामान्या 'गृहिणां' गृहस्थानां कामभोगाः पूर्ववदिति, एतच्चिन्तनीयमिति सप्तदशं स्थानं १७। तथा 'प्रत्येकं पुण्यपाप'मिति मातापितृकलत्रादिनिमित्तमप्यनुष्ठितं पुण्यपापं 'प्रत्येकं प्रत्येकं' पृथक् पृथक् येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेवैतदिति भावार्थः, एवमष्टादशं स्थानम् १८ । एतदन्तर्गतो वृद्धाभिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽत्रैव, अन्ये तु व्याचक्षते–सोपक्लेशो गृहिवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं गृह्यते, एवं च बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति चतुर्दशं स्थानम् १४, प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदशं स्थानम् १५, शेषाण्यभिधीयन्ते, तथा 'अनित्यं खलु' अनित्यमेव नियमतः भो इत्यामन्त्रणे 'मनुष्याणां' पुंसां 'जीवितम्' आयुः, एतदेव विशेष्यते–कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलं सोपक्रमत्वादनेकोपद्रवविषयत्वादत्यन्तासारं, तदलं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति षोडशं स्थानं १६, तथा 'बहुं च खलु भोः! पापं कर्म प्रकृतम्' बहु च चशब्दात् क्लिष्टं च खलुशब्दोऽवधारणे बह्वेव पापं कर्म–चारित्रमोहनीयादि 'प्रकृतं' निर्वर्त्तितं, मयेति गम्यते, श्रामण्यप्रासावप्येवं क्षुद्रबुद्धिप्रवृत्तेः, नहि प्रभूतक्लिष्टकर्मरहितानामेवमकुशला बुद्धिर्भवति, अतो न किञ्चित् गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति सप्तदशं स्थानं १७, तथा 'पापानां चे'त्यादि, 'पापानां च' अपुण्यरूपाणां चशब्दात्पुण्यरूपाणां च 'खलु भोः! कृतानां कर्मणां' खलुशब्दः कारितानुमत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५०६]

विशेषणार्थः, भो इति शिष्यामन्त्रणे, 'कृतानां' मनोवाक्काययोगैरोघतो निर्वर्त्तितानां 'कर्मणां' ज्ञानावरणीयाद्यसातवेदनीयादीनां 'प्राक्' पूर्वमन्यजन्मसु 'दुश्चरितानां' प्रमादकषायजदुश्चरितजनितानि दुश्चरितानि, कारणे कार्योपचारात्, दुश्चरितहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात्, एवं 'दुष्पराक्रान्तानां' मिथ्यादर्शनाविरतिजदुष्पराक्रान्तजनितानि दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात्, दुष्पराक्रान्तहेतूनि वा दुष्पराक्रान्तानि, फले हेतूपचारात्, इह च दुश्चरितानि मद्यपानाश्लीलानृतभाषणादीनि, दुष्पराक्रान्तानि वधबन्धनादीनि, तदमीषामेवंभूतानां कर्मणां 'वेदयित्वा' अनुभूय, फलमिति वाक्यशेषः, किम्?—'मोक्षो भवति' प्रधानपुरुषार्थो भवति 'नास्त्यवेदयित्वा' न भवत्यननुभूय, अनेन सकर्मकमोक्षव्यवच्छेदमाह, इष्यते च स्वल्पकर्मोपेतानां कैश्चित्सहकारिनिरोधतस्तत्फलादानवादिभिस्तत्, तदपि नास्त्यवेदयित्वा मोक्षः, तथारूपत्वात् कर्मणः, स्वफलादाने कर्मत्वायोगात्, 'तपसा वा क्षपयित्वा' अनशनप्रायश्चित्तादिना वा विशिष्टक्षायोपशमिकशुभभावरूपेण तपसा प्रलयं नीत्वा, इह च वेदनमुदयप्राप्तस्य व्याधेरिवानारब्धोपक्रमस्य क्रमशः, अन्यानिबन्धनपरिक्लेशेन, तपःक्षपणं तु सम्यगुपक्रमेणानुदीर्णोदीरणदोषक्षपणवदन्यनिमित्तप्रक्रमेणापरिक्लेशमिति, अतस्तपोऽनुष्ठानमेव श्रेय इति न किंचिद्बृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति 'अष्टादशं पदं भवति' अष्टादशं स्थानं भवति १८। 'भवति चात्र श्लोकः' अत्रेत्यष्टादशस्थानार्थव्यतिकरे, उक्तानुक्तार्थसंग्रहपर इत्यर्थः, श्लोक इति च जातिपरो निर्देशः, ततः श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रभूतश्लोकोपन्यासेऽपि न विरोधः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-८॥

दीप अनुक्रम [५०७--५१४]

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा । से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥ १ ॥ जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं । सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥ जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो । देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥ जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो । राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४ ॥ जया अ माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो । सिट्ठि व्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ५ ॥ जया अ थेरओ होइ, समइक्कंतजुव्वणो । मच्छु व्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥ ६ ॥ जया अ कुकुडुंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मइ । हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥ पुत्तदारपरीकिण्णो, मोहसंताणसंतओ । पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ८ ॥

यदा चैवमप्यष्टादशसु व्यावर्त्तनकारणेषु सत्स्वपि 'जहाति' त्यजति 'धर्मं' चारित्रलक्षणम् 'अनार्य' इत्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-८॥

दीप अनुक्रम [५०७--५१४]

नार्य इवानार्यो–म्लेच्छचेष्टितः, किमर्थमित्याह—'भोगकारणात्' शब्दादिभोगनिमित्तं 'स' धर्मत्यागी 'तत्र' तेषु भोगेषु 'मूर्च्छितो' गृद्धो 'बालः' मन्दः 'आयतिम्' आगामिकालं 'नावबुध्यते' न सम्यगवगच्छतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ एतदेव दर्शयति–यदा 'अवधावितः' अपसृतो भवति संयमसुखविभूतेः, उत्प्रव्रजित इत्यर्थः, 'इन्द्रो वे'ति देवराज इव 'पतितः क्ष्मां' क्ष्मां गतः, स्वविभवभ्रंशेन भूमौ पतित इति भावः, क्ष्मा–भूमिः । 'सर्वधर्मपरिभ्रष्टः' सर्वधर्मेभ्यः–क्षान्त्यादिभ्य आसेवितेभ्योऽपि यावत्प्रतिज्ञमननुपालनात् लौकिकेभ्योऽपि वा गौरवादिभ्यः परिभ्रष्टः–सर्वतश्च्युतः, स पतितो भूत्वा 'पश्चात्' मनाग् मोहावसाने 'परितप्यते' किमिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ यदा च वन्द्यो भवति श्रमणपर्यायस्थो नरेन्द्रादीनां पश्चाद्भवत्युन्निष्क्रान्तः सन्नवन्द्यः तदा देवतेव काचिदिन्द्रवर्जा स्थानच्युता सती स पश्चात्परितप्यत इत्येतत्पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ तथा यदा च पूज्यो भवति–वस्त्रभक्तादिभिः श्रामण्यसामर्थ्याल्लोकानां पश्चाद्भवत्युत्प्रव्रजितः सन्नपूज्यो लोकानामेव तदा राजेव राज्यप्रभ्रष्टः महतो भोगाद्विप्रमुक्तः स पश्चात्परितप्यत इति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ यदा च मान्यो भवत्यभ्युत्थानाज्ञाकरणादिना माननीयः शीलप्रभावेण पश्चाद्भवत्यमान्यस्तत्परित्यागेन तदा श्रेष्ठीव 'कर्बटे' महाक्षुद्रसंनिवेशे क्षिप्तः सन्, पश्चात्परितप्यत इत्येतत्समानं पूर्वेणेति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ यदा च स्थविरो भवति स त्यक्तसंयमो वयःपरिणामेन, एतद्विशेषप्रतिपादनायाह–समतिक्रान्तयौवनः, एकान्तस्थविर इति भावः, तदा विपाककटुकत्वाद्भोगानां मत्स्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-८॥

दीप अनुक्रम [५०७--५१४]

इव 'गलं' बडिशं 'गिलित्वा' अभिगृह्य तथाविधकर्मलोहकण्टकविद्धः सन् स पश्चात्परितप्यत इत्येतदपि समानं पूर्वेणेति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ एतदेव स्पष्टयति–यदा च 'कुकुटुम्बस्य' कुत्सितकुटुम्बस्य कुतसिभिः–कुत्सितचिन्ताभिरात्मनः संतापकारिणीभिर्विहन्यते–विषयभोगान् प्रति विघातं नीयते तदा स मुक्तसंयमः सन् परितप्यते पश्चात्, क इव?–यथा हस्ती कुकुटुम्बबन्धनबद्धः परितप्यते ॥ ७ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'पुत्रदारपरिकीर्णो' विषयसेवनात्पुत्रकलत्रादिभिः सर्वतो विक्षिप्तः 'मोहसंतानसंततो' दर्शनादिमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्तः, क इव—'पङ्कावसन्नो नागो यथा' कर्दमावमग्नो वनगज इव स पश्चात्परितप्यते–हा हा किं मयेदमसमञ्जसमनुष्ठितमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ । जइऽहं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥ देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं । रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥ १० ॥ अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं, रयाण परिआइ तहाऽरयाणं । निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं, रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ११ ॥ धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिविज्झाअमिवऽप्पतेअं । हीलंति णं दुव्विहिअं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुसीला, दाढुड्डिअं घोरविसं व नागं ॥ १२ ॥ इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नाम-धिज्जं च पिहुज्जणंमि । चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥ १३ ॥ भुंजित्तु भोगाइं पसज्झचेअसा, तहाविहं कडु असंजमं बहुं । गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं, बोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो ॥ १४ ॥

कश्चित् सचेतनतर एवं च परितप्यत इत्याह—'अद्य तावदहम्' अद्य–अस्मिन् दिवसे अहमित्यात्मनिर्देशे गणी स्याम्–आचार्यो भवेयम् 'भावितात्मा' प्रशस्तयोगभावनाभिः 'बहुश्रुत' उभयलोकहितबहागमयुक्तः, यदि किं स्यादित्यत आह–यद्यहम् 'अरमिष्यं' रतिमकरिष्यं 'पर्याये' प्रव्रज्यारूपे, सोऽनेकभेद इत्याह—'श्रामण्ये' श्रमणानां संबन्धिनि, सोऽपि शाक्यादिभेदभिन्न इत्याह—'जिनदेशिते' निर्ग्रन्थसंबन्धिनीति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ अवधानोत्प्रेक्षिणः स्थिरीकरणार्थमाह—'देवलोकसमानस्तु' देवलोकसदृश एव 'पर्यायः' प्रव्रज्यारूपः 'महर्षीणां' सुसाधूनां 'रतानां' सक्तानां, पर्याय एवेति गम्यते, एतदुक्तं भवति–यथा देवलोके देवाः प्रेक्षणकादिव्यापृता अदीनमनसस्तिष्ठन्त्येवं सुसाधवोऽपि ततोऽधिकं भावतः प्रत्युपेक्षणादिक्रियायां व्यापृताः, उपादेयविशेषत्वात् प्रत्युपेक्षणादेरिति देवलोकसमान एव पर्यायो महर्षीणां रतानामिति । 'अर-तानां च' भावतः सामाचार्यामसक्तानां च, चशब्दाद्विषयाभिलाषिणां च भगवल्लिङ्गविडम्बकानां क्षुद्रस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वानां 'महानरकसदृशो' रौरवादितुल्यस्तत्कारणत्वान्मानसदुःखातिरेकात् तथा विडम्बनाचेति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ एतदुपसंहारेणैव निगमयन्नाह—'अमरोपमम्' उक्तन्यायादेवसदृशं 'ज्ञात्वा' विज्ञाय 'सौख्यमुत्तमं' प्रशमसौख्यं, केषामित्याह—'रतानां पर्याये' सक्तानां सम्यक्प्रत्युपेक्षणादिक्रियाव्यङ्ग्ये श्रामण्ये, तथा अरतानां पर्याय एव, किमित्याह—'नरकोपमं' नरकतुल्यं ज्ञात्वा दुःखम् 'उत्तमं' प्रधानमुक्तन्यायात्, यस्मादेवं रतारतविपाकस्तस्माद् 'रमेत' सक्तिं कुर्यात्, केत्याह—'पर्याये' उक्तस्वरूपे 'पण्डितः' शास्त्रार्थज्ञ इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ पर्यायच्युतस्यैहिकं दोषमाह—'धर्मात्' श्रमणधर्मात् 'भ्रष्टं' च्युतं 'श्रियोऽपेतं' तपोलक्ष्म्या अपगतं 'यज्ञाग्निम्' अग्निष्टोमाद्यनलं विध्यातमिव यागावसानेऽल्पतेजसम्, अल्पशब्दोऽभावे, तेजःशून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः 'हीलयन्ति' कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति पङ्क्त्यपसारणादिना, 'एनम्' उन्निष्क्रान्तं 'दुर्विहितम्' उन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनं 'कुशीलाः' तत्सङ्गोचिता लोकाः, स एव विशेष्यते—'दाढुड्डिअं'ति प्राकृतशैल्या उद्धृतदंष्ट्रम्–उत्खातदंष्ट्रं 'घोरविषमिव' रौद्रविषमिव 'नागं' सर्पं, यज्ञाग्निसर्पोपमानं, लोकनीत्या प्रधानभावादप्रधानभावख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ एवमस्य भ्रष्टशीलस्यौघत ऐहिकं दोषमभिधायैहिकामुष्मिकमाह—'इहैव' इहलोक एव 'अधर्मं' इत्ययमधर्मः, फलेन दर्शयति–यदुत 'अयशः' अपराक्रमकृतं न्यूनत्वं तथा 'अकीर्त्तिः' अदानपुण्यफलप्रवादरूपा तथा 'दुर्नामधेयं च' पुराणः पतित इति कुत्सितनामधेयं च भवति, केत्याह—'पृथग्जने' सामान्यलोकेऽप्यास्तां विशिष्टलोके, कस्येत्याह—'च्युतस्य धर्माद्' उ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१४॥

दीप अनुक्रम [५१५--५२०]

त्प्रव्रजितस्येत्यर्थः, तथा 'अधर्मसेविनः' कलत्रादिनिमित्तं षट्कायोपमर्दकारिणः, तथा 'संभिन्नवृत्तस्य च' अखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धाद् 'अधस्ताद्गतिः' नरकेषूपपात इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह—'स' उत्प्रव्रजितो भुक्त्वा 'भोगान्' शब्दादीन् 'प्रसक्तचेतसा' धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन 'तथाविधम्' अज्ञोचितमधर्मफलं 'कृत्वा' अभिनिर्वर्त्य 'असंयमं' कृष्यादारम्भरूपं 'बहुम्' असंतोषात्प्रभूतं स इत्थंभूतो मृतः सन् गतिं च गच्छति 'अनभिध्याताम्' अभिध्याता–इष्टा न तामनिष्टामित्यर्थः, काचित्सुखाऽप्येवंभूता भवत्यत आह—'दुःखां' प्रकृत्यैवासुन्दरां दुःखजननीं, 'बोधिश्चास्य' जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा 'पुनः पुनः' प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव, प्रवचनविराधकत्वादिति सूत्रार्थः ॥१४॥

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो, दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो । पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं? ॥ १५ ॥ न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो । न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥ जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं । तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ, उवितवाया व सुदंसणं गिरिं ॥ १७ ॥

दश० ४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५--१८॥

दीप अनुक्रम [५२१--५२४]

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो, आयं उवायं विविहं विआणिआ । काएण वाया अदु माणसेणं, तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ॥ १८ ॥ त्ति बेमि ॥ रइवक्का पढमा चूला समत्ता ॥ १ ॥

यस्मादेवं तस्मादुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजेदित्याह—'अस्य ताव'दित्यात्मन एव निर्देशः, 'नारकस्य जन्तोः' नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः 'दुःखोपनीतस्य' सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य 'क्लेशवृत्तेः' एकान्तक्लेशचेष्टितस्य सतो नरक एव पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं च यथाकर्मप्रत्ययं, किमङ्ग पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखं तथाविधक्लेशदोषरहितम्?, एतत्क्षीयत एव, एतच्चिन्तनेन नोत्प्रव्रजितव्यमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ विशेषेणैतदेवाह–न मम 'चिरं' प्रभूतकालं 'दुःखमिदं' संयमारतिलक्षणं भविष्यति, किमित्यत आह—'अशाश्वती' प्रायो यौवनकालावस्थायिनी 'भोगपिपासा' विषयतृष्णा 'जन्तोः' प्राणिनः, अशाश्वतीत्व एव कारणान्तरमाह—'न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति' न यदि शरीरेणानेन करणभूतेन वृद्धस्यापि सतोऽपयास्यति, तथापि किमाकुलत्वम्?, यतोऽपयास्यति 'जीवितपर्ययेण' जीवितस्यापगमेन–मरणेनेत्येवं निश्चितः स्यादिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ अस्यैव फलमाह—'तस्ये'ति साधोः 'एवम्' उक्तेन, 'आत्मा तु' तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् आत्मैव भवेत् 'निश्चितो' दृढः यः स त्यजेद्देहं क्वचिद्विघ्न उपस्थिते, 'न तु धर्मशासनं' न पुनर्धर्मोज्झामिति, तं 'तादृशं'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मे निश्चितं 'न प्रचालयन्ति' संयमस्थानान्न कम्पयन्ति 'इन्द्रियाणि' चक्षुरादीनि । निदर्शनमाह—'उत्पतद्वाता इव' संपतत्पवना इव 'सुदर्शनं गिरिं' मेरुम्, एतदुक्तं भवति–यथा मेरुं न वाताश्चालयन्ति तथा तमपीन्द्रियाणीति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ उपसंहरन्नाह—'इत्येवम्' अध्ययनोक्तं दुष्प्रजीवित्वादि 'संप्रेक्ष्य' आदित आरभ्य यथावदृष्ट्वा 'बुद्धिमान्नरः' सम्यग्बुद्ध्युपेतः 'आयमुपायं विविधं विज्ञाय' आयः सम्यग्ज्ञानादेः उपायः–तत्साधनप्रकारः कालविनयादिर्विविधः–अनेकप्रकारस्तं ज्ञात्वा, किमित्याह–कायेन वाचाऽथ मनसा–त्रिभिरपि करणैर्यथाप्रवृत्तैस्त्रिगुप्तिगुप्तः सन् 'जिनवचनम्' अर्हदुपदेशम् 'अधितिष्ठेत्' यथाशक्त्या तदुक्तैकक्रियापालनपरो भूयात्, भावायसिद्धौ तत्त्वतो मुक्तिसिद्धेः । ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च पूर्ववदेव । समासं रतिवाक्याध्ययनमिति ॥ १ ॥

॥ इति श्रीदशवैकालिके श्रीहरिभद्रसूरिविरचितबृहद्वृत्त्यां प्रथमा चूलिका ॥ १ ॥

अथ द्वितीया चूलिका ।

व्याख्यातं प्रथमचूडाध्ययनम्, अधुना द्वितीयमारभ्यते, अस्य चौघतः संबन्धः प्रतिपादित एव, विशेषतस्त्वनन्तराध्ययने सीदतः स्थिरीकरणमुक्तम्, इह तु विविक्तचर्योच्यत इत्ययमभिसंबन्धः, एतदेवाह भाष्यकारः—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूलिका -२- "विविक्तचर्या" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१-४॥

दीप अनुक्रम [५२५--५२८]

॥ २७८ ॥

अहिगारो पुव्वुत्तो चउव्विहो विइअचूलिअज्झयणे । सेसाणं दाराणं अहक्कमं फासणा होइ ॥ ६३ ॥ (भाष्यम्)

'अधिकारः'–ओघतः प्रपञ्चप्रस्तावरूपः 'पूर्वोक्तो' रतिवाक्यचूडायां प्रतिपादितः 'चतुर्विधो' नामचूडा स्थापनाचूडेत्यादिरूपो यथा द्वितीयचूडाध्ययने आदानपदेन चूलिकाख्येन, सानुयोगद्वारोपन्यासस्तथैव वक्तव्य इति वाक्यशेषः 'शेषाणां द्वाराणां' सूत्रालापकगतनिक्षेपादीनां 'यथाक्रमं' यथाप्रस्तावं स्पर्शना–ईषद् व्याख्यादिरूपा भवतीति गाथार्थः॥ अत्र च व्यतिकरे सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

चूलिअं तु पवक्खामि, सुअं केवलिभासिअं । जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १ ॥ अणुसोअपट्ठिअबहुजणंमि, पडिसोअलद्धलक्खेणं । पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं ॥ २ ॥ अणुसोअसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं। अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥ तम्हा आयारपरक्कमेणं संवरसमाहिबहुलेणं । चरिआ गुणा अ नियमा अ हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ४ ॥

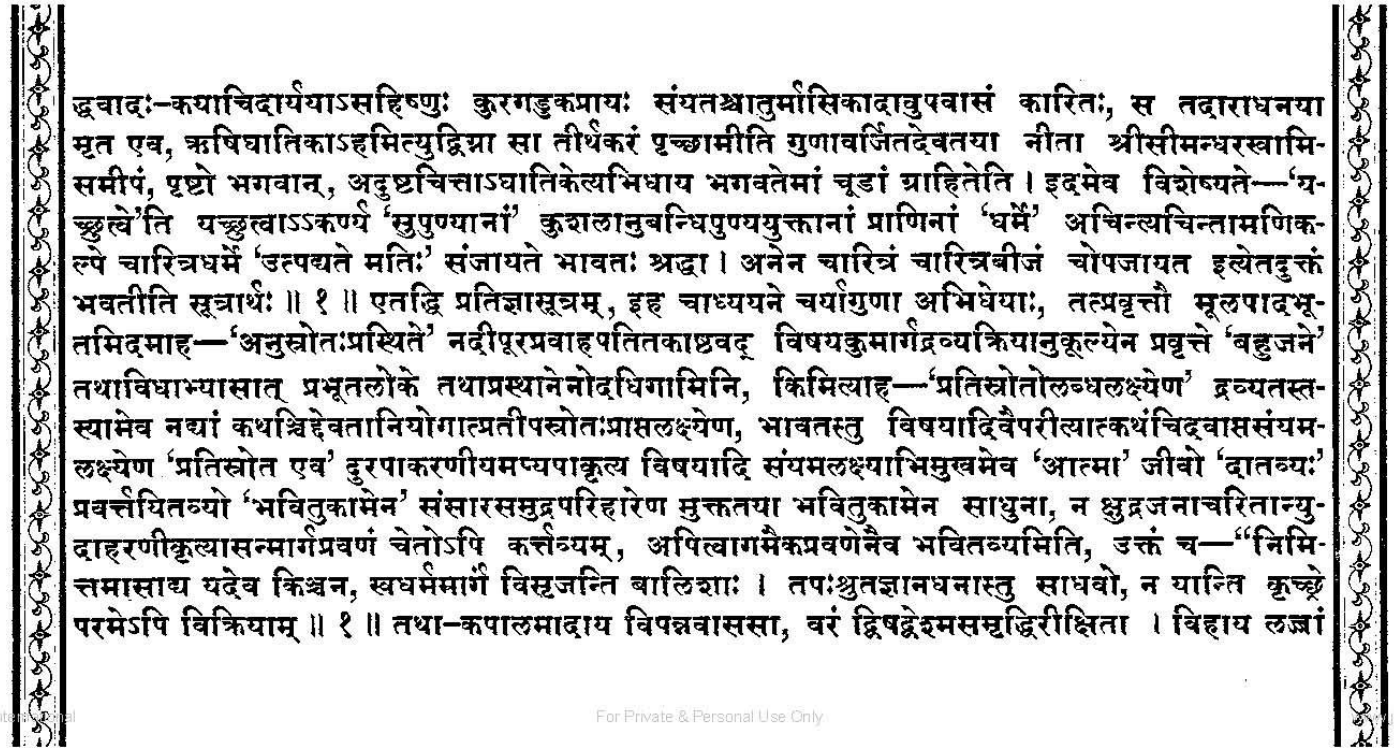
'चूडां तु प्रवक्ष्यामि' चूडां प्राग्व्यावर्णितशब्दार्थां तुशब्दविशेषितां भावचूडां प्रवक्ष्यामीति–प्रकर्षेणावसरप्राप्ताभिधानलक्षणेन कथयामि, 'श्रुतं केवलिभाषित'मिति इयं हि चूडा 'श्रुतं' श्रुतज्ञानं वर्त्तते, कारणे कार्योपचारात्, एतच्च केवलिभाषितम्–अनन्तरमेव केवलिना प्ररूपितमिति सफलं विशेषणम् । एवं च वृ-

॥२७८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१-४||

दीप अनुक्रम [५२५--५२८]



द्धवादः–कयाचिदार्यया ऽसहिष्णुः कुरगडुकप्रायः संयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः, स तदाराधनया मृत एव, ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना सा तीर्थकरं पृच्छामीति गुणावर्जितदेवतया नीता श्रीसीमन्धरस्वामिसमीपं, पृष्टो भगवान्, अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्यभिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति । इदमेव विशेष्यते—'यच्छुत्वे'ति यच्छ्रुत्वाऽऽकर्ण्य 'सुपुण्यानां' कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनां 'धर्मे' अचिन्त्यचिन्तामणिकल्पे चारित्रधर्मे 'उत्पद्यते मतिः' संजायते भावतः श्रद्धा । अनेन चारित्रं चारित्रबीजं चोपजायत इत्येतदुक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ एतद्धि प्रतिज्ञासूत्रम्, इह चाध्ययने चर्यागुणा अभिधेयाः, तत्प्रवृत्तौ मूलपादभूतमिदमाह—'अनुस्रोतःप्रस्थिते' नदीपूरप्रवाहपतितकाष्ठवद् विषयकुमार्गद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते 'बहुजने' तथाविधाभ्यासात् प्रभूतलोके तथाप्रस्थानेनोदधिगामिनि, किमित्याह—'प्रतिस्रोतोलब्धलक्ष्येण' द्रव्यतस्तस्यामेव नद्यां कथञ्चिद्देवतानियोगात्प्रतीपस्रोतःप्राप्तलक्ष्येण, भावतस्तु विषयादिवैपरीत्यात्कथंचिद्वाससंयमलक्ष्येण 'प्रतिस्रोत एव' दुरपाकरणीयमप्यपाकृत्य विषयादि संयमलक्ष्याभिमुखमेव 'आत्मा' जीवो 'दातव्यः' प्रवर्त्तयितव्यो 'भवितुकामेन' संसारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न क्षुद्रजनाचरितान्युदाहरणीकृत्यासन्मार्गप्रवणं चेतोऽपि कर्त्तव्यम्, अपित्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यमिति, उक्तं च—"निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन, स्वधर्ममार्गे विसृजन्ति बालिशाः । तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो, न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥ १ ॥ तथा–कपालमादाय विपन्नवाससा, वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता । विहाय लज्जां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-४॥

दीप अनुक्रम [५२५--५२८]

न तु धर्मवैशसे, सुरेन्द्रता(सा)र्थेऽपि समाहितं मनः ॥२॥ तथा–पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः, प्राप्यापदं सघृण एव विमध्यवुद्धिः । प्राणात्ययेऽपि न तु साधुजनः स्ववृत्तं, वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥ ३ ॥" इत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ अधिकृतमेव स्पष्टयन्नाह—'अनुस्रोतःसुखो लोकः' उदकनिम्नाभिसर्पणवत् प्रवृत्त्याऽनुकूलविषयादिसुखो लोकः, कर्मगुरुत्वात्, 'प्रतिस्रोत एव' तस्माद्विपरीतः 'आश्रवः' इन्द्रियजयादिरूपः परमार्थपेशलः कायवाङ्मनोव्यापारः 'आश्रमो वा' व्रतग्रहणादिरूपः 'सुविहितानां' साधूनाम्, उभयफलमाह—'अनुस्रोतः संसारः' शब्दादिविषयानुकूल्यं संसार एव, कारणे कार्योपचारात्, यथा विषं मृत्युः दधि त्रपुषी प्रत्यक्षो ज्वरः, 'प्रतिस्रोतः' उक्तलक्षणः, तस्येति पञ्चम्यर्थे षष्ठी 'सुपां सुपो भवन्ती'ति वचनात्, 'तस्मात्' संसाराद् 'उत्तारः' उत्तरणमुत्तारः, हेतौ फलोपचारात् यथाऽऽयुर्घृतं तन्दुलान्वर्षति पर्जन्य इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ यस्मादेतदेवमनन्तरोदितं तस्मात् 'आचारपराक्रमेणे'त्याचारे–ज्ञानादौ पराक्रमः–प्रवृत्तिबलं यस्य स तथाविध इति, गमकत्वाद्बहुव्रीहिः, तेनैवंभूतेन साधुना 'संवरसमाधिबहुलेने'ति संवरे–इन्द्रियादिविषये समाधिः–अनाकुलत्वं बहुलं–प्रभूतं यस्य स इति, समासः पूर्ववत्, तेनैवंविधेन सता अप्रतिपाताय विशुद्धये च, किमित्याह—'चर्या' भिक्षुभावसाधनी बाह्याऽनियतवासादिरूपा गुणाश्च–मूलगुणोत्तरगुणरूपाः नियमाश्च–उत्तरगुणानामेव पिण्डविशुद्ध्यादीनां स्वकालासेवननियोगाः 'भवन्ति साधूनां द्रष्टव्या' इत्येते चर्यादयः साधूनां द्रष्टव्या भवन्ति, सम्यग्ज्ञानासेवनप्ररूपणारूपेणेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||५-९||

दीप अनुक्रम [५२९--५३३]

अनिएअवासो समुआणचारिआ, अन्नायउंछं पइरिक्कया अ । अप्पोवही कलहविव-
ज्जणा अ, विहारचरिआ इसिणं पसत्था ॥ ५ ॥ आइन्नओमाणविवज्जणा अ, ओस-
न्नदिट्ठाहडभत्तपाणे । संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा ॥ ६ ॥
अमज्जमंसासि अमच्छरीआ, अभिक्खणं निव्विगइं गया अ । अभिक्खणं काउस्स-
ग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥ ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं
निसिज्जं तह भत्तपाणं । गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिंपि कुज्जा
॥ ८ ॥ गिहिणो वेआवडिअं न कुज्जा, अभिवायणवंदणपूअणं वा । असंकिलिट्ठेहिं
समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ९ ॥

चर्यामाह–अनियतवासो मासकल्पादिना 'अनिकेतवासो वा' अगृहे–उद्यानादौ वासः, तथा 'समुदान-चर्या' अनेकत्र याचितभिक्षाचरणम् 'अज्ञातोञ्छं' विशुद्धोपकरणग्रहणविषयं, 'पइरिक्कया य' विजनैकान्तसेविता च 'अल्पोपधित्वम्' अनुल्बणयुक्तस्तोकोपधिसेवित्वं 'कलहविवर्जना च' तथा तद्वासिना भण्डनविव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-९॥

दीप अनुक्रम [५२९--५३३]

र्जना, विवर्जनं विवर्जना श्रवणकथनादिना परिवर्जनमित्यर्थः। 'विहारचर्या' विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा 'इयम्' एवंभूता 'ऋषीणां' साधूनां प्रशस्ता–व्याक्षेपाभावात् आज्ञापालनेन भावचरणसाधनात्पवित्रेति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ इयं साधूनां विहारचर्येति सूत्रस्पर्शनमाह—

दव्वे सरीरभविओ भावेण य संजओ इहं तस्स । उग्गहिआ पग्गहिआ विहारचरिआ मुणेअव्वा ॥ ३६८ ॥

साधूनां विहारचर्याऽधिकृतेति साधुरुच्यते, स च द्रव्यतो भावतश्च, तत्र 'द्रव्य' इति द्वारपरामर्शः, 'शरीरभव्य' इति मध्यमभेदत्वादागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तद्रव्यसाधूपलक्षणमेतत्, 'भावेन चे'ति द्वारपरामर्शः, स एव 'संयत' इति संयतगुणसंवेदको भावसाधुः। 'इह' अध्ययने 'तस्य' भावसाधोः 'अवगृहीता' उद्यानारामादिनिवासाद्यनियता 'प्रगृहीता' तत्रापि विशिष्टाभिग्रहरूपा उत्कटुकासनादिविहारचर्या 'मन्तव्या' बोद्धव्येति गाथार्थः ॥ सा चेयमिति सूत्रस्पर्शेनाह—

अणिएअं पइरिक्कं अण्णायं सामुआणिअं उंछं । अप्पोवही अकलहो विहारचरिआ इसिपसत्था ॥ ३६९ ॥

व्याख्या सूत्रवद्वसेया । अवयवाक्रमस्तु गाथाभङ्गभयाद्, अर्थतस्तु सूत्रोपन्यासवद्द्रष्टव्य इति ॥ 'विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ते'त्युक्तं तद्विशेषोपदर्शनायाह—'आकीर्णावमानविवर्जना च' विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्तेति, तत्राकीर्ण–राजकुलसंखड्यादि अवमानं–स्वपक्षपरपक्षप्राभृत्यजं लोकाबहुमानादि, अस्य विवर्जना,

१ °कथादिना ब्रि० । परिव० प्र.

॥ २८० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-९॥

दीप अनुक्रम [५२९--५३३]

आकीर्णे हस्तपादादिलूषणदोषात् अवमाने अलाभाधाकर्मादिदोषादिति । तथा 'उत्सन्नदृष्टाहृतं' प्राय उपलब्धमुपनीतम्, उत्सन्नशब्दः प्रायो वृत्तौ वर्त्तते, यथा—"देवा ओसन्नं सायं वेयणं वेएंति" किमेतदित्याह—'भक्तपानम्' ओदनारनालादि, इदं चोत्सन्नदृष्टाहृतं यत्रोपयोगः शुद्ध्यति, त्रिगृहान्तरादारत इत्यर्थः, 'भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ बीओ अ दोसुमुवओग'[2]मिति वचनात्, इत्येवंभूतमुत्सन्नं दृष्टाहृतं भक्तपानमृषीणां प्रशस्तमिति योगः, तथा 'संसृष्टकल्पेन' हस्तमात्रकादिसंसृष्टविधिना चरेद्भिक्षुरित्युपदेशः, अन्यथा पुरःकर्मादिदोषात्, संसृष्टमेव विशिनष्टि—'तज्जातसंसृष्ट' इत्यामगोरसादिसमानजातीयसंसृष्टे हस्तमात्रकादौ यतिः 'यतेत' यत्नं कुर्यात्, अतज्जातसंसृष्टे संसर्जनादिदोषादित्यनेनाष्टभङ्गसूचनं, तद्यथा–संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे' इत्यादि, अत्र प्रथमभङ्गः श्रेयान्, शेषास्तु चिन्त्या इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ उपदेशाधिकार एवेदमाह–अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्यात्, एते च मद्यमांसे लोकागमप्रतीते एव, ततश्च यत्केचनाभिदधति–आरनालारिष्टाद्यपि संधानाद् ओदनाद्यपि प्राण्यङ्गत्वात्त्याज्यमिति, तदसत्, अमीषां मद्यमांसत्वायोगात्, लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, संधानप्राण्यङ्गत्वतुल्यत्वचोदना त्वसाध्वी, अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वस्त्रीत्वतुल्यतया मूत्रपानमातृगमनादिप्रसङ्गादित्यलं प्रसङ्गेन, अक्षरगमनि-

१ देवा उत्सन्नं सातवेदनां वेदयन्ति. २ भिक्षाग्राही एकत्र करोति द्वितीयश्च द्वयोरुपयोगम्. ३ संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकं सावशेषं द्रव्यम्. ४ तके शुभेऽशुभे इत्युक्तेस्तकम् आदिना दध्यादि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-९॥

दीप अनुक्रम [५२९--५३३]

कामाग्रप्रक्रमात्। तथा 'अमत्सरी च' न परसंपद्वेषी च स्यात्, तथा 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे 'निर्विकृतिकश्च' निर्गतविकृतिपरिभोगश्च भवेत्, अनेन परिभोगोचितविकृतीनामप्यकारणे प्रतिषेधमाह, तथा 'अभीक्ष्णं' गमनागमनादिषु, विकृतिपरिभोगेऽपि चान्ये, किमित्याह—'कायोत्सर्गकारी भवेत्' ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत् कुर्याद्, तदशुद्धतापत्तेरिति भावः। तथा 'स्वाध्याययोगे' वाचनाद्युपचारव्यापार आचामाम्लादौ 'प्रयतः' अतिशययत्नपरो भवेत्, तथैव तस्य फलवत्त्वाद् विपर्यय उन्मादादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ किंच—'न प्रतिज्ञापयेत्' मासादिकल्पपरिसमाप्तौ गच्छन् भूयोऽप्यागतस्य ममैवैतानि दातव्यानीति न प्रतिज्ञां कारयेद्गृहस्थं, किमाश्रित्येत्याह—'शयनासने शय्यां निषद्यां तथा भक्तपान'मिति तत्र शयनं–संस्तारकादि आसनं–पीठकादि शय्या–वसतिः निषद्या–स्वाध्यायादिभूमिः 'तथा' तेन प्रकारेण तत्कालावस्थौचित्येन 'भक्तपानं' खण्डखाद्यकद्राक्षापानकादि न प्रतिज्ञापयेत्, ममत्वदोषात्। सर्वत्रैतन्निषेधमाह—'ग्रामे' शालिग्रामादौ 'कुले वा' श्राककुलादौ 'नगरे' साकेतादौ 'देशे वा' मध्यदेशादौ 'ममत्वभावं' ममेदमिति स्नेहमोहं न 'क्वचित्' उपकरणादिष्वपि कुर्यात्, तन्मूलत्वाद्दुःखादीनामिति ॥ ८ ॥ उपदेशाधिकार एवाह—'गृहिणो' गृहस्थस्य 'वैयावृत्त्यं' गृहिभावोपकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यावृत्तभावं न कुर्यात्, स्वपरोभयाश्रेयःसमायोजनदोषात्, तथा अभिवादनं–वाङ्मस्काररूपं वन्दनं–कायप्रणामलक्षणं पूजनं वा–वस्त्रादिभिः समभ्यर्चनं वा गृहिणो न कुर्याद्, उक्तदोषप्रसङ्गादेव, तथैतद्दोषपरिहारायैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-९॥

दीप अनुक्रम [५२९--५३३]

'असंक्लिष्टैः' गृहिवैयावृत्त्यकरणसंक्लेशरहितैः साधुभिः समं वसेन्मुनिः 'चारित्रस्य' मूलगुणादिलक्षणस्य 'यतो' येभ्यः साधुभ्यः सकाशान्न हानिः, संवासतस्तदकृत्यानुमोदनादिनेति, अनागतविषयं चेदं सूत्रं, प्रणयनकाले संक्लिष्टसाध्वभावादिति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा । इक्कोऽवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥ संवच्छरं वाऽवि परं पमाणं, बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा । सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥ जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पगेणं । किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि? ॥ १२ ॥ किं मे परो पासइ किंच अप्पा, किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि । इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥ १३ ॥ जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं । तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥ १४ ॥ जस्सेरिसा जोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१६॥

दीप अनुक्रम [५३४--५४०]

जिइंदिअस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं । तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीअई संजमजीविएणं ॥ १५ ॥ अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं । अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥ १६ ॥ त्ति बेमि ॥ विवित्तचरिआ चूला समत्ता ॥ २ ॥

॥ इइ दसवेआलिअं सुत्तं समत्तं ॥

असंक्लिष्टैः समं वसेदित्युक्तमत्र विशेषमाह–कालदोषाद् 'न यदि लभेत' न यदि कथञ्चित् प्राप्नुयात् 'निपुणं' संयमानुष्ठानकुशलं 'सहायं' परलोकसाधनद्वितीयं, किंविशिष्टमित्याह—'गुणाधिकं वा' ज्ञानादिगुणोत्कटं वा, 'गुणतः समं वा' तृतीयार्थे पञ्चमी गुणैस्तुल्यं वा, वाशब्दाद्धीनमपि जात्यकाञ्चनकल्पं विनीतं वा, ततः किमित्याह–एकोऽपि संहननादियुक्तः 'पापानि' पापकारणान्यसदनुष्ठानानि 'विवर्जयन्' विविधमनेकैः प्रकारैः सूत्रोक्तैः परिहरन् विहरेदुचितविहारेण 'कामेषु' इच्छाकामादिषु 'असज्यमानः' सङ्गमगच्छन्नेकोऽपि विहरेत्, नतु पार्श्वस्थादिपापमित्रसङ्गं कुर्यात्, तस्य दुष्टत्वात्, तथा चान्यैरप्युक्तम्—"वरं विहर्त्तुं सह पन्नगैर्भवेच्छठात्मभिर्वा रिपुभिः सहोषितुम् । अधर्मयुक्तैश्चपलैरपण्डितैर्न पापमित्रैः सह वर्त्तितुं क्षमम् ॥ १ ॥ इहैव हन्युर्भुजगा हि रोषिताः, धृतासयश्छिद्रमवेक्ष्य चारयः । असत्प्रवृत्तेन जनेन संगतः, परत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१६॥

दीप अनुक्रम [५३४--५४०]

चैवेह च हन्यते जनः ॥ २ ॥ तथा–परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् । आत्मानं योऽभिसंधत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः? ॥ ३ ॥ तथा–ब्रह्महत्या सुरापानं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुरेभिश्च सह संगमम् ॥ ४ ॥" इत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ १०॥ विहारकालमानमाह—'संवत्सरं वापि' अत्र संवत्सरशब्देन वर्षासु चातुर्मासिको ज्येष्ठावग्रह उच्यते तमपि, अपिशब्दान्मासमपि, परं प्रमाणं–वर्षाऋतुबद्धयोरुत्कृष्टमेकत्र निवासकालमानमेतत्, 'द्वितीयं च वर्षम्' चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, द्वितीयं वर्षं वर्षासु चशब्दान्मासं च ऋतुबद्धे न तत्र क्षेत्रे वसेत् यत्रैको वर्षाकल्पो मासकल्पश्च कृतः, अपितु सङ्गदोषाद् द्वितीयं तृतीयं च परिहृत्य वर्षादिकालं ततस्तत्र वसेदित्यर्थः, सर्वथा, किं बहुना?, सर्वत्रैव 'सूत्रस्य मार्गेण चरेद्भिक्षुः' आगमादेशेन वर्त्तेतेति भावः, तत्रापि नौघत एव यथाश्रुतग्राही स्यात् अपि तु सूत्रस्य 'अर्थः' पूर्वापराविरोधितन्नयुक्तिघटितः पारमार्थिकोत्सर्गापवादगर्भो यथा 'आज्ञापयति' नियुङ्क्ते तथा वर्त्तेत, नान्यथा, यथेहापवादतो नित्यवासेऽपि वसतावेव प्रतिमासादि साधूनां संस्तारगोचरादिपरिवर्त्तेन, नान्यथा, शुद्धापवादायोगादित्येवं वन्दनकप्रतिक्रमणादिष्वपि तदर्थं प्रत्युपेक्षणेनानुष्ठानेन वर्त्तेत, न तु तथाविधलोकहेर्या तं परित्यजेत् तदाशातनाप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ एवं विविक्तचर्यावतोऽसीदनगुणोपायमाह—यः साधुः पूर्वरात्रापररात्रकाले, रात्रौ प्रथमचरमयोः प्रहरयोरित्यर्थः, संप्रेक्षते सूत्रोपयोगनीत्या आत्मानं कर्मभूतमात्मनैव करणभूतेन, कथमित्याह—'किं मे कृत'मिति छान्दसत्वात्तृतीयार्थे षष्ठी, किं

दश० ४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१६॥

दीप अनुक्रम [५३४--५४०]

मया कृतं शक्त्यनुरूपं तपश्चरणादियोगस्य 'किं च मम कृत्यशेषं' कर्तव्यशेषमुचितं?, किं शक्यं वयोऽवस्थानुरूपं वैयावृत्त्यादि 'न समाचरामि' न करोमि, तदकरणे हि तत्कालनाश इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥ तथा— किं मम स्खलितं 'परः' स्वपक्षपरपक्षलक्षणः पश्यति? किं वाऽऽत्मा क्वचिन्मनाक् संवेगापन्नः?, किं वाऽहमोघत एव स्खलितं न विवर्जयामि, इत्येवं सम्यगनुपश्यन् अनेनैव प्रकारेण स्खलितं ज्ञात्वा 'सम्यग्' आगमोक्तेन विधिना भूयः पश्येत् 'अनागतं न प्रतिबन्धं कुर्यात्' आगामिकालविषयं नासंयमप्रतिबन्धं करोतीति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ कथमित्याह—'यत्रैव पश्येत्' यत्रैव पश्यत्युक्तवत्परात्मदर्शनद्वारेण 'क्वचित्' संयमस्थानावसरे धर्मोपधिप्रत्युपेक्षणादौ 'दुष्प्रयुक्तं' दुर्व्यवस्थितमात्मानमिति गम्यते, केनेत्याह–कायेन वाचा अथ मानसेनेति, मन एव मानसं, करणत्रयेणेत्यर्थः 'तत्रैव' तस्मिन्नेव संयमस्थानावसरे 'धीरो' बुद्धिमान् 'प्रतिसंहरेत्' प्रतिसंहरति य आत्मानं, सम्यग् विधिं प्रतिपद्यत इत्यर्थः, निदर्शनमाह–आकीर्णो जवादिभिर्गुणैः, जात्योऽश्व इति गम्यते असाधारणविशेषणात्, तच्चेदम्—'क्षिप्रमिव खलिनं' शीघ्रं कविकमिव, यथा जात्योऽश्वो नियमितगमननिमित्तं शीघ्रं खलिनं प्रतिपद्यते, एवं यो दुष्प्रयोगत्यागेन खलिनकल्पं सम्यग्विधिम्, एतावताऽंशेन दृष्टान्त इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ यः पूर्वरात्रेत्याद्यधिकारोपसंहारायाह–यस्य साधोः 'ईदृशाः' स्वहितालोचनप्रवृत्तिरूपा 'योगा' मनोवाक्कायव्यापारा 'जितेन्द्रियस्य' वशीकृतस्पर्शनादीन्द्रियकलापस्य 'धृतिमतः' संयमे सधृतिकस्य 'सत्पुरुषस्य' प्रमादजयान्महापुरुषस्य 'नित्यं' सर्वकालं सामायिकप्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१६॥

दीप अनुक्रम [५३४--५४०]

पक्षेरारभ्यामरणान्तम् 'तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं' तमेवंभूतं साधुमाहुः–अभिदधति विद्वांसः लोके–प्राणिसंघाते प्रतिबुद्धजीविनं–प्रमादनिद्रारहितजीवनशीलं, 'स' एवंगुणयुक्तः सन् जीवति 'संयमजीवितेन' कुशलाभिसंधिभावात् सर्वथा संयमप्रधानेन जीवितेनेति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ शास्त्रमुपसंहरन्नुपदेशसर्वस्वमाह —'आत्मा खल्विं'ति खलुशब्दो विशेषणार्थः, शक्तौ सत्यां परोऽपि 'सततं' सर्वकालं 'रक्षितव्यः' पालनीयः पारलौकिकापायेभ्यः, कथमित्युपायमाह—'सर्वेन्द्रियैः' स्पर्शनादिभिः 'सुसमाहितेन' निवृत्तविषयव्यापारेणेत्यर्थः, अरक्षणरक्षणयोः फलमाह–अरक्षितः सन् 'जातिपन्थानं' जन्ममार्गं संसारमुपैति–सामीप्येन गच्छति। सुरक्षितः पुनर्यथागममप्रमादेन 'सर्वदुःखेभ्यः' शारीरमानसेभ्यो 'विमुच्यते' विविधम्–अनेकैः प्रकारैरपुनर्ग्रहणपरमस्वास्थ्यापादनलक्षणैर्मुच्यते। इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

श्री हरिभद्रसूरिविरचितटीकोपसंहारः ।

यं प्रतीत्य कृतं तद्वक्तव्यताशेषमाह—

छहिं मासेहिं अहीअं अज्झयणमिणं तु अज्जमणगेणं । छम्मासा परिआओ अह कालगओ समाहीए ॥ ३७० ॥

षड्भिर्मासैः 'अधीतं' पठितम् 'अध्ययनमिदं तु' अधीयत इत्यध्ययनम्–इदमेव दशवैकालिकाख्यं शास्त्रं, येनाधीतमित्याह–आर्यमणकेन–भावाराधनयोगात् आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यः आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रहस्तेन, 'षण्मासाः पर्याय' इति तस्यार्यमणकस्य षण्मासा एव प्रव्रज्याकालः, अल्पजीवितत्वात्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	अथ वृत्तिकारः उपसंहारः क्रियते

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

अत एवाह—अथ 'कालगतः समाधिने'ति 'अथ' उक्तशास्त्राध्ययनपर्यायानन्तरं कालगत–आगमोक्तेन विधिना मृतः, समाधिना–शुभलेश्याध्यानयोगेनेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ अत्र चैवं वृद्धवादः–यथा तेनैतावता श्रुतेनाराधितम् एवमन्येऽप्येतदध्ययनानुष्ठानत आराधका भवन्त्विति ॥

आणंदअंसुपायं कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा । जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा संघे ॥ ३७१ ॥

'आनन्दाश्रुपातम्' अहो आराधितमनेनेति हर्षाश्रुमोक्षणम् 'अकार्षुः' कृतवन्तः 'शय्यम्भवाः' प्राग्व्यावर्णितस्वरूपाः 'तत्र' तस्मिन् कालगते 'स्थविराः' श्रुतपर्यायवृद्धाः प्रवचनगुरवः, पूजार्थं बहुवचनमिति, यशोभद्रस्य च–शय्यम्भवप्रधानशिष्यस्य गुर्वश्रुपातदर्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पृच्छा–भगवन्! किमेतदकृतपूर्वमित्येवंभूता, कथना च भगवतः–संसारस्नेह ईदृशः, सुतो ममायमित्येवंरूपा, चशब्दादनुतापश्च यशोभद्रादीनाम्–अहो गुराविव गुरुपुत्रके वर्त्तितव्यमिति न कृतमिदमस्माभिरिति, एवंभूतप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थं न मया कथितं नात्र भवतां दोष इति गुरुपरिसंस्थापनं च । 'विचारणा संघ' इति शय्यम्भवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे–कालह्रासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारकमतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंभूता स्थापना चेति गाथार्थः ॥ ४० ॥ उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदभिन्नाः खल्वोघतः सप्त भवन्ति । स्वरूपं चैतेषामध आवश्यके सामायिकाध्ययने न्यक्षेण प्रदर्शितमेवेति नेह प्रतन्यते । इह पुनः स्थानाशून्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

थमेते ज्ञानक्रियानयान्तर्भावद्वारेण समासतः प्रोच्यन्ते–ज्ञाननयः क्रियानयश्च, तत्र ज्ञाननयदर्शनमिदम्–ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चाह–णायंमि गिण्हिअव्वे अगिण्हिअव्वंमि चेव अत्थम्मि। जइअव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नाम ॥ १ ॥ 'णायंमि'त्ति ज्ञाते सम्यक्परिच्छिन्ने 'गिण्हिअव्वे'त्ति ग्रहीतव्य उपादेये 'अगिण्हिअव्वे'त्ति अग्रहीतव्येऽनुपादेये हेय इत्यर्थः, चशब्दः खलूभयोर्ग्रहीतव्याग्रहीतव्ययोर्ज्ञातत्वानुकर्षणार्थ उपेक्षणीयसमुच्चयार्थो वा, एवकारस्त्ववधारणार्थः, तस्य चैवं व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः–ज्ञात एव ग्रहीतव्ये तथाऽग्रहीतव्ये तथोपेक्षणीये च ज्ञात एव नाज्ञाते, 'अत्थम्मि'त्ति अर्थे ऐहिकामुष्मिके, तत्रैहिको ग्रहीतव्यः स्वकचन्दनाङ्गनादिः अग्रहीतव्यो विषशस्त्रकण्टकादिः उपेक्षणीयस्तृणादिः, आमुष्मिको ग्रहीतव्यः सद्दर्शनादिरग्रहीतव्यो मिथ्यात्वादिरुपेक्षणीयो विवक्षया अभ्युदयादिरिति तस्मिन्नर्थे, 'यतितव्यमेवे'ति अनुस्वारलोपाद्यतितव्यम् 'एवम्' अनेन प्रकारेणैहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्त्यादिलक्षणः प्रयत्नः कार्य इत्यर्थः। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यं, सम्यग्ज्ञाते प्रवर्त्तमानस्य फलाविसंवाददर्शनात्, तथा चान्यैरप्युक्तम्—"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता। मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलप्राप्तेरसंभवात् ॥ १ ॥" तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि ज्ञान एव यतितव्यं, तथा चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः, यत उक्तम्—"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। अण्णाणी किं काही, किंवा णाहीइ छेअपावगं? ॥ १ ॥" इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं, यस्मात्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थानां केव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

लानां विहारक्रियाऽपि निषिद्धा, तथा चागमः—"गीअत्थो अ विहारो बिइओ गीअत्थमीसिओ भणिओ। एत्तो तइअविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥" न यस्मादन्धेनान्धः समाकृष्यमाणः सम्यक्पन्थानं प्रतिपद्यत इत्यभिप्रायः। एवं तावत्क्षायोपशमिकं ज्ञानमधिकृत्योक्तं, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्वं तस्यैव विज्ञेयं, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधितटस्थस्य दीक्षाप्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिर्जायते यावज्जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदरूपं केवलज्ञानं नोत्पन्नमिति, तस्माज्ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम्, 'इति जो उवएसो सो णओ णामं'ति 'इति' एवमुक्तेन न्यायेन य 'उपदेशो' ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम, ज्ञाननय इत्यर्थः, अयं च ज्ञानवचनक्रियारूपेऽस्मिन्नध्ययने ज्ञानरूपमेवेदमिच्छति, ज्ञानात्मकत्वादस्य, वचनक्रिये तु तत्कार्यत्वात्तदायत्तत्वान्नेच्छति गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ उक्तो ज्ञाननयः, अधुना क्रियानयावसरः, तद्दर्शनं चेदम्–क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह—'णायंमि गिण्हिअव्वे' इत्यादि, अस्याः क्रियानयदर्शनानुसारेण व्याख्या–ज्ञाते गृहीतव्ये अगृहीतव्ये चैव अर्थे ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना यतितव्यमेवेति, न यस्मात्प्रवृत्त्यादिलक्षणप्रयत्नव्यतिरेकेण ज्ञानवतोऽप्यभिलषितार्थावासिर्दृश्यते, तथा चान्यैरप्युक्तम्—"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥ १ ॥" तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि क्रियैव कर्तव्या, तथा च मौनीन्द्रवचनमप्ये-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||--||

दीप अनुक्रम [--]

वमेव व्यवस्थितं, यत उक्तम्—"चेइअकुलगणसंघे आयरिआणं च पवयणसुए अ । सव्वेसुवि तेण कयं तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ १ ॥" इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं, यस्मात्तीर्थकरगणधरैः क्रियाविकलानां ज्ञानमपि विफलमेवोक्तं, तथा चागमः—"सुबहुंपि सुअमहीअं किं काही चरणविप्पमुक्कस्स? । अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥ १ ॥" दृशिक्रियाविकलत्वात्तस्येत्यभिप्रायः, एवं तावत्क्षायोपशमिकं चारित्रमङ्गीकृत्योक्तं, चारित्रं क्रियेत्यनर्थान्तरं, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य प्रकृष्टफलसाधकत्वं तस्यैव विज्ञेयं, यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्तयवाप्तिः संजायते यावदखिलकर्मेन्धनानलभूता ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालावस्थायिनी सर्वसंवररूपा चारित्रक्रिया नावाप्तेति, तस्मात्क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम् 'इति जो उवएसो सो णओ णामं'ति इत्येवमुक्तेन न्यायेन य उपदेशः क्रियाप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम, क्रियानय इत्यर्थः, अयं च ज्ञानवचनक्रियारूपेऽस्मिन्नध्ययने क्रियारूपमेवेदमिच्छति, तदात्मकत्वादस्य, ज्ञानवचने तु तदर्थमुपादीयमानत्वादप्रधानत्वान्नेच्छति गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ उक्तः क्रियानयः, इत्थं ज्ञानक्रियानयस्वरूपं श्रुत्वाऽविदिततदभिप्रायो विनेयः संशयापन्नः सन्नाह –किमत्र तत्त्वम्?, पक्षद्वयेऽपि युक्तिसंभवात्, आचार्यः पुनराह–"सव्वेसिंपि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १ ॥" अथवा ज्ञानक्रियानयमतं प्रत्येकमभिधायाधुना स्थितपक्षमुपदर्शयन्नाह—'सव्वेसिं गाहा' 'सर्वेषामपि' मूलनयानाम्, अपिशब्दात्तद्भेदानां च 'नयानां'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥--॥

दीप अनुक्रम [--]

द्रव्यास्तिकादीनां 'बहुविधवक्तव्यतां' सामान्यमेव विशेषा एव उभयमेव वाऽनपेक्षमित्यादिरूपाम् अथवा नामादीनां नयानां कः कं साधुमिच्छतीत्यादिरूपां 'निशम्य' श्रुत्वा तत् 'सर्वनयविशुद्धं' सर्वनयसंमतं वचनं यच्चरणगुणस्थितः साधुः, यस्मात्सर्वनया एव भावविषयं निक्षेपमिच्छन्तीति गाथार्थः ॥ नमो वर्द्धमानाय भगवते, व्याख्यातं चूडाध्ययनं, तद्व्याख्यानाच्च समाप्ता दशवैकालिकटीका । समाप्तं दशवैकालिकं चूलिकासहितं निर्युक्तिटीकासहितं च ॥

॥ इत्याचार्यश्रीहरिभद्रसूरिविरचिता दशवैकालिकटीका समाप्ता ॥

महत्तराया याकिन्या, धर्मपुत्रेण चिन्तिता । आचार्यहरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ १ ॥
दशवैकालिके टीकां विधाय यत्पुण्यमर्जितं तेन । मात्सर्यदुःखविरहाद्गुणानुरागी भवतु लोकः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्धरिभद्राचार्यविरचिता सचूलिकदशवैकालिक-
व्याख्या समाप्ता ॥

इति श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४२],मूलसूत्र[३] दशवैकालिक मूलं एवं हरिभद्रसूरिविरचिता वृत्तिः

भाग 33	'पिण्डनिर्युक्ति'-मूलसूत्र [२/२] मूलं एवं मलयगिरिसूरिजी रचिता टीका परिसमाप्ता: मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुनः संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

[भाग-३४] आगम 42

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

"दशवैकालिकं मूलसूत्रं" [मूलं + निर्युक्ति: + भाष्यं + हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"दशवैकालिक" मूलं एवं वृत्ति: नामेण परिसमाप्तं

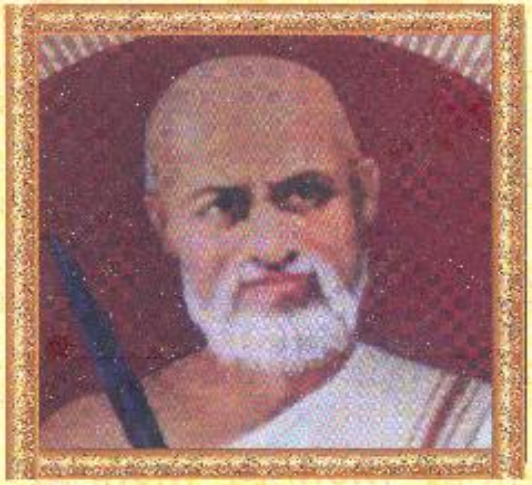
"सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" श्रेणि, भाग-34


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

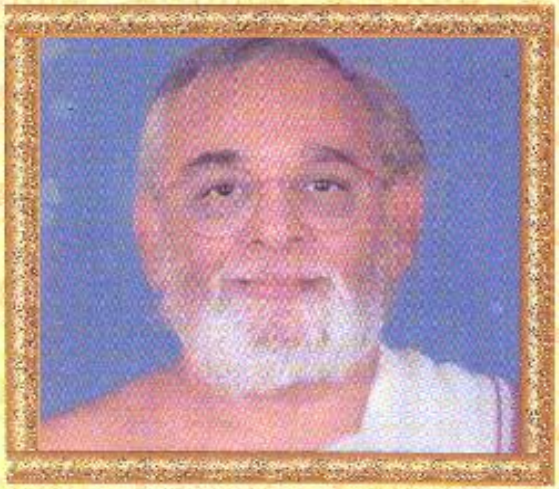
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

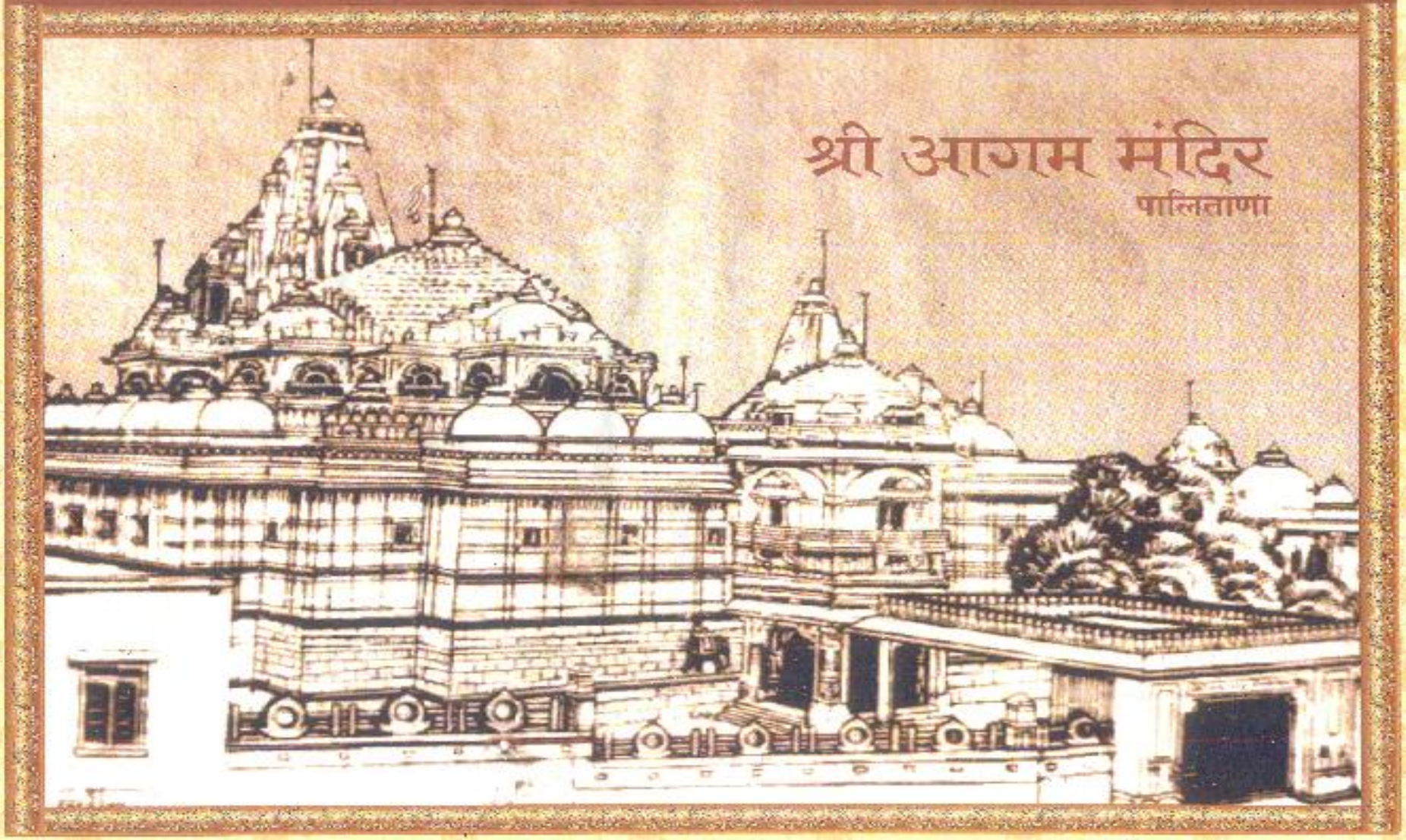
अभिनव-संकलनकर्ता

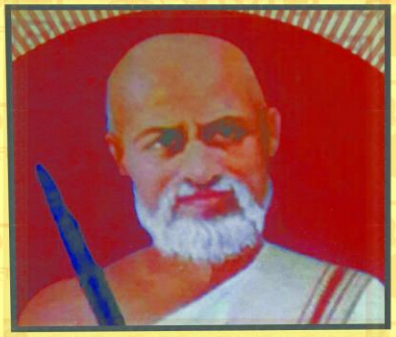


आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता





मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम ४२

"दशवैकालिक" मूलं एवं वृत्तिः

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

